वर्ष-12, अंक 46
अक्टूबर-दिसम्बर 2025

तमसो मा ज्योतिर्गमय

वाक् सुधा

ISSN 2347-6605

VAAK SUDHA

MULTI DISCIPLINE RESEARCH JOURNAL

AN INTERNATIONAL REFEREED QUARTERLY RESEARCH JOURNAL

A SCHOLARLY PEER REVIEWED JOURNAL

Website : http://vsirj.com

वर्ष : 12 • अंक : 46 • अक्टूबर-दिसम्बर 2025 • ISSN 2347-6605

वाक् सुधा

VAAK SUDHA

(अन्तर्राष्ट्रीय त्रैमासिक शोध पत्रिका)

(International Peer Reviewed Refereed Journal of Multidisciplinary Research)

(A Scholarly Peer Reviewed Journal)

विशेष सूचना :

विचार की प्रतिबद्धता में राष्ट्रहित सर्वोपरि है।

रूपेश कुमार चौहान
स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक
द्वारा 47, ब्लॉक ए-3, गली नं. 5, धर्मपुरा एक्सटेंशन, दिल्ली-43 से प्रकाशित एवं डॉल्फिन प्रिंटोग्राफिक्स, 4ई/7, पाबला बिल्डिंग, झंडेवालान् एक्सटेंशन, नई दिल्ली द्वारा मुद्रित।
दूरभाष संख्या-09555222747, 9267944100, 9555666907
Email: vaaksudha@gmail.com • Website : www.vsirj.com

प्रकाशनार्थ सूचना

* **शोध-पत्र हमारी विशेषज्ञ समीक्षा समिति (Peer Reviewed Committee) के द्वारा द्वि-स्तरीय समीक्षित होकर प्रकाशन हेतु स्वीकृत किया जाता है।**
* शोध-पत्र प्राप्त होने के उपरांत शोधार्थी के पास ईमेल / व्हाट्सएप्प या फोन के माध्यम से शोध-पत्र प्राप्ति की सूचना दी जायेगी।
* शोध-पत्र प्राप्त होने के उपरांत सम्पादक-मंडल द्वारा इसे सम्बन्धित विषय के विशेषज्ञ (रीव्यूवर) के पास भेजा जायेगा। जिसका विषय विशेषज्ञ द्वारा विधिवत मूल्यांकन एवं परीक्षण / संशोधन किया जायेगा। तदुपरांत सम्पादक मंडल के पास प्रकाशनार्थ प्रेषित किया जायेगा।
* विषय विशेषज्ञ / सम्पादक मंडल के पास शोध-पत्र के प्रकाशन / संशोधन का पूर्ण अधिकार होगा।
* कोई भी शोध-पत्र सम्पादक मंडल / रीव्यू पैनल द्वारा पूर्णतया मूल्यांकन के उपरांत ही प्रकाशित किया जायेगा।
* पूर्णतया स्वीकृति के उपरांत ही किसी भी शोधार्थी को सम्बन्धित आलेख के प्रकाशन की सूचना दी जायेगी।
* लेखक से अनुरोध है कि शोध-पत्र वॉकमैन चाणक्य 905 या क्रुतिदेव फॉन्ट में वर्ड या पेजमेकर में टाइप (टङ्कण) कराकर शोध-पत्रिका के ई-मेल पर प्रेषित करें।
* शोध-लेख **हिन्दी अथवा संस्कृत भाषा में** न्यूनतम 1500 शब्द एवं अधिकतम 3000 शब्द तक मान्य है तथा इसके साथ लेखक का पद-नाम, कीवर्ड्स, सारांश एवं सभी संदर्भ के साथ स्वयं की फोटो (छवि-चित्र) अत्यन्त अनिवार्य है।
* प्रकाशनार्थ प्राप्त लेख सलाहकार परिषद् एवम् संपादक मण्डल की अनुमति के पश्चात् स्तरीय होने पर ही प्रकाशित होगा।
* शोध-पत्र भेजने के बाद उसे प्रकाशित करने हेतु किसी भी तरह का दबाव स्वीकार्य नहीं होगा। शोध-पत्र में यदि चित्र का प्रयोग हुआ है तो उसे भी अवश्य प्रेषित करें।
* **'वाक् सुधा'** किसी भी तरह के परामर्श का स्वागत करती है, इसलिए अपनी प्रतिक्रिया अवश्य दें।
* यह स्पष्ट किया जाता है कि शोध पत्र में प्रस्तुत तथ्य शोधकर्त्ता के अपने विचार हैं तथा सलाहकार परिषद् एवं सम्पादक मण्डल का इसमें कोई सरोकार नहीं होगा। इसके लिए शोधकर्त्ता स्वयं उत्तरदायी है।
* शोध-पत्रिका की किसी भी सामग्री को प्रकाशक एवं मुद्रक की जानकारी के बिना अन्यत्र प्रकाशन अनुचित होगा।
* प्रत्येक अङ्क पत्रिका की वेबसाइट पर अध्ययन हेतु उपलब्ध रहता है।
* अपेक्षित आर्थिक सहयोग अथवा अंशदान के लिए हम आपके अत्यंत आभारी रहेंगे।
* **कृपया लेख के साथ अपनी पासपोर्ट साइज की फोटो अवश्य भेजें।**
* **पत्रिका का वितरण निःशुल्क किया जाता है एवं विशेष अनुदान के लिए किसी पर कोई प्रतिबंध नहीं है। प्रकाशन के लिए कोई भी आवश्यक शुल्क नहीं है।**
* **आगामी अङ्क में प्रकाशनार्थ लेख आमंत्रित हैं। यदि आप लेख टाइप करा कर भेजने में असमर्थ हैं तो हस्तलिखित प्रति पत्रिका में दिये गये पत्र-व्यवहार के पते पर भेज दें।**

Email: vaaksudha@gmail.com • Website : www.vsirj.com

सलाहकार परिषद् :

- **डॉ. मनमोहन सिंह चौहान**
(कुलपति, पंडित गोविन्द वल्लभ पंत कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, पंतनगर, उत्तराखण्ड)

- **प्रो. इन्द्र नारायण सिंह**
(बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **प्रो. गिरीश चन्द्र पंत**
(पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली)

- **प्रो. रामनाथ झा**
(संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन संस्थान, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **डॉ. राजवीर शर्मा**
(पूर्व प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र विभाग, आत्माराम सनातन धर्म कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **प्रो. मोहम्मद मंसूर आलम**
(अध्यक्ष, उर्दू विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया)

- **प्रो. रसाल सिंह**
(प्रोफेसर एवं प्राचार्य, रामानुजम् महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर**
(राष्ट्रीय अध्यक्ष, भारतीय दलित साहित्य अकादमी एवं प्रसिद्ध दलित चिंतक)

- **प्रो. सुभाष कुमार सिंह**
(प्रोफेसर एवं प्राचार्य, सत्यवती महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)

- **प्रो. सत्यदेव पोद्दार**
(इतिहास विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)

- **प्रो. काशीनाथ जेना**
(राजनीति-शास्त्र विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)

- **डॉ. राघवेन्द्र प्रताप सिंह**
(इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश)

- **डॉ. एम. रहमतुल्लाह**
(कंसल्टिंग एडिटर, दूरदर्शन न्यूज, भारत सरकार)

- **प्रो. ब्रजेश कुमार सिंह**
(रसायन शास्त्र विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

© सर्वाधिकार सुरक्षित : रूपेश कुमार चौहान

ISSN : 2347-6605

- सभी पद अवैतनिक एवं परिवर्तनीय हैं।
- **'वाक् सुधा'** से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।
- सारे भुगतान मनीआर्डर : चेक/ बैंक ड्राफ्ट **'वाक् सुधा'** के नाम से किए जाएं। कृपया दिल्ली से बाहर के चेक में बैंक कमीशन के 35.00 रुपये अतिरिक्त जोड़ें।

विशेष सूचना : शोध पत्रिका में प्रकाशित लेखों में दिए गये तथ्यों और इनसे सम्बन्धित किसी भी विवाद का पूर्ण दायित्व लेखक का होगा, प्रकाशक, सम्पादक, मुद्रक एवं पत्रिका से सम्बन्धित अन्य किसी भी व्यक्ति का नहीं। प्रेषित स्पष्टीकरण अवश्य प्रकाशित किया जायेगा।

Editor
Dr. Rupesh Kumar Chauhan
M.A., M.Phil., Ph.D. (Sanskrit),
M.A. (History)
Assistant Professor
Kirorimal College, University of Delhi
Mob : 9555222747, 9267944100

Executive Editior
Dr. Pramod Kumar Singh
M.A., Ph.D. (Sanskrit), M.A. (Philosophy)
Gold Medalist
Associate Professor,
Department of Sanskrit, Maitreyi College,
University of Delhi
Mob : 9717189242

Sub.- Editor
Dr. Rajesh Kumar
M.A., M.Phil., Ph.D. (Sanskrit)
Assistant Professor
Department of Sanskrit
PGDAV College (Morn.),
University of Delhi, Delhi
Mob. 9555666907, 9891526584

Legal Advisor :
Arun Kumar Shukla
LL.B., LL.M., D.U.
Mob. : 7011474039, 9650088311

Managing Editor
Thakur Prasad Chaubey
Mob. : 9810636082

Office Addresses :
Head Office (Delhi) :
Dharam Pal
309, Usha Kiran Building, Commercial Complex, Azadpur, ***Delhi****-110033*
Mob : 9267944100

Branch Office (International) :
• **Mrs Kirthee Devi Ramjatton**
Impasse Bois Cheri, Bois Cheri Road,
Moka- 80804 Mauritius
Email: kdramjatton@yahoo.com
Contact no.: +230 57882178

• **Correspondence Address :**
B-11/39, MIG Flats IIIrd Floor,
Near DDA Market,
Sector 18, Rohini, Delhi-110089
Mob : 9555222747

• **Correspondence Address :**
House No. 417, Ist Floor,
Paradise Apartment, Sector-18,
Rohini, Delhi-110089
Mob. : 9267944100

• **Branch Office :**
R 7-8, Ward No. 2,
Near Football Ground, Transit Camp,
Rudrapur, Udham Singh Nagar,
Uttrakhand-263153
Mob. : 8433465378

Website : www.vsirj.com

Designer :
Kawal Malik, J.D. Computers
Mob. : 9818455819

सम्पादक मंडल :

- **डॉ. शाहिद तस्लीम**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, उज्बेक भाषा विशेषज्ञ, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली)
- **डॉ. शंकर नाथ तिवारी**
(एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)
- **प्रो. गिरिधर गोपाल शर्मा**
(प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **प्रो. दिलीप कुमार झा**
(प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **डॉ. जितेन्द्र कुमार**
(असिस्टेंट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, अनुग्रह नारायण स्मारक महाविद्यालय, मगध विश्वविद्यालय)
- **डॉ. देवेन्द्र नाथ ओझा**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, एमिटी इंस्टीट्यूट फॉर संस्कृत स्टडीज, एण्ड रिसर्च, एमिटी विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश, नोएडा)
- **डॉ. वी.के. तोमर**
(एसोसिएट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग, महाराजा अग्रसेन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. चंद्रशेखर पासवान**
(बौद्ध अध्ययन एवं सभ्यता विभाग, गौतम बुद्ध विश्वविद्यालय, ग्रेटर नोएडा)
- **डॉ. के.के. झा**
(सीनियर लेक्चरर, हिन्दी विभाग, महात्मा गांधी इंस्टीट्यूट, मोका, मॉरिशस)
- **डॉ. सुधीर कुमार सिंह**
(एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विभाग, दयाल सिंह कॉलेज (प्रातः), दिल्ली)
- **प्रो. चन्द्रशेखर राम**
(प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, महाराजा अग्रसेन महाविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. नन्दिनी सहाय**
(समाज-कार्य विभाग, एमिटी यूनिवर्सिटी, नोएडा)
- **Mrs. Kirthee Devi Ramjatton**
(Senior Lecturer, Department of Sanskrit, School of Indological Studies, Mahatma Gandhi Institute, Moka - 80808 Mauritius)
- **डॉ. कुमारी शुभ्रा**
(प्रख्यात लेखिका एवं साहित्यकार, दिल्ली)
- **डॉ. प्रमोद कुमार द्विवेदी**
(एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, श्यामलाल महाविद्यालय (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. प्रद्युम्न कुमार सेठी**
(भौतिक विभाग, किरोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. सुनील कुमार सिंह**
(एसोसिएट प्रोफेसर, रसायन शास्त्र विभाग, किरोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

संरक्षक :

- **प्रो. जगमोहन सिंह राजपूत**
(पद्मश्री सम्मानित एवं पूर्व एन.सी.ई.आर.टी. निदेशक, दिल्ली)
- **प्रो. मदन मोहन अग्रवाल**
(पूर्व अध्यक्ष एवं संकाय अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. दलवीर सिंह चौहान**
(पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया, बिहार)

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय ..... *vii*

'अंधेर नगरी' की प्रासंगिकता आज भी क्यों? 1
डॉ. चित्तरंजन कुमार

आदिवासी : अस्मिता, इतिहास और संस्कृति का पुनर्पाठ 5
चन्द्रशेखर कुमार

संस्कृत साहित्य के विविध आयामों में निहित राष्ट्र भावना 11
डॉ. मंजु लता

आदिवासी आंदोलन और हिन्दी नवजागरण का अंतरसंबंध (एक सामाजिक-सांस्कृतिक विवेचनात्मक अध्ययन) .. 16
शशि कुमारी

साहित्य और मानवीय मूल्यों का अंतर्संबंध 21
अनीता चौहान

वैश्विक स्तर पर हिंदी भाषा का अंतर्राष्ट्रीयकरण ... 26
डॉ. मनोरमा मिश्रा

झालावाड़ रियासत में जागीरदारी व्यवस्था का विकास और सामाजिक प्रभाव (1838-1947) : एक ऐतिहासिक विश्लेषण 31
मीना अजय श्री रामभरोस / डॉ. कुलवंत सिंह शेखावत

अपने युग के युवा कवियों और लेखकों के प्रेरणास्रोत—फ्रीडरिक गॉटलीब क्लॉपस्टॉक 36
डॉ. आशुतोष कुमार त्रिपाठी

प्रभा खेतान : स्त्री-संघर्ष की एक उन्मुक्त आवाज 39
खुशी सिंह

लोकगीतों का उद्भव, विकास, भेद एवं शिष्ट गीतों में अन्तर 43
डॉ. कुमारी अनीता

सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य और हिंदी सिनेमा 48
रजत तिवारी

ब्रिटिश भारतीय रेल : औपनिवेशिक साम्राज्य की आर्थिक रीढ़ 52
डॉ. रवि कुमार

बिरसा मुंडा और उलगुलान आन्दोलन 60
पूनम देवी / प्रो. ज़ीनत ज़ैदी

काव्यस्वरूपनिरूपणम्: 65
वाचस्पति कुमार

विक्रमोर्वशीयम् की उर्वशी और ओम शांति ओम की शांति प्रिया : दिव्य प्रेम का तुलनात्मक अध्ययन 70
निधि शर्मा

भक्तिकाल और यूटोपिया 74
आदित्य चतुर्वेदी

कल्हण कृत राजतरंगिणी में वर्णित कराधान प्रणाली ... 80
प्रो. रणजीत कुमार मिश्रा / शिवराज सिंह

शिवसङ्कल्पसूक्त में मनोविज्ञान एक अध्ययन 85
डॉ. आयुष गुप्ता / शुभम रॉय

दाम्पत्य जीवन की त्रासदी और आपका बंटी 89
आकांक्षा सिंह

आधुनिक जीवनशैली में योग की उपादेयता 93
शानू / डॉ. नीलम शर्मा

हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त विस्थापन एवं प्रवास की समस्या 97
सौरभ चन्द्र शर्मा

ममता कालिया के उपन्यासों में मध्यवर्ग ('दुक्खम-सुक्खम' और 'बेघर' के विशेष संदर्भ में) 102
मुक्ता धामा / प्रो. (डॉ.) राजमोहिनी सागर

बृहत्त्रयी में वास्तु विज्ञान 108
सूरज

भारत में वर्तमान स्त्री शिक्षा : ऐतिहासिक संघर्ष, सामाजिक बदलाव और 'आपहुदरी' चेतना का उदय 114
सरोज प्रमिला

आत्मसंयम में अष्टांग योग की भूमिका 118
ओम प्रकाश कुमार / सीमा रानी

बच्चों में नैतिक मूल्यों तथा संस्कारों के विकास में बाल-साहित्य की भूमिका 123
अनिता तोमर / प्रो. डॉ. अशोक वसंतराव मर्डे

पौराणिक कश्मीर : चंद्रकांता की दृष्टि से पुनर्पाठ 128
मेघना अविनाश दवे / प्रो.डॉ. अशोक वसंतराव मर्डे

'मृगनयनी' में बुन्देलखण्ड के कला और लोक जीवन का अन्तर्संबंध 133
डॉ. बिपिन प्रसाद

हिंदी फ़िल्मी गीतों की वैविध्यपूर्ण परम्परा 139
ज्योति यादव

'जमीन पक रही है' (केदारनाथ सिंह) और अनुभूतियों का विस्तार 145
डॉ. सुनीता दुरंगल

'दिव्या' में सामाजिक व राजनीतिक संघर्ष 149
डॉ. कुसुम नेहरा
हरिशंकर परसाई के व्यंग्य में निहित सामाजिक एवं राजनीतिक यथार्थ 154
माधुरी साहनी
अधुनातन संदर्भ में लोक साहित्य की प्रासंगिकता . 158
अखिल कुमार यादव
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की इतिहास-दृष्टि : तुलनात्मक अध्ययन 161
डॉ. प्रभात शर्मा
दलित आत्मकथा और स्त्री संघर्ष
(दोहरा अभिशाप के संदर्भ में) 165
कमलेश
कुंवर नारायण के काव्य में मानव नियति की चिन्ता .. 169
डॉ. पूनम सिंह
डिजिटल युग का सिनेमा : ओटीटी प्लेटफॉर्म और नई दर्शक संस्कृति 175
डॉ. मुनेश यादव
लोककथाओं के माध्यम से सांस्कृतिक पर्यटन का विकास..... 180
डॉ. तनुजा
'बदलता हुआ देश' धर्म और राजनीति का यथार्थपरक विवेचन 185
डॉ० मोहित
छायावाद में राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना का पुनरावलोकन 188
डॉ. राजकुमार राजन
मन्नू भंडारी के कथा साहित्य में अभिव्यक्त विविध स्वर 193
सोनम
वैदिककालीन कृषि उपकरण और तकनीकी 197
सुधांशु कुमार
ऋग्वेदप्रातिशाख्ये वर्णित ओङ्कारपटलविमर्शः 201
निधिः तिवारी
स्त्री संवेदनाओं को उकेरती मोनिका मिश्रा की कहानियाँ..... 204
डॉ. प्रमिला
बैंकों में राजभाषा कार्यान्वयन में व्यावहारिक कौशल की भूमिका 211
सुनील कुमार सिंह / डॉ. पूनम शर्मा
प्राचीन भारत में महिला शिक्षा की ऐतिहासिक विरासत 215
डॉ. सत्यम कुमार
परवीन शाकिर की शायरी में नारी संवेदना की तलाश 221
डॉ. सैयद मुबीन ज़ेहरा
राधा : भक्ति, शक्ति और प्रेम का अद्वैत सूत्र 226
श्रवण कुमार ठाकुर
डॉ० सच्चिदानन्द सिन्हा का प्रारम्भिक जीवन और तत्कालीन बिहार की राजनैतिक, सामाजिक-आर्थिक स्थिति का सर्वेक्षण 230
उपासना
हिंदी साहित्य में व्यंग्य का बदलता स्वरूप 236
स्वाति चौहान
भक्ति-दर्शन में ईश्वर-अनुभूति : एक तात्त्विक अध्ययन..... 241
रीतू
भारतीय संविधान के निर्माण में डॉ. अम्बेडकर की भूमिका 247
डॉ. नरेन्द्र कुमार संत
अपूर्ववाद 250
प्राञ्जल सिंह
भारत में राष्ट्रीयता के विकास में आर्य समाज का योगदान 256
अमजद खान

सम्पादकीय

देशभर में इस समय राष्ट्रगीत वंदेमातरम् के 150 वर्ष पूर्ण होने पर लगातार कार्यक्रम हो रहे हैं। 26 अक्टूबर 2025 को 'मन की बात' कार्यक्रम में प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी ने 'वंदेमातरम्' गीत के इस इतिहास की देशवासियों को फिर से याद दिलाई और राष्ट्रीय गीत 'वंदेमातरम्' के 150 वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य में 7 नवंबर 2025 से भारत सरकार की ओर से अगले एक वर्ष तक अलग-अलग कार्यक्रमों का आयोजन करने का निर्णय की जानकारी दी। इन आयोजनों के माध्यम से देश भर में 'वंदेमातरम्' का पूर्ण गान होगा, जिससे देश की युवा पीढ़ी 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' के विचार को आत्मसात कर पाएगी। गौरतलब है कि वंदेमातरम् के रचनाकार बंकिमचंद्र चटर्जी (1838-94) प्रखर राष्ट्रवादी बंगाली लेखक थे। उन्होंने उपन्यासों, कविताओं और निबंधों के माध्यम से आजादी की लड़ाई के शुरुआत में ही भारतीय राष्ट्रवाद को एक सैद्धांतिक आकार देने का दु:साहसिक कार्य किया। उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं—आनंदमठ, दुर्गेशनंदिनी, कपालकुंडला और देवी चौधुरानी, जिनमें अंग्रेजों के शासन काल में चल रहे सामाजिक और सांस्कृतिक संघर्षों की चर्चा है।

वंदेमातरम् भारत की सामूहिक आत्मा की आवाज था। महात्मा गांधी ने स्वयं स्वीकार किया था, 'वंदेमातरम्' में ''सबसे सुस्त रक्त को भी जगाने की जादुई शक्ति थी।'' महर्षि अरबिंद ने कहा था कि, ''यह भारत के पुनर्जन्म का मंत्र है।''

वंदेमातरम् पहली बार 7 नवंबर, 1875 को साहित्यिक पत्रिका 'बंगदर्शन' में प्रकाशित हुआ था। बंकिमचंद्र चटर्जी द्वारा लिखित गीत बांग्ला और संस्कृत में है, बाद में उनकी अमरकृति आनंदमठ (1882) में शामिल किया गया।

गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर द्वारा इसे संगीतबद्ध किया गया, जिसके बाद यह भारत की सांस्कृतिक और राजनीतिक पहचान का एक शक्तिशाली प्रतीक बन गया, जो एकता, त्याग एवं भक्ति की भावना को अभिव्यक्त करता है।

वंदेमातरम् के पहले दो छन्दों को वर्ष 1937 में कांग्रेस कार्यसमिति द्वारा भारत के राष्ट्रीय गीत के रूप में अपनाया गया। पहले दो छंदों के बाद, गाने में दुर्गा माता की स्तुति है, जो लोग मूर्ति पूजा में विश्वास नहीं करते, वे इसे क्यों मानेंगे? इसलिए कांग्रेस ने तुष्टीकरण के लिए ऐसा किया। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने आरोप लगाया कि, कांग्रेस ने 1937 के फैजाबाद अधिवेशन से पहले 'वंदेमातरम् के कुछ अहम् हिस्सों को हटा दिया था।' उन्होंने यह भी कहा, ''1937 में वंदेमातरम् के कुछ अहम् पदों को, उसकी आत्मा के एक हिस्से को हटा दिया गया था। वंदेमातरम् को तोड़ दिया गया था। ये अन्याय क्यों किया गया? इसी ने विभाजन के बीज बोए।''

24 जनवरी, 1950 को भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने घोषणा करके कहा कि ''जन गण मन'' को राष्ट्रीय गान के रूप में स्वीकार किया जाएगा, स्वतंत्रता आंदोलन में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका के कारण ''वंदेमातरम्'' को राष्ट्रीय गीत के रूप में सम्मान दिया जाएगा। अंग्रेजों ने वंदेमातरम् में लोगों को एकजुट करने की क्षमता को पहचाना और कई स्थानों पर इसके सार्वजनिक गायन या प्रदर्शन पर प्रतिबंध लगा दिया।

मातृभूमि के प्रति समर्पण को बढ़ावा देने के लिए अक्टूबर, 1905 में उत्तरी कलकत्ता में स्थापित वंदेमातरम् सम्प्रदाय के सदस्य हर रविवार को प्रभात फेरी निकालते थे, वंदेमातरम् गाते थे और स्वैच्छिक दान एकत्र करते थे। वंदेमातरम् को स्मरण करने के लिए इस वाक् सुधा के अक्टूबर-दिसम्बर 2025 अंक के कवर पेज पर इसका उल्लेख किया गया है। साथ ही आगामी अंकों में इस विषय पर शोध पत्र भेजने के लिए आग्रह के साथ अपनी बात को समाप्त करता हूँ। वर्ष 2026 की आप सभी को सपरिवार हार्दिक शुभकामनाएं।

– डॉ. रूपेश कुमार चौहान

'अंधेर नगरी' की प्रासंगिकता आज भी क्यों?

डॉ. चित्तरंजन कुमार

कुछ रचनाएं समय के साथ कभी पुरानी नहीं पड़ती बल्कि बदलते परिवेश और बदलती परिस्थितियों में नए-नए अर्थों में प्रतिबिंबित होती है। 'अंधेर नगरी' ऐसी ही कालजयी कृति है। वह हर काल, हर स्थान से जुड़ता है और जुड़कर अपना नया ही सौंदर्य उद्घाटित करता है। अपनी अंतर्वस्तु में यह काल की सीमाएं को तोड़ता है, साथ ही अपने रंगमंचीय विधान के कारण भी यह हिंदी का सर्वाधिक सफल मंचित नाटक साबित हुआ। यह नाटक जितना भारतेंदु काल की शासन व्यवस्था की अंधेरगर्दी को बयां करती है उतना ही भारत के वर्तमान का भी। इसलिए यह नाटक हिंदी साहित्य के सर्वाधिक संभावना पूर्ण नाटकों में शामिल है। एक तरह से यह नाटक जन सामान्य के बीच एक मुहावरा बन चुका है।

प्रोफेसर रमेश गौतम के अनुसार-

'अंधेर नगरी' जीवन मूल्यों को खोलने वाली एक ऐसी मास्टर चाबी है, जिससे प्रत्येक काल के कालूष की अभिव्यंजना का ताला आसानी से खुल जाता है। 'अंधेर नगरी' किसी भी युग के समाज में व्याप्त आतंक, भ्रष्टाचार, अमानवीयता, अन्याय, प्रमाद, लोभ और भय-भाव का प्रहसन है।' (अंधेर नगरी'-सृजन विश्लेषण और पाठ, पृष्ठ 36)।

यदि हम 'अंधेर नगरी' नाटक की कथावस्तु और नाट्य शैली की मूल्य संवेदना की व्यंजकता पर विचार करें तो यह नाटक स्वत: ही ऐसे समाज का परिणाम घोषित करता नजर आता है, जहां प्रशासनिक व्यवस्था में अनेक खामियां हों और प्रशासक अपने स्वार्थ के चलते समाज की संचालन शक्ति खो बैठा हो। व्यवस्था की इन कमियों के चलते समाज भी आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक स्तर पर अपनी पहचान खोने लगता है। ऐसे समाज से मूल्य रूठ जाते हैं और उसका पतन अवश्यम्भावी हो जाता है। यह पूरा ही नाटक सही मायनों में ऐसी सटीक सुक्ति है, जिसका एहसास तब-तब होता है जब शासक, शासन व जनता में ऐसी अंधेर नगरी की कलुषित छाया उभरती है।

'अंधेर नगरी' मूलत: एक लोक कथा पर आधारित प्रहसन है, जिसे भारतेंदु ने लोक कथा और समकालीन यथार्थ को सनातन यथार्थ से जोड़ दिया। 'अंधेर नगरी' अंग्रेजी नाम राज का ही दूसरा नाम है। अत: यह नाटक अंग्रेजी राज की अंधेरगर्दी को खत्म करने के लिए भारतीयों की प्रबल इच्छा को प्रकट करता है। डॉ. विपिन अग्रवाल के अनुसार यह कृति क्लासिक है, क्योंकि यह हर समय आधुनिक बना रहता है और अलग-अलग रूप लेने की संभावना रखता है।

'अंधेर नगरी' की अंतर्वस्तु अपने अंदर असीम संभावनाएं समाये हुई है। 1960 तक इस नाटक को एक प्रहसन के रूप में अथवा हास्य नाटक के रूप में देखा गया। लेकिन 1960 के बाद की प्रस्तुतियों में रंग कर्मियों ने इसमें अपने देश की बदलती परिस्थितियों और राजनीतिक व्यवस्था की मूल्यहीनता और चरित्रहीनता से जोड़ा। अपने कथ्य में यह नाटक प्रासंगिक तो है ही साथ ही समाज को एक संदेश भी देता है। 1938 में बाबू बजरत्न दास ने इसमें यह अर्थ ढूंढा की लोभ बुरा है और भले बुरे की पहचान रखनी चाहिए। (हिंदी नाट्य साहित्य : ब्रज रत्न दास पृष्ठ-81)

डॉ. गोपीनाथ तिवारी ने 'अंधेर नगरी' में देश की न्याय व्यवस्था पर चुटिला व्यंग्य के रूप में देखा है।

(भारतेंदु कालीन नाटक साहित्य : डॉ. गोपीनाथ तिवारी,

पृष्ठ संख्या 350)। डॉ. कुंवर चंद्र प्रकाश सिंह के अनुसार, 'इसमें विवेक हीन समाज और शासन की व्यापक वस्तुस्थिति पर प्रकाश डाला गया है।' (हिंदी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा पृष्ठ संख्या 210)। डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय के अनुसार- 'अंधेर नगरी' में दिखाया गया है कि जिस राज्य में गुण और अवगुण का भेद नहीं है, वहां प्रजा का राजा की मूर्खता के चंगुल में फंस जाने का डर बना रहता है। (डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिंदी साहित्य, पृष्ठ संख्या 222)। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस कृति की अर्थवता प्रत्येक युग के संदर्भ में है।

'अंधेर नगरी' का नगर दूर से बड़ा सुंदर दिखाई देता है, इसलिए गोवर्धन दास जैसे लोभी को ललचाता है। वह भी मानता है कि 'अंधाधुंध मच्यो सब देशा। मानहू राजा रहत विदेशा'। वह यह भी जानता है कि यहां का शासक मूर्ख अंबुज है। वह अंधा अविवेकी है तो उसके मंत्री और अमले भी अपनी चमड़ी बचाकर जनता को फंसाने में कुशल है। छलियों का बोलबाला है सच्चे मारे-मारे फिर रहे हैं। यहां के हाकिम अंधाधुंध मचाने के मुख्य सूत्रधार है। यहां के लोग जानते हैं कि साहेब लोगों ने सारा हिंद हजम कर लिया है, हाकीम सब पर दूना टैक्स लगाते हैं, महाजन लोगों की जमा राशि हजम कर जाते हैं, पुलिस कर्मचारी कानून की चिंता नहीं करते। हिंदुस्तान का मेवा है 'फुट और बैर' और यहां का आदमी बहुत कमजोर है तथा सबसे बड़ी बात यह है कि यहां पैसों पर सब कुछ बिकता है, एक टका दो हम अभी अपनी जात बेचते हैं।

'अंधेर नगरी' में सारे मूल्य विघटित हो चुके हैं। ह्रासोन्मुखी संस्कृति में केवल पैसा का ही सर्वस्व है। यह टके भाव सब कुछ बिकता है। धर्म, ईमान, पवित्रता, सतीत्व, सुंदरता, यौवन, आदर्श और सब्जी रोटी सब एक ही भाव बिकते हैं।

यह 'अंधेर नगरी' अंग्रेजों द्वारा बनाई गई है। देश अराजकता में खो गया है। यह ऐसी नगरी है जहां साहेब लोग चूर्ण खा रहे हैं और पूरे हिंदुस्तान को हजम कर रहे हैं। यह ऐसा नगर है जहां 'स्त्री और वेश्या', 'गाय और बकरी', 'कपास और कपूर' में कोई भेद नहीं है। या ऐसा नगर है जो बाहर से चमकदार दिखाई देता है लेकिन भीतर से मालिन है। कुशल में सच्चे लोग जूते खाते हैं और गलत लोग सत्ता पर विराजमान है।

भारतेंदु एक क्रांतिदर्शी चेतना के रचनाकार थे जिस प्रकार कबीर ने अपने समय की व्यवस्था के संदर्भ में कुछ प्रश्न उठाए थे उन प्रश्नों का आज का समाज भी उत्तर नहीं दे सका है। इस प्रकार भारतेंदु ने अपने समय की जिस व्यवस्था दोष को बताया वह आज भी विद्यमान है। एक तरह से सत्ता के सनातन चरित्र को भारतेंदु ने अंधेर नगरी में उठाया है। इसलिए प्रोफेसर रमेश गौतम ने भारतेंदु को नाट्य साहित्य का कबीर कहा है। (रमेश गौतम, भूमिका 'अंधेर नगरी' सृजन -विश्लेषण और पाठ)।

आलोचना ने कबीर को अगर पहला युग प्रवर्तक कहा तो भारतेंदु को दूसरा, क्योंकि दोनों में ही अपने को मिटाने की भावना, क्रांति की चेतना और अपने ही वर्ग और वातावरण को, विदेशी सत्ता को भी और उसके साथ-साथ स्वयं अपने देशवासियों की मानसिकता को भी सजग आलोचक की दृष्टि से देखने और दो टूक विभाग ढंग से कह देने की, व्यंग्य और हास्य की जिंदादिली और निर्भीकता थी। दूसरी ओर प्रेमचंद की तरह जीवन के यथार्थ को देखने- चित्रित करने की प्रवृत्ति और निराला जैसी उदारता, निष्ठा जीवंतता और पुरुष भी था। (गिरीश रस्तोगी, पृष्ठ संख्या 9, भारतेंदु हरिश्चंद्र, अंधेर नगरी)।

भारतेंदु की यह रचना 1881 के भारत पर कम और 2025 के भारत पर ज्यादा लागू होती है। ऐसी स्थिति में 'अंधेर नगरी' का कथानक समकालीन होते हुए भी कालातीत हो जाता है, यही इस नाटक की सर्जनात्मकता है।

क्या आज के शासक हिंदुस्तान हजम करने में नहीं लगे हुए? क्या आज का शासक सही न्याय दे रहा है? क्या आज मूर्खतापूर्ण शासन करने वाले नहीं रहे हैं? क्या मंत्रियों के अपने ही जाल में फंसकर मरने का दृश्य वर्तमान भारत में नहीं दिखाई देता? क्या आज के राजनीतिक मंत्री और सलाहकार शासन की मूर्खता का चुपचाप समर्थन नहीं करते? क्या वे कभी उसे रोकने की सार्थक कोशिश करते हुए जनहित का ध्यान रखते हैं? क्या आज रिश्वत और सरकारी भ्रष्टाचार का बाजार गर्म नहीं है? क्या आज पुलिस की भूमिका ठीक 'अंधेर नगरी' जैसी नहीं है? क्या सज्जनों की पुलिस द्वारा यह दुर्दशा नहीं होती? क्या आज शासन में छलियों का बोलबाला और सच्चों का मारा-मारा फिरना नहीं दिखाई देता? क्या न्याय दिलाने वाला, दुखियों का दुख हरने वाला कोई करुणापूरित शासक रह गया है? क्या आज यह नहीं लगता कि प्रशासन पंगु है? राष्ट्रीय दायित्व कहीं विदेश यात्रा पर नहीं दीखता है? इन सभी प्रश्नों के उत्तर आज के युग को भी 'अंधेर नगरी' सिद्ध

करते हैं।

जहां एक-एक मंत्री हजारों-करोड़ों के घोटाले का सूत्रधार है, प्रधानमंत्री तक इससे नहीं बच पाए हो, कोई बोफोर्स का रिश्वतखोर हो, कोई हवाला का रखवाला, कोई रक्षा घोटाले का दोषी हो, कोई पशुपालन चोरी में लिप्त हो। कभी राष्ट्रमंडल खेलों के आयोजन में घोटाला तो कभी 2 जी स्पेक्ट्रम घोटाला, कहीं आदर्श हाउसिंग सोसायटी घोटाला तो कभी खदान घोटाला, व्यापम घोटाला, सृजन घोटाला तो कभी सैन्य सामानों की खरीदारी में घोटाला। एक तरह से पूरी सरकार ही घोटालेबाजों की सरकार बनकर रह जाती है। सरकार, नौकरशाही, सरकारी कर्मचारी और पुलिस सभी भ्रष्टाचार के गंगोत्री में डुबकी लगा रहे हैं। सारी व्यवस्थाएं धराशाई हो चुकी है और आम जनता के आंसू पोछने वाला कोई नहीं रह गया है। सचमुच आज भी 'अंधाधुंध मच्यो सब देशा' वाली उक्ति चरितार्थ होती है।

आज की सामाजिक स्थिति भी ठीक 'अंधेर नगरी' जैसी ही है। 2025 के भारत का अंतिम सत्य 'पैसा' ही रह गया है। पैसे पर सबके ईमान बिक रहे हैं, आस्थाएं मिट रही हैं, अस्मिताएं लूट रही है। लोग अपनी जाति, आदर्श, मूल्य, मर्यादा, इज्जत-आबरू, देह, लज्जा, सौंदर्य और धर्म तक बेच रहे हैं। आज का दौर बाजारवाद का दौर है जो हमारी संस्कृति को क्षयित कर रही है। यह बाजारवाद पश्चिम से आया है, जिसका संकेत भारतेंदु ने 'अंधेर नगरी' में दिया है। इसलिए तो महंत ने गोवर्धन दास को पश्चिम की ओर भेजा। भारतेंदु ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि यह बाजार ऊपर से चमकदार है लेकिन भीतर से मालिन है। यह बाजार एक आस्था रहित समाज का निर्माण करेगा और मनुष्यों के जीवन में अफरा-तफरी मचा देगा। इस बाजार में धर्म, ईमान और मर्यादा सभी बिकते हैं। आज की उपभोक्तावादी संस्कृति में मनुष्य अपनी मनुष्यता भूल गया है। औरत एक सेक्स ऑब्जेक्ट के रूप में पड़ोसी जा रही है।

नीरज के शब्दों में-

'स्वर्ण की झंकार ने ऐसा किया है छल सभ्यता से
चातकों की प्यास तक बाजार में बिकने लगी है।'

आज ना लोभांध गोवर्धन दास की कमी है ना चकाचौंध की और न बाजारी भूल भुलैया की। व्यापारिक और आर्थिक उदारवाद के नाम पर नासमझी आज भी यहां होती है। इसमें दुष्ट लोग मौज करते हैं और लोभी जनता की जान पर बन जाती है। 'अंधेर नगरी' के समान आज भी फरियादी मारे-मारे घूमते हैं, संसद की गलियारों और कचहरी की धूल फांकते हैं, किंतु एक केस से दूसरे केस एक कोर्ट से दूसरी कोर्ट, पेशी दर पेशी नए गवाह, नए नुक्के, नई युक्तियां और न्याय-व्यवस्था लंबी होती यम का फंदा बन जाती है।

इस प्रकार 'अंधेर नगरी' के जितने भी व्यंग्य और अर्थ उद्घाटित होते हैं, सबके सब आज भी प्रासंगिक बने हुए हैं। इसमें ऐसी स्थिति का चित्रण है जो सदा प्रत्यक्षत: परिलक्षित नहीं होने पर भी हर युग और हर देश में बनी रहती है। यह स्थिति है भ्रष्टाचार की नैतिक अद्धोपतन की मनुष्य के अंधत्व की। धर्मवीर भारती के शब्दों में -हर युग अंधा होता है और हर नगरी अंधेर नगरी। विकृतियां हर युग और हर देश में रही हैं और आज भी हैं। वास्तव में 'अंधेर नगरी' शाश्वत अंधेर नगरी का नाटक है और उसका महत्व हमेशा बना रहेगा।

भारतेंदु के समय में अंग्रेजों का जनता के प्रति दायित्वहीन व्यवहार रहता था। वह जनता की पूरी बात नहीं समझते थे, अत: न्याय अंधों की तरह किया करते थे। न्याय के नाम पर कागजी कार्रवाई करते थे, चाहे बकरी की सजा देशी कोतवाल को मिले या बेकसूर गोवर्धन को, उनकी बला से। परंतु बकरी मरी है, तो फांसी अवश्य होनी चाहिए। छोटे से छोटे अपराध के लिए भी उनके पास फांसी से कम सजा नहीं थी। उनके शासन में पुलिस, सरकारी कर्मचारी और नौकरशाही की लूट टैक्स रिश्वतखोरी पर भी मर्मभेदक व्यंग्य किए गए हैं। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार 'अंधेर नगरी' अंग्रेजी राज्य का ही दूसरा नाम है।

'अंधेर नगरी में महंत के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना का उपदेश और राष्ट्रीय इच्छा का रूप भी दिखला दिया गया है। इस परंपरागत और नैतिक ढांचे की पहली टकराहट बाजार से होती है और यह बाजार स्वार्थ, पेट औरलालच के बिंदु पर परंपरागत आस्था को विचलित कर देता है। यह बाजार विविधता के मूल्यवादी विधान को तोड़ देता है, क्योंकि यह वस्तुओं का मूल्य उसकी गुणवत्ता से न तय होकर उसके बिकने से होता है, और सभी का मूल्य टके सेर है। यह बाजार किस प्रकार सामंती विश्वासों को तार-तार कर देता है, इसका प्रमाण है ब्राह्मण का वक्तव्य- 'जात ले जात टके सेर जात।'

इस प्रकार यह नाटक अपने कथानक और कथ्य को लेकर समय का अतिक्रमण करता है। जहां भी आस्था रहित समाज है, बाजार प्रलोभन की अंधता का शिकार समाज है,

एक भ्रष्ट और विवेकहीन सत्ता व्यवस्था है-वहां वहां 'अंधेर नगरी' है। चूंकि भारतेंदु के लिए साहित्य कला की बजाय जीवन के अधिक निकट था और उनका उद्देश्य सच्चे अर्थों में साहित्य नहीं समाज था, इसलिए उनका नाटक 'अंधेर नगरी' अत्यधिक संभावनापूर्ण है। जीवन की समस्याएं एवं व्यवस्था की कमियों को उजागर करती यह रचना एक कालजयी कृति बन गई और आगे आने वाले युगों के संदर्भ में भी प्रासंगिक बनी रहेगी। इस नाटक की रचना 1885 ईस्वी में हुई, लेकिन यह नाटक 1885 पर कम 2025 के भारत पर ज्यादा प्रासंगिक दिखती है। कुछ आलोचकों ने भारतेंदु को दूसरा कबीर भी कहा है। जिस प्रकार कबीर द्वारा उठाए गए प्रश्न आज के समय में भी अनुतरित है, ठीक उसी प्रकार भारतेंदु ने अंधेर नगरी में व्यवस्था और समाज की विकृतियों पर जो प्रश्न चिन्ह उठाए हैं, वह आज ही प्रासंगिक हैं। अपने अंतर्वस्तु को लेकर यह रचना एक कालजयी कृति है और हर युग में इसकी प्रासंगिकता बनी रहेगी।

सहायक प्रोफेसर
हिंदी विभाग
दयाल सिंह महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय
ईमेल-chittaranjan.kumar2009@gmail.com

आदिवासी : अस्मिता, इतिहास और संस्कृति का पुनर्पाठ

चन्द्रशेखर कुमार

शोध सारांश

भारत की सामाजिक संरचना में आदिवासी समुदायों का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। वे इस भूमि के मूल निवासी हैं, जिनकी जीवन शैली, सांस्कृतिक परंपराएँ, सामाजिक व्यवस्था और प्रकृति से सहजीवन की अवधारणाएँ भारतीय सभ्यता की नींव हैं। परंतु आधुनिक राष्ट्र-राज्य, औपनिवेशिक शासन, ब्राह्मणवादी परंपरा और विकासवाद ने आदिवासी समाज को लगातार हाशिये पर धकेला। इस शोध आलेख में 'आदिवासी' शब्द के ऐतिहासिक, भाषिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक आशयों का विश्लेषण किया गया है और यह बताने की कोशिश की गई है कि किस प्रकार यह शब्द एक अस्मितामूलक, वैकल्पिक विचारधारा और प्रतिरोध की चेतना का प्रतीक बन गया है।

आलेख का आरंभ आदिवासी शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ से किया गया है, जहाँ 'आदि' और 'वासी' के संयोग को उनकी मूल निवासिता और सांस्कृतिक गर्व से जोड़ा गया है। इसके पश्चात ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में आदिवासियों के प्रति अपनाए गए भेदभावपूर्ण दृष्टिकोण, वर्ण व्यवस्था में उनकी अनुपस्थिति और औपनिवेशिक पदवाचियों की व्याख्या की गई है। समकालीन आदिवासी समाज की समीक्षा करते हुए इस आलेख में उनके सामुदायिक जीवन, प्रकृति से सहजीवन, भाषाई परंपराओं, लोक साहित्य, धर्म और सांस्कृतिक संकटों को रेखांकित किया गया है।

'परिभाषा की राजनीति' खंड में इस बात की व्याख्या की गई है कि राज्य, धर्म और समाज किस प्रकार उन्हें 'अन्य' बना कर प्रस्तुत करते हैं और कैसे 'अनुसूचित जनजाति' जैसे प्रशासनिक शब्द उनकी अस्मिता को सीमित करते हैं। वहीं, 'उपेक्षा और प्रतिरोध' खंड में आदिवासी समाज द्वारा किए गए सशस्त्र संघर्ष, सांस्कृतिक पुनर्जागरण, साहित्यिक आंदोलन और राजनैतिक पहलुओं को स्थान दिया गया है।

अंत में आलेख में इस निष्कर्ष पर पहुँचने की कोशिश की गई है कि आदिवासी समाज केवल पिछड़ेपन का प्रतीक नहीं, बल्कि वह भारतीयता की एक समानांतर और सशक्त दृष्टि है। उनके साथ न्याय करना केवल संवैधानिक जिम्मेदारी नहीं, बल्कि सभ्यता के मूल्यों की पुनर्स्थापना है। यह आवश्यक है कि उन्हें न केवल संरक्षण मिले, बल्कि स्वायत्तता, सम्मान और सहभागिता के आधार पर उन्हें समाज का निर्णायक अंग माना जाए।

बीज शब्द - आदिवासी अस्मिता, अनुसूचित जनजाति, सांस्कृतिक प्रतिरोध, परिभाषा की राजनीति, उपेक्षा और विस्थापन, आदिवासी साहित्य, बिरसा मुंडा, जनजातीय आंदोलन, भूमि अधिकार, सरना धर्म, आदिवासी संस्कृति, समकालीन संकट, स्वायत्तता और सहभागिता, आदिवासी और राष्ट्र राज्य, वैकल्पिक सभ्यता दृष्टि।

भूमिका

भारत एक बहुभाषी, बहुजातीय और बहुधार्मिक देश है, जिसकी सामाजिक संरचना विविध जातीयताओं और संस्कृतियों से निर्मित हुई है। इस बहुलतावादी समाज की सबसे प्राचीन और मूलभूत इकाई है- आदिवासी समुदाय, जिन्हें भारतीय संविधान में 'अनुसूचित जनजाति' (Scheduled Tribe) कहा गया है, परंतु वे स्वयं को गर्वपूर्वक 'आदिवासी' कहते हैं। यह केवल एक पहचान नहीं बल्कि उनकी ऐतिहासिक उपस्थिति,

सांस्कृतिक परंपरा, सामाजिक संगठन और प्राकृतिक जीवन से गहरे रूप से जुड़ा हुआ एक अस्मिता-बोध है।

'आदिवासी' शब्द दो घटकों से मिलकर बना है :'आदि' (प्रारंभिक या मूल) और 'वासी' (निवासी)। यह नाम अपने आप में ही उस ऐतिहासिक दावे को उद्घाटित करता है कि ये समुदाय भारत की धरती पर सबसे पहले बसे, प्रकृति के साथ सामंजस्य में जीवन जीने वाले मानव समूह हैं। इनका अस्तित्व भारत के हर भूभाग में देखने को मिलता है- उत्तर के हिमालयी अंचलों से लेकर पूर्वोत्तर के घने वनों तक, मध्य भारत के पठारों से लेकर दक्षिण की पहाड़ियों तक। 2011 की जनगणना के अनुसार, भारत की कुल जनसंख्या का लगभग 8.6 प्रतिशत हिस्सा अनुसूचित जनजातियों का है। यह आँकड़ा इस बात की पुष्टि करता है कि आदिवासी समाज केवल एक सामाजिक-ऐतिहासिक अवशेष नहीं है, बल्कि आज भी सक्रिय, जीवंत और संघर्षशील समुदाय है।

परंतु, यह भी एक कटु सत्य है कि भारत जैसे लोकतांत्रिक और संवैधानिक राष्ट्र में आदिवासी समुदायों को लंबे समय तक हाशिए पर रखा गया। उनके सामाजिक योगदान, ऐतिहासिक विरासत और सांस्कृतिक जीवन को मुख्यधारा के इतिहास और विमर्शों में नजरअंदाज किया गया। उन्हें या तो 'जंगली', 'वनवासी', 'लंगोटिया', 'बर्बर', 'अन्यजाति' जैसे उपेक्षापूर्ण विशेषणों से पुकारा गया या फिर धार्मिक आख्यानों में 'राक्षस', 'असुर' या 'दैत्य' जैसे पात्रों से जोड़ दिया गया, जो न केवल उनकी गरिमा को ठेस पहुँचाते हैं, बल्कि उनके अस्तित्व को नकारने का भी एक माध्यम बनते हैं।

वर्तमान युग में, जब लोकतांत्रिक चेतना, सामाजिक न्याय और सांस्कृतिक विविधता की बातें की जा रही हैं, ऐसे में आदिवासी समाज को पुनः समझने और उसकी पहचान को उचित स्थान देने की आवश्यकता पहले से कहीं अधिक है। उनकी संस्कृति केवल एक परंपरा नहीं, बल्कि एक वैकल्पिक जीवन-दृष्टि है, जो उपभोगवादी और प्राकृतिक संसाधनों के दोहन पर आधारित विकास-प्रणाली को चुनौती देती है। आदिवासी संस्कृति में जो सामूहिकता, प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता, श्रम की गरिमा और सामाजिक समता का भाव है, वह आज के संकटग्रस्त वैश्विक परिप्रेक्ष्य में नई राह दिखा सकता है।

आदिवासी : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

आदिवासी समुदायों की पहचान का सबसे मूलभूत आधार उनकी भूमि, वन और जल से गहरी आत्मीयता रही है। उनके मिथक, लोककथाएँ और अनुष्ठान इसी जीवन-स्रोत से जुड़कर उनके सामाजिक ताने-बाने को गढ़ते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से, औपनिवेशिक शासन ने जहाँ आदिवासियों को 'असभ्य' या 'जंगली' कहकर हाशिए पर डालने की कोशिश की, वहीं स्वतंत्रता के बाद के राष्ट्र-निर्माण में भी उनकी पहचान अक्सर 'विकास' की मुख्यधारा से टकराती रही। आदिवासी संस्कृति की सबसे बड़ी शक्ति उसकी सामूहिकता और समानतावादी जीवन-दृष्टि है। लोकनृत्य, गीत, चित्रकला (जैसे गोंड, भील, सोहराय या वारली चित्र), और त्योहार उनके अस्तित्व को सामाजिक और आध्यात्मिक ऊर्जा प्रदान करते हैं। प्रकृति-केन्द्रित यह संस्कृति उपनिवेशवादी और आधुनिक औद्योगिक सोच के बरअक्स एक वैकल्पिक जीवन-दर्शन प्रस्तुत करती है।

इतिहास किसी भी समाज की स्मृति, पहचान और चेतना का मूल स्रोत होता है। लेकिन यह भी सच है कि इतिहास का लेखन प्रक्रिया हमेशा निष्पक्ष नहीं रही, विशेषतः भारत जैसे देश में जहाँ इतिहास का अधिकतर हिस्सा राजाओं, युद्धों और साम्राज्यों के आसपास केन्द्रित रहा। सामान्य जन, विशेषकर आदिवासी समुदाय, जिन्हें न शास्त्रों में स्थान मिला, न दरबारों में, वे मुख्यधारा के इतिहास से प्रायः बाहर कर दिए गए। मैनेजर पांडेय ठीक ही लिखते हैं- ''भारतीय समाज और संस्कृति के इतिहास में भारत के आदिवासी समाजों और उनकी संस्कृतियों के लिए कोई जगह नहीं है, न उनके होने का उल्लेख होता है न उनके विनाश का इतिहास।''

इतिहास के हाशिये पर आदिवासी समुदाय

इतिहास लेखन की मुख्यधारा में आदिवासी समुदायों को या तो 'अन्य' के रूप में प्रस्तुत किया गया या फिर 'राक्षस', 'असुर', 'दानव' जैसे मिथकीय प्रतीकों के माध्यम से कलंकित किया गया। रामायण, महाभारत और अन्य पुराणों में आदिवासियों का चित्रण प्रायः असभ्य, बलिष्ठ, मायावी और पराजित जातियों के रूप में होता है। यह प्रतीकात्मक चित्रण भारतीय संस्कृति की ब्राह्मणवादी सत्ता संरचना का प्रमाण है, जिसमें आदिवासी संस्कृति को 'विकास के मार्ग में बाधा' मान लिया गया।

हालाँकि, वास्तविकता यह है कि आदिवासी न केवल भारत के मूल निवासी हैं, बल्कि उन्होंने सभ्यता, कृषि, धातु निर्माण, और सामाजिक संगठन की नींव भी रखी। विभिन्न नृशास्त्रीय और पुरातात्विक अनुसंधानों ने सिद्ध किया है कि

भारत में मानव उपस्थिति का सबसे पहला प्रमाण उन्हीं क्षेत्रों से मिलता है, जहाँ आज आदिवासी जनसंख्या केंद्रित है, जैसे झारखंड, छत्तीसगढ़, ओडिशा, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र।

प्राचीनतम संदर्भ : असुर, निशाद और हड़ी जनजातियाँ

ऋग्वैदिक काल से ही असुर जनजाति का उल्लेख भारतीय साहित्यिक परंपरा में मिलता है। प्रारंभिक वैदिक संदर्भों में असुर शब्द देवताओं के समान शक्ति और गरिमा का प्रतीक था। 'असुर' का आशय उस समय जीवनदायी शक्ति, श्रेष्ठ सामर्थ्य और दैवी सत्ता से था। परंतु धीरे-धीरे ब्राह्मण ग्रंथों और उपनिषदों में आते-आते असुरों का रूपांतरण नकारात्मक अर्थों में होने लगा। देवताओं के समकक्ष मानी जाने वाली शक्ति को 'असभ्यता', 'क्रूरता' और 'अनार्यत्व' के रूप में प्रस्तुत किया गया।

यह परिवर्तन केवल धार्मिक प्रतीकों का रूपांतरण भर नहीं था, बल्कि उस दौर के सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष का प्रतीक भी था। असुर और अन्य आदिवासी समुदाय उस समय स्थानीय भू-भागों, वनों और संसाधनों पर अपनी परंपरागत सत्ता रखते थे। उनका जीवन-चक्र प्रकृति-केन्द्रित था और उनकी सामाजिक संरचना अपेक्षाकृत समानतावादी व लोक-केंद्रित थी। दूसरी ओर, आर्यों के आगमन के साथ ब्राह्मणवादी व्यवस्था और वैदिक अनुष्ठानों पर आधारित सत्ता-संरचना विकसित हो रही थी।

धार्मिक साहित्य में असुरों को 'शत्रु', 'असभ्य' और 'असंस्कारित' बताने का तात्पर्य यह था कि आदिवासी सत्ता को वैचारिक रूप से हाशिए पर डाला जाए और ब्राह्मणवादी वर्चस्व को 'धार्मिक वैधता' प्रदान की जाए। देव-असुर संघर्ष की कथा वस्तुतः उस ऐतिहासिक टकराव का साहित्यिक रूपक थी, जिसमें स्थानीय आदिवासी समुदाय और नए आगंतुक आर्य आमने-सामने थे।

रांगेय राघव जैसे विद्वानों ने आदिवासियों को भारत की सबसे प्राचीन जातियों में माना है। उनके अनुसार- ''जहाँ हब्सी और निषाद रहते थे वहाँ कोल, भील, संथाल, मुण्डा आदि आये। पहले लोग वन मनुष्य की भाँति रहते थे, नये लोगों ने आकर उन्नति की, वे जंगली अवस्था में थे उसके बाद द्रविड़ आये।'' विशेषतः असुर जनजाति का उल्लेख ऋग्वेद में आता है, जहाँ वे देवताओं के समकक्ष शक्ति के रूप में वर्णित हैं। बाद के ब्राह्मण ग्रंथों में इन असुरों को नकारात्मक और शत्रु के रूप में चित्रित किया गया। इन धार्मिक ग्रंथों में असुरों को असभ्य, संस्कारविहीन, क्रूर, अशिक्षित, घमंडी, अहंकारी आदि रूपों में चित्रित किया गया है। यह धार्मिक साहित्यिक बदलाव, दरअसल एक राजनीतिक संघर्ष का प्रतीक था, जहाँ एक ओर आदिवासी समुदायों की स्थानीय सत्ता थी और दूसरी ओर आर्य आगमन के साथ ब्राह्मणवादी वर्चस्व का विस्तार आया। इस प्रकार, असुरों की छवि का यह परिवर्तन एक सोची-समझी सांस्कृतिक राजनीति का परिणाम था, जिसमें सत्ता और धर्म की गहरी सांठगांठ दिखाई देती है। यह वही प्रक्रिया थी जिसने धीरे-धीरे आदिवासी समाज को 'मूलनिवासी' होते हुए भी मुख्यधारा से अलग-थलग कर दिया। आज जब हम असुर या अन्य आदिवासी जनजातियों की पहचान पर विमर्श करते हैं, तो यह समझना जरूरी हो जाता है कि उनका ऐतिहासिक बहिष्कार केवल सामाजिक-आर्थिक नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और धार्मिक विमर्श के स्तर पर भी गढ़ा गया था।

ब्रिटिश काल और उपेक्षा का दौर

ब्रिटिश शासन में आदिवासियों को जंगल कानूनों, भूमि सुधार अधिनियमों और कराधान के जरिए उनके पारंपरिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया। अंग्रेजों ने पहली बार 1891 में जनगणना में ''वाइल्ड ट्राइब्स'' का उल्लेख किया और आदिवासियों को 'पिछड़े' और 'शोषित' वर्ग के रूप में वर्गीकृत किया। 1941 की जनगणना तक आते-आते इन समुदायों को सिर्फ 'जनजातियाँ' कह दिया गया। संविधान बनने के बाद 1950 में अनुच्छेद 342 के तहत इन्हें 'अनुसूचित जनजाति' नाम दिया गया।

इतिहास ने आदिवासियों को हमेशा या तो उपेक्षित किया या मिथकीय नकारात्मक पात्रों में बदल दिया। आज जब आदिवासी लेखन, शोध, साहित्य और आंदोलन एक नए पुनर्जागरण की ओर बढ़ रहे हैं, तब यह आवश्यक है कि-

★ उनके इतिहास को उनकी दृष्टि से पढ़ा जाए

★ लोककथाएँ, गीत, चित्रकला और विद्रोह की स्मृतियाँ इतिहास का हिस्सा बनें

★ आदिवासी चेतना को स्वतंत्र और स्वायत्त राजनीतिक, सांस्कृतिक इकाई के रूप में स्वीकार किया जाए।

समकालीन आदिवासी समाज एवं संस्कृति

भारत का आदिवासी समाज आज एक दोहरे यथार्थ के बीच खड़ा है-एक ओर उसका गौरवशाली सांस्कृतिक और सामाजिक अतीत, दूसरी ओर समकालीन संकट, विस्थापन

और उपेक्षा का अनुभव। वह समाज जो कभी प्रकृति, सामूहिकता, परंपरा और आत्मनिर्भरता के मूल्यों पर आधारित था, आज बाजारवाद, प्रशासनिक हस्तक्षेप और सांस्कृतिक अपहरण की चपेट में है। फिर भी, समकालीन आदिवासी समाज अपनी संस्कृति और अस्मिता को बचाए रखने के लिए संघर्षशील है।

आदिवासी समाज एक सामूहिक जीवन व्यवस्था में विश्वास करता है। ''मैं'' की जगह ''हम'' की भावना उसमें गहराई से समाई होती है। परिवार, टोला, कबीला, गांव, ये सब एक विस्तृत सामाजिक ताना-बाना रचते हैं, जहाँ निजी संपत्ति की अवधारणा अत्यंत सीमित होती है।

ग्राम व्यवस्था : आदिवासी गांवों में कोई एक व्यक्ति प्रमुख होता है। जैसे मुखिया, मांझी, मांझीबाबा या पटेल, जो निर्वाचित या सामूहिक सहमति से चुना जाता है।

टोला प्रथा : आदिवासियों में विवाह, विरासत और सामाजिक अनुशासन टोला या गोत्र पर आधारित होता है।

लिंग समता : अधिकांश आदिवासी समाजों में पुरुष और स्त्री के बीच स्वायत्तता और सम्मान का रिश्ता होता है। स्त्रियाँ उत्पादन, निर्णय और अनुष्ठानों में भागीदारी करती हैं।

आदिवासी संस्कृति का सबसे विशेष पक्ष है- प्रकृति के साथ उनका गहन संबंध। पर्व, त्योहार, गीत, नृत्य, पूजा-पद्धति, भाषा और मिथक-सभी जंगल, नदियों, जानवरों, पहाड़ों और मौसमों से जैविक रूप से जुड़े हुए हैं। रमणिका गुप्ता लिखती हैं-''आदिवासी संस्कृति एक जीवंत परंपरा है जो लिखित नहीं, बल्कि मौखिक, गीतात्मक और नृत्यात्मक रूप में जीवित रहती है। यह स्मृति आधारित संस्कृति है, जिसमें वंश, ज्ञान और चेतना पीढ़ी दर पीढ़ी संप्रेषित होती है।''

आदिवासी समाज में लिखित संस्कृति की जगह मौखिक परंपरा अधिक सशक्त रही है। उनकी भाषाएँ जैसे- संताली, मुंडारी, कुरुख, गोंडी, हो, खड़िया, भिल्लारी, कोरकू आदि न केवल बोली हैं, बल्कि संस्कृति की आत्मा हैं। संताली को अब भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल किया गया है। इन भाषाओं में लोकगीत, कहावतें, मिथक और स्मृति आख्यान पीढ़ियों से हस्तांतरित हो रहे हैं। 'बिरसा मुंडा' की गाथा, 'सिदो-कान्हू' के विद्रोह, 'तेलंगा खड़िया' की वीरता जैसे प्रसंग लोक-गीतों के रूप में जीवित हैं। गया पांडेय लिखते हैं-''आदिवासी साहित्य को साहित्य मानने में भी साहित्य समाज को सदियाँ लग गईं, क्योंकि वह न तो किताबों में था, न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में, पर वह हर आदिवासी के जीवन में जीवंत था।''

वैश्वीकरण, शहरीकरण, औद्योगीकरण और खनिज संपदाओं के दोहन के चलते आदिवासी समाज आज गंभीर संकटों से जूझ रहा है। रामदया चौधरी का कथन उल्लेखनीय है, वे लिखते हैं- ''आदिवासी संस्कृति को या तो नष्ट किया गया या पचा लिया गया, लेकिन उसे समानांतर विचारधारा की तरह स्वीकार नहीं किया गया।''

इन तमाम संकटों के बीच आदिवासी समाज ने केवल पीड़ा नहीं सही, बल्कि सर्जना और प्रतिरोध की एक नई संस्कृति को जन्म दिया। यह प्रतिरोध केवल आंदोलनात्मक नहीं, बल्कि सांस्कृतिक भी है।

आदिवासी बनाम अनुसूचित जनजाति :- शब्द और परिभाषा की राजनीति

शब्द कभी केवल शब्द नहीं होते, वे राजनीतिक, वैचारिक और ऐतिहासिक हथियार होते हैं। वे न केवल किसी पहचान को परिभाषित करते हैं, बल्कि यह भी तय करते हैं कि उस पहचान को सामाजिक स्वीकार्यता मिलेगी या नहीं। 'आदिवासी' शब्द भी एक ऐसा ही सांस्कृतिक-राजनीतिक शब्द है, जो अपने भीतर पहचान, स्वीकृति और अस्वीकृति के संघर्षों को समेटे हुए हैं। ऑक्सफोर्ड शब्दकोश में आदिवासी शब्दों को परिभाषित करते हुए लिखा गया है-''जनजाति विकास के आदिम अथवा बर्बर आचरण में लोगों का एक समूह है जो एक मुखिया की सत्ता स्वीकारते थे तथा साधारणतया अपना एक समान पूर्वज मानते हों।''

आदिवासी स्वयं को भारत की धरती पर मूल निवासी मानते हैं। उनका तर्क है कि मानव की उत्पत्ति से ही वे यहाँ के निवासी हैं। भारतीय संविधान में आदिवासी समुदायों के लिए प्रयुक्त शब्द है-'अनुसूचित जनजातियाँ' (Scheduled Tribes)। यह शब्द 1950 में संविधान के अनुच्छेद 342 के अंतर्गत सरकारी परिभाषा और प्रशासनिक कार्यान्वयन हेतु दिया गया। 'आदिवासी' को 'अनुसूचित जनजाति' कहने के पीछे डॉ. भीमराव अंबेडकर का कथन है-''आदिवासी शब्द वास्तव में एक सामान्य शब्द है, जिसमें कोई वैधानिक विधित अर्थ बोध नहीं है, जबकि 'अनुसूचित जनजाति' शब्द में एक निश्चित अर्थ है क्योंकि यह जनजातियों को परिभाषित करता है।'' परंतु यहीं से एक गहरी सांस्कृतिक असहमति की शुरुआत होती है।

''सरकार उन्हें 'अनुसूचित जनजाति' कहती है, लेकिन वे स्वयं को 'आदिवासी' कहना पसंद करते हैं, क्योंकि इस शब्द में इतिहास, गौरव और भूमि से जुड़ाव का भाव है।''' अनुसूचित जनजाति' एक कृत्रिम प्रशासनिक श्रेणी है, जिसमें सरकार ने कुछ जातियों को आरक्षण, विकास योजनाओं और संरक्षण देने हेतु सूचीबद्ध किया। लेकिन यह नामकरण उन्हें उनके इतिहास से जुड़ी पहचान को नकारता है, नस्ल, भाषा, संस्कृति की विविधता को समतल करता है, उनके वैकल्पिक ज्ञान और सभ्यता को अदृश्य करता है और उन्हें केवल 'कल्याणार्थ' समुदाय में सीमित कर देता है। रमणिका गुप्ता के शब्दों में : ''आदिवासी शब्द उस पहचान का प्रतीक है जो खुद को इस धरती की असली संतान मानता है, जबकि 'अनुसूचित जनजाति' जैसी संज्ञाएँ उसे एक कृत्रिम वर्ग में सीमित कर देती हैं।''

आदिवासी समाज की उपेक्षा और प्रतिरोध

भारत की विविध सामाजिक संरचना में आदिवासी समाज सबसे प्राचीन, विशिष्ट और स्वायत्त इकाई के रूप में विद्यमान रहा है। फिर भी, उसकी सांस्कृतिक गरिमा, सामाजिक व्यवस्था और ऐतिहासिक उपस्थिति को लंबे समय तक नकारा गया। यही नहीं, उसे विकास, आधुनिकता और 'मुख्यधारा' के नाम पर एक ऐसे 'अन्य' में तब्दील कर दिया गया, जिसे या तो सुधारने की आवश्यकता है या जिसे चुपचाप हाशिये पर जीने दिया जाए। लेकिन आदिवासी समाज ने यह स्थिति स्वीकार नहीं की। उसने अपने अस्तित्व, भूमि, संस्कृति और अस्मिता की रक्षा के लिए सतत प्रतिरोध किया। कभी सशस्त्र विद्रोह, कभी सांस्कृतिक पुनरुत्थान और कभी साहित्यिक-सामाजिक आंदोलन के रूप में। रमणिका गुप्ता लिखती हैं : ''विकास के नाम पर आदिवासियों को उनकी जड़ों से उखाड़ा गया और फिर कहा गया—'यह तुम्हारे भले के लिए है'। यह भला आदिवासी नहीं, विकासवादियों के लिए था।'' आदिवासी समाज की उपेक्षा कोई संयोग नहीं, बल्कि एक सुनियोजित सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परियोजना का हिस्सा रही है। परंतु आदिवासी समुदायों ने इस अन्याय को मौन स्वीकृति नहीं दी, बल्कि संघर्ष, रचनात्मकता और सृजन के माध्यम से अपने अस्तित्व की रक्षा की। यही प्रतिरोध उन्हें अन्य समुदायों से अलग बनाता है। आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है कि इस प्रतिरोध को केवल ''हाशिये के विद्रोह'' के रूप में न देखा जाए, बल्कि उसे एक वैकल्पिक सभ्यता और मानवीय भविष्य की प्रस्तावना के रूप में स्वीकार किया जाए। रमणिका गुप्ता लिखती हैं-''आदिवासी समाज को बहुत कम लोग जानते हैं क्योंकि लोग उतना ही जानेंगे जितना उन पर लिखा गया है। हिन्दी साहित्य में बहुत से विमर्शों की तुलना में आदिवासी विमर्श की गूंज कम दिखलाई पड़ती है।''

निष्कर्ष

भारत जैसे सांस्कृतिक रूप से बहुल समाज में आदिवासी समुदायों की उपस्थिति न केवल ऐतिहासिक सत्य है, बल्कि वह इस भूमि की सभ्यता, चेतना और नैतिकता का मूल आधार भी रही है। तथापि इतिहास, समाज और शासन व्यवस्थाओं ने उन्हें एक 'हाशिये के समुदाय' में तब्दील कर दिया, जिसका मुख्य कारण रहा- परिभाषा की राजनीति, सांस्कृतिक उपेक्षा, आर्थिक शोषण और राजनीतिक अदृश्यता। अब तक के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि आदिवासी केवल 'पिछड़े', 'अशिक्षित' या 'वनवासी' नहीं हैं, बल्कि वे एक स्वतंत्र सांस्कृतिक शक्ति, सृजनशील सभ्यता और प्रतिरोध की ऐतिहासिक परंपरा के संवाहक हैं।

आदिवासी समाज केवल अतीत की स्मृति नहीं है, बल्कि वह वर्तमान की चेतना और भविष्य की संभावना भी है। उसका ज्ञान लोक आधारित है, प्रकृति-सम्मत है और सामाजिक समता पर आधारित है, जिसमें आज के समाज को बहुत कुछ सीखने की आवश्यकता है। भारत को यदि वास्तविक रूप से लोकतांत्रिक, बहुलतावादी और समावेशी राष्ट्र बनना है, तो उसे आदिवासी समाज को केवल संरक्षण की दृष्टि से नहीं, बल्कि साझेदारी, सम्मान और सहजीवन के दृष्टिकोण से देखना होगा। भारत की बहुस्तरीय सांस्कृतिक संरचना में आदिवासी समाज की उपेक्षा ऐतिहासिक और व्यवस्थागत रही है। 'अनुसूचित जनजाति' जैसे प्रशासनिक शब्दों के पीछे उनकी अस्मिता छिप जाती है। आवश्यकता इस बात की है कि उन्हें 'आदिवासी' के नाम से संबोधित किया जाए, उनकी संस्कृति को समझा जाए, संरक्षण नहीं, सहभागिता दी जाए। आज जबकि विकास का एकतरफा मॉडल आदिवासी जीवन और प्रकृति के विरुद्ध खड़ा हो गया है, यह जरूरी है कि उनके ज्ञान, परंपरा और संस्कृति को न केवल संरक्षित किया जाए, बल्कि उससे सीखने का दृष्टिकोण अपनाया जाए।

सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
अनजबित सिंह महाविद्यालय, बिक्रमगंज
chand.shekhar78@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. मैनेजर पाण्डेय, भारतीय समाज में प्रतिरोध की परंपरा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
2. रमणिका गुप्ता (संपादक), आदिवासी साहित्य यात्रा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
3. रांगेय राघव, प्राचीन भारतीय परंपरा और इतिहास, आत्माराम एंड संस, नई दिल्ली : लोकभारती प्रकाशन, 1958
4. डॉ. रेखा दुबे (संपादक), हासिये का समाज और साहित्य
5. डॉ. डी. एन. मजूमदार, भारत की जनसंस्कृति
6. रमणिका गुप्ता (संपादक), आदिवासी कौन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
7. जेरोम कुजूर और आशा बेक, झारखंड का आदिवासी समाज, (संपादक- रणेन्द्र), झारखंड की जनजातियाँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
8. रूपचन्द्र वर्मा, भारतीय जनजातियाँ, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली
9. नया ज्ञानोदय, अंक- मार्च 2010, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
10. नदीम हसनैन, जनजातीय भारत, जवाहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली
11. रमणिका गुप्ता (संपादक), आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

डॉ. मंजु लता

संस्कृत साहित्य के विविध आयामों में निहित राष्ट्र भावना

संस्कृत साहित्य का वर्ण्य विषय सीमित नहीं है अपितु राष्ट्र प्रेम, राष्ट्र के प्रति सुरक्षा का भाव समाज कल्याण का भाव तथा सांस्कृतिक रूप से एकात्मकता भी दृष्टिगोचर होती है। संस्कृत साहित्य में राष्ट्र भावना को समझने के लिए हमें निम्न पहलुओं को समझाना आवश्यक है–

वेदों में राष्ट्र भावना

वेद भारतीय संस्कृति के मूल आधार माने गए हैं जिनमें ज्ञान, धर्म, समाज के प्रति समर्पण भाव, प्रकृति एवं राष्ट्र के प्रति प्रेम भाव, कर्तव्य के प्रति रुझान तथा एकता के प्रति झुकाव यह सब कुछ प्राप्त होता है। राष्ट्र के लिए वेदों में जनपद, भूमि, साम्राज्य इत्यादि शब्द मिलते हैं।

अथर्ववेद में भूमि को माता तथा स्वयं को उसका पुत्र माना गया है अर्थात् राष्ट्र को मातृभूमि के रूप में अनुमोदित किया गया है–

''माता भूमिः पुत्रोहम पृथिव्याः'' (12.1.12)

वैदिक ऋषि यहाँ मात्र राष्ट्र की कल्पना नहीं करता है अपितु उसे मातृभूमि का रूप देकर उससे आत्मीयता प्रदर्शित कर रहा है। अथर्ववेद के 12वें कांड का प्रथम सूक्त भुमिसुक्त या पृथ्वी सूक्त कहलाता है इसमें 12वें मन्त्र में ऋषि अथर्वा ने पृथ्वी को माता तथा स्वयं को उसका पुत्र बतलाकर पृथ्वी की श्रेष्ठता को उजागर करने का प्रयास किया है।

ऋग्वेद में भूमि, जन, धर्म तथा संस्कृति इत्यादि को राष्ट्र के समरूप स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद की कुछ ऋचाएं राष्ट्र से सम्बंधित प्राप्त होती हैं जैसे –

''संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥''
(ऋग्वेद,10.191.2-4)

अर्थात् तुम सब मिलकर चलो, एक स्वर में बोलो और मन को एक करो। जैसे यज्ञ में देव लोग एकत्रित होकर कार्य करते हैं वैसे ही तुम सब एकत्रित होकर समस्त कार्य करो। यह मन्त्र प्राचीन काल से लेकर नवीन काल तक राष्ट्रीय एकता एवं सामाजिक एकता का प्रतीक है। राष्ट्र की रक्षा हेतु भी इसमें संकल्प लेते हुए कहा गया है कि **''वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः''** (ऋग्वेद, 3.30.3) अर्थात् हम राष्ट्र के जागरूक पुरोहित बनकर राष्ट्र की रक्षा करें। ऋग्वेद में राष्ट्र भावना की अभिव्यक्ति मातृभूमि, समर्पण, एकता इत्यादि के रूप में होती है।

शुक्ल यजुर्वेद संहिता में भी राष्ट्र भावना दिखाई देती है। इसका 22वां मन्त्र वेद का राष्ट्रीय गीत कहा जाता है

''ओम् आ ब्रह्मन.....योगक्षेमो नः कल्पताम्॥''

इस मन्त्र में राष्ट्र की सब ओर से प्रगति हो इसका आह्वान किया गया है। बुद्धिजीवी तथा बलजीवी लोगों से मिलकर अपने दिए हुए कर्तव्यों का पालन करते हुए समस्त जनता राष्ट्र की आने वाले पीढ़ी का निर्माण करें। उपरोक्त मन्त्र में राष्ट्र के सर्वोदय की कामना की गयी है।

नीति साहित्य में राष्ट्र भावना

चाणक्य नीति -

चाणक्य ने राष्ट्र की संकल्पना करते हुए उसका निर्माण सात अंगों से माना है यथा–स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड तथा मित्र या सुहृद। एक कुशल राष्ट्र के निर्माण के लिए आवश्यक है कि इनमें संतुलन बना रहे। यह सभी

अंग समान रूप से आवश्यक हैं। इनके अनुसार राष्ट्र सर्वोपरि है। इनके अनुसार राजा तथा प्रजा को सदैव राष्ट्र सुरक्षा के लिए तत्पर रहना चाहिए। सच्चे अर्थों में एक योग्य राजा वही है जो राष्ट्र के कल्याण के लिए नि:स्वार्थ सेवा करे। यदि आर्थिक संसाधन सशक्त हो तो राष्ट्र उन्नति के मार्ग की ओर सदैव प्रशस्त रहेगा। स्वयं के लाभ के लिए कभी भी राष्ट्र से धोखा नहीं करना चाहिए। यदि राजा भ्रष्टाचार में लिप्त होगा तो राष्ट्र भी कमजोर हो जायेगा। राष्ट्र की रक्षा के लिए गुप्तचरों को नियुक्त करना चाहिए, समय-समय पर चतुरंगी सेना (अश्व सेना, पदाति सेना, रथ सेना तथा हस्ति सेना) का तथा उनके अध्यक्षों का सर्वेक्षण करते रहना चाहिए। सैन्य कर्मचारियों को उचित वेतन तथा पुरस्कारों द्वारा प्रसन्न रखना चाहिए। चाणक्य नीति के अंतर्गत ना केवल राष्ट्र तंत्र को मजबूत बनाने का प्रयास किया गया है अपितु यह भी बताया गया है कि एक सशक्त राष्ट्र का निर्माण किस प्रकार से किया जा सकता है।

शुक्रनीति

शुक्रनीति शुक्राचार्य द्वारा रचित ग्रन्थ है जिसमें राष्ट्र तथा राष्ट्रीय भावना से सम्बंधित ज्ञान प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ के अनुसार राजा का प्रथम कर्तव्य है प्रजा की सुरक्षा करना जिससे प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट ना हो। राष्ट्र में आंतरिक शांति स्थापित करनी चाहिए तथा उत्पात मचाने वालों को दण्ड देना चाहिए। सामाजिक न्याय व्यवस्था बनाये रखने के लिए राजा को यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म का पालन करे तथा नैतिक मूल्यों का ध्यान रखे। शुक्रनीति में भी राज्य के सप्तांग माने गए है जो इस प्रकार हैं—राजा, अमात्य, मित्र, कोष, राष्ट्र, दुर्ग तथा बल। इन सातों अंगों का सुचारू रूप से कार्य करना अति आवश्यक है। सभी अंग समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। सैन्य तथा राष्ट्र की सुरक्षा के लिए तथा उसकी समृद्धि के लिए कोष का अधिक महत्त्व है। राजकोष कभी भी रिक्त नहीं होना चाहिए। अत: राजा को राष्ट्र तथा प्रजा के हित के लिए धन संग्रह करना भी अनिवार्य है परन्तु इसके लिए भी नियम है कि धन संग्रह करते समय प्रजा की स्थिति का ध्यान रखना चाहिए अत: किसी से भी अन्याय पूर्वक धन ना वसूले तथा आपातकाल की स्थिति होने पर धन संग्रह की उचित नीति का पालन करे।

हितोपदेश

हितोपदेश की रचना मूर्ख राजकुमारों को राजनीतिक शास्त्र, धर्म तथा कर्तव्यों के प्रति पारंगत बनाने के लिए की गयी थी जिससे वह योग्य शासक बन सकें। इसकी कथाओं से बारम्बार यह उपदेश दिया गया है कि यदि राजा राष्ट्र के हित का ध्यान नहीं करता है तो कैसे उसके राज्य का पतन हो जाता है। इसमें बताया गया है कि साम, दान, दण्ड तथा भेद यह चारों उपाय राजनीति के लिए आवश्यक हैं। एक कुशल शासक को समयानुसार इन उपायों का प्रयोग करके अपने राष्ट्र की सुरक्षा करनी चाहिए यदि राजा तथा प्रजा धर्म विहीन ही जायेंगें तो राष्ट्र के लिए विनाशकारी हो जायेगा। राजा को सदैव किसी बुद्धिमान व्यक्ति से ही परामर्श करना चाहिए। इसके अनुसार राष्ट्र का उचित सञ्चिालन करने के लिए नीति तथा धर्म का आश्रय लेना चाहिए। दुष्ट लोगों से राज्य को बचाना चाहिए। इसमें कथाओं के माध्यम से राष्ट्र की रक्षा, राजनितिक आचार-व्यवहार तथा नैतिक मूल्यों का महत्त्व बताया गया है।

पंचतंत्र

हितोपदेश के समान ही पंचतंत्र का भी मुख्य उद्देश्य राजकुमारों को पशु-पक्षियों की कथाओं के माध्यम से कुशल राजनीतिज्ञ बनाने का प्रयास है। इसके पाँच भाग इस प्रकार हैं- मित्रभेद, मित्रलाभ, काकोलूकीयम्, लब्धप्रणाश तथा अपरीक्षितकारक। उपरोक्त पाँचों तंत्रों के माध्यम से यह बताया गया है कि राष्ट्र की रक्षा कैसे करनी चाहिए, नीति तथा कूटनीति का प्रयोग कैसे करना चाहिए, समाज का निर्माण किस प्रकार करना चाहिए तथा राजा का अपने मंत्रियों तथा सहयोगियों से कैसा सम्बन्ध होना चाहिए। राजा को राष्ट्र का मूल आधार माना गया है इसलिए राजा को राष्ट्र हित के लिए सदैव सजग रहना चाहिए। इसकी कुछ कथाएं इस प्रकार है जो प्रेरणा का मूल स्रोत हैं -जैसे बन्दर लकड़हारा की कथा द्वारा यह बताया गया है कि राजा को कभी भी किसी मूर्ख से मित्रता नहीं करनी चाहिए, कबूतर तथा जाल की कहानी के द्वारा एकता में ही बल है इस गुण को दर्शाया गया है, सिंह तथा सियार की कथा द्वारा राजा को चापलूसों से दूर रहने के विषय में बताया गया है। अत: हम कह सकते हैं कि इसकी प्रत्येक कथा कोई ना कोई सन्देश अवश्य देती है। यह एक राजनितिक एवं सामाजिक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ बताता है कि राष्ट्र को मात्र धरा नहीं समझाना चाहिए अपितु नीति तथा बुद्धि द्वारा उसको रक्षित करना चाहिए।

महाकाव्यों में राष्ट्र भावना

रामायण तथा महाभारत हमारे महाकाव्य माने जाते हैं जो की राष्ट्र भावना से ओतप्रोत हैं।

रामायण –

रामायण को आदिकाव्य भी कहा जाता है। यह न केवल एक ग्रन्थ मात्र है अपितु इसके अंतर्गत भारतीय संस्कृति तथा राष्ट्रवाद की भावना भी अन्तर्निहित है इस ग्रन्थ से राष्ट्र के प्रति प्रेम तथा उसके प्रति निष्ठा जैसे विषयों पर ज्ञान प्राप्त होता है जिसे निम्न पहलुओं द्वारा समझा जा सकता है—राम अपने देश के लिए तथा उसकी प्रजा के लिए हर बलिदान देने के लिए तत्पर है तभी तो एक धोबी के कहने पर सीता का त्याग कर देते हैं उनका यह त्याग प्रजा के प्रति समर्पित भाव तथा न्याय के प्रति प्रतिबद्धता, राष्ट्र के प्रति अखंडता तथा एकता को प्रदर्शित करता है। सीता त्याग की मूर्ति मानी गयी है वनवास से वापस आकर अग्नि परीक्षा देना उनका राष्ट्र के प्रति समर्पण के भाव को दर्शाता है हनुमान का भी रावण से युद्ध करना तथा राम के प्रति उनकी अटूट भक्ति भी उनकी राष्ट्र के प्रति निष्ठा को दिखाती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि रामायण को राष्ट्र भावना का ग्रंथ मानना कोई अतिश्योक्ति नही है।

महाभारत

महाभारत में राष्ट्र भावना ऐसा विषय है जो केवल युद्ध का ग्रन्थ नहीं है अपितु ग्रन्थ में चारों ओर बिखरा हुआ है। जैसे इस ग्रन्थ में वर्णित भूभाग के अंतर्गत पर्वत, नदियों, वन, उपवन तथा नगरों का वर्णन है। इसके अन्दर विविध नृपों तथा राजवंशों के मध्य ऐतिहासिक सम्बन्ध तथा युद्धों का वर्णन है। इसके कई पात्रों जैसे भीष्म, विदुर, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य इत्यादि के प्रसंगों द्वारा राष्ट्र प्रेम दर्शाया गया है। युधिष्ठिर एक ऐसा शासक है जिसके प्रशासन काल में सब ओर समानता, न्याय तथा राष्ट्र समृद्धि व्याप्त है जो कि राष्ट्र भावना को दर्शाता है इसी प्रकार युधिष्ठिर द्वारा किए गये राजसूय यज्ञ के माध्यम से विभिन्न राजाओं द्वारा उसकी अधीनता स्वीकार करना तथा उसे उपहार देना उस समय की राष्ट्र व्यवस्था को दिखाता है। कृष्ण द्वारा युधिष्ठिर को दिया गया राजनैतिक ज्ञान भी राष्ट्र भावना को ही दिखलाता है। इसी प्रकार पाण्डवों द्वारा दिग्विजय प्राप्त करना तथा अपने राज्य का विस्तार करना भी राष्ट्र की भावना तथा उनकी राज्य विस्तार की महत्वाकांक्षा को दर्शाता है। कृष्ण के द्वारा अपने राष्ट्र की सुरक्षा हेतु सभी चारों उपायों को श्रेष्ठ माना गया है। विदुर महान नीतिज्ञ थे जिनके अनुसार किसी राष्ट्र को सम्यक रूप से चलाने के लिए नैतिकता, प्रजा की सुरक्षा, सुयोग्य तथा कुशल मन्त्री गण का होना आवश्यक है। अर्जुन के मोह भंग के प्रसंग के द्वारा राष्ट्र हित को सर्वोपरि रखकर अपने व्यक्तिगत हित को दूर रखने का प्रयास करना चाहिए यह ज्ञान दिया गया है। महाभारत में कहा भी गया है—

''प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानाम् तु हिते हितम्।''

(शांतिपर्व)

यह कथन राष्ट्र के प्रति पूर्ण समर्पण तथा जनकल्याणकारी शासन व्यवस्था को आदर्श के रूप में प्रदर्शित करता है।

मनुस्मृति –

मनुस्मृति में राष्ट्र शब्द का प्रयोग जनपद या राज्य के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। इसमें राजा को राष्ट्र का संरक्षक माना गया है जिसे प्रजा की रक्षा के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए, राष्ट्र में न्याय-व्यवस्था बनाने का हर भरसक प्रयास करना चाहिये तथा धर्म की रक्षा करनी चाहिए। राजा का प्रजा के साथ सम्बन्ध पिता पुत्र जैसा होना चाहिए। मनु ने अपने ग्रन्थ में सभी जातियों तथा वर्गो के लिए कुछ नीति नियम बनाये हैं जिनका पालन करना सभी के लिए अनिवार्य है इससे समाज में व्यवस्था तथा स्थिरता बनी रहेगी। राष्ट्र की एकता तथा अखंडता को बनाये रखने के लिए राजा का धर्म प्रिय, न्याय प्रिय, संबंधों के प्रति स्नेहमयी भाव तथा शक्तिशाली होना आवश्यक है। सदैव प्रजा के हित के लिए कार्यरत रहना चाहिए। इसके सप्तम अध्याय में राजधर्म का निरूपण किया गया है जिसके अंतर्गत राजा के कर्तव्य कौन कौन से हैं- यथा प्रजा संरक्षण के साथ ही साथ उचित न्याय व्यवस्था का निर्माण करना। राजा की उत्पत्ति कैसे हुई इस विषय में माना जाता है कि इंद्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चंद्रमा तथा कुबेर इन आठ देवताओं से राजा की उत्पत्ति मानी गयी है। दण्ड का विधान किस प्रकार का होना चाहिए अर्थात् अपराध के अनुसार दण्ड का निर्धारण होना चाहिए अर्थात् यदि अपराध छोटा है तो दण्ड भी कम परन्तु यदि अपराध भयंकर है तो दण्ड भी वैसा ही होना चाहिए। मंत्रीगण, सेनापति, अधिकारी गण, गुप्तचर की नियुक्ति किस आधार पर होनी चाहिए अर्थात् इनकी नियुक्ति में स्थान, काल, वंशगत परंपरा, देश प्रेम इत्यादि का ध्यान रखना चाहिए। दुर्ग का निर्माण कैसा होना चाहिए अर्थात् दुर्ग शत्रु द्वारा अजेय होना चाहिए, सभी प्रकार की सुविधाओं से युक्त द्धस्वर्णकार, कुम्हार, चमार, कृषक, लोहार इत्यादि से युक्तऋ होना चाहिए। युद्ध नीति का निर्माण कैसे करना चाहिए। कर व्यवस्था का निर्माण किस प्रकार का होना चाहिए इत्यादि समग्र विषयों पर विचार-विमर्श किया गया है जो कि राष्ट्र

भावना से सम्बंधित हैं।

पुराणों में राष्ट्र भावना

पुराणों में राष्ट्र को एक इकाई के रूप में देखा गया है यहाँ ना केवल भौगोलिक एकता पर बल दिया गया है अपितु राष्ट्र के प्रति कर्तव्यों तथा देश के प्रति प्रेम को भी प्रदर्शित किया गया है इनमें स्वतंत्रता, विश्व कल्याण आदि को राष्ट्र के प्रमुख कर्तव्यों के रूप में माना गया है। राष्ट्र की एकता तथा अखंडता से राष्ट्र संबल बनता है। विष्णुपुराण के द्वितीय अंश के तीसरे अध्याय में भारत भूमि की प्रशंसा की गयी है यथा–

''अत्रापि भारतं श्रेष्ठम् जम्बूद्वीपे महामुने।
यतो हि कर्मभूरेषा ह्यतोन्या भोगभूमयः॥''(विष्णुपुराण)

अर्थात् हे महामुनि ! इस जम्बू द्वीप में भी भारत भूमि सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि यह कर्मभूमि है इसके अतिरिक्त अन्यान्य देश भोग–भूमियां हैं।

पुराणों में जो कथाएं प्राप्त होती हैं जैसे भक्त प्रह्लाद, राजा हरिश्चंद्र की सत्य के प्रति आस्था, ध्रुव इत्यादि उनसे भावनात्मक एकता का विकास होता है। सभी पुराण संस्कृत भाषा में रचित होने के कारण संस्कृत भाषा संवाद तथा शिक्षा का माध्यम बनी। भारतीय संविधान बनाने वालों ने भी संस्कृत को सभी भाषाओं की जननी के रूप में स्वीकार किया है। अतः संस्कृत एक राष्ट्र भाषा के रूप में प्रचलित हुई है।

नाटकों में राष्ट्र भावना -

नाटक मात्र मनोरंजन का साधन नहीं हैं अपितु समाज का आईना होते हैं, जो हमें समाज में हो रही गतिविधियों को दिखाते हैं तथा उनसे परिचित कराते हैं। यह राष्ट्र भक्ति, जन जागरूकता और समाज में चेतना फैलाने का प्रयास करते हैं। इसी प्रकार संस्कृत के कवियों के नाटकों में भी राष्ट्र भावना स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है जैसे–महाकवि कालिदास के नाटक अभिज्ञानशाकुंतलम् का नायक दुष्यंत राष्ट्र के हित को सर्वोत्कृष्ट मानता है। वह प्रजानुरंजक है इसीलिए वह प्रजा के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भली भांति समझता है। यहाँ बताया गया है यथा राजा तथा प्रजा अर्थात् प्रजा ही राजा का प्रतिबिम्ब मानी जाती है। विक्रमोर्वशीयम् नाटक के माध्यम से राजधर्म तथा राष्ट्र की प्राथमिकता को दिखलाया गया है। राजा अपनी व्यक्तिगत इच्छा की अपेक्षा राष्ट्र धर्म को श्रेष्ठ मानता है। नीति के प्रति वह पूर्णरूपेण निष्ठावान है। मालविकाग्निमित्रम् में राजा प्रेमी ही नहीं है इसके अतिरिक्त वह नीतिवान, बुद्धिमान, राजनीतिज्ञ तथा श्रेष्ठ योद्धा भी है। इसमें राजा के माध्यम से राष्ट्र की रक्षा, कूट राजनीति तथा शासन को सुचारू रूप से चलाने के लिए उचित सूझबूझ का वर्णन किया गया है। भास के नाटकों में भी राष्ट्र भावना दिखाई देती है जैसे -प्रतिज्ञा यौगंधरायणम् में मंत्री यौगंधरायण को एक आदर्श मंत्री के रूप में चित्रित किया गया है जो अपने नीति युक्त राजनीति से राष्ट्र की रक्षा करता है। राजा को उसका राज्य पुनः दिलाने के लिए यौगंधरायण द्वारा अपनाई गयी नीतियों का भी वर्णन इसमें प्राप्त होता है जिसमें राष्ट्र के प्रति पूर्ण समर्पण भाव यहाँ दिखाई देता है। इसी प्रकार स्वप्नवासवदत्ता में भी राजा उदयन राष्ट्र के हित को सर्वोपरि मानकर स्वयं के निजी हित का सर्वथा त्याग कर देता है। राष्ट्र की रक्षा के लिए उचित नीतियों को अपनाने का प्रयास किया गया है। इसके अंतर्गत राष्ट्र हित को सर्वोपरि माना गया है। अविमारक में भी युवराज अविमारक अपने राज्य को संकट से बचाने के लिए युद्ध करता है। जो उसकी वीरता तथा देश के प्रति समर्पण भाव को दर्शाता है। पंचरात्रम् में राष्ट्र के विस्तार के लिए नीतियों का निर्माण किस प्रकार करना चाहिए और युद्ध नीति किस प्रकार बनार्यी जानी चाहिए इसके विषय में पता चलता है। भास के नाटकों में राष्ट्र धर्म, देशभक्ति की भावना को सशक्त रूप से प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है। शूद्रक के मृच्छकटिकम् नाटक में भी राष्ट्र भावना निहित है। इस नाटक के मूल पात्र चारुदत्त तथा वसंतसेना हैं। इस नाटक में सामाजिक न्याय तथा न्यायपूर्ण शासन व्यवस्था की भावना हैं जो राष्ट्र प्रेम के रूप में दिखाई देती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नाटकों में निजी स्वार्थ को गौण रखकर राष्ट्र हित को सर्वोपरि माना गया है। राष्ट्र की संस्कृति तथा परंपरा की रक्षा के द्वारा राष्ट्र को उन्नति की ओर अग्रसर किया गया है। इनके माध्यम से बताया गया है कि राष्ट्र प्रेम ही श्रेष्ठ है और राष्ट्र की रक्षा, समृद्धि तथा उसकी उन्नति को ही सबके लिए आवश्यक माना गया है।

अंत में हम कह सकते हैं कि संस्कृत साहित्य में राष्ट्र के प्रति प्रेम, कर्तव्य बोध अखंडता तथा बलिदान, एकता की भावना, स्वतंत्रता इत्यादि स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। वेदों में, महाकाव्यों में, नीतिकाव्यों में, पुराणों में तथा नाटकों में सर्वत्र राष्ट्र की रक्षा, एकता तथा उसकी सम्पन्नता की भावनाएँ दिखाई पड़ती हैं।

एसोसिएट प्रोफेसर
कालिंदी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
Email id – manjulata1965@gmail.com

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

- ⋆ राष्ट्र भाषा और राष्ट्रीय एकता, रामधारी सिंह दिनकर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली 1957
- ⋆ संस्कृत साहित्य में राष्ट्रवाद और भारतीय राजशास्त्र, डॉ. शशि तिवारी, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली
- ⋆ मनुस्मृति, सप्तम अध्याय, उर्मिला रुस्तगी तथा सुदेश नारंग जे. पी. पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली 1996
- ⋆ संस्कृत साहित्य में राष्ट्रीय भावना, हरिनारायण दीक्षित, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली 2006
- ⋆ अथर्ववेद संहिता, सायणभाष्यसमेत, वि. वै. शो. संस्थान, होशियार पुर
- ⋆ कौटिल्य अर्थशास्त्र एवं शुक्रनीति की राज्य व्यवस्थाएं, कमलेश अग्रवाल, राधा पब्लिकेशन, दिल्ली 2001
- ⋆ संस्कृत साहित्य में राष्ट्र भावना, डॉ. सत्यव्रत शास्त्री, रश्मि प्रकाशन, दिल्ली
- ⋆ संस्कृत साहित्य में राष्ट्र चिंतन, डॉ. शशि प्रभा कुमार, मोती लाल बनारसी दास प्रकाशन, दिल्ली
- ⋆ संस्कृत नाटकों में राष्ट्र भावना – डॉ. सुनीता शर्मा, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी

शशि कुमारी

आदिवासी आंदोलन और हिन्दी नवजागरण का अंतरसंबंध
(एक सामाजिक-सांस्कृतिक विवेचनात्मक अध्ययन)

सारांश

इस शोध आलेख के माध्यम से हिन्दी नवजागरण और आदिवासी आंदोलन के बीच अंतर्संबंध की गहन विवेचना करने की कोशिश की गई है। हिन्दी नवजागरण 19वीं शताब्दी में उत्तर भारत की सवर्ण मध्यमवर्गीय चेतना से उत्पन्न हुआ एक भाषाई-सांस्कृतिक पुनर्जागरण था, जबकि आदिवासी आंदोलन उसी कालखंड में औपनिवेशिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक दमन के विरुद्ध उठी हाशिये की आवाज था। इस आलेख में यह तर्क प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है कि हिन्दी नवजागरण, अपनी भाषिक एवं सांस्कृतिक एकरूपता की खोज में, आदिवासी समाज को साहित्यिक एवं बौद्धिक विमर्श से बाहर रखता है। वहीं दूसरी ओर आदिवासी आंदोलन आत्मनिर्णय, सांस्कृतिक अस्मिता और जीवन-आधारित ज्ञान की रक्षा के लिए खड़ा होता है। इस आलेख में ऐतिहासिक, भाषाई, सामाजिक और साहित्यिक परिप्रेक्ष्य से दोनों आंदोलनों के बीच दूरी, संभावित संवाद और समकालीन पुनर्पाठ को विश्लेषित किया गया है। निष्कर्षत: इसके माध्यम से भारत के नवजागरण को समावेशी बनाने हेतु आदिवासी दृष्टिकोण और साहित्य को विमर्श के केंद्र में लाने की कोशिश की गई है।

बीज शब्द

हिन्दी नवजागरण, आदिवासी आंदोलन, सांस्कृतिक अस्मित भाषिक राजनीति, उपनिवेशवाद, भारतेंदु युग, बिरसा मुंडा, सामाजिक बहिष्कार, समावेशी विमर्श, उपेक्षित साहित्य।

भूमिका

भारत एक बहुसांस्कृतिक, बहुभाषिक और बहुधार्मिक राष्ट्र है। यहाँ सदियों से अनेक सामाजिक, धार्मिक, भाषाई और सांस्कृतिक आंदोलनों ने जन्म लिया। इनमें दो विशिष्ट और विचारोत्तेजक धाराएँ हैं—हिन्दी नवजागरण और आदिवासी आंदोलन। हिन्दी नवजागरण और आदिवासी आंदोलन, दोनों ही भारत के सामाजिक-राजनीतिक इतिहास के ऐसे महत्त्वपूर्ण पड़ाव हैं, जो उपनिवेशी शोषण, सामाजिक विषमता और सांस्कृतिक पहचान की तलाश के संदर्भ में विकसित हुए। पहली धारा ने जहां एक ओर मध्यवर्गीय समाज में भाषा, धर्म, शिक्षा और सांस्कृतिक चेतना का प्रसार था और साथ ही साथ आधुनिक भारत के निर्माण में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, भाषा विकास और सामाजिक सुधार के माध्यम से योगदान दिया, वहीं दूसरी धारा ने जनजातीय समाज की सांस्कृतिक अस्मिता, आत्मनिर्भरता और अधिकारों की लड़ाई का परिणाम था और औपनिवेशिक सत्ता, शोषणकारी व्यवस्थाओं और सांस्कृतिक अस्मिता के विरुद्ध जनजातीय समाज की प्रतिरोधात्मक चेतना को स्वर प्रदान किया।

इन दोनों आंदोलनों का अध्ययन करना इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वे अलग-अलग सामाजिक पृष्ठभूमियों से उपजे, परन्तु आधुनिक भारत की बुनियाद को गहराई से प्रभावित किया। इन दोनों धाराओं के बीच सतह पर भले ही कोई स्पष्ट जुड़ाव न दिखाई दे, परंतु गहराई में जाकर देखने पर यह स्पष्ट होता है कि नवजागरण की प्रक्रिया ने आदिवासी आंदोलनों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया, और कभी-कभी उससे दूरी भी बना ली। यह आलेख इन दोनों आंदोलनों के मध्य अंतरसंबंध की पड़ताल करता है कि कहाँ वे एक-दूसरे को सहयोग करते हैं, कहाँ टकराते हैं और कहाँ

एक-दूसरे से अनभिज्ञ रहते हैं।

हिन्दी नवजागरण : परिभाषा और पृष्ठभूमि

हिन्दी नवजागरण 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उत्तर भारत में उभरा एक सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन था, जिसका उद्देश्य समाज को अंधविश्वास, रूढ़िवाद, जातिवाद और अन्य सामाजिक कुरीतियों से मुक्त कर एक आधुनिक, वैज्ञानिक और तर्कशील समाज की स्थापना करना था। राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, स्वामी दयानंद सरस्वती, भारतेन्दु हरिश्चंद्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, बालकृष्ण भट्ट जैसे नेताओं और लेखकों ने इस आंदोलन को गति दी। इस नवजागरण की वैचारिक पृष्ठभूमि में निम्नलिखित बातें शामिल थीं :

पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान का प्रभाव : ब्रिटिश शासन के दौरान, भारत में पश्चिमी शिक्षा और ज्ञान का प्रसार हुआ, जिससे भारतीय बुद्धिजीवियों में आधुनिकता और तर्कशीलता की भावना का विकास हुआ।

राष्ट्रीयता की भावना : नवजागरण के नेताओं ने भारतीय संस्कृति, इतिहास, और गौरवशाली अतीत पर जोर दिया, जिससे राष्ट्रीयता की भावना को बढ़ावा मिला।

समाज सुधार : नवजागरण के नेताओं ने जातिवाद, सती प्रथा, बाल विवाह जैसी सामाजिक बुराइयों का विरोध किया और शिक्षा, समानता और महिला सशक्तिकरण जैसे मुद्दों पर जोर दिया।

भाषा और साहित्य का विकास : हिन्दी नवजागरण ने हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया और इसे आधुनिकता और राष्ट्रवाद का एक महत्वपूर्ण माध्यम बनाया।

इस आंदोलन का प्रमुख केंद्र शहरी मध्यवर्ग और शिक्षित हिंदू समाज था। यह आंदोलन मुख्यत: हिन्दी भाषा, आधुनिक शिक्षा, सामाजिक सुधार और राष्ट्रवाद से प्रेरित था।

आदिवासी आंदोलन : स्वरूप और ऐतिहासिक विकास

आदिवासी समुदाय भारत के मूल निवासी हैं जिनकी अपनी विशिष्ट संस्कृति, परंपरा, भाषा और जीवनशैली है। संविधान में भले ही इन्हें 'अनुसूचित जनजाति' कहा गया हो, परंतु 'आदिवासी' शब्द उनके आत्मगौरव का प्रतीक है। उनका इतिहास केवल विस्थापन का नहीं, बल्कि जीवंत संस्कृति, संघर्ष और जिजीविषा का इतिहास है। ठीक इसी तरह आदिवासी आंदोलन भारत के विभिन्न हिस्सों में फैले जनजातीय समुदायों की वह प्रतिक्रिया थी, जो औपनिवेशिक शासन, जमींदारी व्यवस्था, वन नीति, धार्मिक हस्तक्षेप और शोषण के विरुद्ध जन्म लिया। बिरसा मुंडा (झारखंड), ताना भगत, भील, संथाल, गोंड, कोरकू और अन्य आदिवासी समुदायों ने अपने-अपने स्तर पर संघर्ष किया।

इन आंदोलनों का स्वरूप स्थानीय, सांस्कृतिक और आत्मरक्षा पर आधारित था। इन आंदोलनों में राजनीतिक स्वतंत्रता से अधिक सांस्कृतिक और भौगोलिक स्वतंत्रता का आग्रह था।

आदिवासी आंदोलन की वैचारिक पृष्ठभूमि :

आदिवासी आंदोलन, जो 19वीं शताब्दी के अंत और 20वीं शताब्दी की शुरुआत में शुरू हुआ, उसका मुख्य उद्देश्य था आदिवासी समुदायों के अधिकारों, संस्कृति और पहचान की रक्षा करना। आदिवासी आंदोलन की वैचारिक पृष्ठभूमि में निम्नलिखित बातें शामिल थीं—

भूमि और संसाधनों पर अधिकार : आदिवासी आंदोलनों का मुख्य कारण ब्रिटिश शासन द्वारा आदिवासियों की भूमि और संसाधनों पर कब्जा था, जिससे उनकी आजीविका और संस्कृति को खतरा पैदा हो गया था।

सामंती शोषण : आदिवासी समुदायों को सामंती व्यवस्था और सूदखोरों द्वारा भी शोषण का सामना करना पड़ रहा था, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति दयनीय हो गई थी।

सांस्कृतिक पहचान : आदिवासी आंदोलन, अपनी विशिष्ट संस्कृति, भाषा और परंपराओं को बचाने के लिए संघर्ष कर रहे थे।

राजनीतिक अधिकारों की मांग : आदिवासी आंदोलन, राजनीतिक प्रतिनिधित्व और स्वशासन की मांग कर रहे थे।

नवजागरण और आदिवासी आंदोलन : अंतरसंबंध की खोज

1. सामाजिक सुधार बनाम सांस्कृतिक आत्मरक्षा

हिन्दी नवजागरण 19वीं शताब्दी में उभरा एक बौद्धिक और सामाजिक आंदोलन था, जिसका उद्देश्य तत्कालीन भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों जैसे सतीप्रथा, बालविवाह, स्त्री अशिक्षा और छुआछूत के विरुद्ध संघर्ष करना और 'भारतीयता' की नई परिभाषा गढ़ना था। इस नवजागरण की प्रेरणा पश्चिमी आधुनिकता और अंग्रेजी शिक्षा से मिली, किंतु इसकी सामाजिक आधारशिला मुख्यत: शहरी, सवर्ण, हिन्दू मध्यवर्ग था।

नवजागरण के प्रमुख विचारकों जैसे भारतेंदु हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट, महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि ने आधुनिकता के

आदर्शों को भारतीय संदर्भों में लागू करने का प्रयास किया, किंतु इस प्रक्रिया में उन्होंने आदिवासी समाज को 'अंधविश्वासी', 'असभ्य' और 'प्रगति से वंचित' समुदायों के रूप में चित्रित किया। उनकी दृष्टि में आदिवासी समाज 'सुधारे जाने योग्य' था, न कि अपनी संस्कृति और मूल्य-व्यवस्था के साथ स्वतंत्र। महाश्वेता देवी के उपन्यास 'अरण्येर अधिकार' में यह द्वंद्व स्पष्ट रूप से उभरता है, जहाँ ब्रिटिश सत्ता के साथ-साथ 'सभ्य समाज' की सुधारवादी मानसिकता भी आदिवासी जीवन पर आक्रमण करती है।

इसके उलट, आदिवासी आंदोलन किसी पश्चिमी आधुनिकता या धर्मसुधार की प्रतिक्रिया नहीं था, बल्कि यह स्व-रक्षण और सांस्कृतिक अस्मिता की पुनर्स्थापना का संघर्ष था। आदिवासी समाजों ने अपने जीवन की धुरी जंगल, जमीन और जल की रक्षा को सर्वोपरि माना। उन्होंने बाहरी जमींदारों, ईसाई मिशनरियों, ब्रिटिश अधिकारियों और यहाँ तक कि मुख्यधारा नवजागरणवादियों द्वारा लाए गए सुधारों को भी अपने पारंपरिक जीवन में हस्तक्षेप के रूप में देखा। हिन्दी नवजागरण 'सुधार' के नाम पर जिन सामाजिक मानदंडों को प्रतिष्ठित करना चाहता था, वे अकसर ब्राह्मणवादी-हिन्दू मूल्यों से ओतप्रोत थे। मैनेजर पाण्डेय के अनुसार, ''नवजागरण में भाषिक एकरूपता का जो आग्रह था, वह वास्तव में बहुभाषी और बहुसांस्कृतिक भारत के प्रति असहिष्णुता का संकेत था।'' वहीं, आदिवासी समुदायों का अपना धर्म (जैसे सारण धर्म, सिनाल धर्म, सिंहबोंगा उपासना, आदि), सामाजिक ढांचा और जीवन-दृष्टि थी, जिसे वे यथावत बनाए रखना चाहते थे। इसी संदर्भ में बिरसा मुंडा का कथन है- ''हमारी संस्कृति को कोई दूसरा नहीं समझ सकता। हमारी भाषा, हमारे देवता, हमारे नृत्य—ये सब हमारे जीवन के अंग हैं, जिन्हें हम किसी सुधार के लिए नहीं छोड़ सकते।'' इसलिए, जहाँ नवजागरण शहरी, शिक्षित, सवर्ण वर्गों की चेतना का प्रस्फुटन था, वहीं आदिवासी आंदोलन अपनी सांस्कृतिक पहचान की रक्षा का सघन प्रयास।

2. भाषा और प्रतिनिधित्व का संकट

हिन्दी नवजागरण ने 19वीं शताब्दी में हिन्दी भाषा को संप्रेषण के माध्यम से अधिक, राष्ट्र की सांस्कृतिक अस्मिता और भारतीयता की एकीकृत पहचान के रूप में प्रस्तुत किया। भारतेंदु हरिश्चंद्र, द्विवेदी युगीन साहित्यकारों, और राष्ट्रवादी नेताओं ने हिन्दी को 'राष्ट्रभाषा' के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया। लेकिन यह प्रक्रिया वस्तुतः एक भाषिक वर्चस्ववाद बन गई, जिसमें क्षेत्रीय और आदिवासी भाषाओं की उपेक्षा की गई।

भाषिक औपनिवेशीकरण बनाम भाषिक नवजागरण

हिन्दी नवजागरण का मूल उद्देश्य था- राष्ट्र के सांस्कृतिक और भाषाई एकीकरण की दिशा में एक सशक्त भाषा खड़ी करना। भारतेंदु युग से लेकर द्विवेदी युग तक हिन्दी को राष्ट्रीय अस्मिता का प्रतीक मानकर विकसित किया गया। यह प्रयास स्वाधीनता आंदोलन में भाषाई एकता और राजनीतिक चेतना का आधार भी बना। हिन्दी नवजागरण ने अंग्रेजी भाषा के प्रभुत्व को चुनौती दी, लेकिन साथ ही खड़ी बोली हिन्दी को एकमात्र साहित्यिक और शुद्ध भाषा मानकर लोकभाषाओं, जनपदीय बोलियों और आदिवासी भाषाओं को 'गंवारू', 'अशुद्ध' और 'अप्रगत' की श्रेणी में डाल दिया। इसलिए रामविलास शर्मा अपनी पुस्तक भारतेंदु युग में लिखते हैं- ''हिन्दी तो भाषा बनी, लेकिन अनेक बोलियों की कीमत पर।'' अर्थात् रामविलास शर्मा इंगित करते हैं कि यह भाषा-निर्माण प्रक्रिया 'अनेक बोलियों की कीमत पर' हुई। अवधी, ब्रज, बुंदेली, मैथिली जैसी बोलियों के साहित्यिक वैभव को हिन्दी की मुख्य धारा में 'लोकभाषा' या 'प्रांतीय बोली' कहकर सीमित कर दिया गया। इन बोलियों के रचनाकार धीरे-धीरे हिन्दी साहित्य की परिधि में शामिल तो हुए, लेकिन उनकी भाषाई अस्मिता पीछे छूट गई। इसी प्रवृत्ति की आलोचना मैनेजर पांडेय करते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि भाषिक एकरूपता का यह अभियान केवल भारतीय भाषाओं की विविधता को ही नहीं, बल्कि आदिवासी भाषाओं को तो पूरी तरह 'अदृश्य' कर चुका था। नागपुरी, कुड़ुख, मुंडारी, संथाली जैसी भाषाएँ हिन्दी नवजागरण की परियोजना में जगह नहीं पा सकीं। परिणामस्वरूप आदिवासी समाज ने यह अनुभव किया कि उनकी भाषाएँ, संस्कृति और जीवन-दृष्टि ''राष्ट्रीयता'' की मुख्य धारा में मान्यता से वंचित रह गई हैं। डॉ. शंभुनाथ कहते हैं कि ''भारत का नवजागरण अपने भाषिक एकरूपता के अभियान में आदिवासी बोलियों को अदृश्य बना चुका था।''

साहित्यिक विमर्श में अनुपस्थिति

नवजागरणकालीन हिन्दी साहित्य (नाटक, उपन्यास, कविता) में आदिवासी पात्रों की न तो भाषिक प्रामाणिकता है, न ही उनके जीवनानुभवों की कोई अभिव्यक्ति। जो कभी-कभार आदिवासी विषय आता है, वह 'अन्यीकरण' (Othering) के

साथ आता है, जैसे जंगली, भोले, या असभ्य चरित्र। ''असली भारत केवल हिन्दी में बोलता है।'' यह नवजागरण की एक अघोषित नीति बन गई, जो बहुभाषी भारत के यथार्थ को नकारती है।

द्वैध अस्मिता पर दोहरी चोट

आदिवासी समाज एक ओर औपनिवेशिक सत्ता से अपने भूमि, वन और संसाधन खो रहा था, वहीं दूसरी ओर हिन्दी नवजागरण की सांस्कृतिक मुख्यधारा उसे 'एकरूप भारतीयता' में सम्मिलित किए बिना 'भारतीय' कह रही थी। यह भाषाई हीनता का बोझ आदिवासी अस्मिता पर अतिरिक्त मानसिक-सांस्कृतिक दबाव बन गया। रामदयाल मुण्डा लिखते हैं- ''आदिवासी समाज की भाषाएँ केवल बोली नहीं, बल्कि ज्ञान और परंपरा के संवाहक हैं। जब शिक्षा से इन्हें बाहर किया जाता है, तो आदिवासी अस्तित्व ही संकट में पड़ जाता है। .... जब हमारी भाषा को स्कूल में नहीं पढ़ाया गया, तब हमने सीखा कि हम मुख्यधारा में नहीं हैं।''

मिशनरी प्रभाव और सांस्कृतिक संघर्ष

हिन्दी नवजागरण के दौरान एक महत्वपूर्ण परिघटना यह रही कि नवजागरणकालीन हिन्दू बुद्धिजीवियों ने ईसाई मिशनरियों के प्रभाव का प्रबल विरोध किया। मिशनरियों को वे औपनिवेशिक सत्ता के सांस्कृतिक एजेंट मानते थे, जो भारतीय परंपराओं, धर्म और समाज में विघटन पैदा कर रहे थे। भारतेंदु हरिश्चंद्र, राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद सरस्वती जैसे चिंतकों ने मिशनरियों द्वारा किए जा रहे धर्मांतरण का विरोध किया और भारतीयता की रक्षा का आह्वान किया। लेकिन यह विरोधाभासी स्थिति तब और गहरी हो जाती है जब हम आदिवासी समाज की ओर दृष्टि डालते हैं।

मिशनरियों की भूमिका : शिक्षा और भाषा के स्तर पर

19वीं शताब्दी में मिशनरियों ने झारखंड, छत्तीसगढ़, ओडिशा और पूर्वोत्तर भारत के आदिवासी क्षेत्रों में स्कूल, अस्पताल, और छपाई केन्द्र स्थापित किए। विशेष रूप से संथाल, मुंडा, हो और कुड़ुख समाजों में ईसाई मिशनरी शिक्षकों ने स्थानीय भाषाओं में शिक्षा देना प्रारंभ किया, जो हिन्दू समाज या नवजागरण आंदोलन में नहीं था। जेरोम सिला के अनुसार : ''Missionaries were often the first to document tribal languages and create grammars and dictionaries for them.'' यह प्रभाव हम इस रूप में भी देख सकते हैं कि लूथरन मिशन द्वारा संथाली भाषा में बाइबिल का अनुवाद (Ol-Chiki लिपि में) किया गया, मोंडा भाषाओं पर जर्मन मिशनरियों द्वारा व्याकरण लेखन किया गया और रांची में गोस्नर इवेंजेलिकल लूथेरन मिशन (Gossner Evangelical Lutheran Mission) द्वारा 1845 से शिक्षा और मुद्रण कार्य की शुरुआत की गई।

हिन्दी नवजागरण जहाँ हिन्दू पुनरुत्थानवाद पर केंद्रित था, वहीं उसमें आदिवासी समाज के लिए कोई ठोस एजेंडा नहीं था-न शिक्षा, न भाषा, न चिकित्सा। परिणामतः, आदिवासी समाज ने मिशनरियों को 'शोषक हिन्दू समाज' और 'औपनिवेशिक सत्ता' के बीच एक तीसरे विकल्प के रूप में देखा। एल.पी. विद्यार्थी अपनी पुस्तक 'भारतीय आदिवासी संस्कृति' में झारखंड के एक आदिवासी शिक्षक के हवाले से लिखते हैं कि ''मिशनरियों ने हमें पढ़ाया, हमारी भाषा में बात की और हमारी बीमारी को समझा-हमने उन्हें इसलिए अपनाया।'' हिन्दू नवजागरण ने आदिवासी जीवनशैली को अक्सर 'असभ्य', 'पिछड़ा' या 'प्राकृतिक धर्म' कहा। वहीं मिशनरियों ने आदिवासियों को ईश्वर के 'भटके हुए बच्चे' के रूप में देखा। यद्यपि दोनों दृष्टिकोण अधूरी और औपनिवेशिक सोच से ग्रसित थे, लेकिन मिशनरी दृष्टिकोण तुलनात्मक रूप से भाषा, संस्कृति और सम्मान के साथ जुड़ा था। रामविलास शर्मा अपनी पुस्तक 'भाषा और समाज' में लिखते हैं- ''आदिवासी समाज ने मिशनरियों को इसलिए अपनाया क्योंकि उन्हें वहाँ 'प्रेम, शिक्षा और भाषा' तीनों एक साथ मिले।''

निष्कर्ष : संवादहीनता से सहसंवाद की ओर

हिन्दी नवजागरण और आदिवासी आंदोलन, दोनों ही 19वीं और 20वीं शताब्दी में भारत की सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक चेतना को प्रभावित करने वाले बड़े बौद्धिक और सामाजिक प्रवाह थे, परंतु इन दोनों के बीच संवाद की जगह टकराव की स्थिति अधिक देखने को मिलती है।

हिन्दी नवजागरण का केंद्र शहरी, सवर्ण, मध्यवर्गीय हिन्दू समाज था, जिसने भारतीयता की पुनर्खोज करते समय आदिवासी समाज को 'सुधारे जाने योग्य' और 'पिछड़ा' मान लिया। इसके परिणामस्वरूप नवजागरण के विचारकों ने आदिवासी जीवनदृष्टि, परंपराओं, भाषाओं और आस्थाओं को आधुनिकता और प्रगति के विरोध में देखा।

इसके विपरीत, आदिवासी आंदोलन नवजागरण के सुधारवादी हस्तक्षेपों को अपनी सांस्कृतिक आत्मरक्षा के विरुद्ध मानता रहा। उनकी प्राथमिकताएँ 'धार्मिक सुधार' या 'आधुनिक

शिक्षा' नहीं, बल्कि अपनी भूमि, भाषा, देवी-देवता, पारंपरिक व्यवस्थाएं और जीवनशैली की रक्षा थीं। आदिवासी आंदोलनों ने औपनिवेशिक सत्ता के साथ-साथ हिन्दू नवजागरण के एकात्मक दृष्टिकोण को भी चुनौती दी।

भाषा के स्तर पर यह संघर्ष और गहरा हुआ। हिन्दी नवजागरण ने 'राष्ट्रभाषा' के रूप में हिन्दी को प्रतिष्ठित करते हुए नागपुरी, संथाली, कुड़ुख, मुंडारी जैसी भाषाओं को हाशिए पर डाल दिया। यह भाषाई वर्चस्व भी आदिवासी अस्मिता के क्षरण का कारण बना।

वहीं, ईसाई मिशनरियों ने आदिवासी समाजों की भाषाओं में शिक्षा व चिकित्सा की पहल की, जिससे आदिवासियों ने उन्हें सामाजिक सशक्तिकरण का माध्यम माना, हालाँकि यह भी एक प्रकार का सांस्कृतिक हस्तक्षेप ही था। नवजागरण इस मिशनरी प्रभाव का विरोध करता रहा, किंतु आदिवासी समाज के लिए यह एकमात्र मंच था जहाँ उन्हें सम्मान, भाषा और अवसर एक साथ प्राप्त हुए।

अतः यह स्पष्ट होता है कि हिन्दी नवजागरण और आदिवासी आंदोलन के बीच विचारधारात्मक संवाद की भारी कमी रही। नवजागरण का सुधारवाद अगर आदिवासी समाज की दृष्टि, परंपरा और भाषा को समझकर आगे बढ़ता, तो यह संघर्ष नहीं, संवाद का अवसर बन सकता था।

आज के संदर्भ में यह आवश्यक है कि हिन्दी नवजागरण की पुनर्रचना हो जहाँ आदिवासी अनुभव, भाषाएँ, सांस्कृतिक मूल्य और स्वशासन की आकांक्षाएँ केन्द्र में हों, न कि किनारे पर। तभी भारतीय नवजागरण वास्तव में समावेशी और लोकतांत्रिक बन सकेगा।

शोधार्थी
हिन्दी विभाग
बाबा साहेब भीमराव अंबेडकर बिहार विश्वविद्यालय,
मुजफ्फरपुर
Kumarishashi591@gmail.com

संदर्भ ग्रंथ

1. रामविलास शर्मा – भाषा और समाज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
2. रामदयाल मुण्डा- आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल
3. गंगा सहाय मीणा (संपादक)- आदिवासी साहित्य विमर्श
4. एल. पी. विद्याथी और बिनय कुमार राय- भारतीय आदिवासी संस्कृति
5. जेरोम सिला- मिशनरी आंदोलन और जनजातीय सशक्तिकरण, (हिन्दी अनुवादित लेख), प्रकाशित : 'समकालीन जनजातीय विमर्श', संपादक : एम. कुजूर।
6. रामविलास शर्मा- भारतेंदु युग, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा
7. Indra Munsi (Editor) - The Adivasi Question: Issues of Land, Forest & Livelihood, Orient Black Swan
8. रमणिका गुप्ता (संपादक)- आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
9. एम. कुमार- आदिवासी संस्कृति एवं राजनिति, विश्वभारती पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली
10. रमणिका गुप्ता (संपादक), भारत का आदिवासी स्वर, अनन्य प्रकाशन, नई दिल्ली

साहित्य और मानवीय मूल्यों का अंतर्संबंध

अनीता चौहान

साहित्य केवल शब्दों का संग्रह नहीं, बल्कि उस समाज की सोच, संवेदना और मानवीय मूल्यों का जीवंत चित्रण होता है। साहित्य के माध्यम से हम न केवल भावनाओं की गहराई में उतरते हैं, बल्कि जीवन के उन पहलुओं को भी समझते हैं जो हमें एक बेहतर इंसान बनने की प्रेरणा देते हैं। मानवीय मूल्य जैसे करुणा, प्रेम, सहानुभूति, सत्य, अहिंसा, और न्याय साहित्य की आत्मा हैं। इन मूल्यों के बिना साहित्य केवल एक शुष्क रचना बनकर रह जाता है। जब हम तुलसीदास, प्रेमचंद, रवींद्रनाथ ठाकुर या महादेवी वर्मा जैसे साहित्यकारों की रचनाएँ पढ़ते हैं, तो हमें जीवन जीने की एक नई दृष्टि मिलती है। उनके पात्र हमारे समाज के प्रतिबिंब होते हैं, जो अच्छाई और बुराई के बीच के संघर्ष को दर्शाते हैं।

आज के भौतिकवादी युग में, जहाँ नैतिक मूल्य क्षीण होते जा रहे हैं, साहित्य हमें फिर से आत्मचिंतन की ओर ले जाता है। यह हमें यह सोचने पर मजबूर करता है कि हम किस दिशा में जा रहे हैं और किन मूल्यों को खोते जा रहे हैं। साहित्य केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं है, बल्कि यह संवेदना और विवेक का वाहक भी है। शिक्षण संस्थानों में साहित्यिक अध्ययन से बच्चों और युवाओं में सहिष्णुता, समर्पण और समाज के प्रति उत्तरदायित्व जैसे मूल्य विकसित होते हैं। यही मानवीय मूल्य किसी भी समाज को सशक्त और समरस बनाते हैं। मानवीय मूल्य किसी भी सभ्य समाज की नींव होते हैं, जो न केवल जीवन को अनुशासित बनाते हैं, बल्कि व्यक्ति को आत्मिक उन्नति की ओर भी प्रेरित करते हैं।

भारतीय चिंतन परंपरा ने ज्ञान को अंधकार और मोह से मुक्ति का साधन माना है। मानवता के उच्च आदर्शों की स्थापना में सद्गुणों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। भारतीय दर्शन में जीवन की दिशा केवल भौतिक उन्नति नहीं, बल्कि आत्मिक शुद्धता है। इसलिए हमारे चिंतकों ने प्रकाश को अंधकार पर, पवित्रता को अपवित्रता पर और समरसता को विषमता पर वरीयता दी है। यह दृष्टिकोण सामाजिक समरसता और व्यक्तिगत आत्म-नियंत्रण दोनों की आवश्यकता को रेखांकित करता है। वेदों में उल्लिखित सात मर्यादाएँ-हिंसा, चोरी, मद्यपान, जुआ, असत्य, अनुचित भाषण और कुप्रसंगों से बचाव जीवन को संयमित रखने के उपाय हैं। ये मर्यादाएँ व्यक्ति को नकारात्मक प्रवृत्तियों से दूर रखती हैं और समाज में नैतिकता की स्थापना करती हैं। इन्हीं के साथ, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर जैसे छह विकारों की पहचान कर उन्हें जीतने का प्रयास आत्मिक उन्नति की दिशा में पहला कदम है।

मानवीय मूल्य केवल आदर्श नहीं, बल्कि व्यवहारिक जीवन के लिए अनिवार्य मार्गदर्शक हैं। इन मूल्यों के पालन से न केवल व्यक्ति का आत्म-कल्याण होता है, बल्कि समग्र समाज में संतुलन, न्याय और करुणा का विकास भी संभव होता है। भारतीय चिंतन परंपरा में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का अर्थ है-सम्पूर्ण विश्व एक परिवार है। यह भावना सीमाओं से परे जाकर समस्त प्राणियों के कल्याण की कामना करती है। ऋषियों ने सर्वजन हिताय और सर्वभूत कल्याण की प्रार्थना कर मानवीय करुणा और सार्वभौमिक एकता का संदेश दिया है।

''सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वेसन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥''[1]

साहित्य मानव जीवन की उन सूक्ष्म भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति है, जो उसे अन्य जीवों से अलग बनाती हैं। यह मनुष्य की अनुभूतियों, अनुभवों और कल्पनाओं की समष्टि है, जो भाषा के माध्यम से व्यक्त होती है। प्रारंभिक काल में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में 'शास्त्र' के लिए होता था, जिससे तात्पर्य जीवन-निर्देशन से था। शास्त्र केवल धर्म, नीति या दर्शन नहीं थे, बल्कि वे जीवन को संतुलित और सार्थक बनाने वाले ज्ञान के स्रोत माने जाते थे। अत: साहित्य उस ज्ञान का भंडार था, जो समाज और व्यक्ति के चरित्र-निर्माण में सहायक होता था। समय के साथ साहित्य का अर्थ सीमित होकर 'काव्य' तक सिमटने लगा। यह परिवर्तन भाषा की सौंदर्यात्मक अभिव्यक्ति की ओर झुकाव का द्योतक है। काव्य में भावनाओं, कल्पनाओं और सौंदर्यबोध की प्रधानता होती है, जो मानव मन को स्पर्श करता है। भर्तृहरि जैसे विद्वान ने 'साहित्य, संगीत, कला' की त्रयी में साहित्य को काव्य का पर्याय मानकर उसकी सौंदर्यपरक भूमिका को रेखांकित किया है। भर्तृहरि कहते है-''साहित्य संगीत कलाविहीन: साक्षात् पशु: पुच्छ विषाण हीन:।''[2] ईसा की सातवीं शताब्दी में 'साहित्य' शब्द काव्य के लिए प्रयुक्त होने लगा था। इसी समय के लगभग 'भामह' ने 'काव्यालंकार' मे ''शब्दार्थो सहितौ काव्यम्''[3] लिखकर इस प्रयोग की पुष्टि की।

साहित्य केवल लिखित या वाचिक रचना मात्र नहीं है, बल्कि यह मनुष्य के समग्र भाव-जगत् का प्रतिबिंब होता है। 'साहित्य' शब्द सीमित अर्थ नहीं, बल्कि अत्यंत व्यापक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। साहित्य न केवल भावनाओं की अभिव्यक्ति है, बल्कि यह ज्ञान, भक्ति और कर्म जैसे तत्वों को भी समान रूप से समेटता है। इसमें व्यक्ति के आंतरिक अनुभवों के साथ-साथ सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक चेतना की झलक मिलती है। साहित्य में मनुष्य के संवेग, विचार, संघर्ष, विश्वास और आकांक्षाएँ जीवंत हो उठती हैं। साहित्य मानव जीवन की बहुआयामी अनुभूतियों का समुच्चय है। चाहे वह धार्मिक भक्ति हो या समाज सुधार का उद्देश्य, चाहे वह सौंदर्य का वर्णन हो या विद्रोह की भावना सभी साहित्य के माध्यम से व्यक्त होते हैं। भारतीय मनीषियों ने 'साहित्य' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है-''हितेन सह सहितं तस्य भाव: साहित्यम्' अर्थात् हित साधन करने की वृत्ति जिसमें निहित हो वही साहित्य है। इस प्रकार साहित्य में हित साधन की वृत्ति को ही प्रधानता दी गई है। उनके अनुसार साहित्य का धर्म समाज को असद् से सद् की ओर, अन्धकार से आलोक की ओर और अनृत से सत्य की ओर ले जाना है। दुष्प्रवृत्तियों से हटाकर सद्वृत्तियों की ओर प्रेरित करना है।''[4] साहित्य एक तरह से मानवीय जीवन को रक्षित करता है।

आनंद तीन स्तरों पर प्रकट होता है-इंद्रिय सुख, मानसिक आनंद और आत्मोपलब्धि से उत्पन्न आनंद। इनमें आत्मोपलब्धि से प्राप्त आनंद को सर्वोच्च माना गया है, जो केवल साहित्यिक साधना या आध्यात्मिक अभ्यास के माध्यम से संभव होता है। यह आनंद आत्मा की गहराइयों से उपजता है और साहित्य की सच्ची उपलब्धि इसी उच्चतर अनुभूति में निहित होती है। साहित्य केवल मनोरंजन या ज्ञान का साधन नहीं, बल्कि आत्मविकास और मानवीय मूल्यों की प्राप्ति का माध्यम है। जब साहित्य उच्च प्रेरणा से प्रेरित होता है, तभी वह जीवन को दिशा देता है और समाज में सकारात्मक परिवर्तन का आधार बनता है।

डा. शंभुनाथ सिंह के अनुसार-''आनन्द ही साहित्य का मूल्य है। मूल प्रश्न इस मूल्य की व्यापक जीवन मूल्यों से संबद्धता का है। प्रत्येक समय में साहित्य में जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा होती रही है पर उनकी प्रतिष्ठा मात्र से साहित्य नहीं बनता। साहित्य दृष्टि ही नहीं अर्न्तदृष्टि भी देता है। (मनोवैज्ञानिक कोहलर ने गेस्टाल्ट के अन्तर्गत 'अन्तर्दृष्टि का सिद्धान्त' प्रस्तुत किया है, जो साहित्य पर भी लागू किया जा सकता है)। यही अन्तर्दृष्टि ही आत्मोपलब्धि से आनन्दोपलब्धि कराती है। इस कारण साहित्य और कला में वे ही जीवन-मूल्य गृहीत होते हैं जिन्हें अन्तर्दृष्टि स्वयं उपलब्ध या पुनरुपलब्ध करती है।''[5] डॉ. शंभुनाथ सिंह का मत है कि साहित्य का मूल मूल्य आनन्द है, पर यह केवल तात्कालिक सुख नहीं बल्कि जीवन-मूल्यों से जुड़ा हुआ गहन अनुभव है। हर युग में साहित्य जीवन-मूल्यों को प्रतिष्ठित करता है, लेकिन मात्र उनका उल्लेख साहित्य नहीं कहलाता। साहित्य का कार्य केवल बाहरी दृष्टि देना नहीं है, बल्कि वह 'अन्तर्दृष्टि' प्रदान करता है, जो पाठक को आत्मबोध और गहरी अनुभूति तक ले जाती है। मनोवैज्ञानिक कोहलर के गेस्टाल्ट सिद्धान्त में निहित 'अन्तर्दृष्टि' की अवधारणा साहित्य में भी लागू होती है, क्योंकि साहित्य पाठक की संवेदनाओं और विचारों को रूपांतरित कराता है। यही अन्तर्दृष्टि आत्मोपलब्धि को आनन्दोपलब्धि में बदल देती है। इसलिए साहित्य और कला में वही जीवन-मूल्य सार्थक ठहरते हैं जिन्हें मानव अपनी अन्तर्दृष्टि से अनुभव

कर सके और नए रूप में पुनः पा सके। इस प्रकार साहित्य आत्मबोध, पुनराविष्कार और सौन्दर्यपूर्ण आनन्द की प्रक्रिया है।

बाबू गुलाबराय ने जीवन-मूल्य और साहित्य के मूल्य के सम्बन्ध में लिखा है-''साहित्य के मूल्य जीवन के मूल्यों से भिन्न नहीं है। अतः यह बात सर्वमान्य है कि जिसका जीवन में मूल्य है उसका साहित्य में भी मूल्य है।''[6] बाबू गुलाबराय का विचार है कि साहित्य और जीवन के मूल्य अलग नहीं होते। जो तत्व जीवन में महत्वपूर्ण हैं, वही साहित्य में भी मूल्यवान माने जाते हैं। साहित्य, समाज और मानव जीवन का दर्पण होता है, इसलिए उसमें वही बातें स्थायी रहती हैं जो जीवन को दिशा देती हैं। नैतिकता, प्रेम, करुणा, सत्य जैसे मूल्य दोनों में समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रकार, साहित्य जीवन-मूल्यों का ही सृजनात्मक विस्तार है।

साहित्य और जीवन के मूल्यों के बीच गहरा और अविभाज्य संबंध है। साहित्यिक मूल्य दरअसल वही हैं, जो मनुष्य के वास्तविक जीवन में महत्त्व रखते हैं। जिस तत्व या विचार की समाज और व्यक्ति के जीवन में सार्थकता है, वही साहित्य में भी मूल्यवान बनता है। साहित्य, जीवन का प्रतिबिंब होने के कारण, उसी के अनुभवों, संवेदनाओं और आदर्शों को प्रस्तुत करता है। जैसे जीवन में सत्य, करुणा, प्रेम, न्याय, सहिष्णुता और सौंदर्य के विशेष महत्व हैं, वैसे ही ये तत्व साहित्य को भी मूल्यवान और प्रभावशाली बनाते हैं। यदि साहित्य इन मूल्यों से रहित हो, तो वह केवल शब्दों का खेल बनकर रह जाता है, उसकी आत्मा समाप्त हो जाती है। वास्तविक साहित्य वही होता है, जो जीवन की जटिलताओं, संघर्षों और भावनाओं को इस तरह उकेरे कि पाठक उसमें अपने अस्तित्व और मानवीय चेतना की झलक देख सके। इसलिए साहित्य का मूल्यांकन भी जीवन की कसौटी पर ही किया जाता है। डॉ. शंभुनाथ सिंह ने इस सम्बन्ध में कहते हैं-''साहित्य में जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति उस तरह सीधी तर्कपूर्ण और वक्तव्य प्रधान नहीं होती जैसी ज्ञान-विज्ञान और नीति-धर्म के क्षेत्र में होती है। साहित्य और कला में जीवन-मूल्यों का रूपायन होता है। वे सूक्ष्म सिद्धान्त न रहकर अपने को अभिव्यक्त करते हैं। एक प्रकार से समस्त साहित्य प्रतीकात्मक होता है। जिससे जीवन-मूल्य उपचेतन मन से बदलकर चेतना लोक में आते हैं।''[7]

साहित्य में जीवन-मूल्यों की प्रस्तुति सीधे, तर्कपूर्ण या घोषणात्मक शैली में नहीं होती, जैसी कि विज्ञान, दर्शन या नीति-शास्त्र में देखने को मिलती है। साहित्य का स्वभाव भावनात्मक, सांकेतिक और कलात्मक होता है, जिससे यह मूल्यों को अधिक गहराई और प्रभाव के साथ प्रस्तुत करता है। जीवन-मूल्य जब साहित्य में प्रवेश करते हैं, तो वे केवल विचार न रहकर अनुभव बन जाते हैं। ये मूल्य कथा, चरित्र, भाषा, बिंब और प्रतीकों के माध्यम से सामने आते हैं। साहित्य उन्हें किसी नियम की तरह नहीं कहता, बल्कि जीकर दिखाता है। इसलिए एक पाठक के मन में वे मूल्य उपदेश की तरह नहीं, बल्कि आत्मिक अनुभूति बनकर उदित होते हैं। यह प्रक्रिया मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। साहित्य के माध्यम से जीवन-मूल्य उपचेतन स्तर से चेतन मन में प्रवेश करते हैं, जिससे व्यक्ति के सोचने, समझने और व्यवहार में परिवर्तन आता है। साहित्य, इस प्रकार, जीवन-मूल्यों का बाह्य प्रस्तुतीकरण नहीं, बल्कि आंतरिक रूपांतरण का माध्यम बनता है। प्रेमचन्द साहित्य के उद्देश्य के लिए कहते हैं-''हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाईयों का प्रकाश हो-जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।''[8]

साहित्य सदैव उन मानवीय मूल्यों से जुड़ा रहा है जो जीवन की सच्चाई, संवेदना और नैतिकता को आधार प्रदान करते हैं। हालांकि, आज के भौतिकवादी युग में वे जीवन-मूल्य-जैसे सत्य, करुणा, सहिष्णुता और न्याय धीरे-धीरे न केवल उपेक्षित हो रहे हैं, बल्कि कई बार क्रूरता से रौंदे भी जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में साहित्य का कार्य और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। यह मनुष्य की नियति को भले ही न बदल सके, परंतु उसे संघर्ष की चेतना और आत्मबल अवश्य प्रदान कर सकता है।

साहित्य मात्र मनबहलाव नहीं, बल्कि आत्मचेतना और सामाजिक जागरूकता का सशक्त माध्यम है। यह मानव-मन की गहराइयों से निकली वह आवाज है, जो समय की प्रतिकूलताओं में भी दबाई नहीं जा सकती। ''पिछले तीन दशकों में मूल्यों का ऐसा ह्रास हुआ है कि बदली सूरत को पहचानना भी मुश्किल है। आत्मानुशासन, संयम, शील, भद्रता, शालीनता, परोपकार, सदाचार-जैसे गुण दुर्लभ होते जा रहे हैं। उनकी जगह असंयम, अशालीनता, अभद्रता, दुराचरण और

लोभ-लालसा ने ले ली है।''[9] साहित्य केवल बौद्धिक विमर्श का साधन नहीं है, बल्कि यह मानव जीवन को दिशा देने वाला माध्यम भी है। साहित्य का मूल उद्देश्य मनुष्य को उसकी श्रेष्ठता की ओर प्रेरित करना है, जहाँ वह अपनी जड़ प्रवृत्तियों से ऊपर उठकर मानवीय संवेदनाओं, नैतिकता और सह-अस्तित्व की भावना को आत्मसात करता है। साहित्य में मानवीय-मूल्य जैसे-सत्य, करुणा, प्रेम, समता और न्याय सिर्फ उपदेश के रूप में नहीं आते, बल्कि पात्रों और कथानकों के माध्यम से स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्त होते हैं। जब पाठक किसी साहित्यिक रचना को पढ़ता है, तो वह न केवल घटनाओं को देखता है, बल्कि उनके पीछे छिपे नैतिक और भावनात्मक संकेतों को भी आत्मसात करता है। यही साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह पाठक के हृदय को छूता है और उसे आत्मचिंतन के लिए प्रेरित करता है।

आचार्य भामह काव्य प्रयोजन व्यक्त करते हुए-''धर्मार्थकाममोक्षेषु वेचक्षव्यं कलाषु च। करोति कीर्ति प्रीतिं च साधु काव्य निबन्धम्।।''[10] अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मानव-मूल्यों से जुडे हुए हैं। इस तरह से आचार्य मम्मट कहते हैं-''काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः पारिनिर्वृत्तये कान्तासम्मितयोपदेशयुजे॥''[11] अर्थात् साहित्य यश, धन, व्यावहारिक ज्ञान, बाधाओं का निवारण, सद्यः आनन्द और कान्ता सम्मित उपदेश प्राप्ति का मार्ग है। भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा में साहित्य को केवल सौंदर्य या कला का साधन नहीं माना गया, बल्कि उसे मानव-मूल्यों के संवाहक और जीवन-निर्देशक के रूप में देखा गया है। साहित्य जीवन के उच्चतम आदर्शों को चित्रित करने का माध्यम है और गंगा की तरह सबके हित में प्रवाहित होता है। भारतीय साहित्य की विविध धाराओं में यह गुण स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। उदाहरण के लिए, हिन्दी के रीतिकालीन कवि बिहारी की श्रृंगारिक रचनाएँ केवल लौकिक प्रेम तक सीमित नहीं हैं, बल्कि उनके दोहों में नीति और भक्ति के गूढ़ संकेत भी मिलते हैं। यह दर्शाता है कि श्रृंगार के माध्यम से भी जीवन-मूल्य स्थापित किए जा सकते हैं। इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास की 'रामचरितमानस' केवल धार्मिक ग्रंथ नहीं, बल्कि धर्म, दर्शन, शिक्षा, नीति और साहित्य का अद्भुत समन्वय है। इसमें आदर्श चरित्रों के माध्यम से सत्य, करुणा, त्याग, कर्तव्य और भक्ति जैसे मानवीय मूल्यों को अत्यंत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

साहित्य और मानवीय मूल्य एक-दूसरे के पूरक हैं। साहित्य केवल कल्पना की उड़ान नहीं, बल्कि जीवन की सच्चाइयों का सजीव चित्रण होता है, जो व्यक्ति के हृदय और बुद्धि दोनों को प्रभावित करता है। इसमें निहित संवेदनाएँ, विचार और भावनाएँ पाठक को न केवल भावात्मक रूप से जोड़ती हैं, बल्कि उसे नैतिक और आत्मिक रूप से भी जागरूक बनाती हैं। प्रेमचन्द जैसे महान साहित्यकारों की रचनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि साहित्य समाज में व्याप्त कुरीतियों, शोषण और असमानता के विरुद्ध एक सशक्त माध्यम बन सकता है। उन्होंने अपने कथा-साहित्य के माध्यम से करुणा, समानता, न्याय और सहानुभूति जैसे मानवीय मूल्यों को जन-जन तक पहुँचाया। उनके पात्रों के संघर्ष और संवेदनाएँ पाठकों के मन में गहरी छाप छोड़ते हैं, जिससे सामाजिक चेतना विकसित होती है।

भारतीय साहित्य की परंपरा भी सदैव इन मूल्यों को प्रोत्साहित करती रही है। भक्ति काल में प्रेम और समर्पण, रीतिकाल में सौंदर्य और भावुकता तथा आधुनिक काल में सामाजिक परिवर्तन और न्याय जैसे मूल्य साहित्य का आधार बने। यह साहित्य केवल विचारों का आदान-प्रदान नहीं करता, बल्कि व्यक्ति के अंतर्मन में नैतिक दृढ़ता और संवेदनशीलता का संचार करता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि साहित्य मानवीय मूल्यों का संवाहक और संवर्धक है। यह समाज को न केवल दिशा देता है, बल्कि व्यक्ति के भीतर सकारात्मक सोच, सह-अस्तित्व और नैतिक जिम्मेदारी की भावना को भी प्रबल करता है।

शोधार्थी
हिन्दी साहित्य,
लॉर्ड्स विश्वविद्यालय, अलवर, राजस्थान
*** शोध निर्देशक**
डॉ. प्रदीप कुमार

सन्दर्भ ग्रंथ

1. यजुर्वेद 25/22, 36/24
2. भर्तृहरि, शृंगार शतक, पद सं.-36, पृ.-156
3. हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1, संपादक-धीरेन्द्र वर्मा, ब्रजेश्वर वर्मा, धर्मवीर भारती, रामस्वरूप चतुर्वेदी, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, पृ.-764

4. हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1, संपादक-धीरेन्द्र वर्मा, ब्रजेश्वर वर्मा, धर्मवीर भारती, रामस्वरूप चतुर्वेदी, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, पृ.-764
5. 'शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि', डॉ. शंभुनाथ सिंह, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, (2009), पृ.-74
6. 'मानव-मूल्य और प्रसाद का गद्य साहित्य', डॉ. रंगनाथ पाठक, एसवीएस प्रकाशन, कबीर नगर, वाराणसी, 2002, पृ.-85
7. 'प्रेमचन्द के श्रेष्ठ निबंध', पृ.-98
8. 'जनसत्ता' (दैनिक पत्र), रविवारी, 7 अक्टूबर 2012, पृ. -3
9. 'मानव मूल्य और साहित्य', डॉ. धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ.-7
10. आचार्य भामह, साहित्य दर्पण, भूमिका, पृ.-17
11. आचार्य मम्मट, काव्य-प्रकाश-प्रथम उल्लास, पृ.-25

वैश्विक स्तर पर हिंदी भाषा का अंतर्राष्ट्रीयकरण

डॉ. मनोरमा मिश्रा

सारांश

हिंदी भाषा का अंतर्राष्ट्रीयकरण वैश्विक मंच पर एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक और भाषाई विस्तार का प्रतिनिधित्व करता है, जो प्रमुख हिंदी लेखकों के योगदान से प्रेरित है। यह शोध पत्र उन तंत्रों की खोज करता है जिनके माध्यम से हिंदी का वैश्वीकरण हुआ है, जिसमें प्रेमचंद, महादेवी वर्मा, सुमित्रानंदन पंत, भारतेंदु हरिश्चंद, जयशंकर प्रसाद, फणीश्वरनाथ रेनू, मन्नू भंडारी, चित्रा मुदगल और उषा प्रियंवदा जैसी प्रमुख साहित्यिक हस्तियों के प्रभाव पर ध्यान केंद्रित किया गया है। उनकी रचनाएँ न केवल हिंदी साहित्य की समृद्धि को दर्शाती हैं, बल्कि अनुवाद, रूपांतरण और अंतर्राष्ट्रीय साहित्यिक उत्सवों के माध्यम से इसके वैश्विक प्रसार में भी योगदान देती हैं। शोध पत्र इस बात पर प्रकाश डालता है कि कैसे उनके आख्यान और विषय विविध दर्शकों के साथ प्रतिध्वनित हुए हैं, जिससे हिंदी का वैश्विक साहित्यिक और सांस्कृतिक वार्तालापों में एकीकरण सुगम हुआ है। इसके अतिरिक्त, यह हिंदी के अंतर्राष्ट्रीयकरण को आगे बढ़ाने में प्रवासी समुदायों और डिजिटल प्लेटफार्मों की भूमिका का आकलन करता है। यह अध्ययन साहित्यिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान की वैश्विक भाषा के रूप में हिंदी की उभरती भूमिका को रेखांकित करता है।

बीज शब्द

अंतर्राष्ट्रीयकरण, हिंदी भाषा, साहित्यिक हस्तियाँ, वैश्वीकरण, सांस्कृतिक आदान-प्रदान।

प्रस्तावना

हिंदी भाषा का अंतर्राष्ट्रीयकरण वैश्विक सांस्कृतिक और भाषाई परिदृश्य में एक निर्णायक क्षण का प्रतिनिधित्व करता है। कभी मुख्य रूप से भारतीय उपमहाद्वीप तक सीमित रहने वाली हिंदी भौगोलिक सीमाओं को पार कर वैश्विक साहित्यिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान में एक महत्वपूर्ण खिलाड़ी के रूप में उभरी है। यह परिवर्तन प्रमुख हिंदी लेखकों के कार्यों से काफी प्रभावित हुआ है जिनके योगदान ने न केवल हिंदी साहित्य को समृद्ध किया है बल्कि इसके वैश्विक प्रसार को भी सुगम बनाया है। प्रेमचंद, महादेवी वर्मा, सुमित्रानंदन पंत, भारतेंदु हरिश्चंद्र, जयशंकर प्रसाद, फणीश्वरनाथ रेणु, मन्नू भंडारी, चित्रा मुद्गल और उषा प्रियंवदा जैसी प्रमुख हस्तियों ने इस प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, जिनमें से प्रत्येक ने हिंदी के अंतर्राष्ट्रीयकरण में अद्वितीय योगदान दिया है। प्रेमचंद, जिन्हें अक्सर आधुनिक हिंदी साहित्य का जनक माना जाता है, ने अपने सामाजिक रूप से प्रासंगिक और यथार्थवादी आख्यानों के साथ महत्वपूर्ण योगदान दिया (कुमार, 2016)। आधुनिक हिंदी साहित्य की प्रमुख शख्सियत महादेवी वर्मा अपनी गीति कविता और नारीवादी विषयों के लिए जानी जाती थीं, जिन्हें अनुवादों और अंतर्राष्ट्रीय साहित्यिक आलोचनाओं के माध्यम से वैश्विक दर्शक मिले हैं (तिवारी, 2014)। सुमित्रानंदन पंत की कविता, जो अपने आधुनिकतावादी दृष्टिकोण और दार्शनिक गहराई की विशेषता रखती है, वैश्विक मंच पर हिंदी साहित्य की समृद्धि को प्रदर्शित करने में भी प्रभावशाली रही है (पंत, 2013)। भारतेंदु हरिश्चंद्र, जिन्हें अक्सर आधुनिक हिंदी साहित्य के जनक के रूप में जाना जाता है, ने अपने नाटकों और निबंधों के माध्यम से हिंदी को एक साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित करने

में महत्वपूर्ण योगदान दिया, जिन्हें भाषा और रूप के अपने अभिन उपयोग के लिए अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मान्यता मिली है (सिंह, 2017)। जयशंकर प्रसाद की रचनाएं, जो उनके गीतात्मक सौंदर्य और भारतीय लोकाचार की खोज के लिए चिह्नित हैं, फणीश्वरनाथ रेणु के ग्रामीण आख्यानों और बिहार के परिदृश्य और लोगों के उनके चित्रण ने अंतर्राष्ट्रीय दर्शकों का ध्यान खींचा है, जो हिंदी साहित्य के भीतर विविध सांस्कृतिक संदर्भों को दर्शाता है (रेणु, 2008)। मन्नू भंडारी और चित्रा मुद्गल, समकालीन लेखिकाएँ जिनकी रचनाएँ सामाजिक मुद्दों और लैंगिक गतिशीलता से निपटती हैं, ने वैश्विक साहित्यिक मंचों और उत्सवों के साथ अपने जुड़ाव के माध्यम से हिंदी साहित्य की पहुँच को आगे बढ़ाया है (भंडारी, 2010; मुद्गल, 2017)। उषा प्रियंवदा का योगदान, विशेष रूप से महिला लेखन और समकालीन मुद्दों के क्षेत्र में, हिंदी साहित्य की विकसित प्रकृति और वैश्विक साहित्यिक रुझानों के अनुकूल होने को दर्शाता है (प्रियंवदा, 2020)।

वैश्वीकरण के तंत्र

हिंदी साहित्य का वैश्वीकरण अनुवाद, रूपांतरण और अंतर्राष्ट्रीय साहित्यिक उत्सवों में भागीदारी से काफी हद तक प्रेरित हुआ है। हिंदी साहित्यिक कृतियों का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद गैर-हिंदी भाषी दर्शकों को हिंदी साहित्य से परिचित कराने में सहायक रहा है। प्रेमचंद की गोदान जैसी मौलिक कृतियों का अंग्रेजी और अन्य भाषाओं में अनुवाद ने अंतर्राष्ट्रीय पाठकों को ग्रामीण भारत के सामाजिक-राजनीतिक आख्यानों से जुड़ने का मौका दिया है (राय, 2018)। इसी तरह, महादेवी वर्मा की कविताओं का कई भाषाओं में अनुवाद किया गया है, जिससे उनके नारीवादी और गीतात्मक विषय वैश्विक दर्शकों तक पहुँचे हैं (शर्मा, 2015)।

हिंदी साहित्यिक कृतियों का फिल्म, थिएटर और टेलीविजन सहित विभिन्न मीडिया में रूपांतरण ने भी उनकी वैश्विक पहुँच में योगदान दिया है। उदाहरण के लिए, प्रेमचंद की कहानियों का बॉलीवुड फिल्मों में रूपांतरण ने साहित्यिक हलकों से परे उनके प्रभाव को बढ़ाया है (वर्मा, 2012)। इस तरह के रूपांतरण न केवल हिंदी साहित्य को व्यापक दर्शकों से परिचित कराते हैं बल्कि अंतर-सांस्कृतिक आदान-प्रदान और चर्चाओं के अवसर भी पैदा करते हैं। अंतर्राष्ट्रीय साहित्यिक उत्सवों और कार्यक्रमों ने हिंदी लेखकों को वैश्विक मंच पर अपना काम दिखाने के लिए मंच प्रदान किया है। जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल और कोलकाता लिटरेरी मीट जैसे उत्सवों में प्रमुख हिंदी लेखकों को शामिल किया गया है, जिससे उन्हें अंतर्राष्ट्रीय दर्शकों और साहित्यिक आलोचकों के साथ बातचीत करने में मदद मिली है (कुमार, 2020)। इन आयोजनों ने हिंदी साहित्य को बढ़ावा देने और वैश्विक साहित्यिक वार्तालापों में इसके एकीकरण को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

प्रवासी समुदायों की भूमिका

हिंदी के अंतर्राष्ट्रीयकरण में प्रवासी समुदायों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। संयुक्त राज्य अमेरिका, यूनाइटेड किंगडम, कनाडा और ऑस्ट्रेलिया जैसे देशों में भारतीय प्रवासी आबादी ने विदेशों में हिंदी साहित्य और संस्कृति के लिए जगह बनाई है। ब्रिटेन में भारतीय लेखक मंच जैसे प्रवासी साहित्यिक संगठन सक्रिय रूप से हिंदी साहित्य को बढ़ावा देते हैं और ऐसे कार्यक्रम आयोजित करते हैं जो दुनिया के विभिन्न हिस्सों से हिंदी लेखकों और पाठकों को एक साथ लाते हैं (मेहता, 2019)।

हिंदी भाषा और साहित्य का वैश्वीकरण एक बहुआयामी प्रक्रिया है जिसे कई प्रमुख तंत्रों द्वारा महत्वपूर्ण रूप से आकार दिया गया है। इन तंत्रों में अनुवाद, रूपांतरण, अंतर्राष्ट्रीय साहित्यिक उत्सव और प्रवासी समुदायों और डिजिटल प्लेटफॉर्म की भूमिका शामिल है। हिंदी साहित्य की पहुँच को व्यापक बनाने और वैश्विक मंच पर इसकी उपस्थिति को बढ़ाने में प्रत्येक की महत्वपूर्ण भूमिका है।

अनुवाद

हिंदी साहित्य के अंतर्राष्ट्रीयकरण के लिए अनुवाद सबसे महत्वपूर्ण तंत्रों में से एक रहा है। हिंदी कृतियों का अन्य भाषाओं में अनुवाद करने से गैर-हिंदी भाषी दर्शकों तक पहुँच खुलती है, जिससे हिंदी साहित्यिक परंपराओं की समृद्धि को वैश्विक स्तर पर सराहा जा सकता है। प्रेमचंद, महादेवी वर्मा और सुमित्रानंदन पंत जैसे लेखकों की प्रमुख कृतियों का कई भाषाओं में अनुवाद किया गया है, जिसने वैश्विक साहित्यिक कैनन में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उदाहरण के लिए, ग्रामीण भारत में सामाजिक-आर्थिक मुद्दों को संबोधित करने वाली प्रेमचंद की एक मौलिक रचना गोदान का अंग्रेजी और अन्य भाषाओं में अनुवाद किया गया है, जिससे अंतर्राष्ट्रीय पाठकों और विद्वानों तक पहुँच बनाई गई है (राय, 2018)। ऐसे अनुवाद अंतर-सांस्कृतिक समझ को सुविधाजनक बनाते हैं

और हिंदी साहित्यिक आवाजों को वैश्विक विमर्श में लाते हैं।

अनुकूलन

हिंदी साहित्यिक कृतियों का फिल्म, थिएटर और टेलीविजन जैसे विभिन्न मीडिया रूपों में रूपांतरण हिंदी साहित्य की वैश्विक उपस्थिति को और बढ़ाता है। बॉलीवुड ने, विशेष रूप से, साहित्यिक कृतियों को व्यापक दर्शकों के लिए अनुकूलित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। हिंदी साहित्यिक ग्रंथों पर आधारित फिल्में न केवल इन कृतियों को वैश्विक दर्शकों से परिचित कराती हैं, बल्कि सांस्कृतिक रूप से प्रासंगिक तरीकों से उनसे जुड़ती भी हैं। उदाहरण के लिए, प्रेमचंद की कहानियों के बॉलीवुड फिल्मों में रूपांतरण ने उनकी कहानियों को अंतरराष्ट्रीय दर्शकों तक पहुँचाया है, जिससे हिंदी साहित्य की पहुँच पारंपरिक साहित्यिक हलकों से परे हो गई है (वर्मा, 2012)। यह मल्टीमीडिया दृष्टिकोण सांस्कृतिक अंतर को पाटने में मदद करता है और हिंदी साहित्य की वैश्विक दृश्यता को बढ़ाता है।

अंतर्राष्ट्रीय साहित्यिक उत्सव

अंतर्राष्ट्रीय साहित्यिक उत्सव हिंदी साहित्य और उसके लेखकों को वैश्विक मंच पर प्रदर्शित करने के लिए महत्वपूर्ण मंच के रूप में काम करते हैं। जयपुर साहित्य उत्सव और कोलकाता साहित्य सम्मेलन जैसे आयोजनों ने हिंदी लेखकों को अंतरराष्ट्रीय दर्शकों, आलोचकों और अन्य साहित्यिक हस्तियों से जुड़ने के अवसर प्रदान किए हैं। ये उत्सव न केवल प्रमुख हिंदी लेखकों की रचनाओं को उजागर करते हैं बल्कि अंतर-सांस्कृतिक आदान-प्रदान और चर्चाओं को भी सुविधाजनक बनाते हैं (कुमार, 2020)। ऐसे उत्सवों में भागीदारी से हिंदी साहित्य को पहचान मिलती है और इसे वैश्विक साहित्यिक वार्तालापों के एक महत्वपूर्ण घटक के रूप में स्थापित करने में मदद मिलती है।

हिंदी साहित्य के साथ प्रवासी लोगों के जुड़ाव में हिंदी लेखन को समर्पित साहित्यिक पत्रिकाओं और ऑनलाइन प्लेटफॉर्म की स्थापना भी शामिल है। ये प्लेटफॉर्म हिंदी लेखकों को अपने काम को वैश्विक दर्शकों के लिए प्रकाशित करने और बढ़ावा देने के लिए एक जगह प्रदान करते हैं, जिससे भाषा के अंतर्राष्ट्रीयकरण में योगदान मिलता है (सिंह, 2021)।

डिजिटल प्लेटफॉर्म का प्रभाव

डिजिटल प्लेटफॉर्म हिंदी साहित्य के वैश्वीकरण में परिवर्तनकारी उपकरण के रूप में उभरे हैं, जो साहित्यिक कृतियों के प्रसार, उन तक पहुँच और वैश्विक स्तर पर उनके साथ जुड़ने के तरीके को मौलिक रूप से बदल रहे हैं। इन प्लेटफॉर्म ने साहित्यिक सामग्री तक पहुँच को लोकतांत्रिक बनाया है, अंतर-सांस्कृतिक आदान-प्रदान को सुगम बनाया है और पारंपरिक सीमाओं से कहीं आगे जाकर हिंदी साहित्य की पहुँच का विस्तार किया है। यह चर्चा डिजिटल पुस्तकालयों, ई-पुस्तकों, साहित्यिक ब्लॉगों, सोशल मीडिया और ऑनलाइन साहित्यिक समुदायों पर ध्यान केंद्रित करते हुए, हिंदी साहित्य के अंतर्राष्ट्रीयकरण में डिजिटल प्लेटफॉर्म के योगदान के विभिन्न तरीकों की पड़ताल करती है। डिजिटल पुस्तकालय और ई-पुस्तकें डिजिटल पुस्तकालयों ने साहित्यिक कृतियों की एक विशाल शृंखला को ऑनलाइन उपलब्ध कराकर हिंदी साहित्य की पहुँच को महत्वपूर्ण रूप से बढ़ाया है। रेख़्ता और हिंदीगीत जैसे प्लेटफॉर्म हिंदी कविता, गद्य और ऐतिहासिक ग्रंथों का व्यापक संग्रह प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए, रेख़्ता न केवल क्लासिक और समकालीन हिंदी साहित्य का भंडार प्रदान करता है, बल्कि खोज फंक्शन, लिप्यंतरण और अनुवाद जैसी सुविधाएँ भी प्रदान करता है, जो वैश्विक दर्शकों द्वारा हिंदी ग्रंथों के अध्ययन और प्रशंसा की सुविधा प्रदान करते हैं (जैन, 2018)। ऐसे पुस्तकालयों के माध्यम से साहित्यिक कृतियों का डिजिटलीकरण यह सुनिश्चित करता है कि महत्वपूर्ण ग्रंथों को संरक्षित किया जाए और उन पाठकों के लिए सुलभ बनाया जाए, जिनके पास उन तक भौतिक पहुँच नहीं हो सकती है।

ई-पुस्तकों ने हिंदी साहित्य के प्रसार में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। डिजिटल प्रारूपों की सुविधा पाठकों को स्मार्टफोन से लेकर ई-रीडर तक विभिन्न उपकरणों पर हिंदी साहित्यिक कृतियों तक पहुँचने की अनुमति देती है। Amazon Kindle और Google Books जैसे प्लेटफॉर्म ने हिंदी पुस्तकों के वैश्विक वितरण को सक्षम किया है, जिससे दुनिया भर के पाठकों के लिए हिंदी साहित्य खरीदना और पढ़ना आसान हो गया है। यह पहुँच हिंदी लेखकों और अंतर्राष्ट्रीय पाठकों के बीच की खाई को पाटने में मदद करती है, जिससे हिंदी साहित्यिक योगदान की व्यापक सराहना को बढ़ावा मिलता है (चौधरी, 2021)।

साहित्यिक ब्लॉग और ऑनलाइन समीक्षाएँ

साहित्यिक ब्लॉग और ऑनलाइन समीक्षा प्लेटफॉर्म हिंदी साहित्य के प्रचार और आलोचना में प्रभावशाली बन गए हैं।

ब्लॉगर और साहित्यिक आलोचक हिंदी साहित्यिक कृतियों की समीक्षा, विश्लेषण और चर्चा प्रदान करते हैं, अक्सर उभरते लेखकों और नए अनुवादों पर प्रकाश डालते हैं। ये प्लेटफॉर्म हिंदी ग्रंथों के इर्द-गिर्द बातचीत पैदा करके और नए दर्शकों तक उनके परिचय की सुविधा देकर हिंदी साहित्य की वैश्विक दृश्यता में योगदान करते हैं। उदाहरण के लिए, साहित्यिक आलोचना या पुस्तक अनुशंसाओं को समर्पित ब्लॉग अक्सर अनुवादित हिंदी कृतियों पर चर्चा करते हैं, जो गैर-हिंदी भाषी पाठकों के बीच जागरूकता बढ़ाने में मदद करता है (सिंह, 2021)।

ऑनलाइन साहित्यिक समीक्षाएँ भी हिंदी साहित्य की अंतर्राष्ट्रीय धारणा को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। गुडरीड्स या साहित्यिक पत्रिकाओं जैसी वेबसाइटों पर प्रकाशित समीक्षाएँ हिंदी साहित्यिक कृतियों के विषयों, शैलियों और सांस्कृतिक संदर्भों के बारे में जानकारी प्रदान करती हैं। ये समीक्षाएँ, जो अक्सर आलोचकों और आम पाठकों दोनों द्वारा लिखी जाती हैं, हिंदी साहित्य के बारे में वैश्विक संवाद में योगदान करती हैं और विभिन्न सांस्कृतिक संदर्भों में इसके स्वागत को प्रभावित करती हैं (शर्मा, 2015)।

सोशल मीडिया और लेखक जुड़ाव

सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म ने हिंदी लेखकों के अपने पाठकों से जुड़ने और अपने कामों को बढ़ावा देने के तरीके में क्रांति ला दी है। ट्विटर, फेसबुक और इंस्टाग्राम जैसे प्लेटफॉर्म लेखकों को अपने दर्शकों से सीधे जुड़ने, अपने लेखन के बारे में अपडेट साझा करने और वैश्विक साहित्यिक बातचीत में भाग लेने की अनुमति देते हैं। सोशल मीडिया लेखकों और पाठकों के बीच वास्तविक समय की बातचीत की सुविधा भी देता है, जिससे साहित्यिक विषयों, पात्रों और सांस्कृतिक मुद्दों पर चर्चा संभव होती है।

उदाहरण के लिए, लेखक नई रिलीज की घोषणा करने, लाइव चैट के जरिए पाठकों से जुड़ने और साहित्यिक चर्चाओं में भाग लेने के लिए ट्विटर का उपयोग कर सकते हैं। इंस्टाग्राम एक विजुअल प्लेटफॉर्म प्रदान करता है जहाँ लेखक अपनी रचनाओं से संबंधित छवियाँ साझा कर सकते हैं, जैसे कि पुस्तक कवर, अंश और साहित्यिक कार्यक्रम। ये इंटरेक्शन वैश्विक पाठक वर्ग बनाने में मदद करते हैं और हिंदी लेखकों को अंतरराष्ट्रीय पहचान हासिल करने के अवसर प्रदान करते हैं (चौधरी, 2021)।

ऑनलाइन साहित्यिक समुदाय और फोरम

ऑनलाइन साहित्यिक समुदाय और फोरम पाठकों और लेखकों को हिंदी साहित्य पर चर्चा करने और अपने अनुभव साझा करने के लिए जगह प्रदान करते हैं। रेडिट, गुडरीड्स और विशेष साहित्यिक फोरम जैसे प्लेटफॉर्म हिंदी साहित्यिक कृतियों, अनुवादों और सांस्कृतिक संदर्भों के बारे में चर्चाएँ आयोजित करते हैं। ये समुदाय विविध पृष्ठभूमि के पाठकों को हिंदी साहित्य से जुड़ने, अपनी व्याख्याएँ साझा करने और अनुशंसाओं का आदान-प्रदान करने की अनुमति देते हैं।

ऐसे फोरम अक्सर अनुवादित कृतियों पर चर्चाएँ आयोजित करते हैं, जिससे हिंदी साहित्य की अधिक अंतर-सांस्कृतिक समझ और प्रशंसा हो सकती है। दुनिया भर के पाठक और आलोचक इन चर्चाओं में योगदान देते हैं, अंतर्दृष्टि और प्रतिक्रिया प्रदान करते हैं जो हिंदी ग्रंथों के वैश्विक स्वागत को प्रभावित कर सकते हैं (जैन, 2018)। इसके अलावा, ऑनलाइन समुदाय हिंदी लेखकों को पाठकों के साथ बातचीत करने, प्रतिक्रिया प्राप्त करने और उनके काम के बारे में चर्चा में भाग लेने के लिए एक मंच प्रदान करते हैं।

चुनौतियाँ और भविष्य की संभावनाएँ

हिंदी के अंतर्राष्ट्रीयकरण में प्रगति के बावजूद चुनौतियाँ बनी हुई हैं। अपर्याप्त अनुवाद गुणवत्ता, संसाधनों तक सीमित पहुँच और अधिक अंतर्राष्ट्रीय मान्यता की आवश्यकता जैसे मुद्दे हिंदी साहित्य की वैश्विक पहुँच में बाधाएँ खड़ी करते हैं। इन चुनौतियों का समाधान करने के लिए अनुवाद मानकों में सुधार, अंतर्राष्ट्रीय साहित्यिक बाजारों में हिंदी साहित्य की दृश्यता बढ़ाने और हिंदी साहित्यिक संस्थानों और वैश्विक साहित्यिक संगठनों के बीच अधिक सहयोग को बढ़ावा देने के निरंतर प्रयासों की आवश्यकता है।

निष्कर्ष रूप से, हिंदी भाषा का अंतर्राष्ट्रीयकरण प्रमुख हिंदी लेखकों के सांस्कृतिक और साहित्यिक योगदान का प्रमाण है। अनुवाद, रूपांतरण, प्रवासी जुड़ाव और डिजिटल प्लेटफॉर्म के माध्यम से हिंदी साहित्य ने वैश्विक मंच पर महत्वपूर्ण प्रगति की है। मौजूदा चुनौतियों से पार पाने और वैश्विक मान्यता बढ़ाने के लिए निरंतर प्रयास वैश्विक साहित्यिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान में एक प्रमुख खिलाड़ी के रूप में हिंदी की स्थिति को और मजबूत करेंगे।

डिजिटल प्लेटफॉर्म के कई लाभों के बावजूद, हिंदी साहित्य को बढ़ावा देने में उनके उपयोग से जुड़ी चुनौतियाँ भी हैं। एक

महत्वपूर्ण चुनौती डिजिटल प्लेटफॉर्म पर उपलब्ध अनुवादों की गुणवत्ता है। गलत या खराब तरीके से किए गए अनुवाद हिंदी साहित्य की धारणा को प्रभावित कर सकते हैं और वैश्विक पाठकों पर इसके प्रभाव को सीमित कर सकते हैं। उच्च गुणवत्ता वाले अनुवाद सुनिश्चित करना और प्रासंगिक जानकारी प्रदान करना हिंदी साहित्यिक कृतियों की अखंडता को बनाए रखने के लिए महत्वपूर्ण है (राय, 2018)।

एक और चुनौती डिजिटल डिवाइड है, जो कुछ क्षेत्रों में डिजिटल प्लेटफॉर्म तक पहुँच को सीमित कर सकती है। जबकि डिजिटल प्लेटफॉर्म ने हिंदी साहित्य तक पहुँच का विस्तार किया है, सभी पाठकों के पास प्रौद्योगिकी और इंटरनेट कनेक्टिविटी तक समान पहुँच नहीं है। इस असमानता को दूर करना यह सुनिश्चित करने के लिए महत्वपूर्ण है कि डिजिटल प्लेटफॉर्म के लाभ सभी संभावित पाठकों के लिए सुलभ हों (सिंह, 2021)।

उपसंहार

निष्कर्षत:, हिंदी भाषा का अंतर्राष्ट्रीयकरण एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक और भाषाई उपलब्धि का प्रतिनिधित्व करता है। अनुवाद, रूपांतरण, अंतर्राष्ट्रीय साहित्यिक उत्सवों, प्रवासी जुड़ाव और डिजिटल प्लेटफॉर्म के माध्यम से, हिंदी साहित्य ने वैश्विक मंच पर उल्लेखनीय प्रगति की है। हिंदी की वैश्विक उपस्थिति का निरंतर विस्तार अंतर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक और साहित्यिक वार्तालापों में इसकी बढ़ती भूमिका को रेखांकित करता है। जैसे-जैसे दुनिया तेजी से आपस में जुड़ती जा रही है, हिंदी साहित्य का अंतर्राष्ट्रीयकरण पार-सांस्कृतिक संवाद और आपसी समझ के अवसर प्रदान करता है, जो वैश्विक साहित्यिक परिदृश्य को विविध और आकर्षक कथाओं से समृद्ध करता है।

हिंदी विभाग, सत्यवती कॉलेज (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. चौधरी, ए. (2021). डिजिटल प्लेटफॉर्म और साहित्यिक प्रसार. रूटलेज.
2. जैन, पी. (2018). रेख़्ता और हिंदी साहित्य. पालग्रेव मैकमिलन.
3. कुमार, एस. (2016). प्रेमचंद और हिंदी साहित्य का वैश्विक स्वागत. कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.
4. कुमार, एस. (2020). अंतर्राष्ट्रीय साहित्य उत्सव और हिंदी लेखक. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
5. मेहता, आर. (2019). प्रवासी और साहित्यिक प्रचार. स्प्रिंगर.
6. मुदगल, सी. (2017). समकालीन हिंदी साहित्य. पेंगुइन बुक्स इंडिया.
7. पंत, एस. (2013). सुमित्रानंदन पंत: एक अध्ययन. साहित्य अकादमी.
8. प्रसाद, जे. (2015). जयशंकर प्रसाद के काम में आधुनिकतावादी प्रभाव. हार्पर कॉलिन्स इंडिया.
9. प्रेमचंद, एम. (1936). गोदान. हिंद पॉकेट बुक्स. राय, ए. (2018). हिंदी साहित्य का अनुवाद. रूटलेज.
10. रेणु, पी. एन. (2008). ग्रामीण आख्यान और हिंदी कथा साहित्य. ओरिएंट ब्लैकस्वान.
11. शर्मा, आर. (2015). महादेवी वर्मा: नारीवादी कवि. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
12. सिंह, ए. (2017). भारतेंदु हरिश्चंद्र: आधुनिक हिंदी साहित्य के जनक. सेज प्रकाशन.
13. सिंह, ए. (2021). डिजिटल प्लेटफॉर्म और डायस्पोरा जुड़ाव. स्प्रिंगर.
14. तिवारी, ए. (2014). महादेवी वर्मा की गीतात्मक कविता. पेंगुइन बुक्स इंडिया.
15. वर्मा, आर. (2012). बॉलीवुड में हिंदी साहित्य का रूपांतरण. ब्लूम्सबरी.
16. प्रियंवदा, यू. (2020). हिंदी साहित्य में समकालीन मुद्दे. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

झालावाड़ रियासत में जागीरदारी व्यवस्था का विकास और सामाजिक प्रभाव (1838-1947) : एक ऐतिहासिक विश्लेषण

मीना अजय श्री रामभरोस* **डॉ. कुलवंत सिंह शेखावत****

शोध सारांश

जागीरदारी व्यवस्था भारतीय उपमहाद्वीप में मध्यकालीन और औपनिवेशिक काल की एक प्रमुख प्रशासनिक और सामाजिक व्यवस्था थी। यह व्यवस्था राजस्थान की रियासतों में विशेष रूप से महत्वपूर्ण थी, जहां यह शासकों और उनके अधीनस्थों के बीच शक्ति संतुलन का आधार थी। झालावाड़ रियासत जो 1838 में कोटा रियासत से अलग होकर स्थापित हुई थी, में जागीरदारी व्यवस्था ने स्थानीय प्रशासन, अर्थव्यवस्था, और सामाजिक संरचना को गहराई से प्रभावित किया।

यह पत्र ऐतिहासिक दस्तावेजों, रियासत के अभिलेखों, और विद्वानों के कार्यों पर आधारित है, जो झालावाड़ रियासत की जागीरदारी व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं को उजागर करते हैं।

झालावाड़ रियासत की स्थापना 1838 ई में कोटा रियासत के विभाजन के परिणामस्वरूप हुई थी। कोटा रियासत के एक प्रभावशाली दीवान, झाला जालिम सिंह, ने 18वीं सदी के अंत में कोटा के प्रशासन और सैन्य शक्ति को मजबूत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। उनके योगदान के सम्मान में, उनके पोते, झाला मदन सिंह, को ब्रिटिश सरकार द्वारा 1838 ई. में झालावाड़ रियासत का शासक नियुक्त किया गया।[1] जिसका क्षेत्रफल 2684 वर्गमील था। झालावाड़ राज्य की वार्षिक आय 15 लाख 25 हजार 230 रुपये थी और झालावाड़ रियासत में 1457 गाँव और कस्बे थे।[2] ब्रिटिश सरकार से जनवरी 1899 ई. की संधि से झालावाड़ राज्य का भौगोलिक क्षेत्र घटकर 812 वर्गमील रह गया। इस लघु राज्य में केवल 408 गांव ही रह गए।[3] यह रियासत कोटा रियासत से अलग होकर एक स्वतंत्र प्रशासनिक इकाई के रूप में स्थापित हुई, जिसमें झाला राजपूत वंश का शासन था।

झालावाड़ की स्थापना ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों का एक हिस्सा थी, जिसका उद्देश्य राजपूत रियासतों को नियंत्रित और संतुलित करना था। ब्रिटिश सरकार ने झालावाड़ को एक संधि-आधारित रियासत के रूप में मान्यता दी, जिसके तहत रियासत को ब्रिटिश संरक्षण प्राप्त था, लेकिन साथ ही उसे ब्रिटिश नीतियों का पालन करना था जिसमें चेचट, चौमहला, गंगधार, डग, आवर, पंचपहाड, झालरापाटन, रिठवा, बकानी, दलहनपुर कोटड़ा-भालता, सुरडा रटलाई, मनोहरथाना, फूलबड़ोद, चाचोरनी, काकोनी जैसे परगनों के जागीरदार और उनके अधीनस्थों की उप जागीर शामिल थीं।[4] इस संदर्भ में, जागीरदारी व्यवस्था झालावाड़ के प्रशासनिक ढांचे की रीढ़ बनी, जो मध्यकालीन राजपूत परंपराओं और ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों का मिश्रण थी।

झालावाड़ में जागीरदारी व्यवस्था का उद्भव एवं सरंचना

जागीरदारी व्यवस्था का मूल मध्यकालीन भारत में था, जहां यह शासकों और उनके अधीनस्थों के बीच शक्ति और संसाधनों के वितरण का एक साधन थी। झालावाड़ में, जागीरदारी व्यवस्था कोटा रियासत से विरासत में मिली थी, लेकिन इसने स्थानीय परिस्थितियों और ब्रिटिश प्रभाव के अनुरूप कई परिवर्तन देखे। जागीरदारी व्यवस्था का आधार यह था कि शासक अपने विश्वसनीय सामंतों या जागीरदारों को भूमि प्रदान करते थे, जिनके बदले जागीरदार राजस्व संग्रह, सैन्य सहायता, और स्थानीय प्रशासन की जिम्मेदारी निभाते थे।

झालावाड़ में, जागीरदार मुख्य रूप से झाला राजपूत वंश के सदस्यों रहे लेकिन सोलंकी, कछवाहो, राठौड़ो, चंद्रावत, तँवर, बड़गुर्जर के साथ गुर्जर, मीणा, अहीर, भील, मुसलमानों को भी अनेक गाँव जागीर में प्रदान किये गए।[5] ये जागीरदार रियासत के विभिन्न हिस्सों में फैले हुए थे और स्थानीय स्तर पर शासक के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते थे। झालावाड़ में जागीर व्यवस्था मूल रूप से ''कुलीय परम्परा'' पर आधारित रही। जिसमें शासक और सामंतों के बीच भाई-बंधु सम्बन्ध के कारण शासक की स्थिति ''बराबर वालों में प्रथम'' की रही।[6] झालावाड़ रियासत की स्थापना से लेकर शासन व्यवस्था के संचालन में ब्रिटिश पोलिटिकल एजेंट का हस्तक्षेप और नियमन रहा, इस कारण रियासत के जागीरदारों पर एक अदृश्य नियंत्रण निरंतर बना रहा।[7] जागीरदारों की नियुक्ति अक्सर वंशानुगत आधार पर होती थी, लेकिन कुछ मामलों में, शासक द्वारा वफादारी, योग्यता, या रणनीतिक आवश्यकताओं के आधार पर नए जागीरदार नियुक्त किए जाते थे।

झालावाड़ रियासत में जागीरदारी व्यवस्था एक सामंती ढांचा थी, जिसमें जागीरदारों को भूमि का नियंत्रण दिया जाता था। झालावाड़ में जागीरदारों की नियुक्ति झाला शासकों द्वारा की जाती थी, लेकिन ब्रिटिश रेजिडेंट्स की स्वीकृति अनिवार्य थी। जागीरदारों को उनके क्षेत्र में व्यापक शक्तियाँ प्राप्त थीं, लेकिन वे शासक और ब्रिटिश सरकार के प्रति जवाबदेह थे।[8] जागीरदारों की शासक के लिए तीन प्रमुख जिम्मेदारियाँ थीं, पहला राजस्व संग्रह जिसके तहत जागीरदार अपने क्षेत्र से कर और राजस्व एकत्र करते थे, जिसका एक हिस्सा शासक को दिया जाता था। शेष हिस्सा जागीरदार अपने प्रशासन और व्यक्तिगत उपयोग के लिए रखते थे। दूसरा कार्य जागीरदार को स्थानीय स्तर पर कानून-व्यवस्था बनाए रखनी होती थी, स्थानीय विवादों का निपटारा करना, और सामाजिक गतिविधियों, जैसे मेलों, धार्मिक उत्सवों का प्रबंधन करना होता था। जागीरदारों का तीसरा महत्वपूर्ण कार्य युद्धकाल या विशेष परिस्थितियों में शासक के लिए सैन्य बल, जैसे सैनिक और हथियार, प्रदान करने का होता था।

झालावाड़ की जागीरदारी व्यवस्था के प्रशासनिक ढांचे में तीन मुख्य विशेषताएँ थीं, पहली पदानुक्रमित संरचना से शासक (महाराज राणा) रियासत के सर्वोच्च प्राधिकारी थे, जबकि जागीरदार उनके अधीन क्षेत्रीय प्रशासक थे। जागीरदारों के नीचे जागीर क्षेत्र के किसान, मजदूर, और कारीगर आदि निचले वर्ग शामिल थे। दूसरी विशेषता जागीरों और जागीरदारों पर केंद्रीकृत नियंत्रण झालावाड़ में तुलनातत्मक रूप से अधिक था। झालावाड़ रियासत का आकर छोटा होने के कारण शासक और ब्रिटिश रेजिडेंट्स ने जागीरदारों की गतिविधियों पर कड़ी निगरानी रखी।[9] विवेच्य रियासत के प्रशासनिक ढांचे की तीसरी विशेषता जागीरदारों को अपने जागीर क्षेत्र में स्वायत्तता अधिक प्राप्त थी, क्योंकि झालावाड़ रियासत सामान्यत: शांत रियासत रही, अत: जागीरदारों को स्थानीय विवादों का निपटारा करने और कर व्यवस्था के नियमन में राजपूताने की अन्य रियासतों की तुलना में अधिक स्वतंत्रता का उपभोग किया। झालावाड़ रियासत का प्रशासनिक ढांचा सामंती परंपराओं और ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों का मिश्रण था। शासक और जागीरदारों के बीच शक्ति का संतुलन बनाए रखने के लिए ब्रिटिश रेजिडेंट्स ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

झालावाड़ रियासत में जागीरदारी व्यवस्था का मूल आधार भूमि स्वामित्व था। जागीरदारों को दी गई भूमि को 'जागीर' कहा जाता था, जिसका आकार और महत्व जागीरदार की स्थिति और शासक के साथ उसके संबंधों पर निर्भर करता था। जागीरदारों को दी गई भूमि का उपयोग खेती, स्थानीय प्रशासन, और सैन्य जरूरतों के लिए किया जाता था। किसान इन जमीनों पर किरायेदार के रूप में काम करते थे। किसानों को अपनी उपज का एक बड़ा हिस्सा, अक्सर 40-50%, जागीरदारों को देना पड़ता था। यह कर नकद, अनाज, या अन्य वस्तुओं के रूप में लिया जाता था।[10] ब्रिटिश शासन ने निश्चित भूराजस्व दरें लागू कीं, जिसने जागीरदारों की मनमानी को कम किया। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश रेजिडेंट्स ने राजस्व संग्रह के लिए लिखित रिकॉर्ड को रखना अनिवार्य किया, जिससे प्रशासनिक पारदर्शिता बढ़ी।

1838 ई. से 1947 ई तक की अवधि में, झालावाड़ रियासत ने कई महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं का सामना किया, जिन्होंने जागीरदारी व्यवस्था को प्रभावित किया। झालावाड़ राज्य से ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी और क्राउन ने आवश्यकता और परिस्थिति के अनुरूप कुछ संधियां की जैसे 1862 ई. की संधि से झालावाड़ रियासत को गोद लेने का अधिकार प्रदान किया गया[11], 1881 ई. संधि से झालावाड़ रियासत और जागीरदारों को नमक बनाने पर रोक लगाई गयी[12], 1899 ई. की संधि से झालावाड़ राज्य का जागीर क्षेत्र केवल एक-तिहाई रह गया।[13] 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम

में झालावाड़ रियासत ने ब्रिटिश सरकार का समर्थन किया। विद्रोह के बाद, ब्रिटिश सरकार ने रियासतों पर अपनी पकड़ और सख्त कर दी। जागीरदारों की शक्तियों पर और अधिक नियंत्रण स्थापित हुआ, और उनकी सैन्य गतिविधियों को सीमित किया गया। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश रेजिडेंट्स ने जागीरदारों के सैन्य बलों की संख्या और उनके हथियारों पर नियंत्रण लागू किया। साथ ही, जागीरदारों को अपने प्रशासनिक और राजस्व संबंधी कार्यों का लिखित रिकॉर्ड रखने का निर्देश दिया गया।[14] इन नीतियों ने जागीरदारी व्यवस्था को अधिक व्यवस्थित बनाया, लेकिन साथ ही जागीरदारों की स्वायत्तता को और कम किया। 20वीं सदी की शुरुआत में झालावाड़ रियासत में शिक्षा, सड़कों, और बुनियादी ढांचे के विकास ने सामाजिक और प्रशासनिक परिवर्तनों को बढ़ावा दिया। हालांकि, इन परिवर्तनों का लाभ मुख्य रूप से शासक वर्ग और जागीरदारों को ही मिला।

ब्रिटिश शासन ने जागीरदारी व्यवस्था में कई प्रशासनिक सुधार लागू किए जैसे जागीर क्षेत्र में लिखित रिकॉर्ड को रखना अनिवार्य किया। इससे जागीरदारों ने भूराजस्व, भू-स्वामित्व, और प्रशासनिक गतिविधियों के लिखित रिकॉर्ड रखने की शुरुआत की, यह मध्यकालीन जागीर प्रथाओं से एक महत्वपूर्ण बदलाव था। प्रशासनिक सुधारों के भूराजस्व की निश्चित राजस्व दरें लागू करना रहा। भूराजस्व की स्थिर दर ने जागीरदारों को मनमानी कर वसूली के बजाय निश्चित राजस्व दरों का पालन करने के लिए बाध्य किया। इससे प्रशासनिक पारदर्शिता बढ़ी और किसानों पर अनुचित कर का बोझ कुछ हद तक कम हुआ। ब्रिटिश प्रशासनिक सुधारों के कारण ही विवेच्य रियासत में भूराजस्व और भू-स्वामित्व जैसे विषयों पर विवाद निपटान के लिए कुछ कानूनी ढांचे की शुरुआत की। उदाहरण के लिए, जागीरदारों को विवादों का निपटारा करते समय ब्रिटिश रेजिडेंट्स की सलाह लेनी पड़ती थी।

जागीरदारी व्यवस्था का सामाजिक प्रभाव

जागीरदारी व्यवस्था ने झालावाड़ रियासत की सामाजिक और आर्थिक संरचना पर गहरा और बहुआयामी प्रभाव डाला। यह व्यवस्था सामंती ढांचे पर आधारित थी, जिसमें जागीरदार और उनके अधीनस्थ किसान, मजदूर, और अन्य सामाजिक समूह एक पदानुक्रमित संरचना में बंधे थे।[14] जागीरदारी व्यवस्था ने विवेच्य रियासत क्षेत्र की सामाजिक व्यवस्था पर सामाजिक पदानुक्रम, जातीय संरचना, सामाजिक गतिशीलता आदि को गहराई से प्रभावित किया।

जागीरदारी व्यवस्था ने झालावाड़ में सामंती पदानुक्रम को और मजबूत किया। जागीरदार, जो अधिकतर झाला राजपूत वंश या अन्य उच्च वर्गों से थे, सामाजिक और प्रशासनिक शक्ति के केंद्र थे। उनके पास न केवल भूमि का स्वामित्व था, बल्कि स्थानीय स्तर पर कानून-व्यवस्था, विवाद निपटान, और सामाजिक गतिविधियों का नियंत्रण भी था। इसके विपरीत, किसान, खेतिहर मजदूर, और कारीगर जैसे निचले वर्ग जागीरदारों पर पूरी तरह आश्रित थे। उदाहरण के लिए, झालावाड़ के ग्रामीण क्षेत्रों में, जागीरदारों द्वारा लगाए गए भारी करों और श्रम की मांग ने किसानों को आर्थिक और सामाजिक दबाव में रखा। कई किसान अपनी जमीन के मालिक नहीं थे, बल्कि किरायेदार के रूप में काम करते थे। इससे उनकी सामाजिक स्थिति निम्न बनी रही, और वे जागीरदारों के प्रति आजीवन आश्रित रहे। इस सामंती ढांचे ने जागीरदारों और उनके परिवारों को विशेषाधिकार प्रदान किए, जैसे शिक्षा, संपत्ति, और सामाजिक प्रतिष्ठा, जबकि निचले वर्गों को इनसे वंचित रखा गया।

जागीरदारी व्यवस्था का दूसरा सामाजिक प्रभाव झालावाड़ रियासत की जातीय पदानुक्रम को सुदृढ़ करने के रूप में आता है। झाला राजपूत जागीरदारों का प्रभुत्व स्थानीय समुदायों, जैसे जाट, गुर्जर, मीणा, और अन्य कृषक जातियों पर हावी रहा। जागीरदारों द्वारा जातीय आधार पर भेदभाव एक सामान्य बात थी।[15] उदाहरण के लिए, उच्च जातियों, विशेष रूप से राजपूतों को प्रशासनिक और सैन्य भूमिकाएँ दी जाती थीं, जबकि निम्न जातियों को शारीरिक श्रम और कृषि कार्यों तक ही सीमित रखा जाता था।

यह व्यवस्था जातिगत भेदभाव को और बढ़ावा देती थी। निम्न जातियों, जैसे दलित समुदायों, को सामाजिक और आर्थिक रूप से हाशिए पर रखा गया। अधीनस्थ जातियों को सामाजिक गतिविधियों, जैसे मंदिर प्रवेश या सामुदायिक उत्सवों, में अक्सर बहिष्कृत किया जाता था। इस तरह, जागीरदारी व्यवस्था ने झालावाड़ में जातीय पदानुक्रम को और सुदृढ़ किया, जो राजस्थान की रियासतों की एक सामान्य विशेषता थी।

जागीरदारी व्यवस्था का तीसरा सामाजिक प्रभाव झालावाड़ रियासत में सामाजिक गतिशीलता को सीमित करने के रूप में सामने आता है। जागीरदार और उनके परिवार सामाजिक और

आर्थिक विशेषाधिकारों के लाभार्थी थे, जबकि निचले वर्गों, विशेष रूप से किसानों और मजदूरों, के लिए सामाजिक उन्नति के रास्ते लगभग बंद था, शिक्षा तक पहुँच सीमित थी, और अधिकांश स्कूल और शैक्षिक सुविधाएँ जागीरदारों और शासक वर्ग के लिए आरक्षित थीं।[16] आर्थिक रूप से, किसानों पर भारी कर बोझ और जागीरदारों द्वारा माँगे गए श्रम ने उनकी बचत और संपत्ति संचय की क्षमता को सीमित कर दिया। उदाहरण के लिए, कई किसानों को अपनी उपज का 50% या उससे अधिक हिस्सा जागीरदारों को देना पड़ता था, जिसके कारण वे गरीबी के चक्र में फँसे रहते थे। यह स्थिति सामाजिक गतिशीलता को और बाधित करती थी, क्योंकि निचले वर्गों के पास न तो संसाधन थे और न ही सामाजिक समर्थन।

जागीरदारी व्यवस्था का चौथा समाजिक प्रभाव समाज में तनाव और प्रतिरोध भी रहा। किसानों और निचले वर्गों ने समय-समय पर जागीरदारों की शोषणकारी नीतियों का विरोध किया। हालांकि, ये विरोध आमतौर पर स्थानीय और असंगठित थे, क्योंकि निचले वर्गों के पास संगठित प्रतिरोध के लिए संसाधन और नेतृत्व की कमी थी। फिर भी, 20वीं सदी की शुरुआत में, राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन और सामाजिक सुधार आंदोलनों के प्रभाव से झालावाड़ में भी सामाजिक जागरूकता बढ़ने लगी। यह जागरूकता स्वतंत्रता के बाद जागीरदारी उन्मूलन के लिए एक महत्वपूर्ण कारक बनी।

झालावाड़ रियासत में 1838 ई. से 1947 ई की समय अवधि में ब्रिटिशकालीन सिमित सुधारों से सामाजिक स्तर पर तीन सकारात्मक परिवर्तन भी नजर आते हैं। पहला ब्रिटिश शासन ने झालावाड़ रियासत में स्कूलों, सड़कों, और अन्य बुनियादी ढांचे के विकास को प्रोत्साहन दिया। झालावाड़ में कुछ स्कूलों की स्थापना हुई, जो मुख्य रूप से शासक वर्ग और जागीरदारों के बच्चों के लिए थे। हालांकि, इन सुविधाओं का लाभ निचले वर्गों तक सीमित रूप से पहुँचा।[17] दूसरा ब्रिटिश नीतियों ने रियासत की अर्थव्यवस्था को औपनिवेशिक हितों के अनुरूप ढाला। उदाहरण के लिए, निश्चित राजस्व संग्रह ने ब्रिटिश सरकार को रियासतों से नियमित आय सुनिश्चित की, लेकिन इसका किसानों की स्थिति पर सीमित प्रभाव पड़ा। तीसरा , ब्रिटिश कालीन सामाजिक सुधारों से झालावाड़ रियासत क्षेत्र में 1840 ई में सटी प्रथा पर रोक लगाई, 1888 ई. और 1931 ई. में निर्मित कानून से विवाह उम्र निर्धारित की, 1844 ई. के कानूनों से कन्या वध पर रोक लगाई। इन कानूनी सुधारों ने मध्यकालीन सामाजिक कुप्रथाओं पर रोक लगाने का प्रयास किया जिसका सीमित प्रभाव जागीर क्षेत्रों पर भी पड़ा।

जागीरदारी व्यवस्था का उन्मूलन

भारत की स्वतंत्रता के बाद, जागीरदारी व्यवस्था को समाप्त करने के लिए निर्णायक कदम उठाए गए। यह प्रक्रिया राजस्थान में सामाजिक-आर्थिक सुधारों का एक महत्वपूर्ण हिस्सा थी, राजस्थान भूमि सुधार और जागीर पुनर्ग्रहण अधिनियम 1952 से तीन महत्वपूर्ण परिवर्तन आये।[18] पहला, इस अधिनियम ने जागीरदारों की भूमि का राष्ट्रीयकरण करके भूमि को सरकार के अधीन कर दिया गया। जागीरदारों को उनके निजी उपयोग के लिए सीमित भूमि दी गई, लेकिन उनकी प्रशासनिक और राजस्व संबंधी शक्तियाँ समाप्त कर दी गईं। दूसरा, इस अधिनियम से जो किसान पहले किरायेदार के रूप में काम करते थे, उन्हें उनकी खेती की जमीन का स्वामित्व प्रदान किया गया। यह प्रावधान सामंती ढांचे को तोड़ने और किसानों को आर्थिक स्वतंत्रता देने के लिए महत्वपूर्ण था। तीसरा इस अधिनियम ने जागीरदारों की प्रशासनिक शक्तियाँ, जैसे स्थानीय स्तर पर कानून-व्यवस्था बनाए रखना और विवाद निपटान, समाप्त कर दी गईं। इसके स्थान पर, आधुनिक लोकतांत्रिक प्रशासनिक ढांचा स्थापित किया गया, जिसमें ग्राम पंचायतें और जिला प्रशासन शामिल थे। झालावाड़ में, इस अधिनियम ने रियासत के सामंती ढांचे को पूरी तरह बदल दिया। किसानों को अपनी जमीन का मालिकाना हक मिला, जिसने उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति में सुधार किया।

जागीरदारी उन्मूलन ने झालावाड़ के सामाजिक-आर्थिक परिदृश्य को स्थायी रूप से बदल दिया। इसके कुछ प्रमुख दीर्घकालिक प्रभाव रहे। पहला, सामाजिक समानता को ग्रामीण क्षेत्र में बढ़ावा देना। समाज के निचले वर्गों, विशेष रूप से किसानों और मजदूरों, को सामाजिक और आर्थिक अवसर प्राप्त हुए।[19] भूमि स्वामित्व ने उनकी सामाजिक स्थिति को बेहतर किया और उन्हें सामुदायिक निर्णयों में भाग लेने का अधिकार दिया। दूसरा जागीर क्षेत्र में भूराजस्व की दर नाममात्र की करने से किसानों ने अपनी उपज का अधिक हिस्सा अपने पास रखना शुरू किया, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ। तीसरा जागीरदारी व्यवस्था के समाप्त होने से आधुनिक लोकतांत्रिक प्रशासन प्रणाली की नींव रखी गई। ग्राम पंचायतों और जिला प्रशासन ने स्थानीय स्तर पर शासन को अधिक समावेशी और पारदर्शी बनाया। चौथा, जागीरदारी

उन्मूलन प्रक्रिया ने निचले वर्गों में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता बढ़ाई। यह जागरूकता स्वतंत्र भारत में सामाजिक सुधार आंदोलनों और ग्रामीण विकास योजनाओं के लिए आधार बनी।

हालांकि, उन्मूलन की प्रक्रिया ने कुछ दीर्घकालिक चुनौतियाँ भी उत्पन्न कीं। उदाहरण के लिए, भूमि वितरण में असमानता और कुछ पूर्व जागीरदारों द्वारा अपने प्रभाव का दुरुपयोग अभी भी कुछ क्षेत्रों में देखा गया। फिर भी, जागीरदारी उन्मूलन कानून ने सामाजिक-आर्थिक समानता की दिशा में एक ऐतिहासिक भूमिका निभाई।

निष्कर्ष

झालावाड़ रियासत में जागीरदारी व्यवस्था ने 1838 से 1947 तक प्रशासनिक और सामाजिक ढांचे को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यह व्यवस्था झाला शासकों और ब्रिटिश औपनिवेशिक शक्तियों के बीच एक जटिल संतुलन का परिणाम थी। हालांकि, यह व्यवस्था सामंती असमानताओं को बढ़ावा देती थी और किसानों पर भारी कर बोझ डालती थी। ब्रिटिश नीतियों ने इस व्यवस्था को कुछ हद तक व्यवस्थित किया, लेकिन इसका मूल चरित्र सामंती ही रहा। स्वतंत्रता के बाद जागीरदारी व्यवस्था का उन्मूलन राजस्थान में सामाजिक-आर्थिक सुधारों का एक महत्वपूर्ण कदम था। यह शोध पत्र इस व्यवस्था के ऐतिहासिक महत्व और इसके दीर्घकालिक प्रभावों को रेखांकित करता है।

★सहायक आचार्य, इतिहास,
राजकीय कन्या महाविद्यालय, झालावाड़
★★ सहायक आचार्य
इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

सन्दर्भ सूची

1. शर्मा, ललित, झालावाड़-इतिहास, संस्कृति और पर्यटन, सनातन प्रकाशन, 2019, अध्याय 1, पृष्ठ 13
2. खान, एस.आर, झालावाड़ राज्य का इतिहास, आसफिया रिसर्च सेण्टर, 2010, अध्याय 1, पृष्ठ 1
3. एबट, ए.बी, रिपोर्ट ऑन दी रेवेन्यू सेटलमेंट ऑफ झालावाड़, सन 1885 ई, पृष्ठ 26
4. एचिसन ,सी.यू,ए कलेक्शन ऑफ ट्रीटीज एन्ड संदस रिलेटिंग टू इंडिया एन्ड नेबरिंग कंट्रीज भाग 3, ऑफिस ऑफ द सुपरिन्टेन्डेन्ट ऑफ गवर्नमेंट प्रिंटिंग, इंडिया, 1892, पृष्ठ 265-67
5. व्यास, डॉ आर पी, रोल ऑफ नोबिलिटी इन मारवाड़, जैन ब्रदर्स, नई दिल्ली, 1969, अध्याय 4, पृष्ठ 79
6. ओझा, सुनीता, कोटा राज्य में जागीर प्रथा, शोध प्रबंध, कोटा, 2019, अध्याय 1 पृष्ठ 14
7. शर्मा, ललित, झालावाड़ का इतिहास, (सन 1838 ई. से 1948 ई.) सांई कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स, उज्जैन, 2016, अध्याय 14 पृष्ठ 238
8. मंगलानी, एच.जे., हिस्ट्री, आर्ट एंड अडमिंस्ट्रेशन ऑफ झालावाड़ स्टेट (1838-1947), ऋषभ प्रकाशन , जयपुर, 2020, अध्याय 3, पृष्ठ 52 से 61
9. खान, एस. आर, झालावाड़ राज्य का इतिहास, आसफिया रिसर्च सेंटर, 2010, अध्याय 3, पृष्ठ 103 से 120
10. मंगलानी, एच.जे, हिस्ट्री, आर्ट एंड अडमिंस्ट्रेशन ऑफ झालावाड़ स्टेट (1838-1947), ऋषभ प्रकाशन , जयपुर, 2020, अध्याय 4, पृष्ठ 75
11. बेली सी.एस - चीफ एंड फैमिलीज इन राजपुताना स्टेट, ऑफिस ऑफ द सुपरिन्टेन्डेन्ट ऑफ गवर्नमेंट प्रिंटिंग, इंडिया, 1894, पृष्ठ 82
12. फोरन प्रोसीडिंग्स (पॉलिटिक्स), ऑफिस ऑफ द सुपरिन्टेन्डेन्ट ऑफ गवर्नमेंट प्रिंटिंग, सन 1882, पृष्ठ 521
13. शर्मा, ललित, झालावाड़ का इतिहास, (सन 1838 ई. से 1948 ई.) सांई कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स, उज्जैन, 2016, अध्याय 8, पृष्ठ 88
14. वही, अध्याय 7 पृष्ठ 69
15. खान, एस.आर, झालावाड़ राज्य का इतिहास, आसफिया रिसर्च सेंटर, 2010, अध्याय 9, पृष्ठ 172
16. मंगलानी, एच.जे, हिस्ट्री, आर्ट एंड अडमिंस्ट्रेशन ऑफ झालावाड़ स्टेट (1838-1947), ऋषभ प्रकाशन, जयपुर, 2020, अध्याय 4, पृष्ठ 75
17. वही, अध्याय 9, पृष्ठ 133
18. राजस्थान भूमि सुधार और जागीर पुनर्ग्रहण अधिनियम, 1952
19. मंगलानी, एच.जे, हिस्ट्री, आर्ट एंड अडमिंस्ट्रेशन ऑफ झालावाड़ स्टेट (1838-1947), ऋषभ प्रकाशन, जयपुर, 2020, अध्याय 9, पृष्ठ 126

डॉ. आशुतोष कुमार त्रिपाठी

अपने युग के युवा कवियों और लेखकों के प्रेरणास्रोत— फ्रीडरिक गॉटलीब क्लॉपस्टॉक

फ्रीडरिक गॉटलिब क्लॉपस्टॉक (1724-1803) अठारहवीं शताब्दी के जर्मन साहित्य के एक प्रमुख कवि थे। उन्होंने अपनी प्रारंभिक शिक्षा जर्मनी के प्रतिष्ठित प्रोटेस्टेंट आवासीय विद्यालय शुलफोर्टा (Schulpforta) में प्राप्त की और इसके पश्चात् येना विश्वविद्यालय में धर्मशास्त्र का अध्ययन किया। क्लॉपस्टॉक अपने महाकाव्य 'मसीहा' (Der Messias) के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं, जिस पर उन्होंने अट्ठाईस से अधिक वर्षों तक कार्य किया। हालाँकि, उनकी रचित कविताएँ और ओड्स (odes) भी जर्मन साहित्य की अमूल्य धरोहर मानी जाती हैं, और जर्मन काव्य परंपरा में एक नवीन काव्य-दृष्टि का प्रतिनिधित्व करती हैं। क्लॉपस्टॉक की लेखन-शैली भावनात्मक और आत्मानुभूति-प्रधान अभिव्यक्ति की ओर उन्मुख है।

अपनी रचनाओं में क्लॉपस्टॉक ने पारंपरिक विषयवस्तु से हटकर प्रेम, मित्रता, प्रकृति और धार्मिक भावनाओं की अंत:संवेदना को सरल एवं सजीव भाषा में अभिव्यक्त किया। उनकी भजन-सदृश कविताओं में प्रयुक्त मुक्तछंद ने जर्मन काव्य को अभिव्यक्ति की नई स्वतंत्रता प्रदान की। अपनी गहनता, कल्पनाशीलता और छंद-प्रयोग की विविधता के कारण क्लॉपस्टॉक अपने युग के अनेक युवा कवियों और लेखकों के प्रेरणास्रोत बने; जिनमें योहान गॉटफ्रिड हेर्डर, फ्रेरेडरिक होल्डर्लिन और योहान वोल्फगांग फॉन ग्योथे प्रमुख हैं। उनका प्रभाव बीसवीं शताब्दी के जर्मन कवियों, जैसे राइनर मारिया रिल्के और स्टेफान जॉर्ज, की काव्यभाषा में भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

फ्रीडरिक गॉटलीब क्लॉपस्टॉक (1724-1803) की विरह की सात कविताएँ

गीजेके के लिए (1748)

जाओ! मैं तुम्हें विदा करता हूँ, यद्यपि पुरुषधर्म
आँसू बहाने से नहीं रोकता।
जाओ! मैं रो नहीं रहा, प्रिय।
वरना तो पूरी उम्र रोते ही बितानी पड़ती,
यदि मैं, ओ गीजेके, तुम्हारे लिए शोक करने लगता!
सबको एक दिन ऐसे ही जाना होता है,
दूसरों को शोक में छोड़कर अकेले निकल जाना होता है।
मृत्यु जीवनसाथियों को अलग कर देती है! वह दूर
सागर की लहरों में डूबकर अपनी आखिरी मंजिल पा चुका है;
और वह स्त्री किनारे परय जहाँ लहरों द्वारा
बिखेरी हड्डियाँ, टूटी नावें और रेत
उसकी कब्र को और ऊँचा बना देते हैं।
जैसे मिल्टन की अस्थियाँ होमर से अलग पड़ी हैं,
और सरो वृक्ष की शोक से बोझिल हवाएँ भी
एक ही कब्र तक पहुँच पाती हैं, जबकि
अनछुआ रह जाता है दूसरा कब्र।
उसने हम सबका भाग्य अमिट अक्षरों में लिखा है,
स्वर्ग में बैठा विधाता, सबका मौन साक्षी।
मैं अपने प्रारब्ध को नतमस्तक हो स्वीकार करता हूँ,
और आसमान की ओर देख आँसू नहीं बहाता।

जाओ, प्रिय! हमारे मित्र शायद तुम्हारे विदाई पर
तब तक आँसू न बहाएँ, जब तक उनकी आत्मा स्वयं
आँसुओं से सराबोर न हो जाए;
सच्चे, कोमल और उदात्त भाव से लदे आँसू,
जैसे कोई पराया कभी नहीं रो सकता।
तुम शीघ्र हागडोर्न के पास पहुँचो!
उसे अपनी इच्छा भर गले लगा लो,
जब मिलन की लालसा शांत हो जाए,
आनंद के आँसू
गहरी तृप्ति की मुस्कान में बदल जाएँ,
जब ख़ुशी के तीन दिन बीत जाएँ,
तब, मेरे गीजेके, उससे कहना
कि मैं उससे वैसे ही प्रेम करता हूँ, जैसे तुम करते हो।

उसके लिए (1752)
समय, आनंद का संदेशवाहक,
ओ प्रिय पल! तुम्हें पाने के लिए
मैंने बहाये हैं
दु:ख के अनगिनत आँसू!
और फिर भी, तुम आते हो!
ओह हाँ, देवदूत तुम्हें मेरे पास भेजते हैं,
वे जो पहले इंसान थे और मुझसे स्नेह करते थे,
अब वैसे ही स्नेह करते हैं
जैसे अमर आत्माएँ स्नेह करती हैं।
सुबह की मद्धम हवा में, सुकून की पंखों पर,
सूरज की किरणों में चमकती ओस की तरह,
शाश्वत वसंत के संग,
तुम स्वर्ग से उतरते हो।
क्योंकि आत्मा खुद को पूर्ण महसूस करती है,
और हृदय में, आनंद उमड़ता है,
जब आत्मा, प्रेम से परिपूर्ण, सोचती है कि
उसे सच्चे प्रेम से चाहा जा रहा है।

प्राचीन कब्रें (1764)
स्वागत है, हे चाँदी से श्वेत चाँद,
रात्रि के शांत, सुहावने पथिक!
तुम जा रहे हो? हड़बड़ाओ मत, ठहरो, विचारों के सहचर!
देखो, वह रुक गयाय केवल बादल ही गुजर रहे थे।
मई की भोर;
गर्मियों की रात से भी कहीं अधिक अनुपम,
जब उसके घुँघराले केशों से आलोक की
बूँदों-सी ओस टपकती हैं,
और वह अरुणिमा ओढ़े पर्वत की ओर बढ़ता है।
हे महान आत्माओं!
तुम्हारी कब्रों पर अब काई ने दस्तक दे दिया है।
ओह, कितना आनंदित था मैं, जब निहारता था तुम्हारे संग
दिन को लालिमा में नहाते और रात को झिलमिलाते।

गर्मी की रात (1766)
जब चंद्रमा अपनी कोमल आभा
वनों पर बरसाती है,
और नींबू के फूलों की मधुर खुशबु
शीतल बयार में घुलकर लहराती हैय
तभी स्मृतियाँ घेर लेती हैं मेरा मन,
मुझे याद आती है मेरी प्रेयसी की कब्र, और मुझे जंगल में
सिर्फ धुंधलका दिखता है, और फूलों की सुवास भी
मुझ तक नहीं पहुँच पाती।
मैंने भी, हे मृत जनों,
कभी वही सुख तुम्हारे साथ लिया था!
कैसे मुग्ध करती थी हमें वह सुगंध और शीतलता,
कैसे चाँदनी तुम्हें और भी निखार देती थी,
तब तुम कितनी अनुपम लगती थी, ओ प्रकृति!

स्मृति (1795)
आधी रात की डरावनी नीरवता भी मुझे सुला न सकी,
न उसका मौन; और न ही हाल में,
धार्मिक स्वतंत्रता के नाम पर कोई रक्तपात हुआ;
फिर भी मेरी आत्मा गहन गंभीरता से घिरी हुई है।
शीतल बयार मुझे सहला रही है,
कुछ पत्ते झर चुके, कुछ फूल अब भी मुस्करा रहे हैं;
शरद ऋतु ग्रीष्म की छवि जगाती है,
पर मेरी आत्मा अब भी उसी गंभीरता में लिपटी है।
आह! स्मृतियाँ मुझे खींच ले जाती हैं,
मैं उन्हें रोक नहीं पाता!
मुझे उन कब्रों की ओर देखना ही होगा, अपने भीतर के
गहरे घाव को खोलना ही होगा,

और अपनी वेदना को वाणी देनी होगी
'हे मेरे मृत मित्रो, तुम्हें मेरा प्रणाम!'

पुनर्मिलन (1797)

यह संसार मुझे तुमसे दूर ले जाता है,
पर समय मुझे तुमसे उतना दूर नहीं करता।
जो सत्तर की उम्र पार कर चुका है,
वह तुम्हारे और भी करीब है।
मेटा, मैं कितने दिनों से देख रहा हूँ तुम्हारी कब्र,
उस पर मंद हवा में झूमते नींबू के पेड़;
एक दिन वह पेड़ मेरे लिए भी झूमेगा,
अपने फूल मेरे लिए भी बिखेर देगा।
नहीं, मेरे लिए नहीं! वह तो केवल मेरा साया होगा,
जिस पर फूल गिरेंगे;
जैसे अब तुम्हारे केवल साये पर
फूलों की वर्षा होती है।
तब मैं भी जानूँगा उस दिव्य लोक को,
जहाँ तुम लंबे समय से वास कर रहे हो;
तब हम प्रसन्न होकर देखेंगे झूमते नींबू के पेड़,
जो हमारी कब्रों को शीतलता देंगे।
फिर... लेकिन अफसोस,
जो तुम बहुत पहले से जान चुके हो,
वह मुझे आज भी अज्ञात है;
मेरी आत्मा के चारों ओर
बस आभासों के पंख मंडराते रहते हैं।
आशाओं की मधुर ऊष्मा के संग
साँझ की लालिमा उतरती है;
गहरी, हृदयस्पर्शी प्रत्याशा के संग
सूर्य पुनः उदित होता है।

मृत्यु

ओ दैदीप्यमान रात्रि, तारों की अनगिनत सेनाएँ,
कैसे होता है तुम्हारा उदय। कितनी मोहक है यह छवि,
इस अद्‌भुत जगत की! हे सृष्टि के रचयिता!
हे विधाता, कितने उदात्त हो तुम! कितने अनुपम!
हर्ष से भर उठता है वह हृदय,
जो तारामंडल को निहारता है और अनुभव करता है,
कि वह धूल के एक कण-सा तुच्छ है,
और ईश्वर कितना विराट;
उसका ईश्वर! ओ मेरे हृदय की पुलक, तुम संग रहना
उस क्षण भी, जब मैं मृत्यु का आलिंगन करूँ।
क्यों सहमा देती हो, हे मृत्यु,
और उड़ा देती हो; क्लांत मनुष्य की नींद?
अब मत डालो इस अलौकिक आनंद पर धुंध की यह चादर!
मैं ईश्वर का बीज बनकर मिट्टी में समाता हूँ।
क्या अमरत्व भी
काँपेगा तुझसे, ओ मायामयी मृत्यु?
ओ मेरे नश्वर शरीर,
समा जाओ अपघटन के इस अंधकार में!
जिसमें विजित जन आदिकाल से ही विलीन हो गए हैं।
गिरो, ओ मेरे अस्तित्व की धूल और
समाहित हो जाओ उन योद्धाओं में,
जो चिर निद्रा में लीन हैं।

अनुवादक :
डॉ. आशुतोष कुमार त्रिपाठी
पीएचडी, जर्मन भाषा केंद्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली, भारत
ईमेल - ashutoshp757@gmail.com

प्रभा खेतान : स्त्री-संघर्ष की एक उन्मुक्त आवाज

खुशी सिंह

सार

स्त्री अस्मिता की पक्षधर डॉ. प्रभा खेतान हिन्दी साहित्य की एक महत्वपूर्ण रचनाकार रही हैं। उन्होंने सिर्फ स्त्री अस्मिता को उजागर ही नहीं किया बल्कि स्त्री स्वतंत्रता के मार्ग में आ रहे अवरोधों से लड़ने के लिए सही दिशा भी दिया। प्रभा जी ने साहित्य जगत के साथ-साथ व्यावसायिक जगत में भी अपना स्थान बनाया। उन्होंने महिलाओं को यह बोध कराया कि जब तक वे आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं हो जाती उन्हें किसी भी क्षेत्र में सम्मान नहीं मिलेगा। प्रभा जी ने अपने सामाजिक और पारिवारिक रूढ़ियों से लड़कर उन्हें तोड़ते हुए अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाई। अपनी रचनाओं में भी विभिन्न सामाजिक मुद्दे जैसे- स्त्री स्वतंत्रता, अस्तित्व की खोज (आत्म चेतना), पितृसत्ता की आलोचना, प्रेम संबंधों की जटिलता और नारी स्वावलंबन जैसे मुद्दों को उन्होंने अपने जीवन से जोड़ते हुए तटस्थता एवं संवेदनशीलता के साथ रेखांकित किया। उनकी अधिकांश रचनाओं में अधिकतर 'आत्मकथात्मक शैली' परिलक्षित होती है।

'स्त्री संघर्ष' अर्थात् स्त्री के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए की जाने वाली एक कठिन और संघर्षमय कोशिश। हमें पुरुष-संघर्ष सुनने को नहीं मिलता क्योंकि पुरुष सदा से मुख्यधारा में बना हुआ है। पुरुषों द्वारा स्त्री को अधीनस्थ रखा गया। जब कन्या जन्म लेती है तो वह पिता के अधीन, विवाह के पश्चात् पति के अधीन एवं वृद्धावस्था में पुत्र के अधीन रहती है उसका स्वयं पर कोई अधिकार ही नहीं होता। समाज स्त्री को कभी यह अधिकार ही नहीं देता की

पुरुष के बराबर शिक्षा ग्रहण कर सके। अभी भी ग्रामीण परिवेश में 'स्त्री' पुरुषों के मर्जी के बगैर अपने जीवन के महत्वपूर्ण फैसले नहीं ले सकती और न ही उसके बराबर में बैठ सकती है इन्हीं रुढ़िग्रस्त परंपराओं ने समाज में जड़ता बना ली है इसी का लाभ उठाकर पुरुषवादी समाज द्वारा स्त्री का शोषण किया गया, उसे अपमानित किया गया और घर की चार-दिवारी में बच्चों के पालन-पोषण और पति की सेवा तक बाधित कर दिया गया। स्त्री का जीवन संघर्ष ही उनके अपने अस्तित्व और अस्मिता की झलक देती है। प्रभा जी ने स्त्री को एक उनमुक्त उड़ान प्रदान किया है और यह उन्मुक्त स्वर स्त्री के लिए हमेशा ऊर्जा प्रदान करेगा।

स्त्री अस्मिता की पक्षधर डॉ. प्रभा खेतान हिन्दी साहित्य की एक महत्वपूर्ण रचनाकार रही हैं। उन्होंने सिर्फ स्त्री अस्मिता को उजागर ही नहीं किया बल्कि स्त्री-स्वतंत्रता के मार्ग में आ रहे अवरोधों से लड़ने के लिए सही दिशा भी दिया। प्रभा जी ने साहित्य जगत के साथ-साथ व्यावसायिक जगत में भी अपना स्थान बनाया। उन्होंने महिलाओं को यह बोध कराया कि जब तक वे आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं हो पाती उन्हें किसी भी क्षेत्र में सम्मान नहीं मिलेगा। प्रभा जी ने अपने सामाजिक और पारिवारिक रूढ़ियों से लड़कर उन्हें तोड़ते हुए अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाई। अपनी रचनाओं में भी विभिन्न सामाजिक मुद्दे जैसे- स्त्री स्वतंत्रता, अस्तित्व की खोज (आत्म चेतना), पितृसत्ता की आलोचना, प्रेम-संबंधों की जटिलता और नारी स्वावलंबन जैसे मुद्दों को उन्होंने अपने जीवन से जोड़ते हुए तटस्थता एवं संवेदनशीलता के साथ रेखांकित किया। उनकी अधिकांश रचनाओं में अधिकतर 'आत्म-कथात्मक शैली' परिलक्षित होती है।

डॉ. प्रभा खेतान ने स्त्री के परम्परागत साँचे से अलग हटकर स्त्री मुक्ति की दिशा में समाज को आगे बढ़ाया। उन्होंने अपने जीवन में भोगे हुए यथार्थ का अपनी रचनाओं में वर्णन करते हुए इस समाज की सच्चाई को बेबाकी से चित्रित किया।

अपने निजी जीवन के एक-एक घटनाक्रम को नि:संकोच व बेझिझक पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया। उनकी रचनाएँ सिर्फ एक स्त्री जीवन को नहीं दर्शाती बल्कि इस समाज के लगभग हर घर में एक प्रभा खेतान है इसे साबित करती हैं जो समाज द्वारा शोषित व उत्पीड़ित रही हैं। इन सबकी कहानियों को उन्होंने सामने लाया। उनको ज्ञात था कि समाज उनकी परंपरा से हटकर चल रहे रास्ते में बाधा उत्पन्न करेगा लेकिन वे मुक्ति की लड़ाई में हार नहीं मानी और कालांतर में स्त्री-अस्मिता की एक उन्मुक्त आवाज बनकर सामने आयी।

एक मारवाड़ी परिवार की कन्या किस प्रकार से अपने समाज के परंपराओ, रुढ़ियों और जड़ता के ढाँचे को तोड़कर उनका विरोध झेलते हुए इन रुढ़िग्रस्त परंपरा को इनकार करके और संपूर्ण स्त्री-जगत के लिए संघर्ष करते हुए अपनी बहुमुखी प्रतिभा के कारण से व्यावसायिक जगत में अपना स्थान बना लेती है और प्रत्येक स्त्री के अंतर्मन में आत्म-चेतना का प्रवाह कराती हुई एक प्रेरणा स्रोत बनती हैं इस लेख में यही केंद्र बिंदु होगा।

'स्त्री संघर्ष' अर्थात् स्त्री के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए की जाने वाली एक कठिन और संघर्षमय कोशिश। हमें पुरुष-संघर्ष सुनने को नहीं मिलता क्योंकि पुरुष सदा से मुख्यधारा में बना हुआ है। पुरुषों द्वारा स्त्री को अधीनस्थ रखा गया। जब कन्या जन्म लेती है तो वह पिता के अधीन, विवाह के पश्चात पति के अधीन एवं वृद्धावस्था में पुत्र के अधीन रहती है उसका स्वयं पर कोई अधिकार ही नहीं होता। समाज स्त्री को कभी यह अधिकार ही नहीं देता की पुरुष के बराबर शिक्षा ग्रहण कर सके। अभी भी ग्रामीण परिवेश में 'स्त्री' पुरुषों के मर्जी के बगैर अपने जीवन के महत्वपूर्ण फैसले नहीं ले सकती और न ही उसके बराबर में बैठ सकती है इन्हीं रुढ़िग्रस्त परंपराओं ने समाज में जड़ता बना ली है इसी का लाभ उठाकर पुरुषवादी समाज द्वारा स्त्री का शोषण किया गया, उसे अपमानित किया गया और घर की चार-दिवारी में बच्चों के पालन-पोषण और पति की सेवा तक बाधित कर दिया गया।

प्रभा खेतान जी अपने उपन्यास 'आओ पेपे घर चले' (1990) में आइलिन के माध्यम से कहती हैं—''मेरा इस तरह रोने-धोने से विश्वास उठ गया है किंतु मित्रों हम सभी जानते हैं कि स्त्री के जीवन का सच भी तो यही है, जिसको स्वीकारती हुई आइलिन कहती है कि औरत कहाँ नहीं रोती कब नहीं रोती जितना-जितना रोती है उतना ही उतना औरत होती जाती है।"

लेखिका स्त्री को और समाज को यह बता रही हैं कि इस दोयम दर्जे की जर्जर व्यवस्था ने प्रत्येक स्त्री को रुलाया है वह इसे नियति मान बैठी है लेकिन लेखिका आइलिन के माध्यम से स्त्री जाति को यह आह्वान भी दे रही हैं कि भले ही हम रोयें। प्रत्येक स्त्री कमजोर पड़ी लेकिन जितना-जितना रोती है वह उतना औरत होती जाती है इसलिए स्त्री को अब संघर्ष एवं आत्म चेतना की आवश्यकता है वरना समाज इन्हें दबाता जाएगा।

स्त्री को स्त्री बनाने में समाज का बहुत बड़ा योगदान है। अर्थात् ''स्त्री पैदा नहीं होती बनाई जाती है।" इस समाज में अकेली स्त्री की कोई अस्मिता ही नहीं मानी जाती। क्या कोई लड़की बिना विवाह किये अपनी पूरी जिंदगी नहीं जी सकती? हमारे समाज में उस स्त्री को स्वीकार ही नहीं किया जाता भले उसका पति शादी के तुरंत बाद तलाक ही क्यों न दे दे समाज को यह स्वीकार है, समाज को यह भी स्वीकार है कि विधवा औरत अकेले जीवन व्यतीत करे लेकिन दोबारा विवाह नहीं कर सकती इसे हमारे समाज में वरीयता ही नहीं मिलती। प्रभा जी इसी रुढ़िग्रस्त परंपरा का विरोध करती हैं। उनके अनुसार ''विवाह एक ओवररेटेड संस्था है। इस संस्था को ज्यादा तरजीह देने से इनकार करती हैं।" उन्होंने स्वयं बगैर विवाह के अपनी पूरी जिंदगी डॉ. सर्राफ के प्रेम में व्यतीत की और साथ-साथ साहित्यिक एवं व्यावसायिक जगत में एक नया मुकाम हासिल किया। अपने लेखन के माध्यम से उन्होंने पुरुष वर्ग एवं संपूर्ण समाज को चुनौती देते हुए यह बताने का प्रयास किया कि स्त्री-अपना अधिकार स्वयं हासिल कर सकती है, पुरुष के बराबर स्थान बना सकती है चाहे वह सामाजिक जगत हो, व्यावसायिक जगत या राजनीति। उनके साहित्य में प्रत्यक्ष रूप से प्रमाणित भी होता है।

प्रभाजी पितृसत्ता के खिलाफ थी उनका कहना है कि ''स्त्री-पुरुष की जिन असमानताओं को देखते हुए मैं बड़ी हो रही थी वे सभी तो पितृसत्ता के कारनामे थे।'' और इन्हीं असमानताओं को खत्म करने के लिए प्रभा जी आर्थिक

स्वतंत्रता को स्त्री की पहली जरूरत मानती हैं। वह कहती हैं कि ''औरत की सारी स्वतन्त्रता उसके पर्स में निहित है।'' वह स्त्री को सभी क्षेत्र में पुरुष के बराबर भागीदार मानती हैं। वह कहती हैं कि व्यक्ति बनने लिए औरत को सिर्फ प्यार ही नहीं और भी बहुत कुछ चाहिए लेखिका स्त्री-वर्ग को उद्‌बोधित करती हुई कहती हैं कि ''जीवन शुरू करने के लिए उसे भी पुरुष के बराबर की जमीन चाहिए और इस जमीन को समाज से छीनकर लेना पड़ता है। महज अनुनय-विनय से काम नहीं चलता।'' लेखिका यहाँ स्त्री-जाति के आंदोलन का बिगुल बजाकर आह्वान करती हुई नजर आती हैं। वह कहती हैं कि स्त्री को अब मैदान में उतर कर अपने अस्मिता और अधिकार के लिए लड़ना पड़ेगा महज चुप बैठकर मांगने से कुछ प्राप्त नहीं होगा, हमें इस समाज से अपना अधिकार छीनना पड़ेगा।

प्रभाजी ने दोहरी व्यथा झेली है एक तो वह स्त्री थी ऊपर से मारवाड़ी परिवार की कन्या। मारवाड़ी समाज में स्त्री का घर के बाहर कदम रख व्यवसाय करना एक बहुत बड़ा चुनौतीपूर्ण कार्य है। और प्रभा जी ने न सिर्फ व्यवसाय जगत में स्थान बनाया बल्कि एक कुंवारी कन्या बनकर पूरी जिंदगी डॉ. सर्राफ के प्रेम में व्यतीत की और ये दोहरा प्रतिशोध समाज के लिए एक नया मोड़ था। लेकिन अपनी इस यात्रा-संघर्ष में प्रभाजी बिल्कुल अकेली थी उनके प्रेमी डॉ सर्राफ ने भी उनकी मनोव्यथा को नहीं समझा वह कहती हैं कि ''मैं इनसे प्यार करती थी, इसका मतलब यह अर्थ तो नहीं कि वे मुझे कैसे जीना चाहिए यह सिखाते? मैं केवल प्रभा खेतान बनकर रह सकती हूँ और कुछ नहीं।" एक स्त्री यदि अपना सब कुछ छोड़कर एक पुरुष से प्रेम को निष्ठा से निभाती है और यदि उस पुरुष द्वारा ही उसको ठुकरा दिया जाए तो उसका अपना कौन हो सकता है, प्रभा जी की भी यही स्थिति थी समाज उन्हें दूसरी औरत कहकर ताना देता था जबकि उन्होंने डॉ. सर्राफ की पत्नी से कभी कोई द्वेष नहीं रखी। लेखिका कहती है कि ''अपनी तमाम निर्भरता के बावजूद, एक सफल व्यवसायी महिला होते हुए भी एक इस सम्बन्ध के कारण लोगों की ताना-बोली और उपेक्षा से मन की सारी कोमलता झुलस जाती थी। एक तीखी यन्त्रणा से मन चीखने लगता था। पर ये बातें मैं किससे कहती? कौन था वहाँ सुनने वाला?'' हमारे समाज में प्रत्येक स्त्री को किसी न किसी समय पुरुष के शोषण का शिकार होना पड़ता है। कभी-कभी अपने किसी सगे संबंधियों द्वारा ही और उस बेजान कन्या को पता भी नहीं होता या पता होता भी है तो पुरुष के खिलाफ यह बोल नहीं पाती उसे दबा दिया जाता है। लेखिका के साथ भी यह घटना घटित हुई स्वयं उनके भाई द्वारा लेकिन वह कुछ कर न सकीं। वह कहती हैं कि ''मुझे नफरत है इस पुरुष जाति से नफरत है उनसे जो मासूम छोटी नादान लड़कियों को भी नहीं छोड़ते। औरत असहाय है उसे न पिता छोड़ता है न भाई। अपनी नारी देह में वह स्वयं में छत-विछत होकर रह जाती है। प्रश्न उठता है कि ''क्या नारी की इस स्थिति में आज भी कोई बदलाव आया है।" अंत में लेखिका स्त्री जाति को सचेत करते हुए कहती हैं कि ''केवल पढ़ने से, अध्ययन से, लेखन से और चिंतन से स्त्री स्वतंत्र नहीं हो जाती। सामाजिक पंगुता के विरुद्ध क्रोध और विद्रोह की भावना व्यक्त करने से ही मैं व्यक्ति नहीं हो जाऊंगी। संस्कारों से मुक्ति की यात्रा बहुत लंबी है और बहुत कठिन भी।'' लेखिका स्त्री जाति को सजग करती हुई कहती हैं कि हमारी संघर्ष कि यात्रा बहुत लंबी और कठिन है हमें धैर्यता से विवेकपूर्ण इस यात्रा को तय करना है।

डॉ. प्रभा खेतान हिंदी साहित्य की एक ऐसी लेखिका है जिन्होंने स्त्री की अस्मिता, पीड़ा, संघर्ष और आत्म-चेतना को अपने लेखन के माध्यम से समाज के सामने प्रत्यक्ष रूप में रेखांकित किया। उन्होंने यह सिद्ध किया कि स्त्री केवल परिवार या समाज की परंपरागत सीमाओं में बंधी एक निष्क्रिय सत्ता नहीं, बल्कि वह विचार, संवेदना और कर्म की सशक्त धुरी भी हो सकती है।

प्रभा जी का संपूर्ण साहित्य-लेखन इस बात का प्रमाण है कि स्त्री जब अपने भीतर की चेतना को पहचान लेती है, तो वह न केवल स्वयं के लिए, बल्कि संपूर्ण स्त्री-जगत के लिए परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त करती है। लेखिका का जीवन स्वयं में एक क्रांति था।

एक पारंपरिक मारवाड़ी समाज की स्त्री होकर उन्होंने उन रुढ़ियों को तोड़ा जो पीढ़ियों से स्त्रियों को बंधन में जकड़े हुए थीं। उन्होंने विवाह, नारी-देह, प्रेम, स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता जैसे विषयों को न केवल साहसपूर्ण उठाया, बल्कि उन्हें अपने निजी अनुभवों के माध्यम से सजीव रूप दिया।

उनका कहना था कि ''औरत की सारी स्वतंत्रता उसके पर्स में निहित है'', अर्थात् जब तक स्त्री आर्थिक रूप से स्वावलंबी नहीं होगी, तब तक उसकी स्वतंत्रता अधूरी रहेगी। यह विचार आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना उनके समय में था।

आज भी अगर शहरी जीवन को छोड़ दे तो ग्रामीण क्षेत्र के स्त्रियों को पुरुषों के बराबर शिक्षा की अनुमति नहीं है उसे पुरुषों पर ही निर्भर रहना है। आज भी आधी आबादी को आधी शिक्षा ही मिल रही है। गृहस्थी जीवन में स्त्री ही घर के अंदर खाना-पकाना करती है पुरुषों द्वारा यह कार्य कभी नहीं किया जाता वह एक गिलास पानी भी खुद से नहीं लेता लेकिन यदि बाहर व्यापार जगत की दुनिया में जहाँ आर्थिक लाभ हो रेस्टोरेंट या होटल में पुरुषों द्वारा ही खाना बनाया जाता है अर्थात् स्त्री बाहर खाना नहीं बना सकती। ये भेद-भाव अभी-भी व्याप्त है। प्रभा जी ने अपने लेखन में बार-बार यह दिखाया है कि स्त्री की संवेदना केवल भावनाओं का संसार नहीं, बल्कि एक गहरा वैचारिक आंदोलन है।

'आओ पेपे घर चलें' जैसे उपन्यास में वे स्पष्ट कहती हैं कि रोना-धोना स्त्री का स्वभाव नहीं, बल्कि उस पर थोपा गया सामाजिक परिणाम है। प्रभा खेतान के माध्यम से स्त्री केवल दुख भोगने वाली नहीं, बल्कि अन्याय के खिलाफ आवाज उठाने वाली एक जागरुक चेतना ही है।

उनका संघर्ष केवल बाहरी जगत से नहीं था, उन्हें अपने भीतर के द्वंद्व से जूझना पड़ा। एक तरफ समाज की परंपराएँ और दूसरी तरफ अपने मन की स्वतंत्र उड़ान; इन दोनों के बीच उन्होंने अपने अस्तित्व की एक नई परिभाषा रची।उन्होंने यह संदेश दिया कि प्रेम हो या पेशा, स्त्री को अपने निर्णय स्वयं लेने का अधिकार है। उनके जीवन और लेखन क्षेत्रों ने यह सिद्ध किया कि स्त्री की वास्तविक शक्ति उसके भीतर की सोच, दृढ़ता और आत्मविश्वास में निहित है।

उन्होंने पुरुषवादी समाज के दोहरे मापदंडों पर गहरा प्रहार किया। प्रभा खेतान ने न केवल पितृसत्ता की आलोचना की, बल्कि स्त्रियों को यह भी बताया कि केवल शिक्षा या लेखन से स्वतंत्रता नहीं मिलती जब तक स्त्री अपने अधिकारों के लिए स्वयं संघर्ष नहीं करती, तब तक वास्तविक स्वतंत्रता संभव नहीं है। वे कहती हैं कि मुक्ति की यह यात्रा लंबी और कठिन है, पर असंभव नहीं।

अंतत:, प्रभा खेतान का समूचा साहित्य स्त्री की अस्मिता, संवेदना और आत्म-सम्मान का घोष है। उन्होंने यह स्थापित किया कि स्त्री को दूसरों की स्वीकृति की नहीं, स्वयं की पहचान की आवश्यकता है। उनकी लेखनी ने हिंदी साहित्य को एक नई दिशा दी ऐसी दिशा जो स्त्री को दया या सहानुभूति का नहीं, बल्कि सम्मान और समानता का दर्जा देती है।

उनका जीवन और लेखन आज की पीढ़ी के लिए प्रेरणास्रोत है। वे यह सिखाती हैं कि संघर्ष चाहे कितना भी कठिन क्यों न हो, यदि नारी अपने भीतर के साहस को पहचान ले, तो कोई भी शक्ति उसे आगे बढ़ने से नहीं रोक सकती। लेखिका ने स्त्री वर्ग को सचेत किया है कि ''आने वाले वक्त में औरत की सबसे बड़ी लड़ाई इस मुख्यधारा में बने रहने की होगी।''

प्रभा खेतान सचमुच 'स्त्री-संघर्ष की एक उन्मुक्त आवाज' थीं, हैं और रहेंगी उनकी लेखनी नारी स्वतंत्रता की मशाल की तरह आने वाली पीढ़ियों का मार्ग आलोकित करती रहेगी।

शोधार्थी, हिन्दी विभाग
श्री वेंकटेश्वर कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. खेतान प्रभा, आओ पेपे घर चलें, सरस्वती विहार, दिल्ली, 1991, पृष्ठ संख्या-54
2. सिमोन द बोउवार, द सेकंड सेक्स, 1949, पृष्ठ संख्या - 283
3. खेतान प्रभा, अन्या से अनन्या, वाणी प्रकाशन, 2025, पृष्ठ संख्या - 85
4. वही, पृष्ठ संख्या - 259
5. वही, पृष्ठ संख्या - 131क
6. वही, पृष्ठ संख्या - 257
7. वही, पृष्ठ संख्या - 100
8. वही, पृष्ठ संख्या - 260
9. खेतान प्रभा, छिन्नमस्ता, राजकमल प्रकाशन, 1993, पृष्ठ संख्या-122
10. खेतान प्रभा, अन्या से अनन्या, वाणी प्रकाशन, 2025, पृष्ठ संख्या - 256

डॉ. कुमारी अनीता

लोकगीतों का उद्‌भव, विकास, भेद एवं शिष्ट गीतों में अन्तर

लोकगीत किसी भी शिष्ट साहित्य के अमरत्व और शाश्वत स्वरूप का मूल स्रोत है। जैसे कोई पौधा धरती से सम्बद्ध हुए बिना पूर्णत: विकसित नहीं हो सकता, उसी तरह लोकगीतों की परम्परा से विछिन्न होकर किसी भी देश का काव्य-साहित्य आगे नहीं बढ़ सकता। लोक-गीतों का विकास कभी अवरुद्ध नहीं होता। जिस समय किसी देश के काव्य का शिष्ट रूप अपने का कला विकास के शीर्ष बिन्दु पर स्थापित रहता है, उस समय भी ग्राम-गीतों के रूप में लोक गीत अनन्त कंठों में ध्वनित-प्रतिध्वनित होते रहते हैं।

लोकगीतों के आदिरूप का सम्बन्ध मानव की उस अवस्था से है, जब शब्दों का ज्ञान नगण्य था। केवल आवेगमय भावात्मक अवस्था में मानव सहज ही गुनगुना उठता था। लय-ताल-सम्बन्ध स्वर ही उसकी भावाभिव्यक्ति के प्रथम सोपान हैं। लयसंयुक्त यह आवेग ही लोक गीतों का जनक है। पहले केवल लोकधुनों का निर्माण हुआ। आगे चलकर शब्दों, विचारों और लोकधुनों का साथ-साथ विकास हुआ। एक कंठ से दूसरे कंठ तक पहुँचते हुए लोकगीत परिवर्द्धित होते रहते हैं। लोक-गीतों का अर्थ तर्क की अपेक्षा संवेग से अधिक सम्बद्ध होता है। लोकगीत जन-मानस की विभूति है। जब कभी आदि मानव सुख-दुख की अतिरेकावस्था में पहुँच जाता था तब सहज ही उसका कंठ शत-शत स्वरों में फूट पड़ता था। कुछ लोग लोकगीतों का जन्म रति और भय की क्रोड़ से मानते हैं। किन्तु वस्तुत: इन दो रागों के अतिरिक्त उत्साह और श्रम से भी लोकगीत सम्बद्ध है। ये लोकगीत निर्वैयक्तिक होने के कारण सहज अनुभूतिगम्य होते हैं। लोकगीतों में व्यक्ति उपलक्ष्य होता है, लक्ष्य होता है भावों की स्वच्छन्द-निर्द्वन्द्व अभिव्यक्ति। लोकगीतों में एक ऐसी प्रभावोत्पादकता, रहस्यमयता एवं सहजता होती है, जो व्याख्येय नहीं अनुभव-गम्य है। लोकगीत देशकाल से प्रभावित एक सांस्कृतिक वैभव है। यद्यपि लोकगीतों के निर्माण का सम्बन्ध समूह से है तथापि उनमें किसी श्रोता-मंडली को प्रभावित करने का उपयोग परिलक्षित नहीं होता[1], क्योंकि, निर्माण की अवस्था में लोकगीत के श्रोता और निर्माता में कोई भेद नहीं होता।

प्रारम्भ में ये गीत ऐसे उदार और प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा निर्मित हुए होंगे, जिनकी वैयक्तिकता जन-समाज से एकाकार हो गयी होगी। उन्हें न तो अपने नाम और यश का मोह था और न उनकी भावनाएँ समाज से भिन्न थीं। अत: जनकंठ द्वारा निरन्तर परिष्कृत होते-होते वे रचनाएँ जनसमाज की हो गयीं। वर्त्तमान रूप में उपलब्ध लोकगीतों का मूलरूप कैसा था, यह जानना अत्यन्त कठिन है। जन-समाज ने अपनी आवश्यकताओं, परिस्थितियों और प्रवृत्तियों के अनुरूप उनका आकार दे दिया। अत: ये गीत किसी एक व्यक्ति की नहीं पूरे समाज की भावनाओं, आदर्शों एवं परिस्थितियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये गीत आदिम मानव की अभिव्यक्ति हैं। इनमें निरन्तर परिवर्तित-विकसित भारतीय लोक-संस्कृति परिलक्षित होती है। इन गीतों में हमारी विशाल सभ्यता अन्तर्निहित है। इनमें व्यक्त भावनाएँ भी सार्वभौम हैं। विभिन्न प्रान्तों, यहाँ तक कि विभिन्न देशों के लोकगीतों में बाह्य भेदक रहते हुए भी समान भावधारा के दर्शन होते हैं। कहीं-कहीं तो इन भावों की अभिव्यक्ति में अद्‌भुत साम्य दीखता है। इनमें जीवन के अपना सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। ये गीत हमारी आत्मा की सहज अभिव्यक्ति हैं। इतने सहज, स्वस्थ, प्रकृत मनोवेगों की अभिव्यक्ति है कि हम सहज ही इन

गीतों से अपना सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। ये गीत हमारी आत्मा की सहज अभिव्यक्ति है।

लोकगाथाएँ साहित्यिक रूप में ढलकर प्रबन्ध काव्य बनीं और लोकगीतों का साहित्यिक रूप गीतकाव्य और प्रगीत मुक्तक में प्रकट हुआ। तात्पर्य यह कि लोकगीतों का विकास बनता-सँवरता कला-गीत के रूप में हुआ। जैसे प्रारम्भिक अवस्था में लोकगीतों में संगीतात्मकता की प्रधानता थी, उसी प्रकार प्रारम्भ में विषय-विधान भी गौण था। इस काल में व्यक्ति और समूह के भावों का पृथक्करण सम्भव नहीं दीखता। लोकगीतों में काव्य के शास्त्रीय तत्त्वों की उपेक्षा के कारण एक ऐसी स्वाभाविकता, आत्मीयता और संवेदनात्मकता आ जाती है जो बाद के विकसित प्रगीतों में नहीं मिलती। स्वभावत: ग्राम-गीतों में बुद्धि-संचलित मस्तिष्क की अपेक्षा भाव प्रवण हार्दिकता की प्रधानता होती है।

लोकगीतों के विकास के अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि भिन्न-भिन्न भूमि खण्डों में व्याप्त संस्कृति, धर्म, आस्था, परम्परा और क्रिया-कलापों के भाव चित्र के रूप में विशुद्ध जनतांत्रिक हृदय के भावोच्छ्वास से इन गीतों का जन्म हुआ। ये प्रारम्भिक अवस्था में लिपिबद्ध न होकर जनकंठ में प्रवाहित रहे। इन लोकगीतों में एक ओर जहाँ प्राचीन संस्कृति और जीवन-स्वरूप के दर्शन होते हैं, वहाँ दूसरी ओर नित-नवीन रहनेवाली शाश्वत भावधाराओं के चित्र मिलते हैं। यही जनकाव्य साहित्यिक इतिहास का प्रथम पृष्ठ है। भावनाओं की हिलोरों पर मचल-मचलकर लोकगीत विकसित होते रहे हैं। भावातिरेक के सरगम पर शब्द थिरकते हुए पंक्तिबद्ध होते रहे। इन गीतों में वैसी ही नैसर्गिकता है जैसी पिकके पञ्चम में। जैसे ऋतुओं के आग्रह से वन-प्रांतों में हरे-भरे पेड़-पौधे स्वत: उग आते हैं, वैसे ही लोकगीत जनवाणी से फूट पड़े। गीतों की यह सरलता-तरलता इन्हें लोक-कण्ठों में उतार देती है। निरलंकृत होकर भी ये गीत सहज-सुन्दर हैं।[2]

लोकगीत आदिमानव के सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति होते हुए भी ललित-सुन्दर तथा शिष्ट होते हैं। ये लोकमानस का मनोरंजन करने के साथ ही प्रेरणा के आरम्भ-स्रोत भी थे। लोकगीतों की धुनों का आधार लेकर ही शास्त्रीय राग-रागिनियाँ बनीं। इनकी कलात्मकता का इससे बढ़कर प्रमाण और क्या हो सकता है। लोकगीतों में जीवन का उन्मुक्त विकास परिलक्षित होता है। जीवन के नवीनतम तत्वों को अपने में समाहित करते रहने के कारण लोकगीतों में एक जीवन्त गति है, जिसमें जीवन के नित-नूतन आदर्श प्रतिष्ठित है। लोकगीतों का विकास साक्षी है कि ये गीत भावात्मक और कलात्मक दोनों ही दृष्टियों से सुन्दर हैं।

लोकगीतों का वर्ण्य-विषय मुख्यत: पारिवारिक जीवन है। आदिकाल में छोटे-छोटे कुनबे और टोलियाँ परिवार स्वरूप थे। खेत जोतते हुए, चक्की चलाते हुए, धान कूटते हुए, सूत काते हुए, मिलते हुए, बिछुड़ते हुए जीवन के विभिन्न प्रसंगों से लोकगीतों का सम्बन्ध है। पर्वों-त्योहारों, धार्मिक अनुष्ठानों, सामाजिक उत्सवों तथा अन्य अवसरों पर भी लोकगीतों का विकास हुआ। मुख्यत: जीवन के उपर्युक्त कोमल अवसर के गीत नारी-कण्ठों के शृंगार हैं। वीर-भाव से पूर्ण युद्ध गीतों का सम्बन्ध मुख्यत: पुरुष-वर्गों से है। प्रेम के दोनों ही पक्षों का हृदयग्राही चित्रण लोकगीतों में मिलता है, जिनके गायक दोनों वर्गों के लोग होते हैं। प्रेम के प्रसंग में इन गीतों में प्रकृति के साथ तादात्म्य सम्बन्ध मिलता है। महलों की रानियाँ लोकगीतों में सामान्य मानव की तरह खग-मृग वृक्ष-लता से रागात्मक रूप से सम्बद्ध दीखती हैं। लोकगीतों के पात्र मानव ही नहीं पशु-पक्षी भी होते हैं। प्रकृति दूत तक का काम करती है। इन गीतों में समय की सीमा गणित के सहारे नहीं, प्रकृति-सम्बद्ध भाव चित्रों के सहारे होती है।[3]

सामाजिक वैषम्य के कारण पारिवारिक जीवन में जो रुक्षता, कटुता, दु:खात्मक स्थिति आ जाती है, उसके अगणित मर्मस्पर्शी चित्र लोकगीतों में मिलते हैं। कन्यादान की असह्य पीड़ा, सास के अत्याचार, जमींदारों-महाजनों की शोषण-वृत्ति, वैधव्य का शोक, वृद्ध-विवाह का उत्पीड़न आदि अनेक विषयों का समावेश इन गीतों में होता है। विषय की विविधता और भावों की विशालता के कारण इन गीतों में सभ्यता का उद्‌घाटन, पौराणिक परम्परा का निर्वाह और आर्यपूर्व सभ्यता का ज्ञान होता है।[4]

लोकगीतों के विकास के अध्ययन से यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के अनुरूप ही विभिन्न प्रकार के गीतों का निर्माण हुआ। अत: उनके अनेक प्रकार के (भेद) है। मुख्यत: इनके भेदों के निम्नलिखित आधार हैं।

1. संस्कारों की दृष्टि से
2. धार्मिक अनुष्ठानों की दृष्टि से
3. कार्य-कलापों की दृष्टि से
4. ऋतुओं की दृष्टि से
5. समसामयिकता की दृष्टि से
6. आयु की दृष्टि से

7. लिंग की दृष्टि से
8. जाति की दृष्टि से
9. पारिवारिक सम्बन्धों की दृष्टि से
10. रस की दृष्टि से
11. इतिहास और समाज की दृष्टि से
12. मिश्रित दृष्टि से।

1. संस्कारों की दृष्टि से—जन्म से लेकर मरण तक भारतीय जीवन अनेक धार्मिक संस्कारों से आपूरित है। मनु के अनुसार संस्कारों की संख्या सोलह है। यों इनकी संख्या 40 भी मानी जाती है। इनमें से पुत्र-जन्म, मुण्डन, यज्ञोपवीत तथा विवाह के अवसर पर स्त्रियाँ सुन्दर गीतों द्वारा अपने हर्ष के आवेग को अभिव्यक्त करती हैं। मृत्यु के अवसर पर भी अत्यन्त करुण गीतों द्वारा मृतात्मा के गुणों का हृदय विदारक वर्णन प्रस्तुत किया जाता है! संस्कार विषयक गीतों में सोहर, अन्नप्राशन, मुण्डन, जनेऊ, विवाह, द्विरागमन, गृह प्रवेश आदि के गीत सम्मिलित किये जाते हैं।

2. धार्मिक अनुष्ठानों की दृष्टि से - धार्मिक विश्वास एवं आस्था भारतीय जन-जीवन की मुख्य विशेषता होने के कारण अधिकांश व्रत लोकगीतों से सम्बद्ध हैं। इन व्रत-गीतों में प्रत्येक से सम्बद्ध देवी-देवताओं की वन्दना भी रहती है। ये गीत मुख्यत: स्त्रियाँ गाती हैं और इष्ट साधना के लिए याचना करती हैं। तीज, गोधन, छठ, शीतलामाता, बहुरा आदि के गीत इसके उदाहरण हैं।

3. ऋतुओं की दृष्टि से—कहते हैं लोकगीत मुख्यत: प्रकृति के गीत हैं। सामान्य लोक-मानस पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश से प्रभावित होकर उसकी शोभा-सुषमा को चित्रित करता है। इन ऋतु-गीतों में, नैसर्गिक प्रकृति के साथ मानव प्रकृति का चित्रण रहता है। झरते हुए मेघ प्रिय दर्शन के लिए विकल आँखों से होड़ लेते हैं और प्रोषित-पतिका नायिकाएँ वसन्त के अवसर पर कातर दीखती हैं। प्रत्येक बोली के लोकगीतों में पाये जानेवाले बारह मासों में दोनों ही प्रकृतियों का अत्यन्त प्रभावोत्पादक सामंजस्य दिखलाई पड़ता है। वर्षा में कजली, फागुन में फगुआ, चैत में चैता किसे नहीं मुग्ध कर लेते।

4. कार्यकलापों की दृष्टि से - गीत और संगीत मानव का मनोरंजन उसके कार्यरत जीवन में भी करते हैं। युद्ध के अवसर पर वाद्ययन्त्र शक्ति का संचार करते हैं। काम करते समय गाते रहने से कार्य में प्रगति होती है और मन को शांति मिलती है। धान रोपते हुए, मनोरंजन के लिए गाया जाता है। क्रिया या कार्यकलापों के आधार पर रोपनी, सोहनी, उसे सोहते हुए, चक्की पीसते हुए, तेल पेरते हुए, प्रत्येक स्थिति में श्रम-परिहार और मनोरंजन के लिए गाया जाता है। क्रिया या कार्यकलापों के आधार पर रोपनी, सोहनी, जैतसार आदि के गीत प्रचलित हैं।

5. समसामयिकता की दृष्टि से—कभी-कभी जन-मानस को आंदोलित करनेवाली घटनाओं का सूत्रपात लोकगीतों को प्रभावित करते हैं। सत्तावन के गदर, बयालीस की क्रांति तथा विश्व महायुद्धों से सम्बद्ध कितने ही गीत आज भी प्रचलित हैं।

6. आयु की दृष्टि से—कुछ लोकगीत आयु-विशेष से सम्बद्ध होते हैं। जैसे लोरी और टेसू के गीत का सम्बन्ध बच्चों से तथा फागुन रसिया आदि लोकगीत युवकों से सम्बद्ध हैं।

7. लिंग की दृष्टि से—यों तो लोकगीतों का विशेष सम्बन्ध स्त्रियों से है, परन्तु कुछ लोकगीत विशेष रूप से पुरुषों से सम्बद्ध हैं। जैसे- शीतलामाता का गीत, ढोला, आल्हा आदि।

8. जाति की दृष्टि से—भारत की वर्ण-व्यवस्था के फलस्वरूप प्रत्येक जाति की अपनी विशेषता एवं भावनाएँ होती हैं। ये गीत किसी जाति विशेष की भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। गोंड़, चमार, धोबी आदि के अश्लील गीत विवाह आदि शुभ अवसरों पर गाये जाते हैं। अहीरों के विरहा में शृंगार तथा अनेक ओजस्वी भावों की भी अभिव्यक्ति हुई है। यह अहीरों की वैवाहिक योग्यता का मानदण्ड माना जाता है। दुसाध बीमार हो जाता है तब उसी जाति के किसी वृद्ध द्वारा 'पचड़ा' गाया जाता है, ताकि इस प्रार्थनापरक गीत को सुनकर देवता प्रसन्न हो उसे निरोग कर दें। ऐसे ही रिमझिम पावस में नटों के द्वारा ढोल बजा-बजाकर 'आल्हा' गाना किसे नहीं रुचता! गैरिक वसन साईं गोपीचन्द और भरथरी के गीत गाते हैं।

9. पारिवारिक सम्बन्धों की दृष्टि ले — पारिवारिक सुख-दु:ख से आपूरित गीतों में गार्हस्थ्य-रस का आनन्द मिलता है। भाई-बहन के प्रेम के गीत सामा-चकवा के नाम से गाये जाते हैं। इसी तरह ननद-भौजाई, सास-पतोहू या पति-पत्नी से सम्बद्ध अनेक गीत हैं।

10. रस की दृष्टि से—प्रत्येक रस से सम्बद्ध लोकगीत मिलते हैं परन्तु इनमें सर्वाधिक प्रमुखता शृंगार की है। पुन: क्रमश: करुण, वीर, हास्य और शान्त रस की प्रधानता होती है।

सोहर, जनेऊ, विवाह आदि के गीतों में शृंगार की, जँतसार, निर्गुण, पूर्वी, गौना आदि में करुण रस की तथा आल्हा, ढोला आदि में वीर रसकी प्रधानता होती है। वैवाहिक गीतों, झूमर आदि में हास्य का पुट होता है। निर्गुण, गंगा मइया और तुलसी माता के गीतों, शिवजी की नचारियों, संझापराती आदि में प्रार्थना, वन्दना के कारण शान्त रस की प्रधानता होती है।

11. इतिहास और समाज की दृष्टि से—वीरगाथात्मक प्रवृत्तियों के कारण समाज और इतिहास को नयी गति देनेवाले महापुरुषों से सम्बद्ध अनेक गीतों की रचना भिन्न- भिन्न बोलियों में हुई। ये गीत सामाजिक स्थिति के साथ ही थोड़ा-बहुत ऐतिहासिक प्रमाण उपस्थित करते हैं। इन गीतों का मुख्य उद्देश्य जनता में वीर रस का संचार करना है। बिहार में बाबू कुँवर सिंह के गीत बड़े ओजस्वी हैं। ऐसे ही गांधी और जवाहर जैसे जन-नायकों पर भी कुछ लोक-गीत रचे गये हैं। गोरा-बादल के गीत भी उत्साहवर्धन करते हैं। इन सामाजिक ऐतिहासिक गीतों में प्रेम के तराने भी रहते हैं, जो किसी आदर्श प्रेमी से सम्बद्ध होते हैं। जैसे-सारंगा सदावृज, हीर राँझा आदि के गीत।

12. मिश्रित दृष्टि से—अन्य लोकगीतों में खेल-कूद पहेली, लावनी आदि के नाम लिये जा सकते हैं, जिनके लिए किसी विशिष्ट वर्गीकरण की आवश्यकता नहीं। कृषि-जीवन सम्बद्ध अनेक गीत भी इसी के अन्तर्गत हैं। लोकगीतों की संख्या अपरिमित है। और उन्हें सूक्ष्म रूप से सहस्रों श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। निस्संदेह लोकगीतों के इतने प्रकार इस बात को सिद्ध करते हैं कि इनके वृत्त में सम्पूर्ण मानव-जीवन समाहित है।

लोकगीत और शिष्ट गीत

लोकगीत यदि पुष्प है, तो शिष्ट गीत फल, एक विकास का पूर्व पक्ष है तो दूसरा उत्तर पक्ष। यह कहना भ्रांतिमूलक है कि लोकगीतों का रचयिता कोई व्यक्ति नहीं होता; शिष्ट गीतों का रचयिता व्यक्ति विशेष होता है। प्रारम्भ में स्पष्ट किया जा चुका है कि लोकगीतकारों के नाम अज्ञात हैं। इसका मुख्य कारण लोकगीतों का मौखिक होना है। शिष्टगीत लिखित होने के कारण व्यक्तियों से सदैव सम्बद्ध और जनसमाज द्वारा स्मृत होते हैं। इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि मौखिक होने के कारण लोकगीतों में परिवर्तन-परिवर्धन के कारण पाठ-भेद होते रहते हैं। शिष्टगीतों में इसका अवकाश बहुत कम रहता है।

ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता गया, शिष्टगीतों की प्रवृत्ति बढ़ती गयी। शिष्ट-गीत ग्राम-गीतों की विरासत के रूप में बहुत सारे तत्त्व समाहित किये हुए हैं। एक अन्तर की ओर ध्यान आकृष्ट किया जाता है कि लोकगीतों में स्त्री-पक्ष प्रधान है और प्रायः स्त्रियाँ ही पुरुष प्रेम के प्रति सक्रियता प्रदर्शित करती हैं। पर शिष्टगीतों में इस दिशा में पुरुषों का पक्ष प्रधान है।[5] मेरी समझ में इसका कारण यह है कि लोकगीतों के लिए अध्ययन और किसी भी प्रकार की शिक्षा-दीक्षा की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु शिष्ट-गीतों के रचयिता को भाषा आदि पर अपेक्षाकृत अधिक अधिकार रहता है। स्वभावतः स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष वर्ग में शिक्षा-दीक्षा का अधिक प्रसार- प्रचार होने के कारण अधिकांश पुरुष ही कलागीताकर हुए। पुरुषों के मन में स्त्रियों के प्रति आकर्षण रहना नैसर्गिक है। सम्भवतः इसीलिए कलागीतों में लोकगीतों की अपेक्षा पुरुष- भाव की प्रधानता रहती है। कलागीतों की अपेक्षा लोकगीतों में अतिमानवीय शक्तियों का अधिक समावेश रहता है। देवी- देवताओं, भूतों-प्रेतों, नाग-नागिनियों, पशु-पक्षियों आदि का उल्लेख लोकगीतों में ही अधिक रहता है। कलागीतों में मुख्यतः भक्त्यात्मक गीतों में देवी-देवताओं का उल्लेख तो रहता है, लेकिन भूत-प्रेतों आदि का उल्लेख कला-गीतों में न के बराबर रहता है। लोकगीतों में पशु-पक्षियों से काम लिया जाता है। सुग्गे वर खोजने का काम करते हैं और काग प्रियतम को सन्देश पहुँचाने का। कलागीतों में लोकगीतों की अपेक्षा जीवन का सभ्य रूप समाहित रहने के कारण अधिक कृत्रिमता रहती है, जीवन प्रवाह की प्रच्छन्न गति का उसमें अभाव रहता है।

शब्द-प्रयोग, व्याकरण, छन्द, यति-गति आदि के जितने बन्धन कलागीतों में होते हैं, लोकगीतों में नहीं। नियमों की कारा में नैसर्गिकता बन्दिनी हो जाती है। अतः लोक-गीत यदि गंगा है, कलागीत जलाशय, एक यदि विराट वन है, तो दूसरा उपवन। लोकगीतों की निर्वैयक्तिकता के कारण श्रोताओं या पाठकों की व्यक्तिगत रुचि किसी कवि विशेष से सम्बद्ध नहीं हो पाती, कलागीतों में यह बात नहीं होती। निराला, रामकुमार, महादेवी, बच्चन किसी की रचना के साथ हम अपनी व्यक्तिगत रुचि का परिचय दे सकते हैं! किन्तु नाम की छाप से अछूते लोकगीतों में यह कैसे सम्भव है! लोक भाषा विकास पाकर साहित्यिक भाषा बन जाती हैं, लोकगीत नागर जीवन के परिपार्श्व में परिष्कृत और परिवर्धित होकर कलागीत का स्वरूप पा लेते हैं। लोकगीतों की भूमि ग्रामीण या अर्द्धसभ्य समाज है, कलागीतों

का वातावरण सुसभ्य है। काव्य के दो पक्ष - अनुभूति और अभिव्यक्ति में, लोकगीत में प्रथम की और कलागीत में द्वितीय की प्रमुखता होती है। काव्य-कला और अपने व्यक्तित्व के प्रति सचेष्टता रहने के कारण वह भावुकता नहीं रहती, जो लोकगीतों के सहज स्वरूप में होती है।

कलागीत और लोकगीत का अन्तर उपस्थित करते हुए इन दोनों को दो विषमधर्मी नहीं माना जा सकता। ये दोनों एक-दूसरे से पूर्णत: सम्बद्ध हैं। कलागीतों के निर्माण के साथ ही अज्ञात नामाकवियों द्वारा लोकगीतों का निर्माण होता रहता है। आज तो ज्ञात कविगण हिन्दी की प्रत्येक बोली में सहस्रों लोकगीतों की रचना कर रहे हैं। यद्यपि ये गीत लोकगीत कहे जाकर भी कला गीतों की सीमाओं में बद्ध हैं, तथापि इतना तो सिद्ध हो ही जाता है कि आज के सुसंस्कृत और सभ्य कहे जानेवाले श्रोता और पाठक लोकगीतों के प्रति कितने आकृष्ट हैं। आकाशवाणी और कवि-सम्मेलनों द्वारा लोकगीतों और लोक-धुनों पर आधारित रचनाओं का रंग कलागीतों से कुछ कम नहीं जमता। ऐसे भी बड़े-बड़े नगरों में आयोजित सांस्कृतिक कार्यक्रमों के अवसरों पर जन-जीवन में प्रचलित लोकगीतों का रसास्वादन रुचि के साथ किया जाता है।

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
कमला नेहरू कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. ...The folk-singer is "never conscious of his audience...he never, therefore, strives after effect, nor endeavours in this or in any other way to attract the attention, much less the admiration of the hearers." *Poetry and the People,* Kenneth Richmond, p. 188.
2. एक-एक बहू के चित्रण पर रीतिकाल की सौ-सौ मुग्धाएँ, खण्डिताएँ और धीराएँ, निछावर की जा सकती हैं; क्योंकि ये निरलंकार होकर भी प्राणमयी हैं और वे अलंकारों से लदी होकर भी निष्प्राण हैं। ये अपने जीवन के लिए किसी शास्त्र की मुखापेक्षी नहीं हैं। ये अपने आपमें ही परिपूर्ण हैं। - 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 130
3. ग्राम-गीतों में काल की अवधि को बताने के लिए साधारण इतिवृत्तात्मक ढंग का प्रयोग न कर, गोचर प्रत्यक्षीकरण रूप का व्यवहार प्राय: सर्वत्र पाया जाता है। - 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त', डॉ. सुधांशु, पृ. 197-198।
4. इनका एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य है एक विशाल सभ्यता का उद्घाटन जो अब तक या तो विस्मृति के समुद्र में डूबी हुई या गलत समझ ली गयी है। ... ... जिस प्रकार वेदों द्वारा आर्य सभ्यता का ज्ञान होता है उसी प्रकार ग्राम गीतों द्वारा आर्यपूर्व सभ्यता का ज्ञान होता है।
— 'छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का परिचय', भूमिका, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी।
5. ग्रामगीत से कलागीतके परिवर्तन में एक बात उल्लेखनीय रही है कि ग्रामगीत में रचना की जो प्रकृति स्त्रैण थी वह कलागीत में आकर कुछ पौरुषपूर्ण हो गयी।
'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त', David Daiches के Literature and Society के आधार पर डॉ. ल. ना. सुधांशु के विचार, पृ. 177, प्र. आवृत्ति 1942 ई.।

सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य और हिंदी सिनेमा

रजत तिवारी

शोध-सार

यह लेख सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य और हिंदी सिनेमा को लेकर लिखा गया है। जिसमें समय के साथ यानी हिंदी सिनेमा की शुरुआत से आज तक किस तरह से हिंदी सिनेमा हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों को प्रभावित करता रहा है और इनसे प्रभावित होता रहा है। हिंदी सिनेमा और फिल्मों (चलचित्र) का अर्थ बताने के साथ इनके प्रकारों को बताने का प्रयास किया गया है। समय में परिवर्तन के साथ सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों में क्या परिवर्तन आते गए। फिल्मों के विषय कैसे बदलते गए और मौजूदा समय की परिस्थितियों के अनुसार अब किस तरह की फिल्मों का निर्माण हो रहा है। सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य और हिंदी सिनेमा कैसे आपस में एक दूसरे को प्रभावित करते हैं इस विषय को समझने का प्रयास किया गया है।

मुख्य-शब्द : सिनेमा, हिंदी सिनेमा, चलचित्र (फिल्म), चेतना, समाज, मूल्य सामाजिकता, सांस्कृतिक, संवेदना।

प्रस्तावना

चलचित्र, फिल्म, मूवी, पिक्चर या फिर चलती हुई तस्वीर कोई भी नाम लें जनसंचार के एक महत्त्वपूर्ण माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित सिनेमा आज एक बहुत प्रसिद्ध और लोकप्रिय माध्यम है। जो सिर्फ भारत ही नहीं बल्कि पूरे विश्व में प्रचलित है। बॉलीवुड, हॉलीवुड, टॉलीवुड, कॉलीवुड, सेंडलवुड या अन्य किसी भी सिनेमा का नाम लें ये सभी विभिन्न भाषाओं, देशों से जुड़ें हो लेकिन फिल्मों के लिए ही जाने वाले हैं।

अगर हम सिनेमा की बात करें तो सिनेमा को एक कला के रूप में जाना जाता है, सिनेमा एक कला रूप है जो एक स्थान (सिनेमाघर) में ध्वनि और गतिमान छवियों का उपयोग करके कहानियों, भावनाओं और विचारों को व्यक्त करता है। इसे सामूहिक रूप से फिल्मों के बारे में बात करने के लिए एक माध्यम के रूप में भी जाना जाता है और इसमें फिल्मों के निर्माण, वितरण और प्रदर्शन का पूरा उद्योग शामिल है। यह मुख्य रूप से मनोरंजन का माध्यम, दृश्य कथावाचन, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रतिबिंब, कला और उद्योग का मिश्रण होता है। जहां फिल्मों को कई तरह से वर्गीकृत किया जा सकता हैरू शैली के आधार पर (कॉमेडी, ड्रामा, एक्शन, हॉरर), प्रकार के आधार पर (कथात्मक, वृत्तचित्र, प्रयोगात्मक), या फिल्मांकन के आधार पर (रंगीन, ब्लैक एंड व्हाइट)। ऐसे ही सिनेमा को भी व्यावसायिक सिनेमा, समानांतर सिनेमा और क्षेत्रीय सिनेमा जैसी श्रेणियों में भी बांटा जाता है।

चलचित्र, फिल्म, मूवी या पिक्चर कोई भी नाम लें यह लगातार स्थिर छवियों का एक क्रम है जिसे एक साथ इतनी तेजी से देखा जाता है कि गति का भ्रम पैदा होता है। चलचित्र एक ऐसी कला है जो इसी चलती छवियों के माध्यम से विचारों, कहानियों और भावनाओं को व्यक्त करती है और विचारों, भावनाओं को बदलने की ताकत भी रखता है। इसी को फिल्म, मूवी और पिक्चर भी कहा जाता है।

जब हम सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की बात करते हैं तो हमारा अभिप्राय उन मूल्यों से होता है जो समाज को सुचारु रूप से चलाने में भूमिका निभाते हैं। यह लोगों द्वारा निर्धारित महत्त्व, वित्तीय लाभ से परे सकारात्मक प्रभाव उत्पन्न करने वाले, किसी संस्कृति के व्यवहार, विश्वासों और प्रभाव का मार्गदर्शन करते हैं और यह तय करते हैं कि क्या अच्छा या

सही है। ये मूल्य पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होते है और लोगों के सोचने, समझने, बातचीत करने, निर्णय लेने के तरीके को प्रभावित करते हैं।

जब हम सिनेमा में सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की बात करते हैं तो हमारा अभिप्राय समाज के दर्पण के रूप में, जागरूकता और शिक्षा देने, विचारों और व्यवहारों को प्रभावित करने, मनोरंजन और सहानुभूति, सांस्कृतिक पहचान के दर्पण और निर्माता के रूप में, सामाजिक परिवर्तन का माध्यम, विविधता के उत्सव, सामाजिक और भावनात्मक जुड़ाव और आर्थिक और रोजगार सृजन के संदर्भ में रहता है।

हिंदी सिनेमा हमेशा से ही समाज का दर्पण रहा है। समाज में जिस समय जिस तरह की घटनाएं व परिवर्तन आते गए चलचित्र (फिल्मों) के माध्यम से उन विषयों को चलचित्र के रूप में दिखाया जाता रहा है।

हिंदी सिनेमा ने हमेशा भारतीय समाज के तत्कालीन यथार्थ को दर्शाया है। आजादी के पहले से ही जब से हिंदी सिनेमा अस्तित्व में आया तब से ही हिंदी सिनेमा ने समाज में मौजूद मूल्यों को बढ़ाने, समस्याओं के साथ चेतना को जागृत करने का हमेशा प्रयास किया है। यह हमें विभिन्न फिल्मों के माध्यम से देखने को मिलता है।

सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य और हिंदी सिनेमा:

हिंदी सिनेमा केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं है, बल्कि यह भारतीय समाज का दर्पण भी है। फिल्मों के माध्यम से समाज के विविध रूप, मूल्य, परंपराएँ और विचारधाराएँ सामने आती हैं। सिनेमा ने समाज को न केवल प्रतिबिंबित किया है, बल्कि उसके सोचने के तरीके, रहन-सहन और मान्यताओं को भी प्रभावित किया है। जब से हिंदी सिनेमा अस्तित्व में आया तब से आज तक के समय तक सिनेमा का रूप निरंतर परिवर्तित हो रहा है। स्वतंत्रता पूर्व से आज के आधुनिक समय तक सिनेमा के मुद्दे और विषय लगातार बदलते रहे हैं।

स्वतंत्रता-पूर्व काल की फिल्मों में सामाजिक बुराइयों और राष्ट्रभक्ति के भाव प्रमुख रहे। अछूत कन्या (1936) जैसी फिल्मों ने छुआछूत और जातिवाद के खिलाफ आवाज उठाई।

स्वतंत्रता के बाद के युग में सिनेमा ने श्रमिक वर्ग, ग्रामीण जीवन और समानता के आदर्शों को चित्रित किया। दो बीघा जमीन (1953) और नया दौर (1957) जैसी फिल्मों ने मेहनतकश समाज की पीड़ा को उजागर किया।

सत्तर और अस्सी के दशक में समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, बेरोजगारी और वर्ग संघर्ष को ''एंग्री यंग मैन'' के रूप में अमिताभ बच्चन की फिल्मों ने प्रस्तुत किया। वहीं 1990 के बाद का दौर उदारीकरण और आधुनिक जीवन शैली का प्रतीक बना। इस समय की फिल्मों में पारिवारिक मूल्यों के साथ-साथ व्यक्तिवाद और स्वतंत्र सोच को भी महत्व दिया गया जैसे दिलवाले दुल्हनिया ले जाएंगे और हम आपके हैं कौन।

21वीं सदी के सिनेमा में सामाजिक मुद्दों को आधुनिक दृष्टिकोण से दिखाया जाने लगा है। थप्पड़, पिंक जैसी फिल्मों ने महिला सशक्तिकरण को नया आयाम दिया। वहीं शुभ मंगल ज्यादा सावधान जैसी फिल्में लैंगिक समानता और समावेशिता के प्रतीक बनीं। आधुनिक हिंदी सिनेमा अब केवल परंपरा को नहीं, बल्कि बदलते सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों को भी स्वीकार करता है।

हिंदी सिनेमा भारतीय संस्कृति का संवाहक है। यह हमारी भाषा, संगीत, नृत्य और पारिवारिक संबंधों की जीवंत झलक प्रस्तुत करता है। साथ ही यह समाज में संवाद और परिवर्तन का माध्यम भी है।

हिंदी सिनेमा ने सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों को बहुत प्रभावित किया है एवं गहराई तक इन मूल्यों से जुड़ा हुआ है। हर दशक में समय के साथ मूल्यों में परिवर्तन आता गया जिसको सिनेमा ने अपना विषय बनाया।

हिंदी सिनेमा ने दशकों से भारतीय समाज के प्रमुख सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यों को पर्दे पर दर्शाया है :

समाज का दर्पणरू सिनेमा समाज की विभिन्न संस्कृतियों, जीवन-शैलियों और समस्याओं को प्रतिबिंबित करता है। यह भारतीय समाज की भावनात्मक सच्चाइयों और रीति-रिवाजों के बारे में जागरूकता बढ़ाता है।

पारंपरिक मूल्य : शुरुआती और स्वर्ण युग की फिल्मों (1940-1970) ने संयुक्त परिवार, त्याग, माँ की ममता, और पतिव्रता पत्नी जैसे भारतीय आदर्शों को महिमामंडित किया, जो उस समय के सामाजिक ताने-बाने को दर्शाते थे।

राजनीतिक चेतना : स्वतंत्रता संग्राम के बाद की फिल्मों में देश-प्रेम, राष्ट्रीय एकता और सांप्रदायिक सद्भाव के मूल्यों पर जोर दिया गया।

पारिवारिक मूल्य : शुरुआती और 90 के दशक की फिल्मों में संयुक्त परिवार, बड़ों का आदर, त्याग और रिश्तों

की गरिमा को प्रमुखता दी गई। यह भारतीय सामाजिक संरचना का मुख्य आधार रहा है। जैसे : मदर इंडिया (त्याग), हम आपके हैं कौन (पारिवारिक एकता)।

सामाजिक यथार्थ : सिनेमा ने समय-समय पर समाज में व्याप्त गरीबी, बेरोजगारी, जमींदारी प्रथा, भ्रष्टाचार और शहरी-ग्रामीण विभाजन जैसे यथार्थ को दर्शाया है। जैसेरू राज कपूर की फिल्में (आवारा, श्री 420), बिमल रॉय की दो बीघा जमीन।

राष्ट्रीयता और एकता : स्वतंत्रता संग्राम के बाद की फिल्मों ने राष्ट्रीय एकता, देशभक्ति और सांप्रदायिक सद्भाव की भावना को मजबूत किया।

सांस्कृतिक विविधता का प्रचाररू फिल्में भारत की सांस्कृतिक विविधता को पर्दे पर दिखाती हैं, जिससे विभिन्न वर्गों और पृष्ठभूमियों के लोगों में एकता और समझ की भावना विकसित होती है।

समय के साथ बदलाव :

उदारीकरण का प्रभाव : 1990 के दशक में उदारीकरण के बाद, हिंदी सिनेमा में बाजारवाद, उपभोक्तावाद और आधुनिकता का गहरा प्रभाव देखने को मिला। पारिवारिक मूल्यों के साथ-साथ फिल्मों में युवाओं के मुद्दे, करियर, और नई जीवनशैली को भी प्रमुखता मिली।

स्त्री की बदलती छवि : जहाँ शुरुआती दौर में स्त्री को आदर्श और पारंपरिक रूप में दिखाया जाता था, वहीं समकालीन सिनेमा में स्त्री को सशक्त, स्वतंत्र, और संघर्षशील के रूप में चित्रित किया जाने लगा है, जो पारंपरिक लैंगिक भूमिकाओं को चुनौती दे रही है (जैसे 'दंगल', 'पिंक' आदि)।

पश्चिमी संस्कृति का मिश्रण : भूमंडलीकरण और हॉलीवुड के प्रभाव से हिंदी सिनेमा की भाषा (हिंग्लिश), वेशभूषा और विषय-वस्तु में बदलाव आया है, जिसमें कुछ आलोचकों को अश्लीलता और सामाजिक प्रतिबद्धता की कमी भी नजर आती है।

आधुनिकता और जीवन शैली :

फैशन और भाषारू फिल्मों के पहनावे, फैशन और बोलचाल की भाषा ने विशेष रूप से युवा पीढ़ी की जीवनशैली और सांस्कृतिक प्राथमिकताओं को प्रभावित किया है, जिससे धीरे-धीरे आधुनिकीकरण और कुछ हद तक पश्चिमीकरण आया है।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता : आधुनिक फिल्मों ने लिव-इन रिलेशनशिप, तलाक और व्यक्तिगत विकल्पों को स्वीकार करने जैसे मूल्यों को अधिक सामान्य बनाया है, जो पारंपरिक भारतीय मूल्यों को चुनौती देते हैं।

वर्तमान चुनौतियाँ :

वैश्वीकरण और बाजारवाद के दौर में, सिनेमा और मूल्यों के बीच टकराव भी बढ़ा है।

उपभोक्तावाद का प्रचार : आज की कई फिल्में ग्लैमर, ब्रांडेड उत्पादों और अति-भौतिकता का प्रदर्शन करती हैं, जिससे समाज में दिखावे और उपभोक्तावादी संस्कृति को बढ़ावा मिलता है।

नैतिकता पर प्रभाव : व्यावसायिक भी सफलता के लिए हिंसा, अश्लीलता या असंवेदनशील विषयों का चित्रण कभी-कभी सामाजिक नैतिकता और संवेदनशीलता को प्रभावित कर सकता है।

हिंदी सिनेमा ने हमेशा सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों के दर्पण और परिवर्तन के वाहक के रूप में काम किया है।

आज कहा जा सकता है कि हिंदी सिनेमा आधुनिक युग का सबसे प्रभावशाली माध्यम है। हिंदी सिनेमा न केवल मनोरंजन का साधन है, बल्कि यह भारतीय समाज का प्रतिबिंब भी है। फिल्मों के माध्यम से समाज के रीति-रिवाज, परंपराएँ, मान्यताएँ और जीवन-मूल्य हमारे सामने जीवंत हो उठते हैं। सिनेमा समाज को दिशा देने और उसमें परिवर्तन लाने की क्षमता रखता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हिंदी सिनेमा सामाजिक मूल्यों का प्रतिबिंब, सांस्कृतिक मूल्यों का संरक्षण, बदलते समय के साथ मूल्य परिवर्तन करने की क्षमता रखता है।

(1) सामाजिक मूल्यों का प्रतिबिंब

स्वतंत्रता-पूर्व काल की फिल्मों में सामाजिक बुराइयों और राष्ट्रभक्ति के भाव दिखाई दिए। अछूत कन्या (1936) और किसान कन्या (1937) जैसी फिल्मों ने सामाजिक समानता का संदेश दिया।

स्वतंत्रता के बाद दो बीघा जमीन (1953) और नया दौर (1957) ने मेहनतकश वर्ग की पीड़ा और संघर्ष को उजागर किया।

1970 के दशक में समाज की असमानता और भ्रष्टाचार के विरोध में ''एंग्री यंग मैन'' की छवि उभरी – दीवार और जंजीर जैसी फिल्मों में यह रूप देखा गया।

आधुनिक युग में सिनेमा ने महिला सशक्तिकरण, पर्यावरण,

शिक्षा और LGBTQ+ अधिकारों जैसे विषयों को भी अपनाया है पिंक, थप्पड़, शुभ मंगल ज़्यादा सावधान इसके उदाहरण हैं।

(2) सांस्कृतिक मूल्यों का संरक्षण

हिंदी सिनेमा भारतीय संस्कृति की विविधता को सुंदर रूप में प्रस्तुत करता है। पारिवारिक संबंध, त्यौहार, लोकसंगीत, परिधान और रीति-रिवाज फिल्मों के माध्यम से लोकप्रिय हुए हैं।

हम आपके हैं कौन, कभी खुशी कभी गम जैसी फिल्मों ने पारिवारिक एकता, प्रेम और परंपरा को महत्त्व दिया।

साथ ही अमर अकबर एंथनी जैसी फिल्मों ने धार्मिक सौहार्द और एकता का संदेश दिया।

(3) बदलते समय के साथ मूल्य परिवर्तन

जैसे-जैसे समाज आगे बढ़ा, सिनेमा के विषय और दृष्टिकोण भी बदले। अब पारंपरिक परिवारों की जगह छोटे परिवार और स्वतंत्र सोच को दिखाया जाता है। स्त्रियों की भूमिका भी आज केवल गृहिणी तक सीमित नहीं रही, वे आत्मनिर्भर और निर्णय लेने वाली बनी हैं। सिनेमा ने इस बदलाव को बखूबी प्रस्तुत किया है।

निष्कर्ष :

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आज हिंदी सिनेमा हमारे सामने एक सशक्त माध्यम के रूप में मौजूद है, जो विचारों, भावनाओं को प्रवर्तित करने की क्षमता रखता है व समाज की दशा बदलने और दिशा देने में सक्षम है। हिंदी सिनेमा के शुरुआत से ही बदलते दौर के साथ इसके विषय भी बदलते गए। यह सिर्फ एक मनोरंजन का माध्यम न रहकर हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों को समय के अनुसार प्रवर्तित करने और सुरक्षित रखने में सहायक रहा है। यह समाज में जागरूकता, शिक्षा, समानता, संवेदना और चेतना को जागृत करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। हिंदी सिनेमा सिर्फ मनोरंजन तक सीमित नहीं रहा है बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन करने और मूल्यों को बनाएं रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा है।

शोधार्थी, हिंदी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय (दिल्ली)
ईमेल : Tiwarirajat765@gmail.com

संदर्भ ग्रन्थ सूची :

1. अग्रवाल, डॉ. विजय, आज का सिनेमा, प्रथम संस्करण : 2001 नीलकंठ प्रकाशन नई दिल्ली।
2. मृत्युंजय (संपादक), सिनेमा के सौ बरस, पृ.3-5.
3. स्टैगर, जे. (1992). फिल्म रिसेप्शन और सांस्कृतिक अध्ययन. द सेंटेनियल
4. मेहराज एच. के. और अख्तर, एन. बी. (2004) समाज पर मीडिया का प्रभाव: एक
5. विनोद तिवारी: फिल्म पत्रकारिता, 2007, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन
6. जॉवेट, जी. (1980) मूवीज ऐज मास कम्युनिकेशन, नई दिल्ली: सेज पब्लिकेशन।
7. थोरावल, वाई. (2000), सिनेमोस ऑफ इंडिया, नई दिल्ली: मैकमिलन इंडिया.
8. सिन्हा, प्रसून, भारतीय सिनेमा एक अनंत यात्रा, पृ. 83.
9. अरुण सिंह. 1. (2007). भारतीय सिनेमा में लैंगिक संबंध और सांस्कृतिक विचारधारा नई दिल्ली, भारत: डीप एंड डीप पब्लिकेशन्स.
10. मेहराज एच. के. और अख्तर, एन. बी. (2004) समाज पर मीडिया का प्रभाव: एक समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य। इंटरनेशनल जर्नल ऑफ ह्यूमैनिटीज एंड सोशल साइंस इनवेंशन, 3(6), पृष्ठ 56-641
11. टायलर, ई.डी. (18711 फिनिटिव कल्चर रिसर्च इनटू द डेवलपमेंट ऑफ माइथोलॉजी, फिलॉसफी, रिलीजन, आर्ट एंड कस्टम, लंदन ब्रैडबरी, इवांस एंड कंपनी।

शोध-पत्र

ब्रिटिश भारतीय रेल : औपनिवेशिक साम्राज्य की आर्थिक रीढ़

डॉ. रवि कुमार

सारांश

ब्रिटिश क्राउन ने भारतीय उपमहाद्वीप पर दो से अधिक शताब्दियों तक शासन किया। यह काल अंधकार, गुलामी, भारतीय संसाधनों की लूट और निर्दयी आर्थिक एवं राजनीतिक नीतियों का काल कहा जाता है। इस दौरान भारत को योजनाबद्ध तरीके से ब्रिटिश कारखानों के लिए कच्चा माल उपलब्ध कराने वाला और ब्रिटिश औद्योगिक वस्तुओं का उपभोक्ता समाज बना दिया गया। ब्रिटिश हस्तक्षेपों में, भारत का विशाल और आधुनिक रेल नेटवर्क अक्सर ब्रिटेन का 'सबसे बड़ा उपहार' कहा जाता है। यह शोध-लेख इस धारणा को चुनौती देता है और यह तर्क देता है कि रेल प्रणाली भारतीय जनहित में नहीं बल्कि औपनिवेशिक हित साधने के लिए बनाई गई थी। 1850 में रेलवे निर्माण शुरू हुआ, और यूरोपीय कंपनियों को पाँच प्रतिशत लाभ की गारंटी, 99 वर्षों के लिए निशुल्क भूमि और आय की कमी पूरी करने के लिए भारतीय कोष से मुआवजा देने जैसी सुविधाएँ दी गईं। मुख्य उद्देश्य था कपास, जूट, लोहे, खनिजों आदि का तेजी से निर्यात करना और सैन्य उपकरणों एवं सैनिकों को देशभर में छावनियों तक पहुँचाना। यह लेख स्पष्ट करता है कि ब्रिटिश भारतीय रेल को आर्थिक दोहन और राजनीतिक प्रभुत्व के औजार के रूप में तैयार किया गया था। विडंबना यह है कि स्वतंत्रता के बाद यही नेटवर्क भारत की आर्थिक प्रगति और राष्ट्रीय एकता की रीढ़ बन गया।

मुख्य शब्द : ब्रिटिश उपनिवेशवाद; भारतीय रेल; आर्थिक शोषण; संसाधन निकासी; साम्राज्यवाद; सैन्य रणनीति; औद्योगिक पतन; गारंटी प्रणाली; धन की निकासी; औपनिवेशिक ढांचा; राष्ट्रवाद; उत्तर-औपनिवेशिक विकास।

परिचय

1757 के प्लासी युद्ध से लेकर 1947 की स्वतंत्रता तक भारतीय उपमहाद्वीप एक गहन औपनिवेशिक रूपांतरण से गुजरा। ईस्ट इंडिया कंपनी के शासनकाल से लेकर ब्रिटिश क्राउन के प्रत्यक्ष शासन तक, भारत का राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक ढाँचा ब्रिटिश साम्राज्य के हितों के अनुसार ढाला गया। ब्रिटिश शासकों ने प्रशासनिक संस्थाओं का गठन किया, आधुनिक न्यायिक प्रणाली, डाक एवं तार व्यवस्था, पुलिस बल और रेलवे जैसी अवसंरचनात्मक परियोजनाएँ स्थापित कीं। ब्रिटिश इतिहासकारों और प्रशासकों ने इन सुधारों को 'सभ्यता' और 'आधुनिकीकरण' के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया, यह तर्क देते हुए कि इनसे भारत को आधुनिक परिवहन, संचार और प्रशासनिक दक्षता मिली।

किन्तु भारतीय राष्ट्रवादी चिंतन इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं है। राष्ट्रवादी इतिहासलेखन का मत है कि ये अवसंरचनात्मक विकास भारतीय समाज के हित में नहीं बल्कि ब्रिटिश साम्राज्य के आर्थिक और राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किए गए थे। इन संस्थाओं का प्रमुख कार्य भारत को कच्चे माल का आपूर्तिकर्ता और ब्रिटिश वस्त्र एवं औद्योगिक उत्पादों का उपभोक्ता बनाना था। भारतीय विद्वानों का कहना है कि इन तथाकथित सुधारों ने भारतीय उद्योग-धंधों को नष्ट कर दिया, कृषि को नकदी फसलों पर निर्भर बना दिया और भारतीय अर्थव्यवस्था को वैश्विक पूँजीवादी ढाँचे के परिधीय हिस्से में बदल दिया।

दादाभाई नौरोजी (1901) ने अपनी प्रसिद्ध 'ड्रेन थ्योरी'

में दिखाया कि कैसे भारत से हर वर्ष करोड़ों पाउंड ब्रिटेन को स्थानांतरित होते थे। नौरोजी के अनुसार, रेलवे, सिंचाई योजनाएँ और सार्वजनिक निर्माण भले ही भारतीय धरती पर हो रहे थे, लेकिन उनकी लागत भारतीय करदाताओं से वसूली जाती थी और उनसे उत्पन्न लाभांश ब्रिटिश निवेशकों को भेज दिया जाता था। उन्होंने इसे भारत के 'आर्थिक रक्तस्राव' के रूप में वर्णित किया। आर.सी. दत्त (1902) ने अपनी पुस्तक Economic History of India में इस पूरी प्रक्रिया को 'अन-ब्रिटिश रूल' कहा और तर्क दिया कि यह शासन भारतीय जनता के कल्याण के विपरीत था तथा इसे योजनाबद्ध ढंग से निर्धन बनाने का उपकरण बनाया गया।

रेलवे का निर्माण इस पूरे विमर्श का केंद्रीय बिंदु है। ब्रिटिश दृष्टिकोण इसे भारत के लिए एक उपहार के रूप में चित्रित करता है ऐसा माध्यम जिसने भारत के विशाल भूभाग को जोड़ा, वाणिज्य को तेज किया और देश में यात्राओं को आसान बनाया। परंतु राष्ट्रवादी दृष्टिकोण में यह नेटवर्क ब्रिटिश साम्राज्यवाद की 'आर्थिक रीढ़' के रूप में देखा जाता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, रेलवे का निर्माण मुख्यत: उन इलाकों में हुआ जहाँ से ब्रिटिश साम्राज्य को अधिकतम आर्थिक लाभ हो सकता था—जैसे कपास उत्पादन क्षेत्र, कोयला खदानें, लौह अयस्क भंडार और प्रमुख निर्यात बंदरगाह।

इस लेख का उद्देश्य इसी द्वैधता की पड़ताल करना है। इसमें यह विश्लेषण किया जाएगा कि रेलवे निर्माण के पीछे कौन से औपनिवेशिक और साम्राज्यवादी उद्देश्य निहित थे, इस नेटवर्क ने भारत की अर्थव्यवस्था को किस प्रकार बदला, उद्योगों और कृषि पर इसका क्या प्रभाव पड़ा, तथा यह किस प्रकार ब्रिटिश सैन्य और प्रशासनिक नियंत्रण का साधन बना। साथ ही, इस लेख में यह भी समझने का प्रयास किया जाएगा कि स्वतंत्रता के बाद भारत ने इसी औपनिवेशिक नेटवर्क को कैसे अपनाया और इसे राष्ट्रीय विकास, क्षेत्रीय संतुलन और सांस्कृतिक एकता का माध्यम बनाया। इस प्रकार यह शोध-पत्र रेलवे के निर्माण को केवल एक तकनीकी या अवसंरचनात्मक उपलब्धि नहीं, बल्कि औपनिवेशिक सत्ता और आर्थिक शोषण की जटिल कहानी के रूप में प्रस्तुत करता है।

रेल निर्माण के पीछे औपनिवेशिक एजेंडा

भारतीय रेल प्रणाली का निर्माण 1850 के दशक में प्रारंभ हुआ और 1853 में बॉम्बे-थाणे के बीच पहली यात्री गाड़ी चली। ब्रिटिश सरकार और समकालीन यूरोपीय पर्यवेक्षक इसे अक्सर 'भारत के आधुनिकीकरण की दिशा में ऐतिहासिक कदम' बताते हैं, परंतु इस प्रक्रिया के पीछे का वास्तविक एजेंडा औपनिवेशिक हितों पर केंद्रित था। रेल नेटवर्क का वित्तीय ढांचा और प्रबंधन संरचना इस तथ्य को स्पष्ट रूप से प्रकट करते हैं।

ब्रिटिश संसद और ईस्ट इंडिया कंपनी ने रेलवे निर्माण के लिए जिस गारंटी प्रणाली (Guarantee System) को अपनाया, उसने निवेश को पूरी तरह सुरक्षित बना दिया। इस व्यवस्था के अंतर्गत निजी यूरोपीय (मुख्यत: ब्रिटिश) कंपनियों को निवेश पर 5 प्रतिशत वार्षिक लाभ की गारंटी दी गई। यदि किसी वर्ष में रेलवे की आय इस तयशुदा दर से कम होती, तो अंतर की भरपाई भारतीय राजस्व से की जाती (Chaudhuri, 1971)। इस प्रकार, जोखिम का पूरा बोझ भारतीय करदाताओं पर था जबकि लाभ ब्रिटिश शेयरधारकों को मिलता था।

इसके अलावा, कंपनियों को 99 वर्षों के लिए नि:शुल्क भूमि दी गई और रेलवे निर्माण के लिए स्थानीय संसाधनों के दोहन की स्वतंत्रता मिली। दादाभाई नौरोजी (1901) ने इसे भारत के संसाधनों की संगठित लूट बताया। उनके अनुसार रेलवे, नहर, और अन्य सार्वजनिक कार्यों के लिए किए गए सभी खर्चे अंतत: भारतीय करों से वसूले जाते थे, पर लाभ ब्रिटिश पूँजीपतियों और ठेकेदारों को मिलता था।

रेलवे निर्माण से जुड़े अनुबंध पूरी तरह एकतरफा (Unilateral) थे। जब कभी गवर्नर-जनरल ने इन समझौतों में बदलाव करने या कंपनियों की लापरवाही पर कार्रवाई करने की कोशिश की, तो लंदन स्थित भारत सचिव (Secretary of State for India) अक्सर कंपनियों के पक्ष में खड़े होकर भारतीय प्रशासन के निर्णय को पलट देते थे (Tomlinson, 2013)। यह दर्शाता है कि भारत के आर्थिक मामलों पर अंतिम निर्णय लेने की शक्ति ब्रिटेन के हाथ में थी और कंपनियाँ इतनी प्रभावशाली थीं कि भारतीय प्रशासन की संप्रभुता व्यावहारिक रूप से नगण्य रह जाती थी।

रेलवे निर्माण की लागत भी अत्यधिक थी। प्रति मील लागत ब्रिटेन और अमेरिका की तुलना में लगभग £15,000 अधिक थी, जिसका बोझ भारतीय कोष पर पड़ा। इस लागत में से एक बड़ा हिस्सा ब्रिटिश इंजीनियरों और ठेकेदारों को ऊँची मजदूरी और लाभांश के रूप में वापस चला जाता था (Roy, 2019)। इस प्रकार, भारत न केवल रेल निर्माण के

लिए भुगतान कर रहा था बल्कि उससे उत्पन्न पूँजीगत लाभ भी ब्रिटेन को हस्तांतरित हो रहे थे। इस पूरी प्रक्रिया ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारत में रेलवे निर्माण का मुख्य उद्देश्य भारत के आर्थिक विकास को बढ़ावा देना नहीं बल्कि ब्रिटिश निवेशकों और साम्राज्य के हितों की रक्षा करना था। बैनकीनतप (1971) ने इस नीति को ''औपनिवेशिक राज्य की वित्तीय चालाकी'' कहा है, जबकि Naoroji (1901) ने इसे भारतीय अर्थव्यवस्था की ष्रक्तस्राव प्रक्रियाष करार दिया।

आर्थिक उद्देश्य - संसाधन निकासी :

भारत में ब्रिटिश शासन के दौरान रेल नेटवर्क का सबसे बड़ा आर्थिक उद्देश्य थाकृकच्चे माल को बंदरगाहों तक तेजी से पहुँचाना और ब्रिटिश कारखानों की जरूरतें पूरी करना। 1850 के दशक से लेकर 20वीं शताब्दी के प्रारंभ तक रेलवे निर्माण मुख्यत: उन इलाकों में हुआ जहाँ से ब्रिटेन को आर्थिक लाभ अधिक मिल सकता था। इस कारण रेल मार्गों को इस प्रकार बनाया गया कि वे उत्पादक क्षेत्रों (Production Zones) को प्रमुख निर्यात बंदरगाहों (Export Ports) से जोड़ दें।

उदाहरण के लिए, बॉम्बे को डीक्कन के कपास उत्पादन क्षेत्रों से जोड़ा गया, ताकि ब्रिटिश वस्त्र उद्योग को कच्चा माल लगातार मिलता रहे। 1860 के दशक में अमेरिकी गृहयुद्ध के कारण कपास की आपूर्ति ठप हो गई थी, जिससे बॉम्बे डेक्कन रेलवे की अहमियत और बढ़ गई (Bogart & Chaudhary, 2011)। इसी प्रकार, बंगाल की जूट मिलों के लिए कच्चे माल का परिवहन हावड़ा-सीलबह रेलवे से हुआ। बिहार के कोयला खानों से कोयला कलकत्ता तक पहुँचाने के लिए विशेष लाइनों का निर्माण किया गया। यह सब दिखाता है कि रेलवे की प्राथमिकता आंतरिक आर्थिक जरूरतों की बजाय निर्यात-उन्मुख उत्पादन पर थी।

रेलवे ने भारतीय कृषि को भी बदल दिया। किसानों को नकदी फसलें (Cash Crops) जैसे कपास, नील, जूट, अफीम आदि उगाने के लिए प्रेरित किया गया। नतीजतन, खाद्यान्न उत्पादन का क्षेत्र घट गया। बिपन चंद्र (1989) का तर्क है कि इस व्यावसायीकरण से ग्रामीण अर्थव्यवस्था विदेशी बाजारों पर निर्भर हो गई और किसान वैश्विक कीमतों के उतार-चढ़ाव से सीधे प्रभावित होने लगे। जब अंतरराष्ट्रीय कीमतें गिरीं, तो किसान कर्ज में डूबने लगे और भूमि जब्त होने लगी।

रेलवे ने ब्रिटिश औद्योगिक वस्तुओं को भारतीय बाजार में गहराई तक पहुँचने का रास्ता भी खोल दिया। लैंकाशायर के कपड़े अब न केवल कलकत्ता और बॉम्बे जैसे शहरों तक सीमित थे, बल्कि छोटे कस्बों और गाँवों में भी बिकने लगे। इससे भारतीय कुटीर उद्योग और हथकरघा क्षेत्र बुरी तरह प्रभावित हुआ। Morris (1969) और Chandra (1989) के शोध से स्पष्ट है कि रेलवे ने भारतीय उद्योगों की प्रतिस्पर्धात्मकता को और कमजोर कर दिया।

Donaldson (2018) के अध्ययन के अनुसार, रेलवे नेटवर्क ने व्यापार लागत को लगभग 50% तक घटा दिया और निर्यात में भारी बढ़ोतरी की, परंतु इन लाभों का अधिकांश हिस्सा ब्रिटिश व्यापारियों और उद्योगपतियों को मिला। भारत में पूँजी निवेश की दर बहुत कम रही और जो लाभ हुआ, वह भी 'ड्रेन ऑफ वेल्थ' के रूप में ब्रिटेन वापस चला गया। अंतत:, आर्थिक दृष्टि से रेलवे का डिजाइन ऐसा था कि उसने भारत को वैश्विक पूँजीवादी प्रणाली का परिधीय (Peripheral) हिस्सा बना दिया। यह 'उपहार' नहीं बल्कि एक आर्थिक यंत्र (Economic Machine) था जिसने भारत को कच्चे माल के आपूर्तिकर्ता और तैयार माल के उपभोक्ता की भूमिका में बाँध दिया।

सामरिक उद्देश्य - सैन्य और प्रशासनिक नियंत्रण

भारतीय रेल नेटवर्क का दूसरा बड़ा उद्देश्य केवल आर्थिक नहीं बल्कि गहरे राजनीतिक और सामरिक महत्व का था। ब्रिटिश सरकार ने रेलवे को केवल वाणिज्यिक दृष्टि से नहीं देखा, बल्कि इसे उपमहाद्वीप पर अपने शासन की स्थिरता बनाए रखने का एक प्रमुख साधन बनाया। 1857 के विद्रोह ने ब्रिटिश सत्ता को यह स्पष्ट कर दिया था कि इतने विशाल भूभाग पर नियंत्रण बनाए रखने के लिए केवल नौकरशाही और पारंपरिक साधन पर्याप्त नहीं हैं। विद्रोह के दौरान ब्रिटिश सैनिकों को उत्तर भारत के विभिन्न हिस्सों में पहुँचने में हफ्तों लग जाते थे, जिससे विद्रोह फैलने का समय मिल जाता था। इस अनुभव के बाद रेल को साम्राज्य की सुरक्षा के 'स्टील फ्रेम' का हिस्सा बना दिया गया (Kerr, 1995)।

रेलमार्गों की योजना बनाते समय सैन्य छावनियों (Cantonments) को विशेष महत्व दिया गया। उदाहरण के लिए, पंजाब, उत्तर प्रदेश और मध्य भारत में बिछाए गए रेलमार्ग सबसे पहले उन क्षेत्रों को जोड़े जहाँ विद्रोह की संभावना अधिक मानी जाती थी। Ian Kerr (1995) और Headrick (1981) का तर्क है कि ब्रिटिश इंजीनियरिंग विभाग ने रणनीतिक दृष्टि से पहले उन मार्गों को प्राथमिकता दी जो

दिल्ली, कानपुर, झाँसी और लखनऊ जैसे केंद्रों को जोड़ते थे। इन मार्गों से सेना को विद्रोह-ग्रस्त क्षेत्रों में घंटों या अधिकतम एक-दो दिन में भेजा जा सकता था।

रेलवे न केवल सैनिकों के परिवहन के लिए बल्कि सैन्य आपूर्ति (Military Logistics) के लिए भी अहम् थी। गोला-बारूद, हथियार और राशन तेजी से दूरदराज छावनियों तक पहुँचाए जाने लगे। 1860 और 1870 के दशकों में ब्रिटिश संसद में कई बार रेलमार्गों की सामरिक उपयोगिता पर चर्चा हुई और हर बार इसे 'भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व का गारंटर' बताया गया (Headrick, 1981)।

इसके अलावा, रेलवे ने ब्रिटिश प्रशासन को अपने आदेशों और नीतियों को तेजी से लागू करने की सुविधा दी। रेलमार्ग के साथ-साथ बिछाई गई टेलीग्राफ लाइनें प्रशासनिक नियंत्रण को और मजबूत करती थीं। इससे ब्रिटिश सरकार को विद्रोह, अकाल या किसी भी सामाजिक असंतोष की सूचना तुरंत मिल जाती और वे तुरन्त सेना या पुलिस भेज सकते थे। यह ''समय का संपीड़न'' (time-space compression) ब्रिटिश सत्ता के केंद्रीकरण का प्रतीक था।

रेलवे ने औपनिवेशिक शासन के लिए एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी पैदा किया। भारतीय जनता को यह एहसास कराया गया कि ब्रिटिश सरकार हर जगह मौजूद है और हर जगह से तुरंत कार्रवाई कर सकती है। इस प्रकार रेलमार्ग केवल परिवहन का साधन नहीं थे, बल्कि औपनिवेशिक शक्ति और उसकी पहुँच का दृश्य प्रतीक बन गए।

सैन्य और प्रशासनिक दृष्टि से भारतीय रेलवे नेटवर्क एक रणनीतिक हथियार था। इसका मुख्य उद्देश्य भारतीय समाज को नियंत्रित करना, विद्रोहों को तुरंत दबाना और औपनिवेशिक शासन को स्थायी बनाना था। Kerr (1995) इसे ब्रिटिश शासन का 'गुप्त हथियार' बताते हैं, जिसने भारत में अंग्रेजी सत्ता को लगभग अजेय बना दिया।

औद्योगिक विकास पर प्रभाव

भारतीय रेल नेटवर्क के निर्माण के बावजूद भारत का औद्योगिक विकास ठहराव की स्थिति में पहुँच गया। वास्तव में, जिस समय यूरोप और अमेरिका में औद्योगिक क्रांति के कारण उत्पादन और आय में भारी वृद्धि हो रही थी, उसी समय भारत की औद्योगिक स्थिति गिरावट की ओर थी। ब्रिटिश शासन के दो सौ वर्षों में भारत का विश्व औद्योगिक उत्पादन में हिस्सा 1750 में लगभग 24% से घटकर 1900 तक केवल 2% रह गया (Roy, 2019)। यह गिरावट केवल वैश्विक प्रतिस्पर्धा का परिणाम नहीं थी, बल्कि औपनिवेशिक नीतियों और रेलवे जैसे औजारों के माध्यम से सुनियोजित तरीके से की गई थी।

रेलवे ने ब्रिटिश कारखानों में निर्मित वस्तुओं को भारत के सबसे दूरस्थ गाँवों तक पहुँचा दिया। लैंकाशायर और मैनचेस्टर के कपड़े भारतीय बाजारों में बड़ी आसानी से और सस्ते दामों पर पहुँचने लगे। इससे भारतीय हथकरघा उद्योग और कुटीर उद्योग का विनाश तेज हो गया। Bipan Chandra (1989) लिखते हैं कि रेलमार्गों ने भारतीय उत्पादकों के लिए प्रतिस्पर्धा करना लगभग असंभव बना दिया। परिणामस्वरूप, लाखों बुनकरों और कारीगरों की आजीविका समाप्त हो गई, और वे कृषि मजदूरी पर निर्भर होने लगे।

रेलवे कंपनियों का संचालन भी भारत के औद्योगिक विकास के विरुद्ध था। गारंटी प्रणाली के कारण कंपनियों ने अक्सर लागत को जानबूझकर बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया। Tomlinson (2013) के अनुसार, भारत में प्रति मील रेलवे निर्माण की लागत यूरोप और अमेरिका की तुलना में लगभग £15,000 अधिक थी। यह अतिरिक्त खर्च भारतीय खजाने से आता था, जिससे सार्वजनिक निवेश का बड़ा हिस्सा रेलवे के 'लाभांश भुगतान' में चला जाता था, जबकि भारतीय उद्योग और शिक्षा जैसे क्षेत्रों में निवेश नगण्य रह गया।

रेलवे कंपनियों में पूँजी निवेश मुख्यत: ब्रिटिश था, और लाभांश सीधे इंग्लैंड भेजे जाते थे। दादाभाई नौरोजी (1901) ने इसे 'भारत का रक्तस्राव' कहा और बताया कि भारतीय रेल से उत्पन्न लाभ का बड़ा हिस्सा भारत में पुनर्निवेश करने की बजाय विदेश चला जाता था।

औद्योगिक विकास की दृष्टि से एक और महत्वपूर्ण तथ्य यह था कि रेलवे ने भारतीय उद्योगों के लिए नए अवसर कम ही बनाए। उदाहरण के लिए, रेल के लिए आवश्यक इस्पात, इंजन, और मशीनरी का अधिकांश आयात ब्रिटेन से होता था। Tata Steel जैसे भारतीय उद्योगों को रेलवे से बड़े ठेके बहुत बाद में ही मिल सके। Roy (2019) लिखते हैं कि यह स्थिति जानबूझकर बनाई गई थी ताकि भारतीय उद्योग ब्रिटिश उद्योग के साथ प्रतिस्पर्धा न कर सके। कुल मिलाकर, रेलवे ने भारत की औद्योगिक क्षमता को बढ़ाने की बजाय उसे नियंत्रित और सीमित किया। इसने भारत को औद्योगिक रूप से ब्रिटेन पर निर्भर बना दिया और एक ऐसी आर्थिक संरचना

तैयार की जिसमें भारत कच्चे माल का आपूर्तिकर्ता और तैयार माल का उपभोक्ता बन गया।

कृषि और अकाल

भारतीय रेलवे का सबसे गहरा प्रभाव कृषि क्षेत्र पर पड़ा। रेल नेटवर्क ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था को वैश्विक पूँजीवादी बाजार से जोड़ दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय किसानों को पारंपरिक खाद्यान्न (Food Crops) उत्पादन से हटाकर नकदी फसलों (Cash Crops) की खेती की ओर धकेला गया। कपास, नील, जूट और अफीम जैसी फसलें ब्रिटिश उद्योग और व्यापार की मांग पूरी करने के लिए बड़े पैमाने पर बोई जाने लगीं। इससे ग्रामीण अर्थव्यवस्था में व्यावसायीकरण (Commercialization) तो हुआ, लेकिन खाद्यान्न उत्पादन घट गया और ग्रामीण समुदाय भूख के प्रति अधिक संवेदनशील हो गया।

Bipan Chandra (1989) बताते हैं कि रेलवे और बाजार व्यवस्था के फैलाव के कारण किसान अब अंतरराष्ट्रीय कीमतों के उतार-चढ़ाव पर निर्भर हो गए। जब वैश्विक कीमतें गिरतीं तो किसानों की आय घट जाती और वे साहूकारों से कर्ज लेने को मजबूर होते। कर्ज चुकाने में असफल रहने पर उनकी जमीन नीलाम हो जाती। इस प्रकार ग्रामीण गरीबी और भूमिहीनता में भारी वृद्धि हुई।

सबसे गंभीर परिणाम अकालों के रूप में सामने आए। रेल नेटवर्क के बावजूद, औपनिवेशिक शासन के दौरान बड़े पैमाने पर अकाल हुए, जिनमें लाखों लोग मारे गए। विडंबना यह थी कि अकालग्रस्त क्षेत्रों से भी अनाज का निर्यात जारी रहता था। 1866 के उड़ीसा अकाल के दौरान, जब लगभग 10 लाख लोग भूख से मरे, तब भी चावल का निर्यात बंगाल से इंग्लैंड के लिए होता रहा (Dutt, 1902)। 1876-78 के महान अकाल में लगभग 50 लाख लोग मारे गए, जबकि उसी समय भारत से अनाज का निर्यात रिकॉर्ड स्तर पर था (Davis, 2001)।

Mike Davis (2001) ने अपनी पुस्तक Late Victorian Holocausts में लिखा है कि रेलवे ने अनाज के प्रवाह को तेज तो किया, लेकिन यह प्रवाह अकाल राहत की बजाय निर्यात की दिशा में रहा। ब्रिटिश सरकार ने 'मुक्त व्यापार' के सिद्धांत पर जोर देते हुए बाजार में सरकारी हस्तक्षेप से परहेज किया। इस कारण अनाज के दाम आसमान छूने लगे और गरीब किसान और मजदूर खरीदने में असमर्थ हो गए।

रेलवे को अक्सर अकाल रोकने का साधन कहा जाता है, लेकिन औपनिवेशिक नीतियों के कारण यह एक दोहरी तलवार (Double-Edged Sword) बन गया। एक ओर, यह अनाज की ढुलाई संभव बनाता था, पर दूसरी ओर, यह अनाज को भूखग्रस्त क्षेत्रों से बाहर ले जाकर विदेशी बाजारों में बेचने का साधन भी बन गया। इस तरह रेलवे ने अकालों की तीव्रता को घटाने के बजाय कई बार उन्हें और भी घातक बना दिया।

कृषि क्षेत्र पर रेलवे के प्रभाव का सार यह है कि इसने भारतीय किसानों को बाजार की अनिश्चितताओं और औपनिवेशिक शोषण के बीच फँसा दिया। खेती की संरचना बदल गई, खाद्यान्न उत्पादन घटा, ग्रामीण गरीबी बढ़ी और अकालों की आवृत्ति और घातकता दोनों बढ़ी। यह स्पष्ट करता है कि रेलवे केवल आर्थिक नहीं, बल्कि सामाजिक संकट का भी एक उपकरण बन गया था।

सामाजिक और राजनीतिक प्रभाव

भारतीय रेल नेटवर्क का प्रभाव केवल अर्थव्यवस्था तक सीमित नहीं रहा; इसका भारतीय समाज और राजनीति पर भी गहरा असर पड़ा। रेलगाड़ियों ने पहली बार भारतीय उपमहाद्वीप के दूर-दराज के क्षेत्रों को आपस में जोड़ा, जिससे सामाजिक संपर्क, सांस्कृतिक आदान-प्रदान और राजनीतिक जागरूकता में व्यापक परिवर्तन आया।

सामाजिक परिवर्तन

रेल ने परंपरागत सामाजिक संरचनाओं को चुनौती दी। यात्रा के दौरान विभिन्न जातियों, धर्मों और क्षेत्रों के लोग एक ही डिब्बे में सफर करते थे। यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने शुरुआती दौर में प्रथम और तृतीय श्रेणी के डिब्बों के माध्यम से सामाजिक विभाजन बनाए रखने की कोशिश की, फिर भी रेलवे ने भारतीय समाज में एक प्रकार का सामाजिक समतलीकरण (Social Levelling) प्रारंभ किया। Bipan Chandra (1989) का मत है कि रेल ने जातिगत बाधाओं को पूरी तरह समाप्त नहीं किया, लेकिन यह उनके क्षरण की शुरुआत अवश्य थी।

रेलवे ने एक नया श्रमिक वर्ग (Railway Working Class) भी पैदा किया। पटरी बिछाने वाले मजदूर, कुली, स्टेशन मास्टर, इंजीनियर और लिपिक जैसे रोजगार अवसरों ने निचली जातियों और पिछड़े वर्गों को आर्थिक रूप से सशक्त बनाने की दिशा में छोटा लेकिन महत्वपूर्ण कदम दिया। Ian Kerr (1995) ने लिखा है कि रेलवे के श्रमिक आंदोलन और हड़तालें 20वीं शताब्दी की शुरुआत में भारतीय श्रमिक

चेतना और ट्रेड यूनियनवाद के विकास में अहम साबित हुईं।

राजनीतिक जागरूकता और राष्ट्रवाद

राजनीतिक दृष्टि से रेलवे ने भारतीय राष्ट्रवाद को गति दी। रेल नेटवर्क ने अखिल भारतीय संचार को सरल और तेज बना दिया। अब राजनीतिक नेताओं के लिए प्रांतों के बीच यात्रा करना संभव हो गया। बाल गंगाधर तिलक, दादाभाई नौरोजी, गोखले और बाद में महात्मा गांधी जैसे नेता रेलवे के माध्यम से देशभर में घूम-घूमकर जनता से संवाद करने लगे।

अखबारों और पत्रिकाओं का वितरण भी रेलमार्गों के कारण तेज हुआ। इससे राष्ट्रीय चेतना का प्रसार हुआ। Bipan Chandra (1989) के अनुसार, रेलवे ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को अखिल भारतीय मंच बनने में मदद की क्योंकि इसके प्रतिनिधि अब देश के विभिन्न हिस्सों से एकत्र हो सकते थे।

रेलवे ने औपनिवेशिक शासन के खिलाफ विद्रोहों और आंदोलनों के लिए रणनीतिक लाभ भी दिया। उदाहरण के लिए, असहयोग आंदोलन (1920) और सविनय अवज्ञा आंदोलन (1930) के दौरान रेलमार्गों का उपयोग जनसभाओं और विरोध प्रदर्शनों के लिए बड़ी संख्या में लोगों को एकत्रित करने के लिए किया गया।

मनोवैज्ञानिक प्रभाव

रेलवे ने भारतीय समाज में एक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन भी उत्पन्न किया। इसने लोगों को यह एहसास दिलाया कि वे एक बड़े, साझा भूगोल का हिस्सा हैं। यह अनुभव राष्ट्रवाद की भावनाओं को प्रज्वलित करने में सहायक हुआ।

इस प्रकार, रेलवे ने जहाँ औपनिवेशिक नियंत्रण को मजबूत किया, वहीं उसने अनजाने में ही भारतीय समाज में एकता, जागरूकता और विद्रोह की भावना को जन्म दिया। यह ब्रिटिश सत्ता के लिए विडंबनापूर्ण था कि वही रेल नेटवर्क, जिसे उन्होंने अपने प्रभुत्व को सुरक्षित रखने के लिए बनाया था, आगे चलकर स्वतंत्रता आंदोलन का सशक्त औजार बन गया।

औपनिवेशिक विरासत और स्वतंत्रता के बाद का रूपांतरण

1947 में स्वतंत्रता प्राप्त करने के समय भारत के पास दुनिया का चौथा सबसे बड़ा रेल नेटवर्क था। यह नेटवर्क ब्रिटिश शासन की औपनिवेशिक प्राथमिकताओं के अनुसार बना था—मुख्यत: बंदरगाहों को उत्पादन क्षेत्रों और सैन्य छावनियों से जोड़ने के लिए। इस विरासत ने भारत को एक सशक्त बुनियादी ढांचा तो दिया, पर साथ ही क्षेत्रीय असमानताओं और औपनिवेशिक मार्ग योजनाओं का बोझ भी सौंपा।

स्वतंत्रता के बाद, भारतीय नेताओं ने रेल को राष्ट्रीय एकता और आर्थिक विकास के लिए एक साधन के रूप में पुनर्परिभाषित किया। 1951 में रेलवे का पूर्ण राष्ट्रीयकरण हुआ और इसे एकीकृत सरकारी स्वामित्व वाली प्रणाली के रूप में संगठित किया गया। राष्ट्रीयकरण का उद्देश्य केवल लाभ कमाना नहीं, बल्कि सामाजिक और आर्थिक न्याय को बढ़ावा देना भी था (Tomlinson, 2013)।

योजनाबद्ध विकास

स्वतंत्र भारत में पाँच वर्षीय योजनाओं के अंतर्गत रेलवे के विस्तार और आधुनिकीकरण को विशेष महत्व दिया गया। पहली और दूसरी पंचवर्षीय योजनाओं में विशेष रूप से ग्रामीण और पिछड़े क्षेत्रों को जोड़ने वाली लाइनों के निर्माण पर बल दिया गया। इससे रेलवे केवल निर्यात-आधारित मार्गों तक सीमित नहीं रही, बल्कि घरेलू व्यापार, यातायात और क्षेत्रीय संतुलन का माध्यम बनी।

Bogart & Chaudhary (2015) के शोध में यह दिखाया गया है कि जिन जिलों में रेलवे पहले पहुँची थी, वे आज भी आर्थिक रूप से अधिक समृद्ध हैं। स्वतंत्र भारत की सरकार ने इस असमानता को कम करने के लिए नई लाइनें बिछाईं और नक्सल प्रभावित तथा जनजातीय क्षेत्रों तक पहुँच बनाने के लिए विशेष परियोजनाएँ शुरू कीं।

सामाजिक प्रभाव और राष्ट्रीय एकीकरण

रेलवे ने स्वतंत्र भारत में भी एक एकीकरण के प्रतीक के रूप में काम किया। देश के उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक यात्रा करना आसान हुआ। यह केवल लोगों और वस्तुओं का परिवहन ही नहीं करता था, बल्कि सांस्कृतिक आदान-प्रदान को भी प्रोत्साहित करता था।

रेलवे का सामाजिक दृष्टि से महत्व बढ़ा क्योंकि यह लाखों लोगों के लिए रोजगार का स्रोत बना। भारतीय रेलवे आज भी दुनिया के सबसे बड़े नियोक्ताओं में से एक है, जो सीधे-सीधे लगभग 12 लाख से अधिक लोगों को रोजगार देता है।

आधुनिकीकरण और चुनौतियाँ

आज भारतीय रेलवे में विद्युतिकरण, तेज गति की गाड़ियाँ (जैसे वंदे भारत एक्सप्रेस) और डिजिटल टिकटिंग जैसी

आधुनिक पहलें लागू हो चुकी हैं। परंतु अभी भी उपनिवेशकालीन विरासत से मिली क्षेत्रीय असमानताएँ और बुनियादी ढाँचे की कमी जैसी चुनौतियाँ मौजूद हैं।

इस प्रकार, स्वतंत्र भारत ने औपनिवेशिक रेल नेटवर्क को एक शोषण के उपकरण से बदलकर राष्ट्रीय विकास की रीढ़ बना दिया। यह औपनिवेशिक अतीत की सबसे बड़ी विडंबना है कि जो नेटवर्क ब्रिटिश हितों के लिए बनाया गया था, वही आज भारतीय राष्ट्रवाद और विकास का आधार बन चुका है।

निष्कर्ष

ब्रिटिश भारतीय रेल का इतिहास एक गहरी विडंबना को सामने लाता है। इसे अक्सर ष्भारत के आधुनिकीकरण का उपहारष कहा जाता है, परंतु गहराई से अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि यह एक औपनिवेशिक परियोजना थी, जिसका उद्देश्य भारत को आर्थिक रूप से ब्रिटेन पर निर्भर बनाना और राजनीतिक रूप से अधीन रखना था। रेलवे नेटवर्क का निर्माण, वित्तीय संरचना, मार्ग चयन और संचालन सभी ब्रिटिश साम्राज्य के हितों को ध्यान में रखकर किए गए थे।

सबसे पहले, आर्थिक दृष्टि से रेलमार्गों ने भारत को वैश्विक पूँजीवादी तंत्र में एक कच्चे माल के आपूर्तिकर्ता और तैयार माल के उपभोक्ता के रूप में स्थापित कर दिया। कपास, जूट, कोयला, और अन्य संसाधनों का निर्यात आसान हो गया, जबकि ब्रिटिश औद्योगिक वस्तुएँ भारतीय बाजारों में गहराई तक पहुँच गईं (Bogart & Chaudhary, 2011)। इससे भारतीय कुटीर उद्योग नष्ट हुए और भारत का औद्योगिक उत्पादन विश्व स्तर पर गिर गया (Roy, 2019)।

दूसरे, वित्तीय दृष्टि से गारंटी प्रणाली ने ब्रिटिश निवेशकों को सुरक्षित और स्थायी लाभांश दिए, जबकि लागत और घाटे का बोझ भारतीय राजस्व पर पड़ा (Chaudhuri, 1971)। दादाभाई नौरोजी (1901) ने इसे 'धन की निकासी' का प्रमुख साधन बताया।

तीसरे, सामरिक दृष्टि से रेलवे ब्रिटिश शासन का सबसे प्रभावी नियंत्रण उपकरण बन गई। सैनिकों और हथियारों की त्वरित आवाजाही ने 1857 के बाद किसी भी विद्रोह को बड़े पैमाने पर फैलने से रोक दिया। रेल और टेलीग्राफ ने मिलकर उपनिवेशी शासन को पहले से कहीं अधिक केंद्रीकृत और सशक्त बना दिया (Kerr, 1995)।

परंतु इस कहानी का दूसरा पहलू भी है। वही रेलवे जो ब्रिटिश प्रभुत्व का प्रतीक थी, उसने भारतीयों के बीच राष्ट्रीय चेतना और एकता को जन्म दिया। रेलमार्गों ने प्रांतों के बीच संवाद को सरल किया, नेताओं और आम जनता को जोड़ने का अवसर दिया, और अखिल भारतीय आंदोलनों को गति प्रदान की (Bipan Chandra, 1989)। यह विडंबना ब्रिटिश शासन की सबसे बड़ी 'ऐतिहासिक भूल' थी उनका बनाया हुआ बुनियादी ढाँचा आगे चलकर उनके खिलाफ ही इस्तेमाल हुआ।

स्वतंत्रता के बाद, भारतीय राज्य ने इस औपनिवेशिक विरासत को अपने विकास एजेंडा का मुख्य साधन बना दिया। 1951 में राष्ट्रीयकरण के बाद रेलवे को केवल लाभ कमाने वाली संस्था न मानकर, इसे सामाजिक न्याय, क्षेत्रीय संतुलन और राष्ट्रीय एकीकरण का साधन बनाया गया। आज भारतीय रेलवे न केवल आर्थिक विकास का इंजन है, बल्कि करोड़ों लोगों के लिए रोजगार और संपर्क का सबसे बड़ा साधन है।

अत: यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय रेल एक दोहरी विरासत है—एक ओर यह उपनिवेशवाद और आर्थिक शोषण का प्रतीक है, तो दूसरी ओर यह आधुनिक भारत की प्रगति और एकता की रीढ़ है। इस विरासत को समझना आवश्यक है ताकि हम इतिहास से सबक लेकर भविष्य के लिए एक संतुलित, समावेशी और न्यायपूर्ण विकास मॉडल तैयार कर सकें।

इतिहास विभाग
तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय
बिहार
Email : kr.ravi52@gmail.com

सन्दर्भ सूची

- केर, इयान जे। (1995). इंजिन्स ऑफ चेंज : द रेलरोड्स दैट मेड इंडिया। वेस्टपोर्ट : प्रेगर पब्लिशर्स।
- चौधुरी, के. एन। (1971). द इकोनॉमिक डेवलपमेंट ऑफ इंडिया अंडर द ईस्ट इंडिया कंपनी 1814-1858। कैम्ब्रिज : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
- टॉमलिनसन, बी. आर। (2013). द इकोनॉमी ऑफ मॉडर्न इंडिया, 1860-1970। कैम्ब्रिज : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
- डेविस, माइक। (2001). लेट विक्टोरियन होलोकॉस्ट्स :

एल नीनो फैमिन्स एंड द मेकिंग ऑफ द थर्ड वर्ल्ड। लंदन : वर्सो बुक्स।

* डोनाल्डसन, डैरेन। (2008). रेलरोड्स एंड द राज : ट्रांसपोर्टेशन इन्फ्रास्ट्रक्चर का आर्थिक प्रभाव। अमेरिकन इकोनॉमिक रिव्यू, 108(4-5), 899-934।
* दत्त, आर. सी। (1902). द इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया इन द विक्टोरियन एज। लंदन : केगन पॉल, ट्रेंच, ट्रुबनर एंड कंपनी।
* नौरोजी, दादाभाई। (1901). पॉवर्टी एंड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया। लंदन : स्वान सोनेनशाइन एंड कंपनी। बिपन चंद्र। (1989). इंडियाज स्ट्रगल फॉर इंडिपेंडेंस। नई दिल्ली : पेंगुइन बुक्स।
* बोगार्ट, डी., एवं चौधरी, एल। (2011). कॉलोनियल भारत में रेलवे : एक आर्थिक उपलब्धि? इकोनॉमिक हिस्ट्री रिव्यू, 64(3), 1-30।
* बोगार्ट, डी., एवं चौधरी, एल। (2015). कॉलोनियल भारत में रेलवे निर्माण के दीर्घकालिक प्रभाव। इकोनॉमिक हिस्ट्री वर्किंग पेपर्स, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया, इरविन।
* मॉरिस, डी. एम। (1969). भारतीय आर्थिक विकास में रेलवे की भूमिका। डी. एच. बुकानन और डी. एम. मॉरिस (संपादक), एस्सेज ऑन मॉडर्नाइजेशन ऑफ अंडरडेवलप्ड सोसाइटीज (पृष्ठ 369-410) में। यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस।
* रॉय, तिर्थंकर। (2019). ए बिजनेस हिस्ट्री ऑफ इंडिया : एंटरप्राइज एंड द इमर्जेन्स ऑफ कैपिटलिज्म फ्रॉम 1700। कैम्ब्रिज : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
* हेड्रिक, डैनियल। (1981). द टूल्स ऑफ एम्पायर : टेक्नोलॉजी एंड यूरोपियन इम्पीरियलिज्म इन द नाइंटीनथ सेंचुरी। ऑक्सफोर्ड : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

बिरसा मुंडा और उलगुलान आन्दोलन

पूनम देवी* प्रो. ज़ीनत ज़ैदी**

शोध सारांश

बिरसा मुंडा एक युवा स्वतंत्रता सेनानी, धर्म सुधारक, और मुंडा समुदाय के नेतृत्वकर्ता थे, जिनकी सक्रियता की भावना 19वीं शदी के अंत तक लोकप्रिय हो गयी। बिरसा मुंडा ने उलगुलान नामक आन्दोलन शुरू किया था। इस आन्दोलन के दौरान लोग उन्हें ''धरती अब्बा'' अर्थात् ''धरती का पिता'' नाम से संबोधित किया करते थे। उन्होंने अंग्रेजी मिशनरियों और उनकी धर्मांतरण गतिविधियों के खिलाफ एक बड़ा धार्मिक आन्दोलन खड़ा किया। बिरसा ने मुख्य रूप से मुंडा और ओंराव आदिवासी समुदाय के लोगों की मदद से ईसाई मिशनरियों की धार्मिक रूपान्तरण गतिविधियों के खिलाफ विद्रोह किया। बिरसा मुंडा और उनके उलगुलान आन्दोलन के मूल में कई कारक थे। वह थे—आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कारक यह आन्दोलन भूमि से लेकर धर्म सम्बन्धी तमाम समस्याओं के खिलाफ जनसंघर्ष था और साथ ही उन समस्याओं के राजनीतिक समाधान का प्रयास भी। वह आदिवासी खासकर मुंडा समाज की आंतरिक बुराईयों और कमजोरियों को दूर करने का सामूहिक अभिक्रम भी था। बिरसा ने मुंडा समाज को पुनर्गठित करने का जो प्रयास किया, वह अंग्रेजी हुकुमत के लिए विकराल चुनौती बन गया। बिरसा मुंडा की यह विरासत अभी भी जीवित है, झारखण्ड सहित देश के अन्य हिस्सों में भी कई लोग हर साल 15 नवम्बर को उनका जन्मदिन मनाते हैं। आजादी के 75 साल पूरे होने के अवसर पर केन्द्रिय मंत्रीमंडल ने आदिवासी स्वतंत्रता सेनानियों की सेवाओं को मनाने के लिए 15 नवम्बर को ''जनजातीय गौरव दिवस'' के रूप में घोषित करने की मंजूरी दी। आज भी भारत ही नहीं बल्कि जनजाति समुदाय बिरसा मुंडा की जयंती बड़ी धूमधाम व हर्षोल्लास के साथ मनाता है और उनके योगदान को भारतीय समाज प्रेरणादायक मानता है। बिरसा मुंडा के जन्मदिन को न केवल एक प्रतीक के रूप में मनाया जाता है, बल्कि प्रतिरोध, साहस और स्वतंत्रता की भावना की एक शाश्वत याद के रूप में भी मनाया जाता है। इस शोध पत्र में बिरसा मुंडा और उनके द्वारा शुरू किए गए उलगुलान आन्दोलन का अध्ययन किया गया है।

मुख्य शब्द :

स्वतंत्रता सेनानी, धार्मिक आंदोलन, उलगुलान, विरासत, विद्रोह, धर्मांतरण गतिविधियां, आदिवासी समुदाय, जनजातीय, गौरव, न्यायपूर्ण और समान समाज आदि।

प्रस्तावना :

धरती के पिता ''धरती अब्बा'' के नाम से विख्यात बिरसा मुंडा को आदिवासी लोगों के बीच एक देवता के रूप में पूजा जाता है। 1857 ई. के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के बाद हुए प्रसिद्ध आदिवासी विद्रोहों में बिरसा मुंडा के नेतृत्व में हुए विद्रोह का महत्वपूर्ण स्थान है।

बिरसा मुंडा का जन्म 15 नवंबर 1875 ई. को झारखण्ड के रांची जिले के उलिहातु ग्राम में हुआ था। बिरसा के पिता का नाम सुगना मुंडा और माता का नाम कर्मी मुंडा हातु था। उनके जन्म के बाद उनका परिवार रोजगार की तलाश में उलिहातु से कुरूंबड़ा आ गया, जहाँ उन्होंने खेती करके अपना जीवन व्यतीत किया। कुछ समय पश्चात् उनका परिवार रोजगार की खोज में फिर से बम्बई चला गया। बिरसा मुंडा और अन्य आदिवासी लोग स्वयं को वन क्षेत्रों के मूल निवासी मानते थे।

बिरसा मुंडा के नेतृत्व में 1899-1900 में उलगुलान आन्दोलन हुआ था, जिसे ''महान कोलाहल'' या ''महान विद्रोह'' भी कहा जाता है। बाहर से आये हुए साहूकारों और व्यापारियों द्वारा उनकी भूमि पर अधिकार किया जाना और अन्य प्रकार से उनकों पीड़ित किया जाना मुंडाओं के असंतोष का प्रमुख कारण थे।[1] इस आन्दोलन के नेतृत्वकर्ता बिरसा मुंडा ने 1895 ई. में घोषणा की कि उसे ईश्वर के दर्शन हुए हैं और उसे मुंडाओं की सभी विपत्तियों को दूर करने का आदेश दिया गया है। 1897 ई. में उसे सरकार ने मुंडाओं को भड़काने के अपराध में जेल भेज दिया। दो वर्ष तक वह जेल में रहा। वहाँ से आकर उसने मुंडाओं को ईसाई, पादरियों, अंग्रेजों और स्थानीय साहूकारों तथा जमीदारों के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह करने के लिए भड़काया।[2]

प्रारम्भिक सफलता के कारण मुंडा जाति ने बिरसा मुंडा को भगवान का रूप मानना शुरू कर दिया और लोग उन्हें ''धरती अब्बा'' अर्थात् ''धरती का पिता'' नाम से सम्बोधित करने लगे। बिरसा मुंडा के विचारों में दो मुख्य बातें देखने को मिलती हैं। जिन्होंने बिरसा को मार्ग देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इनमें से पहला है आदिवासी समाजसुधार और दूसरा है—ईसाई मिशनरियों, जमीदारों और साहुकारों का विरोध करना।

उद्देश्य :

1. बिरसा मुंडा के जीवन और कार्यों के बारे में ज्ञान को बढ़ावा देना।
2. मुंडा विद्रोह के कारणों पर जानकारी एकत्र करना।
3. बिरसा मुंडा के जीवन और योगदान को रचनात्मक रूप से व्यक्त करना।
4. स्थानीय इतिहास के हिस्से के रूप में आदिवासी विद्रोह के महत्व पर चर्चा करना।

बिरसा मुंडा और उलगुलान आन्दोलन :

बिरसा मुंडा (15 नवम्बर 1875-9 जून 1900) एक भारतीय आदिवासी स्वतंत्रता सेनानी और मुंडा जनजाति के लोकनायक थे। बिरसा मुंडा का उलगुलान आन्दोलन, जिसे मुंडा विद्रोह भी कहा जाता है। 1899-1900 में बिरसा मुंडा के नेतृत्व में ब्रिटिश शासन और सामंती व्यवस्था के खिलाफ एक महत्वपूर्ण आदिवासी विद्रोह था। यह आन्दोलन मुंडा जनजाति के पारम्परिक भूमि अधिकारों और सांस्कृतिक पहचान की रक्षा के लिए था, जो ब्रिटिश नीतियों और स्थानीय शोषकों द्वारा खतरे में थे। उलगुलान आन्दोलन भारतीय आदिवासी इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना थी, जिसने आदिवासियों को उनके अधिकारों के लिए लड़ने के लिए प्रेरित किया।

19वीं शताब्दी की शुरुआत में ही भूमि सम्बन्धी बदलाव से आदिवासियों में असंतोष व आक्रोश था। जमीदारों के प्रभाव में आदिवासियों की जमीनें छिन रही थीं और वे अपनी ही जमीन पर मजदूरी करने को विवश हो रहे थे। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में छोटानागपुर के क्षेत्र में सरदारी आन्दोलन शुरू हुआ, जिसने बाद में उलगुलान का रूप लिया। इस आन्दोलन का नेतृत्व 20 वर्षीय बिरसा मुंडा ने किया था।[3]

1895 में, बिरसा ने अंग्रेजों द्वारा थोपी गई जमीदारी व्यवस्था के खिलाफ लड़ाई के साथ-साथ जंगल भूमि का युद्ध छेड़ दिया। यह सिर्फ एक विद्रोह ही नहीं था, बल्कि यह आदिवासी स्वाभिमान, स्वतंत्रता और संस्कृति को बचाने का संघर्ष था। बिरसा ने 'अबुआ दिषुम अबुआ राज' अर्थात् 'हमारा देश हमारा राज' का नारा दिया। देखते ही देखते सभी आदिवासी, जंगल पर दावेदारी के लिए इकट्ठे हो गये। अंग्रेजी सरकार के पाँव उखड़ने लगे और भ्रष्ट जमीदार व पूँजीवादी बिरसा के नाम से भी कांपने लगे थे। ब्रिटिश सरकार ने बिरसा के उलगुलान को दबाने का हर संभव प्रयास किया, लेकिन वे आदिवासियों के गुरिल्ला युद्ध के सामने विफल रहे। 1897 ई. एवं 1900 ई. के बीच आदिवासियों एवं अंग्रेजों के बीच लड़ाई हुई, लेकिन हर बार ब्रिटिश सरकार को पीछे हटना पड़ा।

बिरसा मुंडा पर यह आरोप लगाया गया कि वह चलकद में लोगों को ब्रिटिश हुकुमत के खिलाफ विद्रोह करने के लिए उकसा रहे थे। डिप्टी कमीश्नर ने बिरसा के आन्दोलन और सरकार आन्दोलन के बीच सम्बन्ध होने की पुष्टि करते हुए तमाम आन्दोलनकारियों के साथ सख्ती से निपटने और मुंडा समाज को नकली पैगम्बरों और दुष्ट आन्दोलनकारियों के अभियानों में शिरकत करने से रोकने की कार्यवाही पर अमल करने की आवश्यकता पर बल दिया। उसने अपने फैसले में बिरसा पर आरोप लगाया कि वह ब्रिटिश सरकार के खिलाफ लोगों में नफरत की आग भड़का रहे हैं। आदिवासी समाज में भयमुक्ति का ऐसा सन्देश फैला रहे हैं, जिससे सरकारी हथियार और गोला-बारूद व्यर्थ सिद्ध हो जायें। बिरसा की गिरफ्तारी के बाद उनके कई अनुयायियों और सरदारों की हिरासत में ले लिया गया। उन सब पर शासन के खिलाफ विद्रोह करने और लोगों को भड़काने के आरोप में भारतीय दण्ड संहिता की धारा

505 के तहत मुकदमा चला। बिरसा को दो साल के सश्रम कारावास और 50 रुपये जुर्माना की सजा दी गयी। 19 नवम्बर, 1895 को सजा सुनाये जाने के बाद बिरसा को रांची जेल से हजारीबाग जेल भेज दिया।

1897 में झारखण्ड में भीषण अकाल पड़ा। उस वक्त चेचक की महामारी फैली हुई थी। आदिवासी समाज बिरसा के नेतृत्व के अभाव में भी हुकुमत के दमन-शोषण अकाल और महामारी के खिलाफ एक साथ जूझता रहा। ठीक उसी वक्त सरकार ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया की हीरक जयंती मनाने के लिए देश में उत्सव एवं समारोहों का आयोजन कर रही थी। इस अवसर पर देश में कई आन्दोलनकारियों को रिहा करने का फैसला किया गया। तब तक बिरसा मुंडा की सजा की अवधि भी लगभग समाप्त हो गयी थी। सजा समाप्त होने के बाद कुछ दिन पूर्व बिरसा को रांची जेल ले जाया गया। अनुमानत: 30 नवम्बर, 1897 को बिरसा जेल से छूटे। वह रिहा होने के बाद सीधे अकाल तथा महामारी से पीड़ित लोगों की सेवा में लग गये। इस सिलसिले में वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमने लगे। उनका यह काम ही झारखण्ड क्षेत्र में बिरसा के अनुयायियों के पुन: संगठित होने का आधार बना।

बिरसा मुंडा ने अपने अनुयायियों के दो समूह बनाये। एक समूह मुंडा धर्म का प्रचार करने लगा तो दूसरा राजनीतिक कार्य करने लगा। नवयुवकों की भर्ती भी की गई। इस पर सरकार ने फिर से एक बार बल द्वारा सत्ता हथियाने के उद्देश्य से आन्दोलन आगे बढ़ाया। यूरोपीय अधिकारियों और पादरियों को हटाकर उनके स्थान पर बिरसा के नेतृत्व में एक नया राज्य स्थापित करने का निर्णय लिया गया। उलगुलान आन्दोलन 24 दिसम्बर, 1899 को शुरू हुआ। पुलिस थानों पर तीरों से हमला किया गया और आग लगा दी गयी। सेना से सीधी मुठभेड़ हुई, लेकिन तीर कमान गोलियों का सामना नहीं कर पाये।

बिरसा मुंडा के साथी बड़ी संख्या में मारे गये। पैसे के लालच में बिरसा को उनकी ही जाति के दो लोगों ने गिरफ्तार करवा दिया।

फूक्स, स्टीवन (1955), के अनुसार, ''आदिवासी असंतोष का सबसे बड़ा कारण तो आर्थिक है, देखा जाए तो अंग्रेजों ने आदिवासियों की समस्या पर कोई ध्यान नहीं दिया।''[4]

सिंह, के. एस., (1985), जिन्होंने बिरसा मुंडा (1899-1900) आन्दोलन पर अधिकृत सामग्री दी है, ये कहते हैं कि, ''मुंडा विद्रोह जमीन से जुड़ी समस्या के कारण हुआ था।''[5] मुंडा इस बात से परिचित नहीं थे कि उनका भूमि पर परम्परा से अधिकार है, तो वह दूसरी ओर सरकार ने जब जंगल की सुरक्षा के लिए नई जंगल नीति अपनायी तब मुंडाओं के जंगल पर जो अधिकार थे, वो समाप्त कर दिए गए।

दोषी, एल.एस. तथा जैन, पी.सी. (2020), ने अपनी पुस्तक ''जनजातीय समाजशास्त्र'' में मुंडा आदिवासियों ने ब्रिटिश सरकार की नीतियों के खिलाफ 1798 से लेकर लम्बी अवधि तक बराबर आन्दोलन किए''[6] ऐसे आन्दोलन भी हुए जब उन्होंने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध हथियार उठा लिए। परन्तु सरकार ने अपनी पूरी ताकत के साथ इन आन्दोलनों को दबा दिया। 1899-1900 में मुंडाओं का एक गम्भीर आन्दोलन हुआ। इसी आन्दोलन को उलगुलान आन्दोलन कहा जाता है। बिरसा का स्थान मुंडाओं में सम्मान और आदर का स्थान है। लोग इन्हें ''धरती अब्बा'' अर्थात् ''धरती का पिता'' मानते थे। यद्यपि उलगुलान आन्दोलन को ब्रिटिश सरकार ने बड़ी निर्दयतापूर्वक दबा दिया, फिर भी एक लम्बी अवधि तक मुंडाओं का आक्रोश ब्रिटिश सरकार के खिलाफ बना रहा।

बिरसा मुंडा के उलगुलान आन्दोलन के पीछे के कारण- बिरसा मुंडा के उलगुलान आन्दोलन के पीछे के प्राथमिक कारणों का वर्णन निम्न बिंदु करते हैं-

1. ब्रिटिश सरकार द्वारा शुरू की गयी भूमि नीतियों ने कृषि प्रणाली की आदिवासी पारम्परिक प्रक्रिया पर हमला किया।
2. ब्रिटिश सरकार ने अदिवासी वन क्षेत्रों के लिए सामंती के रूप में '**डिक्स**' नामक भूमि ठेकेदारों को भी खरीद लिया।
3. ब्रिटिश मिशनरियों द्वारा किये गये धर्म परिवर्तन ने आदिवासियों की पुरानी पारम्परिक आस्था और ईश्वर की पूजा के साथ-साथ धार्मिक और सांस्कृतिक मान्यताओं पर पर हमला किया।
4. ब्रिटिश सरकार ने छोटानागपुर पठार क्षेत्र में सामंती जमीदारी शुरू की जिसने 'खुंटकट्टी' नामक स्थानीय आदिवासी कृषि प्रणाली को नष्ट कर दिया गया।

मुंडा जनजाति के प्रसिद्ध नेता बिरसा मुंडा ने ''बिसाईयत'' नामक एक नये धर्म की स्थापना की। वह आदिवासी समाज

में सुधार लाना चाहते थे और इसके लिए उन्होंने अपने दम पर इस बिरसाईत धर्म की शुरुआत की और स्वयं को भगवान का दूत घोषित किया। कई अन्य हिन्दू साथ ही मुसलमान, भगवान के नये दूत को देखने में रुचि रखते थे, जिसके परिणामस्वरूप बड़ी संख्या मे सभाएँ हुईं। बिरसा मुंडा ने आदिवासी लोगों को मिशनरियों और मिशनी गतिविधियों को नजरअंदाज करने की सलाह दी और उनसे अपनी पारम्परिक प्रथाओं पर लौटने का आग्रह किया।

आन्दोलन के दूसरे चरण में बिरसा ने कई स्थानों की यात्राएं की लोगों को कंपनी शासन के विरुद्ध एकजुट किया। इस बीच कई बार मुंडाओं की अंग्रेजों के साथ मुठभेड भी हुई।

3 फरवरी 1900 को बिरसा दोबारा गिरफ्तार किये गये। उन्हें राँची जेल में रखा गया। मई महीने में उन्हें जेल के अलग कमरे में रखा गया। 9 जून, 1900 को हैजा के कारण जेल में ही बिरसा मुंडा की मौत हो गयी।[7]

बिरसा मुंडा के उलगुलान आन्दोलन का महत्व :

बिरसा मुंडा समर्थन माँगते गाँव-गाँव घूमते थे। उन्होंने लोगों को उलगुलान आन्दोलन से जोड़ने के लिए परम्परागत प्रतीकों और भाषा का इस्तेमाल किया। मुंडा क्रान्तिकारी राष्ट्रवादी नेताओं के अग्रदूत थे। उलगुलान आन्दोलन ने ब्रिटिश राज को दिखाया कि आदिवासी समुदाय के लोगों में भी अन्याय के खिलाफ विरोध करने और औपनिवेशिक ब्रिटिश सरकार के खिलाफ अपना गुस्सा व्यक्त करने की क्षमता हो सकती है।

इस आन्दोलन के पश्चात्, ब्रिटिश सरकार ने 'वेथ वेगारी' नामक प्रथा को समाप्त कर दिया, जो बिना मजदूरी दिए लोगों से जबरन काम करवाने की प्रथा थी। खासकर ब्रिटिश शासन के दौरान यह प्रथा आम थी। जिसमें स्थानीय लोगों को बिना किसी भुगतान के अंग्रेजों के लिए समान ले जाने, उनके घर के काम करने या अन्य प्रकार के काम करने के लिए मजबूर किया जाता था।

उनकी मृत्यु के 8 साल बाद, ब्रिटिश सरकार ने 'छोटानागपुर टेनेंसी एक्ट' लागू किया। यह कानून आदिवासी भूमि को गैर-आदिवासियों को हस्तांतरित करने पर रोक लगता है और मालिकों के स्वामित्व अधिकारों की रक्षा करता है। बहुत सारे संस्थानों और संगठनों का नाम उनके नाम पर रखा गया है, जिसमें बिरसा मुंडा एथलेक्टिस स्टेडियम, बिरसा मुंडा हवाई अड्डा, बिरसा मुंडा आदिवासी विश्वविद्यालय आदि।

बिरसा मुंडा ने बाहरी संस्कृति का जनजातीय संस्कृति पर होने वाले आक्रमण को रोक दिया। उन्होंने अपनी संस्कृति का पुनरुद्धार किया। बिरसा मुंडा का उलगुलान आन्दोलन एक राष्ट्रीय आन्दोलन था। वह एक धार्मिक नेता और एक राजनीतिक नेता के रूप में श्रेष्ठ थे। उनका शारीरिक सौष्ठव, उनकी आँखों की चमक, उनकी बौद्धिकता उन्हें अपने आप ही मुंडा समाज का नायक बना देती है। वह एक महान वक्ता थे और बहुत ही सुन्दर गाते थे। इस तरह बिरसा ने खुद को बेहद सफल साबित किया क्योंकि वह लोगों को जाग्रत करने में सक्षम थे। बिरसा के आन्दोलन से सामाजिक सुधार हुआ, जनजातियों में एकजुटता बनी और पुनर्जागरण हुआ।[8] उन्होंने लोगों को अपनी संस्कृति और परम्परा से जुड़े रहने का संदेश दिया।

बिरसा मुंडा की विरासत अभी भी जीवित है और देश में कई लोग हर साल 15 नवम्बर को उनका जन्मदिन मनाते हैं। आजादी के 75वें वर्ष के अवसर पर केन्द्रिय मंत्री मण्डल ने आदिवासी स्वतंत्रता सेनानियों की सेवाओं को स्मरण करने के लिए प्रतिवर्ष 15 नवम्बर को ''जनजातीय गौरव दिवस'' के रूप में घोषित करने को मंजूरी दी। हमारे आदिवासी स्वतंत्रता सेनानियों ने ''अस्मिता और आत्मनिर्भरता'' के स्तम्भों पर आधारित एक प्रगतिशील भारत की कल्पना की थी। भगवान बिरसा मुंडा की 146वीं जयंती पर रांची में भगवान बिरसा मुंडा मेमोरियल पार्क सह-स्वंतत्र सेनानी संग्रहालय का वर्चुअल उद्घाटन करते हुए प्रधानमंत्री जी ने जनजातीय गौरव दिवस के समारोहों पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा कि ''भगवान बिरसा मुंडा ने अपना जीवन भारत के स्वतंत्रता संग्राम विरासत और संस्कृति को समर्पित कर दिया।''

उन्होंने आगे कहा कि झारखण्ड स्थापना दिवस के अवसर पर 15 नवम्बर को ''जनाजातीय गौरव दिवस'' मनाने की यह पहल राष्ट्र के लिए आदिवासी स्वतंत्रता सेनानियों और आदिवासी समुदायों के बलिदान को सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

निष्कर्ष :

प्रस्तुत शोध पत्र का यही निष्कर्ष निकलता है कि बिरसा मुंडा का उलगुलान आन्दोलन भूमि से लेकर धर्म संबंधी तमाम समस्याओं के खिलाफ एक जनसंघर्ष था और साथ ही उन समस्याओं के राजनीतिक समाधान का प्रयास भी था। यह आन्दोलन आदिवासी समाज की आंतरिक बुराईयों और

कमजोरियों को दूर करने का एक सामूहिक अभिक्रम भी था। आजादी के 75वें वर्ष के अवसर पर केन्द्रिय मंत्रीमंडल ने आदिवासी स्वतंत्रता सेनानियों की सेवाओं की स्मृति के रूप में 15 नवम्बर को ''जनजातीय गौरव दिवस'' के रूप में मनाने की घोषणा की थी। इसलिए प्रतिवर्ष 15 नवम्बर को बिरसा मुंडा की जयंती को ''जनजातीय गौरव दिवस'' के रूप मे मनाया जाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि बिरसा मुंडा का उलगुलान आन्दोलन न केवल आदिवासी अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष किया, बल्कि भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन को भी प्रेरित किया।

***शोधार्थिनी**
चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय
परिसर, मेरठ
****शोध निर्देशिका**
प्राचार्या, राजकीय महाविद्यालय
बी.बी. नगर, बुलन्दशहर

सन्दर्भ सूची

1. एल.पी. शर्मा, आधुनिक भारत, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, चौबीसवाँ पूर्णत : संशोधित संस्करण : 2010, पृ. 381
2. वही, पृ. 381
3. Our past-III Textbook in History for class VIII, NCERT, 2022.
4. फूक्स, स्टीवन, (1955), भारत में आदिवासियों की समस्या, आर्थिक व राजनीतिक संस्था, गोखल, पूना, पृ. 12
5. सिंह, के. एस. (1985), भारत में जनजातीय समाज, मनोहर पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ. 290
6. दोषी, एल, एस. तथा जैन, पी. एस. (2020), ''जनजातीय समाजशास्त्र,'' रावत पब्लिकेशन, जयपुर, राजस्थान, पृ. 288-289.
7. Singh, K.S. Birsa and his Movement (1874-1901) Oxford University Press,1983.
8. सुरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, बिरसा भगवान और उनका उलगुलान, डॉ. रामदयाल मुंडा जनजातीय कल्याण शोध संस्थान, रांची, झारखण्ड सरकार।

काव्यस्वरूपनिरूपणम्:

वाचस्पति कुमार

संस्कृतभाषायां संस्कृतकाव्यशास्त्रस्य प्राचीनतमं नाम काव्यालङ्कार एवास्ति। यस्मिं शास्त्रेऽस्यं सौन्दर्यस्य पर्यालोचनं क्रियते तच्छास्त्रं काव्यशास्त्र-मित्यभिधीयते। काव्यशास्त्रस्यादिमे काले एतस्मै काव्यालङ्कारशब्दस्य प्रयोग: क्रियतेस्म। एतम्मादेव हेतो: काव्यशास्त्रादियुगस्य सर्वे आचार्या: स्वग्रन्थानां नामानि काव्यलङ्कार इत्यकार्षु:। अलङ्कारशास्त्रस्य प्रख्यात आचार्यो भामह: स्वग्रन्थस्य नाम काव्यालङ्कार इत्यकार्षीत्। यद्रटोऽपि स्वकाव्यशास्त्रविवेचनात्मकस्य ग्रन्थस्य नाम काव्यालङ्कारसार-संग्रह: इत्यकरोत्। रूद्रटस्याऽपि काव्यशास्त्रविषयकस्य ग्रन्थस्य नाम काव्यालङ्कार एवास्ते। काव्यशास्त्रमिदं स्वोत्पत्तिसमयादेव नितरां लोकप्रियताङ्गतं तस्मादेतत् काव्यालङ्कार-काव्यशास्त्र-क्रिया-कल्प-साहित्यविद्यालयङ्कारशास्त्रसाहित्यशास्त्रादि-कतिपय-नामभि: संसंमानं सानुरागञ्च समादृतमभूत्। शास्त्रमिदं शास्त्रान्तराणीव परमोपादेयं शास्त्रम्। लौकिकानां वैदिकानाञ्च शास्त्राणां सर्वाङ्गीणतया ज्ञानं तावत्र भवितमर्हति यावदस्य काव्यशास्त्रस्य ज्ञान न वर्त्तते। वेदवेदाङ्गादिषु-'उत त्व: पष्यन् न ददर्श वावम्... जायेव पत्ये उषर्ती सुवासा' द्वासुपर्णा सयुजा सखाया' इत्यादिकानि सन्ति सहस्त्राणि वाक्यानि एतादृशानि येषां भावात्र काव्यशास्त्रानभिज्ञो जन: ज्ञातुं प्रभवति, अथ च यो जन: काव्यशास्त्रे न निष्णातोऽस्ति स व्यञ्जना प्रतिपाद्यमानान् अर्थान् अपि नावबौद्धं शक्नोति।

एवं स्थिते तस्य गतिस्तेषु स्थलेषु केन प्रकारेण स्यात् यानि व्यङ्ग्यार्थविलसितानि व्यञ्जकपदावलिपेशलानि च स्थलानि विद्यन्ते तस्मात् काव्यशास्त्रस्यानिवार्यत्वेनाध्येतव्यतापेक्ष्यते। काव्यशास्त्रस्यास्यानेक स्वकीय विशिष्टता: विलोक्यैव राजशेखर: शास्त्रमिदं वेदाङ्गमिव मन्यते। सब्रूते-'उपकारकत्वादलङ्कार: स्प्तममङ्गमिति, ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानादेवार्थानवगति:' स: काव्याशास्त्रशिक्षां स्वतन्त्रविद्यामेव न मन्यते, अपितु तर्कत्रयीवार्तादण्डनीति-नामधेयानां चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दमवगच्छति। स्वकीयानां काव्यमीमांसायां लिखति स:-'पञ्चमी साहित्य विद्या' इति यायावरीया:, 'सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्द:'। तथा स्वकीय काव्यादर्शे महेश्वरेणोक्तम्-

'सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा गहने शास्त्रान्तरे प्रवर्त्तयितुमग्निपुराणादुद्धृत् काव्यरसास्वादकारण-मलङ्कारशास्त्रं कारिकाभि: संक्षिप्त भरतमुनि: प्रणीतवान्।' एवं विद्याभूषणरचितसाहित्यकौमुद्या: टीकाकृष्णननिदन्न्यां-'काव्यरसास्वादनाय वह्निपुराणादिदृष्टां साहित्यप्रक्रियां भरत: संक्षिप्ताभि: कारिकाभि: र्निबन्ध'।

काव्यशास्त्रस्योत्पत्तिमधिकृत्य काव्यमीमांसाकारो राजशेखरो यामाख्यायिकां समुपस्थापयति सा कथयति पुरा त्रिषु लोकेषु काव्यशास्त्रप्रचारार्थाय श्रीकण्ठ: सरस्वतीपुत्रं काव्यपुरुषं नियुक्तवान्। एतेन कथनेन शास्त्रस्यास्याविर्भावो भगवत: शङ्करात् विदितो जायते। तेन भगवान् शङ्करो ब्रह्मणे शास्त्रमेनमुपदिष्टवान्। तदनन्तरं ततो देवादय ऋषश्च शिक्षिता:। अष्टादशोपदेशकद्वारा चैतसय शास्त्रस्याश्टादशाधिकरणेषु रचना सञ्जाता। तत्र दृश्यकाव्यस्य निरूपणं भरतेन कृतम्।

नन्दिकेश्वरेण रसस्य, धिषणेन दोषस्य, उपमन्युना गुणस्य, सहस्त्राक्षेण कविरहस्यस्य उक्तिगर्भेण औक्तिकस्य सुवर्णानाभेन रीते: प्रचेतायनेन अनुप्रासस्य, चित्राङ्गदेन यमकस्य चित्रस्य च, शेषेण शब्दश्लेषस्य, पुलस्त्येन वास्तवस्य, औपकायनेन

उपमाया: पराशरेणातिशयस्य उतथ्येनार्थश्लेषस्य कुवेरेणोभयालङ्कारस्य, कामदेवेन वैजोदिकस्य, भरतेण रूपकस्य, कुचुमारेणौपनिषदिकस्य निरूपणं कृतमिति।

परमेतादृशीषु आख्यायिकासु न साम्प्रतिको वैज्ञानिक: काल: श्रद्धते। काव्यसौन्दर्यस्याधायकानि यानि गुणरीतिध्वन्य-लङ्कारादितत्त्वानि काव्यशास्त्रं विविनक्ति तानि सर्वाण्यपि तत्त्वानि मूलतो वेदेषु प्राप्तानि भवन्ति। तस्मात् काव्यशास्त्रमपि स्वोत्पत्यर्थमुपादानानि सामग्रीं वा वेदेभ्य: एव लेभे-इत्यपि तथ्यपूर्णा प्रतिभाति। वेदस्तु स्वयमेव 'अमरकाव्यम्' इत्येतेन नाम्ना भुवनविदित:। 'देवस्य पश्य काव्यम् न ममार न जार्यति।' एवं स्थिते साहित्याथवा काव्यशास्त्रस्य जन्मदात्री वेदमातैव सिद्धयति। इदन्त्ववश्यम्, वेदवेदाङ्गादिषु केवलमलङ्कार-शास्त्रस्य तत्त्वानि समुपलभ्यन्ते, न च तानि शास्त्राणि प्रत्यक्षतयाऽप्रत्यक्षतया वा तस्य शास्त्रीयं निरूपणं कुर्वाणानि दृष्टानि जायन्ते। तदीयं शास्त्रीस्वरूपं तु भरतमुनिसमयात् प्रारब्धं भवति। भरतमुने: समयमधिकृत्य विदुषां सन्ति भिन्नभिन्नानि मतानि। किञ्च भरतमुने: कालो विक्रमात् प्राग्वर्तिशतक-द्वयमारब्ध तदर्वाग्वर्ति शतकद्वयं यावत् यो विद्यते तस्यान्तराले सुधाभि: प्रायेण विचिन्त्यते।

पूर्ववर्णितराजशेखरस्य काव्यपुरुषस्तु हिमालये पुत्रार्थं तपोनिरताया: मातु: सरस्वत्या: समीपं विधातुर्वरदानेनावतरति चरणौ स्पृशति काव्यमय्या वाण्या च वदति-

यदेतत्वाङ्मयं विश्वम् अर्थमूर्त्या विवर्त्तते।
सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब पादौ वन्दे च तावकौ॥

श्रुत्येदं वचनं माता सरस्वती उवाच-'पुत्रक! छन्दोमय्या: वाण्या: प्रणेतासि। वाङ्मयमाताऽहमपि त्वया जिता। पुत्रात्पराजयो द्वितीयपुत्रजन्ममहोत्सव इव भवति। पूर्वमनीषि-भिर्गद्यमेवज्ञातं त्वया तु छन्दोमयी वाणी प्रवर्त्तिता। अतएव प्रशंसनीयोऽसि।

काव्यपुरुषजन्मसंकेतो मिलत्यन्यत्रापि। किन्तु तत्राभिधाना-भाव:। अस्य काव्य पुरुषस्य शरीरं वर्णयन् राजशेखरो वदति-'शब्दार्थो चास्य शरीरम्। प्राकृतं बाहु:। पिशाचभाषा चरणौ। गुणा: गुणस्थानीया: मिश्रभाषावक्षस्थलम्। संस्कृतं मुखम्। छन्दांसि रोमस्थानानि। अलङ्काराश्चालङ्करणभूता:। रस आत्मा। वचन विपर्यासो रीति:। प्रवृत्तिश्च वेषविन्यासो' इत्यादि।

एतत् सर्वं सर्वप्रथमं विचारणीय प्रश्नोऽयमस्ति, तत्किमिदं काव्यशास्त्रम्? का परिभाषा तच्छास्त्रस्य? अस्मिन्विषये राजशेखर एव प्रमाणम्, तेन दाढ्र्येन प्रतिपादितं यत् सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम्, अर्थात्-

पञ्चदशविद्यास्थानं काव्यपदार्थस्य शासनं करोति।

अस्य कथनस्यायमाशय:-

काव्यरूपलक्षस्य लक्षणं लक्षणानि वा यस्मिन् शास्त्रे स्युस्तन्नाम काव्यशास्त्रमस्ति, अथवा सुस्पष्टीकरणायैतत् कथनीयं स्याद्यत्-तासां विविधानामालोचनानां संज्ञा काव्यशास्त्रमस्ति, याभि: काव्यस्य सूक्ष्मातिसूक्ष्मा: गतिविधय: सौष्ठवं किम्बाऽसौष्ठवं परिज्ञातं भवेत्। अलङ्कारशासत्रमेव, प्रकारान्तरेण, शब्दान्तरेण च काव्यशास्त्रम् अथवा साहित्यशास्त्रं कथयन्ति विद्वांस:। विद्वन्मूर्धन्येन राजशेखरेणाऽपि 'शब्दार्थयोर्थोवत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या' इति प्रतिपाद्य साहित्यशब्दस्यार्थ: काव्यमिति स्वीकृतम्।

अनेन विचारेण निष्कषोऽयं समायाति यत्काव्यशास्त्रस्य प्राचीनतमं नाम काव्यालङ्कार एवाऽस्ति। यस्मिन् शास्त्रेऽस्य सौन्दर्यस्य पर्यालोचनं क्रियते, तच्छास्त्रं अस्मै शास्त्राय मुख्यरूपेण काव्यशास्त्रस्य प्रयोगमकार्षीत्। किन्तु शास्त्रशब्दस्य व्युत्पत्तिमयं विधिप्रतिषेधपरामाह। तथा चोक्तं तेन-

यद्विधौ च निषेधे च व्युत्पत्तेरेव कारणम्।
तदध्येयं विदुस्तेन लोकयात्रा प्रवर्त्तते॥ इति।

तयोर्विधिप्रतिषेधयो: साधनानि त्रीणि सन्ति। काव्यम्, शास्त्रम् इतिहासञ्च एतेषां त्रयाणां मिश्रणेन त्रीण्यपराण्यपि जायन्ते साधनानि काव्यशास्त्रम्, काव्येतिहास शास्त्रेतिहासश्च। इत्थमाहत्य षट्साधनानि भवन्ति विधिप्रतिषेधबोधकानि। तथा चोक्तं भोजराजेण सरस्वतीकण्ठाभरणे-

काव्यं शास्त्रेतिहासो काव्यशास्त्रं तथैव च।
काव्येतिहास: शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम्॥ इति।

यद्यपि भोजराजोऽपि काव्यशास्त्रस्य प्रमुखं प्रयोजनं कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' इति मन्यते किन्तु नायं बहुजन समाहत: पक्ष:। ते तु सद्य: परिनिर्वृतिरूपम् रसास्वादनं विगलित-वेद्यान्तरमेव काव्यस्य परमं प्रयोजनं स्वीचक्रु:। वस्तुत: सद्य: परिनिर्वृत्तिरेवास्य काव्यस्य वेदादिभ्यो भेदकं प्रयोजनमस्ति।

अनेन प्रकरेण विभिन्न सम्प्रदायगता: आचार्या: अस्य काव्यशास्त्रस्य स्वरूपत्वं प्रतिष्ठापयितुं तस्य शास्त्रत्वं साधयितुं तस्य सर्वाङ्गाणि निष्पादयितुं निरूपयितुं च पूर्णमनोयोगपूर्वकं प्रयासं विदधु:। तेषां प्रयासादविरामात् यस्य साहित्यस्य काव्यस्य च बीजानि तत्त्वानि वा वेदादिषु विकीर्णान्यासंस्तानि शास्त्रीयं रूपमधिजग्मु:।

एवञ्च वेदादिसांख्यादिदर्शनानि वस्तुतो मानवविशेषमेवो-

पकुर्वन्ति वा निज सन्ति मानवमात्रोपकारिणीं काव्यशास्त्रमेव मानवमात्रस्य श्रेयः प्रेयश्च समादधति। तदेव मानवस्य क्षमतां तदीयां मनोवृत्तिं सम्यग् वेत्ति। तत् तथा यतने येन सर्वेऽपि मानवाः सत्पथगामिनो भूत्वा स्वीये परमार्थ लब्धुं शक्नुयुः। तन्मानवो येषु रतित्तेधशोकादिस्थायिभावेषु स्वीपिति, जागृर्त्ति क्रीडति न किञ्च यान् निर्वेदादिवेगश्रममदादीन् भावन् अहोरात्रं जीवने व्यवहरति तान् सर्वान् अपि शास्त्रमिदं निरूपयति। काव्यस्यास्य विषय-प्रयोजनोद्देश्याधिकारिप्रभृतीनां स्वतन्त्रत्वात् तस्य शास्त्रत्वं निर्बाधमेव। शास्त्रेषु तत् स्वीयमुत्कर्षमु-पादेयत्वाञ्चादाय विलसतितरामिति।

ईदृग्विधस्य काव्यस्य लक्षणमुक्त्वाऽन्यसाहित्यविधातस्तस्य पार्थक्यप्रदर्शन मतीवदुष्करं कृत्यमस्ति। अस्मिन् विषये पं. वेदव्यासशुक्लेनोक्तं-

'सम्यग्रूपेणाविचारिते प्रतिभातीदमेव यत् सरलस्य सुव्यक्तस्य सर्वत्रस्थ परिभाषाकरणं कठिनप्रायम्'। किं तावत् लक्षणस्य लक्षणमित्यपि विचारणीय्। विश्वस्य साहित्यिकपदकोषस्य (Dictionary of World literary terms page 92, Shiptey) महोदयो लिखिति यत्-परिभाषा कस्यापि शब्दस्योचितं स्पष्टं निश्चितं पूर्णां निर्धारणं भवति। संक्षेपेणदमवसीयते यत्तत्रविशिष्टा भाषासरिणः, ग्रन्थस्य विषयसंभारस्तथा विषयप्रतिपादनस्य सुप्रवृत्तिश्च। अनया दृष्ट्याऽऽर्याणामादिग्रन्थः ग्वेदः यद्यपि मुख्यरूपेण धर्माग्रन्थोऽस्ति सरसकाव्यस्थानेकान्युदाहरणानि सन्ति। तद्यथा-'अभ्रातेव पुंस एति प्रतीचीगर्तारुगिव सनयेघनानाम्। जायेव पत्य उशती सुवसा उषा उस्रेव नि रिणीते अप्सः।। (ऋग्वेद 1.124.20) मन्त्रेऽस्मिन् चतस्रः उपमाः सन्ति। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते। तयोरेन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।' (ऋग्वेद 1.164.20) अस्य मन्त्रस्य विषये राजशेखरोऽपि स्वकीय काव्यमीमांसा- यामालिखत्उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गं इति यायावरीयः। ऋते च तत्स्वयपपरिज्ञानात् वेदार्थानवगतिः। यथा-द्वा सुपर्णा... अभिचाकशीति (पृ. 3)। एवं रसगङ्गाधरेऽपि-इयं चातिशयोक्ति वेदेऽपि दृश्यते-चत्वारि श्रृङ्गं त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासोऽस्य। त्रिधा बद्धो वृभभो रोरवीति महादेवो मर्त्या आविवेश।' (ऋ.-4.58.3)। अस्य मन्त्रस्य व्याख्या निरुक्ते 13.7 एवं महाभाष्ये प्रथमभागे तृतीय पृष्ठेऽपि द्रष्टव्येति। संस्कृत-आलङ्कारिकाणां विचारे तु पूर्वोक्त प्रथमन्त्रे सुष्ठुभाव संगुफितः रूपकातिशयोक्तिरलङ्कारोऽस्ति। (निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत्)। द्वादशारं नहि तज्जराय वर्पन्ति चक्रं परिद्यामृतस्य (1.164.11) अत्र व्यतिरेकालङ्कारोऽस्ति। 'स्वसुर्जारः श्रृणेतु नः' (ऋ. 76.55.5) यत्रासुपर्णाः अमृतस्य आदि (ऋ.-1.164.21) अस्य निरुक्ते (3.12) अर्थद्वयस्य प्रतिपादनं कृतिमस्ति। एवंविधेषु मन्त्रेषु श्लेषालङ्कारः स्पष्टतया प्रतिभाति। निरुक्ते (3.12) कतिपयं शब्दानामर्थद्वयस्य प्रतिपादनमस्ति। शतपथब्राह्मणे 'हित' शब्दस्यार्थद्वयम् हितम्-स्थितः, हितम्=हितकरम्, तथा वर्षः=वत्सरः एवं वृष्टिः, अनेन प्रकारेणेव ऋग्वेदे-अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यति। कथाग्रामं पृच्छसि नत्वा भीरिव विन्दती।। (10.146.1) मन्त्रेऽस्मिन् अत्प्रक्षालङ्कारोऽस्ति। एवं ऋग्वेदे सोऽपां जपादनभिज्ञातवर्णोन्यस्येवेह तन्वाविवेश।' अस्मिन् श्लोकेऽपि उत्प्रेक्षालङ्कारोऽस्ति। अनेनोदाहरणेन प्रमाणितो भवति ऋग्वेदकालीनाः कवयः न केवलम् उपमा-अतिशयोक्ति-श्लेष-रूपकाद्यलङ्काराणां प्रयोक्तारः आसन्, अपितु काव्यशास्त्रस्य सिद्धान्तानामपि ज्ञातारः आसन्। तेभ्यो विद्वद्भ्यः शब्दानामक्षराणाञ्च पुनरावृत्तिः अतीव रोचते। यथा-'रक्षाणो अग्ने तव रक्षेणेभी राक्षाणे' (4.3.14) प्रतार्यग्ने प्रतरं न आयुः (4.12.6) अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम् (4.40.5), वयमग्ने वनूयां त्वोता वसूयवो' (5.3.6) अनेनैव प्रकारेण कतिपयानां पदानां प्रारम्भे एकैवशब्दस्य पुनरावृत्तिरयोक्ष्यत्। तद्यथा ऋग्वेदे-'हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्गोजा वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।' (4.57.5) 'दद्ऋचा सन्नियते ददन्मेधामृतायते।' (5.27.4) तथा दिवाभिषित्वेऽव सा गभिष्ठा पत्यवर्त्ति दाशुषे शंभविष्ठा।' (5.16.2) आगामि समये प्रवृत्तिरेषा एवानुप्रसासस्य यककस्य च रूपे विकसिताऽभवत्। ऋषिः कथयति-सर्वथा देवता सन्मुखेऽभिनव स्वकीया वाण्या मन्त्राणां सृष्टिः स करोति-प्र त्व्यसीं नव्यसीं धीतिमग्नये वाचोमतिं सहस सूनवे भरे ऋक् (1.143.1) अन्यमप्येकमुदाहरणमतीव-रोचकमस्ति-'संक्तुमिव तितउना पुनन्तो। यत्र धीरा मनसा वाचम ऋत। अत्रा सखायः संख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहताविवाचि।' बुद्धिमान् जनः स्वबुद्धया एवं विधानृ पदानां निर्माणं करोति यथ तितउना यवसात् यावन् पृथक् करोति। काव्यार्थं ज्ञातुमेवं विधेः बुद्धिरावश्यकता भवति। अनेने सिद्धो भवति यत्सामान्यभाषातः काव्यभाषा भिन्ना भवति। ऋग्वेदे (10.125.5) वाचः स्ततौ वाक् रचितः मन्त्रोऽस्ति। तस्मिन् मन्त्रे वाक्शक्तेः प्रभावोत्पादकरूपेण चित्रात्मकशैल्यां वर्णनमस्ति-तथ्स्यार्थाशमेवात्रद्धृतमस्ति-यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्। अन्यच्च-ऋग्वेदे एव

(1.71.4) उत त्वः पश्यत्र ददर्श वाचमुत त्व शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उतो त्वस्यै तन्वं विसस्त्रं जायेव पत्ये पत्ये उशती सुवासाः। अस्य पदस्य निरुक्तौ (1.19) एवं महाभाषस्य प्रथमभागे व्याख्याकृताऽस्ति। पद्येऽस्मिन् प्रकारद्वयस्य जनस्य निरूपणमस्ति। एकोहि भाषणं श्रुत्वाऽपि तदर्थावगन्तुमसमर्थो भवति। अन्यच्छब्दानां कवताशब्दस्य चाऽपि बहुधा प्रयोगः परिलक्ष्यते। तद्यथा-आ देवानामभवः केतुरग्ने मन्द्रो विश्वानि काव्यानि विद्वान् (ऋ.-3.1.17) अर्थात् हे अग्ने त्वम् दिवौकसां ध्वजदण्डोऽसि, तथा त्वमेव सर्वेषां काव्यानां ज्ञातासि। अग्निर्विश्वानि काव्यानि काव्यानि विद्वान्' (ऋ.-3.1.18) एवं मधुछन्दो भजतिरेभ इष्टौ (ऋ. वे.-6.11.3) अर्थात् गायकः आहुतिकाले मन्त्रगानं मधुरेण स्वरेण करोति। उदुत्ये मधुमत्तमा गिरः स्तोमास ईरिते (8.3.15) ते जनाः स्तुति गीतं मधुरां वाचां उद्गिरनित। अनने प्रमाणेन सिद्धो भवति यत् प्राचीन मस्ति। भामह-दण्डीप्रभृतयः प्राचीनः आचार्याः यस्याः परम्परायाः अनुसरणं कृतवन्तः तत्तु कालदृष्ट्या यथाकामं भरतात्परवर्त्ती भवतु, किञ्च वर्ण्यविषयदृष्ट्या भरतात्पूर्ववर्त्ती एवास्ति। वस्तुतस्तु अलङ्कार-रीति-ध्वनि-प्रभृतिनां सिद्धोन्तोपरि आधारितानि विभिन्नतानि भामह-दण्डी- ध्वनिकारादीनां ग्रन्थेषु प्रतिष्ठितानि सन्ति। एतानि मतानी पूर्वकालादेव विकसितान्यासन्। एतेषु लेखकेषु कोऽपि अस्य सिद्धान्तस्य प्रथमपवर्त्तकरूपेण स्वीकर्त्तुं न शक्यते। एवंविध चिन्तनस्य सिद्धान्तरूपेण प्रतिष्ठितो भवनात्पूर्वमेवैकः प्रयोगात्मकस्थिति-रवश्यमेवासीत्। यदि तत्कालीनरचनाऽद्याऽपि समुपलब्धा भवति, तदा तया रचनाया प्रमाणीकर्त्तुं शक्यते, यत् भामह-दण्डी-ध्वनिकारादीनां सिद्धान्तानां विकासः केन प्रकारेणाभवत्। अतएव एतेषां लेखकानां ग्रन्थानस्य शास्त्रस्योत्पत्तिहेतुरवगन्तुं न शक्यते, किञ्चेमान् ग्रन्थानस्य शास्त्रस्य ऐतिहासिकरचनात्मक-युगस्यादि प्रवर्त्तकः स्वीकर्त्तुं शक्यते। तथ्यमिदं मनसि कृत्वा पूर्वाग्रहरहितेनेदं ज्ञातुं शक्यते यदलङ्कारशास्त्रत्रयोत्पत्तिः पृथक् शास्त्रस्वरूपेण ख्रीष्टस्य प्रारम्भिकशतके एवाभवत् तथा ख्रीष्ट्रस्य पञ्चमवाषष्ठशतके एवापेक्षाकृत विकसितरूपेण प्रगतिर्बभूव। भरतकृत नाट्यशास्त्रस्य तथा भामहकृत काव्यालङ्कारस्य कतिपयेष्वध्यायेषु प्रकटीकरणात्पूर्वस्यासय विकासक्रमः दुर्भाग्यवशादन्ध- काराच्छन्नोऽस्ति।

हन्त, संस्कृतसाहित्यानुसन्धातृभिः कृतेऽपि तादृशसामीक्षिक (Critical) मार्ग माणो तथाविध क्लेशश्लेषविषमे च प्रचुरप्रयासे संस्कृतसाहित्यस्य इतिवृत्तं यावदद्य अनापद्यमानं प्रकाशपद्यां वेविद्यते। भामह-वामन-रुद्रटादीनां काव्यशास्त्रसम्बन्धिनः ग्रन्थाः सामान्यतः काव्याऽलङ्कारनाम्ना प्रसिद्धाः सन्ति। कदाचित्रामेदमेतेषु ग्रन्थेषु अलङ्काराणां वैशिष्ट्यदृष्ट्यैव सम्प्राप्तम्। प्रायः प्राधान्येन वयपदेशा भवन्ति' अस्याः उक्त्यारेवानुसरणं कृतम्। वामनेन 'काव्यालङ्कारसूत्रे' कथितम् यदलङ्कार शब्दः अर्थद्वये प्रयुक्तो भवति सुण्ठुवस्तुस्वरूपे तथा अलङ्कारस्वरूपे च यथाऽलंक्रियते अनेनेति' अस्मिन्मते काव्यशास्त्रेण संबद्ध ग्रन्थान् 'काव्यलङ्कारः अनेन कावयं ग्राह्यं भवति 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्' सौन्दर्यमलङ्कारः' (काव्या. सू. -1.1.1-2)। अस्य सूत्रस्य वृत्तिस्तु- 'अलंकृतिरलङ्कारः। करण व्युत्पत्त्या पुनरलङ्कारशब्दो यमुपमादिषु यमुपमादिषु वर्त्तते'। कामधेनो-'योऽयमलङ्कारः काव्यग्रहणे हेतुत्वेन अपन्यस्यते तदव्युत्पादकत्वाच्दास्त्रमपि अलङ्कारनाम्ना व्यपदिश्यत इति शास्त्रस्यालङ्कारत्वेन प्रसिद्धिः प्रतिष्ठतास्यादिति सूचयितुमयं विन्यासः कृतः काव्यं ग्राह्यमलङ्कारादिति।' विवेचनमिदं शास्त्रसम्मतमस्तिं यतः येषां प्राचीनसाहित्यशास्त्रीयग्रन्थानामलङ्कारनाम्ना नैवाभिधानं दृश्यते, तेष्वपि ग्रन्थेषुअलङ्काराणामेवप्रधानताऽस्ति यथा दण्डिनः 'काव्यादर्शे त्रिचतुर्थांशे शब्दालङ्कारअर्थलङ्कारयोरेव व्याख्याऽवलोक्य काव्यादर्शे (1.2) कथतमस्ति- 'यथासामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम्।' ध्वन्यालोकेऽपि (पृ.-11.13) काव्यशास्त्रां रचयितृन् 'काव्यलक्षणविधा-यिनरुच्यते। भामहेन 'शूरौ' (1.1) स्वकीय रचनायाः नाम काव्यलङ्कार एव कथ्यते किञ्चिास्यान्ते (6-64) अनेनैव अवोक्य मतानि स्तकवीनामवगन्तव्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म' इत्युच्यते। ध्वन्यालोकेऽपि (1.3) 'काव्य लक्ष्मविधायिभिः' एवंविधकथानस्योल्लेखोऽपि दर्शनीयः स्यात् काव्यशास्त्रस्यैवापरो नाम साहित्यमस्ति। येन प्रकारेण काव्यशास्त्राय काव्यालङ्कारशब्दस्य प्राचीनादेव कालात् प्रयोगः समुपलभ्यते, तेनैव प्रकारेण काव्यशास्त्राय साहित्यशब्दस्याऽपि प्रयोगः प्राचीनकालादेव समुपलभ्यते। अस्य साहित्यशब्दस्य काव्यशास्त्राय प्रयोगस्त्वर्वाचीने कालेऽतीव प्रख्यातिमगात्। चतुर्दशशताब्दस्याचार्यं विश्वनाथः साहित्यशब्दस्यैवोपयुक्त-तामाश्रित्य स्वकीयस्य काव्यशास्त्रीयविषयकस्य ग्रन्थसय नाम 'साहित्यदर्पणः' इत्यकार्षीत्। किन्तु, साहित्यशब्दस्यादि प्रवर्त्तकः काव्यशास्त्राय आचार्यो विश्वनाथो नास्ति। काव्यशास्त्रग्रन्थकर्तृषु प्राचीनतमः आचार्यो भामह एवास्य सर्वप्रथमं प्रयोगमकार्षीत् स्वकीये काव्यालङ्काराभिधाने ग्रन्थे। काव्यं लक्षयन् आचार्यो

भामहः काव्यालङ्कारस्यादावेव प्रावोचत्-'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'। इति। वर्त्तमान समयेऽपि अस्य प्रयोगः सामान्यतः काव्यशास्त्राय एव भवति। एकादशशताब्दस्य आचार्यो रुय्यकः 'साहित्यमीमांसा' नामकस्य ग्रन्थस्य प्रणयनं कृत्वा काव्याशास्त्रस्यार्थे साहित्यशब्दस्य प्रयोगमकरोत्। साहित्यशब्दस्याभिप्राय अभिव्यञ्जनाचार्यः कुन्तको वक्रोक्ति-जीवितवाभिधाने स्वकीये ग्रन्थे प्राह-

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूननतिरिक्त मनोहारिण्यवस्थितिः।। इति।

कुन्तकमतानुसारेण शब्दार्थयोरुभयोरेव सौन्दर्यं समानं स्यात् न तु न्यूाधिकम्। आचार्योऽयं स्वकीये काव्यलक्षणेऽपि शब्दार्थयोः साहित्यस्य समावेशमकार्षीत्। तथा हि-

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥

इत्थं कुन्तकभामहावुभावेवाचार्यौ शब्दार्थयोः साहित्यमेवाश्रित्य काव्यस्य लक्षणं चक्रतुः। बिल्हणोऽपि स्वकीये विक्रमाङ्कदेवचरिते (1.11) प्राह-

'साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।'

यद्यप्यस्मिन् श्लोके साहित्यशब्दस्य प्रयोगः वाङ्मयमात्रार्थे एवायाति। अत्र काव्यामृतस्योद्गमः साहित्य-सागरादेव संभाव्यते। काव्यमत्र साहित्यस्य सारमेवास्ति। प्रतहारेन्दु-राजेणाऽपि स्वकीय गुरोः मुकुलस्य मीमांसायास्तथा शास्त्रेषु तस्य नैणुण्यस्य श्लाघां कुर्वन् तं 'साहित्यश्रीमुरारेः' 'कथितम्।

निष्कर्षः-

अत्र स्पष्टतः साहित्यशब्दः साहित्यशास्त्राय एव प्रयुक्तोऽपि मुकुलोऽपि स्वकीय कृतेः-'पदवाक्यप्रमाणेषु वेदतत् प्रतिबिम्बितम्, यो योजयति साहित्ये तस्य वाणीं प्रसीदति' अस्याभिधावृत्तिः (पृ.-22) अपि-'व्याकरणमीमांसा-तर्क-साहित्यात्मकेषु चतुर्षु शास्त्रेषूपयोगात्।' राजशेखरोऽपिं काव्यमींमासायाम् (पृ.-5) प्रोक्तः- 'पञ्चमी साहित्यविद्येति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः।' मङ्ख्कोप्युक्तः-'विना न साहित्यविद्याऽपरत्र गुणः कथंचित् प्रथते कवीनाम्।' (श्रीकण्ठचरिते-2.12)। अनेने सिद्धो भवति यदेकतो राजशेखरो भवभूतेरवतारं किल आत्मानं घोषयति, अष्टमशतक- भवादालङ्कारिकोद्भटाद् नवमशतकजातादानन्द-वर्धनाच्चोदाहरति। अपरतः (160 मेते खीष्ट्राब्दे समाप्तायाः) शयस्तिलक चम्प्वाः कर्त्रा सोमदेवेन, धाराधिपस्य मुञ्जस्य-(174-193) कृषाश्रितेन धनञ्जयेन चायमुल्लिखितः। एतत् प्रणीतेभ्यश्चतुभ्यों नाटकीयश्च ज्ञायते यदेष कान्यकुब्जेश्वरस्य महेन्द्रपालस्याध्यात्मिकगुरुरासीत्। महेन्द्रपालकारितौ शिलालेखौ च 103 तमे 107 तमे च खीष्ट्राब्दे उत्कीर्णौ। अस्मिन् संदर्भे-ज्ञापमसीवतद् सम्पादितः 'एपिग्राफिका-इण्डिका' नामकः ग्रन्थः (1.171) द्रष्टव्यः। तस्मात् 100 मितस्य खीष्ट्रसम्वत्सरस्या-सन्नवर्त्तिनि काले राजशेखरो बभूव इत्यवधार्यते। अनेन प्रमाणितो भवति यद्राजशेख्रसमयात् किञ्चिर्त्पूकल्पदेव साहित्यशब्दस्य प्रयोगः काव्यमीमांसाशास्त्रस्यार्थे प्रयुक्तोऽभवत्। साहित्यशब्दः 'साहित्य शब्दात् सम्प्राप्तोऽस्ति। अस्मात्पूर्वकालात् कदायमर्थः रूढोऽभवत् वक्तुं न शक्यते। यदा काव्यस्य लक्षणम् 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कृतम् तदा काव्यस्य परिभाषा प्रस्तुतकर्त्तारः काव्यसमीक्षाशास्त्रस्य नाम साहित्यशास्त्रमचिन्वन्। राजशेखरस्तु साहित्यशब्दस्य व्युत्पत्तिरनेन प्रकारेण कृतवान्-'शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या' (काव्यमीमांसा पृ.-5) अनेनैव प्रकारेण व्यक्तिविवेकटीकायाम् (पृ.-36) 'न च काव्ये शास्त्रादिवदर्थ प्रतीत्यर्थशब्दमात्रं प्रयुत्यते साहित्योः शब्दार्थयोस्तत्र प्रयोगात् साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनान्यूनातिरिक्तत्वम्' लिखितमस्ति। भामहेनाऽपि 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' (1.16) कथितम्। शिशुपालवधेपि-'शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते' (2.86) एवं विधः उल्लेखः आयाति। अवितथ-काव्यरचनायै साहित्यस्य शब्दार्थे विशिष्टसौन्र्यमपेखितमस्ति। अतः काव्यशास्त्रनिमित्तक- साहित्यशब्दस्य प्रयोगः संभवतः खीष्ट्रस्य सप्तम वा अष्टम शतकोपरान्ते एवाऽभवत्।

शोध छात्र, संस्कृत साहित्य
के.एम. यूनिवर्सिटी, मथुरा

सन्दर्भ सूची

1. ऋक्.- 9/63/13
2. तैत्तिरीयोपनिकादि 11/7/1
3. का.प्र.उ.-04
4. ना.शा.पृ. 346
5. तत्रैव-7.4.
6. सा. द.- 3/29
7. दशंरू. 4,3.।
8. नाट्य. शा. पृ.-374 तथा गायक वा. सं०-1
9. ना. शा. 7.51
10. शृं. प्र.-17

निधि शर्मा

विक्रमोर्वशीयम् की उर्वशी और ओम शांति ओम की शांति प्रिया : दिव्य प्रेम का तुलनात्मक अध्ययन

सारांश

यह शोध पत्र कालिदास के संस्कृत नाटक विक्रमोर्वशीयम् की अप्सरा उर्वशी तथा फराह खान की फिल्म ओम शांति ओम (2007) की नायिका शांति प्रिया के चरित्र का तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। दोनों कथाओं में दिव्य प्रेम, पुनर्जन्म और अधूरे प्रेम की पूर्णता के विषय केंद्रीय हैं। यह अध्ययन प्राचीन संस्कृत नाट्य परंपरा और समकालीन भारतीय सिनेमा के बीच सांस्कृतिक निरंतरता को प्रमाणित करता है तथा प्रेम की कालातीत प्रासंगिकता को रेखांकित करता है।

कूट शब्द

विक्रमोर्वशीयम्, ओम शांति ओम, दिव्य प्रेम, पुनर्जन्म, भारतीय सिनेमा।

प्रस्तावना

भारतीय साहित्य और सिनेमा में प्रेम, पुनर्जन्म और नियति की अवधारणाएँ सदैव महत्त्वपूर्ण रही हैं। कालिदास द्वारा रचित विक्रमोर्वशीयम् (ईसा की चतुर्थ-पाँचवीं शताब्दी) में अप्सरा उर्वशी और राजा पुरूरवा के अलौकिक प्रेम को चित्रित किया गया है, जबकि लगभग सोलह सौ वर्ष पश्चात् फराह खान की फिल्म ओम शांति ओम (2007) में शांति प्रिया और ओम प्रकाश माखीजा की कथा उन्हीं भारतीय मूल्यों को आधुनिक संदर्भ में प्रस्तुत करती है।

भारतीय दर्शन में पुनर्जन्म की अवधारणा का गहरा स्थान है। भगवद्गीता में कहा गया है-''**वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।**''[1] यही विचारधारा दोनों कथाओं की आधारशिला है। नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने रस सिद्धांत के माध्यम से प्रेम की अनुभूति को परिभाषित किया है- ''**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।**''[2]

यह शोध पत्र दोनों नायिकाओं के चरित्र, उनके प्रेम की प्रकृति, पुनर्जन्म की भूमिका और सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व का तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। यह अध्ययन यह भी प्रमाणित करता है कि भारतीय सिनेमा किस प्रकार प्राचीन संस्कृत साहित्य के विषयों को आधुनिक दर्शकों के लिए पुनर्व्याख्यायित करता है।

विक्रमोर्वशीयम् की उर्वशी : चरित्र और प्रेम

अप्सरा का मानवीकरण - कालिदास के विक्रमोर्वशीयम् में उर्वशी इंद्र की सभा की प्रमुख अप्सरा है। नाटक के प्रथम अंक में ही उसका परिचय मिलता है जब वह पुरूरवा द्वारा दैत्यों से बचाई जाती है। कालिदास ने उर्वशी के रूप सौंदर्य का वर्णन इस प्रकार किया है-

''तामद्य दृष्ट्वा मदनोद्दामां प्रथमसुरतौ सुन्दरीं सुन्दरीणाम्।

स्मरामि तत्प्रेयसि नूनमद्य हृदि स्थितं किं नु वदामि तस्याः॥''[3]

यह श्लोक पुरूरवा की उर्वशी के प्रति प्रथम दृष्टि में ही गहन आकर्षण को व्यक्त करता है। उर्वशी भी पुरूरवा के प्रति समान भाव रखती है, परंतु दिव्य नियमों के कारण वह अपने प्रेम को स्वतंत्र रूप से व्यक्त नहीं कर पाती।

शाप और वियोग - नाटक के द्वितीय अंक में उर्वशी और पुरूरवा का प्रेम चरम पर पहुँचता है, परंतु इंद्र के कार्य में बाधा उत्पन्न होने के कारण भरत मुनि उर्वशी को शाप देते हैं-

''यावत्पुत्रमुखं तस्य न पश्यसि सुलोचने।

तावन्मर्त्यलतां प्राप्य भवितासि पुरूरवाः॥''[4]

इस शाप के अनुसार, उर्वशी को तब तक मानवी बनकर रहना होगा जब तक वह पुरूरवा के पुत्र का मुख नहीं देख लेती। यह वियोग और पुनर्मिलन का माध्यम बनता है।

दिव्य प्रेम की परिणति - नाटक के अंतिम अंक में उर्वशी और पुरूरवा का पुत्र आयुष का जन्म होता है, जिससे शाप समाप्त होता है। इंद्र स्वयं आकर उर्वशी को आशीर्वाद देते हैं-''**गच्छ देवि पुरूरवसा सह सुखं प्रतिष्ठस्व।**''[5] यह प्रेम की विजय और दिव्य स्वीकृति का प्रतीक है।

ओम शांति ओम की शांति प्रिया : आधुनिक नायिका

फिल्म का कथानक और पुनर्जन्म - फराह खान की फिल्म ओम शांति ओम (2007) में शांति प्रिया (दीपिका पादुकोण) एक सफल अभिनेत्री है जो 1970 के दशक में फिल्म उद्योग की चमक में जीती है। वह गुप्त रूप से फिल्म निर्माता मुकेश मेहरा से विवाहित है, परंतु मुकेश उसके साथ विश्वासघात करता है और उसे जीवित जला देता है।

फिल्म का केंद्रीय संवाद शांति प्रिया के चरित्र को परिभाषित करता है-''**ओम, अगर किसी चीज को दिल से चाहो तो पूरी कायनात उसे तुमसे मिलाने की कोशिश में लग जाती है।**''[6] यह संवाद न केवल फिल्म का सार है, परन्तु भारतीय दर्शन में कर्म और नियति की अवधारणा को भी व्यक्त करता है। शांति प्रिया की मृत्यु के पश्चात्, उसका प्रेमी ओम प्रकाश माखीजा (जूनियर आर्टिस्ट) भी उसी आग में मर जाता है।

पुनर्जन्म और प्रतिशोध - तीस वर्ष पश्चात्, ओम का पुनर्जन्म ओम कपूर (शाहरुख खान) के रूप में होता है—इस बार एक सफल सुपरस्टार के रूप में। उसे अपने पूर्व जन्म की धुंधली स्मृतियाँ आती हैं और वह शांति प्रिया के साथ हुए अन्याय का बदला लेने का निर्णय लेता है। फिल्म में ओम कपूर कहता है-''**मैं फिल्मों में विश्वास नहीं करता, मैं फिल्मी चीजों में विश्वास करता हूँ... और फिल्मों में अधूरी प्रेम कहानियाँ पूरी होती हैं, अगले जन्म में।**''[7] यह संवाद पुनर्जन्म की भारतीय अवधारणा का आधुनिक व्याख्यान है।

तुलनात्मक विश्लेषण

समानताएँ

1. दिव्य और अलौकिक प्रेम - उर्वशी एक अप्सरा है जो स्वर्ग की सीमाओं को लाँघकर मानव राजा से प्रेम करती है। इसी प्रकार, शांति प्रिया का प्रेम भी साधारण नहीं है—वह मृत्यु के बाद भी जीवित रहता है और पुनर्जन्म के माध्यम से पूर्ण होता है।

विक्रमोर्वशीयम् में पुरूरवा कहते हैं-''**उर्वशी मम हृदयं प्रविष्टा यथा प्राणाः शरीरे।**''[8] ओम शांति ओम में ओम कहता है-''**शांति... तुम मेरे दिल में हो, मेरी सांसों में हो।**''[9] दोनों ही कथन प्रेम की गहराई और आत्मिक संबंध को व्यक्त करते हैं।

2. बाधाएँ और वियोग - उर्वशी और पुरूरवा के बीच दिव्य नियम और शाप बाधा बनते हैं। कालिदास लिखते हैं-''**वियोगः शोकमाधत्ते हृदि दुःखस्य संभवम्।**''[10] शांति प्रिया और ओम के बीच सामाजिक स्थिति, मुकेश का धोखा और अंततः हिंसक मृत्यु बाधा बनती है। शांति प्रिया की मृत्यु के समय का दृश्य अत्यंत करुण है जहाँ वह ओम को पुकारती है-''**ओम... बचाओ मुझे!**''[11] दोनों कथाओं में वियोग का दर्द केंद्रीय भाव है।

3. पुनर्मिलन और पूर्णता - विक्रमोर्वशीयम् में शाप समाप्त होने पर उर्वशी और पुरूरवा का पुनर्मिलन होता है-''**संयोगः सुखदायकः सर्वेषां प्राणिनाम्।**''[12] ओम शांति ओम में पुनर्जन्म के माध्यम से ओम शांति प्रिया के साथ हुए अन्याय का बदला लेता है और उसकी आत्मा को शांति मिलती है। फिल्म के अंत में ओम कहता है—''**हैप्पी एंडिंग... हर कहानी का हक है।**''[13] यह भारतीय दर्शन के ''सत्यमेव जयते''[14] के सिद्धांत का प्रतिनिधित्व करता है।

भिन्नताएँ

1. कथा का माध्यम और युग - विक्रमोर्वशीयम् एक संस्कृत नाटक है जो राजदरबारों में मंचित किया जाता था, जबकि ओम शांति ओम एक बॉलीवुड फिल्म है जो लाखों दर्शकों तक पहुँची। कालिदास ने काव्यात्मक संस्कृत भाषा का प्रयोग किया-''**का त्वं कान्तासमागमरसास्वाद-लालसः।**''[15] फराह खान ने सरल हिंदी-उर्दू भाषा और आधुनिक संवाद शैली का प्रयोग किया- ''**पिक्चर अभी बाकी है मेरे दोस्त!**''[16]

2. प्रेम की प्रकृति - उर्वशी का प्रेम आध्यात्मिक और दिव्य है—वह भौतिक इच्छाओं से परे है। शांति प्रिया का प्रेम अधिक यथार्थवादी है—उसमें विवाह, सामाजिक स्वीकृति और व्यावहारिक जीवन की चिंताएँ हैं।

3. नायिका की भूमिका - उर्वशी प्रेम में त्याग करती है लेकिन सक्रिय प्रतिशोध नहीं लेती। उसका चरित्र अधिक निष्क्रिय और दिव्य नियमों के अधीन है। शांति प्रिया की आत्मा (प्रतीकात्मक रूप में) ओम को मार्गदर्शन देती है और

न्याय पाने में सहायक होती है-''**तुम भूल गए पर मैं नहीं भूली... तुम्हें याद दिलाऊँगी।**''[17] (फिल्म का आध्यात्मिक दृश्य)

पुनर्जन्म की अवधारणा : दार्शनिक विश्लेषण

प्राचीन भारतीय दर्शन - भारतीय दर्शन में कर्म सिद्धांत और पुनर्जन्म की अवधारणा का गहरा स्थान है। कठोपनिषद में कहा गया है-''**न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।**''[18] विक्रमोर्वशीयम् में यद्यपि प्रत्यक्ष पुनर्जन्म नहीं है, परंतु शाप और उसकी समाप्ति एक प्रकार का पुनर्जन्म ही है—उर्वशी अप्सरा से मानवी बनती है और पुन: अपनी दिव्य स्थिति प्राप्त करती है।

आधुनिक व्याख्या - ओम शांति ओम पुनर्जन्म को प्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत करती है। उदाहरण के लिए, ''**अजब सी**'' गीत जो प्रेम और याद को व्यक्त करता है-''**आँखों में तेरी अजब सी, अजब सी अदायें हैं...**'' या ''**मैं आगर कहूँ**'' जो प्रेम की अभिव्यक्ति करता है। यह गीत उर्वशी और पुरूरवा के संवाद की याद दिलाता है-''**त्वं मम प्राणेभ्योऽपि प्रियतमा।**''[19]

सांस्कृतिक निरंतरता और साहित्यिक महत्त्व

परंपरा से आधुनिकता तक - कालिदास ने विक्रमोर्वशीयम् में जिन विषयों को उठाया—प्रेम, त्याग, शाप, वियोग और पुनर्मिलन—वे आज भी भारतीय सिनेमा के प्रमुख विषय हैं। ओम शांति ओम इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन संस्कृत साहित्य के तत्व आधुनिक मनोरंजन में भी जीवित हैं।

लोकप्रिय संस्कृति में प्राचीन मूल्य - फिल्म में ओम कहता है- ''**जिन्दगी में तीन चीजें कभी कम नहीं होनी चाहिए... फिल्में, संगीत और प्यार।**''[20] यह कालिदास के इस कथन की आधुनिक व्याख्या है-''**प्रेम्णस्तु महत्त्वं विरहेऽपि दृष्टं यन्मन्मथो नाम जिगाय लोकम्।**''[21]

निष्कर्ष

विक्रमोर्वशीयम् की उर्वशी और ओम शांति ओम की शांति प्रिया—दोनों नायिकाएँ प्रेम की दिव्यता, त्याग की महानता और पुनर्जन्म की अवधारणा को अपने-अपने युग के अनुसार प्रस्तुत करती हैं। उर्वशी प्राचीन भारतीय काव्य परंपरा की प्रतिनिधि है, जबकि शांति प्रिया आधुनिक भारतीय सिनेमा में उन्हीं मूल्यों का प्रतिबिम्ब है। यह तुलनात्मक अध्ययन स्पष्ट करता है कि भारतीय साहित्य और सिनेमा में प्रेम, पुनर्जन्म और नियति के विषय कालातीत हैं। कालिदास की रचना लगभग सोलह सौ वर्ष पश्चात् भी उतनी ही प्रासंगिक है। ओम शांति ओम जैसी फिल्में इन प्राचीन मूल्यों को आधुनिक दर्शकों तक पहुँचाने का माध्यम बनती हैं। अंतत:, दोनों कथाएँ यह संदेश देती हैं कि सच्चा प्रेम मृत्यु, समय और स्थान की सीमाओं से परे है।

शोधकर्त्री
संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली -110007
Email : nidhisharma2107@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. भगवद्गीता, अध्याय 2, श्लोक 22
2. नाट्यशास्त्र, अध्याय 6, श्लोक 31
3. विक्रमोर्वशीयम् 1/9
4. विक्रमोर्वशीयम् 2/18
5. विक्रमोर्वशीयम् 5/22
6. ओम शांति ओम (फिल्म), 00:45:30-00:45:50.
7. ओम शांति ओम (फिल्म), 01:28:10-01:28:35.
8. विक्रमोर्वशीयम् 1/12
9. ओम शांति ओम (फिल्म), 01:45:20-01:45:35.
10. विक्रमोर्वशीयम् 3/7
11. ओम शांति ओम (फिल्म), 02:05:15-02:05:25.
12. विक्रमोर्वशीयम् 5/19
13. ओम शांति ओम (फिल्म), 2007, 02:28:40-02:28:55.
14. मुण्डकोपनिषद्, 3.1.6
15. विक्रमोर्वशीयम् 1/15
16. ओम शांति ओम (फिल्म), 01:50:10-01:50:20.
17. ओम शांति ओम (फिल्म), 02:10:05-02:10:20.
18. कठोपनिषद्, 1.2.18
19. विक्रमोर्वशीयम् 2/14
20. ओम शांति ओम (फिल्म), 01:12:45-01:13:05.
21. विक्रमोर्वशीयम् 4/14

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. कालिदास. विक्रमोर्वशीयम्. सम्पा. डॉ. रामसागर त्रिपाठी. वाराणसी : चौखम्भा संस्कृत सीरीज, 2018.

2. कठोपनिषद्. सम्पा. स्वामी गंभीरानन्द. कोलकाता : अद्वैत आश्रम, 2005.
3. जोशी, प्रहलाद चंद्र. बॉलीवुड और भारतीय संस्कृति. नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन, 2015.
4. द्विवेदी, हजारीप्रसाद. कालिदास की लालित्य योजना. दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2008.
5. त्रिपाठी, गोविंद. कालिदास : एक अध्ययन. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 2012.
6. भरतमुनि. नाट्यशास्त्र. सम्पा. माणिकचन्द्र वाजपेयी. वाराणसी : चौखम्भा संस्कृत सीरीज, 1992.
7. भगवद्गीता. सम्पा. स्वामी रामसुखदास. गोरखपुर : गीता प्रेस, 2010.
8. Bhatt, G. H. Studies in Sanskrit Drama and Kalidasa. Delhi: Nag Publishers, 2015.
9. Deodhar, C. R. The Plays of Kalidasa: With Critical Introductions and Notes. Delhi: Bharatiya Vidya Prakashan, 2007.
10. Khan, Farah, dir. Om Shanti Om [Film]. Red Chillies Entertainment, 2007.
11. Rajadhyaksha, Ashish, and Paul Willemen- Encyclopedia of Indian Cinema. London: British Film Institute, 1999.

शोध-पत्र

भक्तिकाल और यूटोपिया

आदित्य चतुर्वेदी

प्रस्तावना

साहित्य का अस्तित्व समाज से अलग नहीं होता, इसलिए साहित्य का विकास समाज के विकास से कटा हुआ नहीं हो सकता। साहित्यकार की रचनाशील चेतना उसके सामाजिक अस्तित्व से निर्मित होती है। आचार्य शुक्ल जी का कथन *''प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता के चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक सामाजिक सांप्रदायिक परिस्थिति के अनुसार होती है,''* इस कथन को भक्तिकालीन साहित्य और पुख्ता करता है। अपनी पुस्तक परंपरा का मूल्यांकन में रामविलास शर्मा जी कहते हैं-*''भक्ति कालीन साहित्य की सामाजिक विषय वस्तु का यह ऐतिहासिक महत्व है कि वह जीवन की स्वीकृति का साहित्य है उसमें जनता का हास और उल्लास है, जनता का क्रोध और आवेश है, एक सुखी समाज की आकांक्षा है। उसमें अन्याय का सक्रिय विरोध करने वाले वीरों का चित्र है। इस विषय वस्तु ने दुख के दिनों में जनता का मनोबल कायम रखा, जीवन में उसकी आस्था बने रहने दी।''*

हिंदी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल वह युग है जिसने भक्ति को केवल आध्यात्मिक साधना नहीं, बल्कि सामाजिक चेतना और मानवीय मूल्यों के पुनरुत्थान के रूप में प्रस्तुत किया। 14वीं से 17वीं शताब्दी तक फैला यह काल सामाजिक विघटन, जातिगत विभाजन, राजनीतिक अस्थिरता और धार्मिक कठोरताओं के बीच मानवता के लिए नई दिशा खोजने का युग था। भक्ति काल के कवियों का रिश्ता समाज से बहुत मजबूत था। भक्ति काव्य एक सांस्कृतिक-लोकजागरण आंदोलन की उपज थी, उनका लक्ष्य अपनी जमीन को, अपने समाज को बेहतर बनाने की थी। साधारण मानव जीवन कभी भी उनकी आंखों से ओझल नहीं हुआ। इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में भक्त कवियों ने अपने काव्य के माध्यम से एक ऐसे समाज की कल्पना की, जहाँ मनुष्य मनुष्य के बीच कोई भेद न हो, प्रेम सर्वोच्च मूल्य हो और ईश्वर की प्राप्ति बाहरी आडंबरों के बजाय भीतर की पवित्रता से सम्भव हो। उन्होंने गृहस्थाश्रम को त्यागने की राय कभी नहीं दी। उन्होंने घोषणा किया कि- *मानुष प्रेम भयऊ बैकुंठी। नाही त काह छार एक मुट्ठी।* उन्होंने मानवीय पीड़ा से खुद को एकाकार किया और रामराज्य, बेगमपुरा, अमरपुर जैसा समाज का यूटोपिया गढ़ा। उनका काव्य मानवीय सरोकारों से अनुप्राणित है। यही कल्पना ''उत्तम लोक'' या यूटोपिया के विचार से गहराई से जुड़ती है।

यूटोपिया का अर्थ है—एक आदर्श, कल्पित, श्रेष्ठ समाज, जहाँ सभी मनुष्य समान हों, न्याय की स्थापना हो, और जीवन में प्रेम, शांति व सद्भाव के मूल्य सर्वोपरि हों। यह विचार भले ही पश्चिमी दार्शनिक परंपरा में ''थॉमस मोर'' द्वारा रचित Utopia ग्रंथ से चर्चित हुआ, परंतु इसके मूल तत्त्व भारतीय साहित्य और विशेष रूप से भक्तिकालीन काव्य में कहीं अधिक गहराई से मिलते हैं। भक्त कवियों ने अपने-अपने तरीके से ऐसा समाज रचने की कल्पना की जो बाहरी जटिलताओं से मुक्त, भीतरी पवित्रता पर आधारित और मानव प्रेम पर टिका हो।

'यूटोपिया' यह शब्द प्राचीन ग्रीक से आया है और इसका मतलब है ''एक जगह जो मौजूद नहीं है'' (यू टॉपोस)। ''यूटोपिया'' ग्रीक उपसर्ग ''ou-'' (OU), जिसका अर्थ है ''नहीं'', और टोपोस (osOς), ''जगह'', प्रत्यय -आईए

(-(α) से लिया गया है जो विशिष्ट है toponyms के; नाम का शाब्दिक अर्थ है–''कहीं नहीं'', इसकी काल्पनिकता पर बल देना। प्रारंभिक आधुनिक अंग्रेजी में, यूटोपिया को ''यूटोपी'' कहा गया था। यूटोपिया एक आदर्श समुदाय या समाज के लिए एक नाम है जो कि 1516 में सर थॉमस मोर द्वारा लिखी गयी पुस्तक ऑफ द बैस्ट स्टेट ऑफ ए रिपब्लिक एण्ड ऑफ द न्यू आइलैण्ड से लिया गया है जिसमें अटलांटिक महासागर के एक काल्पनिक द्वीप समाज का चित्रण अपने धार्मिक, और सामाजिक और राजनीतिक रीति-रिवाज। यूटोपिया के मोरे के विवरण के कई पहलू मठों में जीवन की याद दिलाते हैं। कल्पनादर्श (यूटोपिया) एक ऐसे समाज की कल्पना है जो इतना आदर्श है कि उसका साकार होना लगभग असंभव होता है। यूटोपिया पर कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत इस प्रकार है-

ऑस्कर वाइल्ड के अनुसार, *''दुनिया का एक नक्शा जिसमें यूटोपिया शामिल नहीं है, यहां तक कि इस पर नजर रखने लायक भी नहीं है, क्योंकि यह एक ऐसे देश को छोड़ता है जिस पर मानवता हमेशा उतर रही है। और जब मानवता वहाँ उतरती है, तो यह बाहर दिखता है, और एक बेहतर देश को देखते हुए, सेट करता है। पाल। प्रगति को यूटोपिया की प्राप्ति है।''*

लुकास पर्निजी के अनुसार, *''अधिकांश शब्दकोश यूटोपिया को आदर्श कश्चमनवेल्थ के साथ जोड़ते हैं, जिसे वे एक आदर्श समाज में एक आदर्श जीवन के अनुभवजन्य अहसास के रूप में चित्रित करते हैं। यूटोपिया, विशेष रूप से सामाजिक यूटोपिया, सामाजिक न्याय के विचार से जुड़े होते हैं।''* दार्शनिक **रिचर्ड स्टेल** लिखते हैं *''... हर सामाजिक संस्था किसी ऐसी चीज पर निर्भर करता है जो साकार या व्यवहार्य नहीं है, लेकिन आदर्श है जो कहीं क्षितिज से परे है,''* **सर टामस मोर** का यूटोपिया इतना लोकप्रिय हुआ कि उसी समय से यह दुनिया भर में एक आदर्श कल्पना के लिए रूढ़ हो गया। मोर का निष्कर्ष था कि सभी सरकारें धनिकों का षड्यंत्र हैं, जो जनहित के नाम पर धनिकों के लिए काम करती हैं।

रैदास के 'बेगमपुर' कबीर के अमरपुर, तुलसी के रामराज्य और जायसी के सिंहलद्वीप की कल्पना केवल कुछ पंक्तियों की एक कविता है, जिसमें बेगमपुर देश के बाशिंदे उसी तरह दु:ख से रहित हैं; जिस तरह यूटोपिया द्वीप के रहने वाले। अगर यूटोपिया इंग्लैंड की सामंतवादी व्यवस्था की प्रतिक्रिया में लिखा गया थाय तो 'बेगमपुर', 'अमरपुर', 'रामराज्य','सिंहलद्वीप', सल्तनत काल की क्रूर राज्य-व्यवस्था के प्रतिरोध में उपजी कविता है। इनमें न कोई चिंता है, और न कोई घबराहट। यह दर्शाता है कि सुल्तान के शासन में जनसामान्य को कितनी चिंताएं थीं, और भय तो हर वक्त बना रहता था; कि पता नहीं कब कोई किस अपराध में पकड़ लिया जाए। बेगमपुर में किसी तरह का कर नहीं देना पड़ता था पर, सुल्तान के राज्य में कर देना पड़ता था। सबसे बड़ा कर 'जजिया' था; जो गैर-मुसलमानों को देना पड़ता था। एफ.ई. की ने लिखा है कि गैर-मुसलमानों, खासतौर से गरीब और कम पढ़े-लिखे हिंदुओं पर जजिया कर का खौफ इतना ज्यादा था कि वे इससे बचने के लिए मुसलमान बनने के प्रलोभन से भी बच नहीं सकते थे। और कहना न होगा कि बहुत से गरीब हिंदू जजिया से बचने के लिए मुसलमान बनकर अच्छी स्थिति को प्राप्त हो गए थे।

पूर्व मध्यकाल परिचय व बोध - हिंदी साहित्य के इतिहास में मध्यकालीन बोध से अभिप्राय मोटे तौर पर 14वीं सदी से 18वीं सदी के भारत के हिंदी प्रदेशों में मौजूद सामाजिक समझ से है। यह हिंदी साहित्य के दो महत्वपूर्ण कालखंडों भक्तिकाल एवं रीतिकाल से संबंधित है। मध्यकालीन बोध की सबसे प्रमुख विशेषता धर्म की प्रधानता है। लोगों के सोचने का तरीका मुख्यत: भावनामय पारलौकिक दृष्टि पर आधारित था। लोग जीवन और इस सृष्टि को नाशवान, निस्सार और माया मानते थें। अपने जीवन का चरम लक्ष्य वे मोक्ष प्राप्ति को मानते थे। कबीर लिखते हैं कि-

''रहना नहीं देश विराना है।

★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★

यह संसार झाड़ और झाँखड़ आग लगे जरी जाना है।...''

मध्यकालीन युग धर्म के साथ आस्था, विश्वास और श्रद्धा महत्वपूर्ण था। मध्ययुग में रहस्य-रोमांच और जादू, तंत्र-मंत्र और काल्पनिक आख्यानों व गाथाओं को विशेष स्थान प्राप्त था।

पूर्व मध्यकाल के प्रमुख कवियों का यूटोपिया -

भक्ति काल में महाकवि तुलसी दास की तरह लगभग सभी कवि दार्शनिक और समाज सुधारक जैसे-कबीरदास और रैदास, जायसी, सूरदास आदि ने भी अपने समय के विसंगतियों कुरीतियों और सामाजिक विद्रूपताओं से खिन्न

होकर आदर्श राज्य की कल्पना की। जिस तरह तुलसीदास ने रामराज्य की कल्पना की, उसी तरह रविदास जी ने बेगमपुरा और कबीरदास जी ने अमरपुर, सूरदास ने वृंदावन तथा जायसी ने सिंहलद्वीप नामक आदर्श राज्य की कल्पना की।

कुलदीप कुमार आउटलुक पत्रिका में लिखते हैं, किशोर कुमार, जिनकी मृत्यु को सत्यजित राय ने "एक जीनियस की मृत्यु'' कहा था, ने 1964 में एक फिल्म बनाई थी जिसका नाम था 'दूर गगन की छांव में'। इसमें सब कुछ उनका था- कहानी, पटकथा, गीत, गायन, संगीत निर्देशन, अभिनय और निर्देशन। यह एक संवेदनशील व्यक्ति के यूटोपिया के बारे में फिल्म थी, जिसका यह गीत आज भी लोगों की जुबान पर है : "आ चल के तुझे मैं ले के चलूं एक ऐसे गगन के तले, जहां गम भी न हो, आंसू भी न हो, बस प्यार ही प्यार पले।'' शायद बहुत लोग न जानते हों कि एक ऐसे स्थान या नगर की खोज का यह सिलसिला बहुत पुराना है जहां कोई दुख या गम न हो, और इस खोज की कड़ी पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदी के संत कवि रैदास से जुड़ती है, जिन्होंने बेगमपुरा की कल्पना की थी।

रैदास जिस आध्यात्मिक संरचना की कल्पना कर रहे थे वहां सबकी मुक्ति के लिए जगह थी। वह बस इतना चाहते थे कि सभी एक साथ रहे सबको पेट भर भोजन मिले, उनमें सद्भाव रहे और सब प्रसन्न रहे-

ऐसा चाहूं राज में जहां मिले सबन को अन्न।
छोटे-बड़े सब सम बसे, रैदास रहे प्रसन्न॥

संत रैदास का आदर्श देश बेगमपुर है, जिसमें ऊंच-नीच, अमीर-गरीब और छूतछात का भेद नहीं है। जहां कोई टैक्स देना नहीं पड़ता है; जहां कोई संपत्ति का मालिक नहीं है। कोई अन्याय, कोई चिंता, कोई आतंक और कोई यातना नहीं है। तुलसी की तरह रैदास कहते हैं कि सभी जीव ईश्वर के अंश है। इनके यहाँ कोई बड़ा या छोटा नहीं है, चारों ओर खुशहाली है, यहां आकर व्यक्ति जैसा कर्म करता है उसको वैसी ही पहचान मिलती है। ऐसा आदर्श समाज रविदास के अनुसार बेगमपुरा (जहां कोई गम ना हो) है, जिसकी रूपरेखा रविदास जी ऐसे देते हैं;

बेगमपुरा सहर को नाउ,
दुखु-अंदोहु नहीं तिहि ठाउ।
ना तसवीस खिराजु न मालु,
खउफु न खता न तरसु जुवालु।
अब मोहि खूब बतन गह पाई,
ऊहां खैरि सदा मेरे भाई।
काइमु-दाइमु सदा पातिसाही,
दोम न सोम एक सो आही।
आबादानु सदा मसहूर,
ऊहाँ गनी बसहि मामूर।
तिउ तिउ सैल करहिजिउ भावै,
महरम महल न को अटकावै।
कह 'रविदास' खलास चमारा,
जो हम सहरी सु मीतु हमारा।

रैदास साहेब अपने शिष्यों से कहते हैं-'ऐ मेरे भाइयो! मैंने ऐसा घर खोज लिया है यानी उस व्यवस्था को पा लिया है, जो हालांकि अभी दूर है; पर उसमें सब कुछ न्यायोचित है। उसमें कोई भी दूसरे तीसरे दर्जे का नागरिक नहीं है; बल्कि, सब एक समान हैं। वह देश सदा आबाद रहता है। वहां लोग अपनी इच्छा से जहां चाहें जाते हैं। जो चाहे कर्म (व्यवसाय) करते हैं। उन पर जाति, धर्म या रंग के आधार पर कोई प्रतिबंध नहीं है। उस देश में महल (सामंत) किसी के भी विकास में बाधा नहीं डालते हैं। रैदास कहते हैं कि 'जो भी हमारे इस बेगमपुरा के विचार का समर्थक है, वही हमारा मित्र है।'

इस पद में रैदास साहेब ने अपने समय की व्यवस्था से मुक्ति की तलाश करते हुए जिस दु:ख विहीन समाज की कल्पना की है, उसी का नाम बेगमपुरा या बेगमपुर शहर है। रैदास साहेब इस पद के द्वारा बताना चाहते हैं कि उनका आदर्श देश बेगमपुर है, जिसमें ऊंच-नीच, अमीर-गरीब और छूतछात का भेद नहीं है। जहां कोई टैक्स देना नहीं पड़ता है; जहां कोई संपत्ति का मालिक नहीं है। कोई अन्याय, कोई चिंता, कोई आतंक और कोई यातना नहीं है। रैदास साहेब अपने शिष्यों से कहते हैं-'ऐ मेरे भाइयो! मैंने ऐसा घर खोज लिया है यानी उस व्यवस्था को पा लिया है, जो हालांकि अभी दूर है; पर उसमें सब कुछ न्यायोचित है। उसमें कोई भी दूसरे तीसरे दर्जे का नागरिक नहीं है; बल्कि, सब एक समान हैं। वह देश सदा आबाद रहता है। वहां लोग अपनी इच्छा से जहां चाहें जाते हैं। जो चाहे कर्म (व्यवसाय) करते हैं। उन पर जाति, धर्म या रंग के आधार पर कोई प्रतिबंध नहीं है। उस देश में महल (सामंत) किसी के भी विकास में बाधा नहीं डालते हैं। रैदास चमार कहते हैं कि जो भी हमारे इस बेगमपुरा के विचार का समर्थक है, वही हमारा मित्र है।

कबीरदास जी भी समाज की विसंगतियों और भेदभाव से दुखी हैं। अत: वो भी एक ऐसे आदर्श राज्य की कल्पना करते हैं जहाँ हर व्यक्ति सुखी हैं, किसी को किसी भी प्रकार का दु:ख नहीं है। वे कहते हैं की इस राज्य में जिंदा मरे हुये के सामान है। वे विमान में बैठकर अमरपुर जाना चाहते हैं -

बैठि बिमान अमरपुर जावै जहँ अति सुख की खानी जी ॥38 ॥

जियते में मरि जाय यहाँ पर सो पावै यह जानी जी ॥39 ॥

कबीरदास जी अपने अमरपुर को कुछ जगह बेगमपुर भी कहते हैं। उनके यहां किसी को मनाही नहीं है वे राजा, रंक, फकीर, बादशाह सभी को अपने देश में बुलाते हैं और कहते हैं कि अगर इस संसार से मुक्ति लेकर परमपद प्राप्त करना है तो मेरे साथ आइये। वे अपने देश में धर्म के विषय में कहते हैं कि यहां कोई धर्म नहीं है, यहां सिर्फ सत्य धर्म है।

अवधू बेगम देस हमारा
राजा रंक फिकीर बादसा सब से कहौं पुकारा
जो तुम चाहो परम पद को बसिहो देस हमारा
जो तुम आये झीने हो के तजो मना की भारा
ऐसी रहन रहो रे प्यारे सहजै उतर जीवो पारा
धरन-अकास गगन कछु नहीं चंद नहि तारा
सत्त धर्म की है महताबें साहेब के दरबारा
कहैं 'कबीर' सुनो हो प्यारे सत्त-धर्म है सारा ॥

कबीर अपने साजन से अमरपुर बाजार ले चलने को कहते हैं, वे कहते हैं कि यहां के गलियों में बहुत भीड़ है लेकिन सबसे लड़कर मुझे आगे जाना ही है इस भीड़ में ज्ञानरूपी ठोकर लगने से मेरी मेरी ज्ञानरूपी आंखें खुल गयी हैं। वे कहते हैं कि अमरपुर में संतों का निवास है और जहां संतों का निवास है वहीं अपना अमरपुर है।

अमरपुर ले चलो सजना।
अमरपुरी में खुली है बजरिया, सौदा तो कर चलना।
अमरपुरी की भीड़ी-2 गलियां, लड़भीड़ के चलना ॥
ठोकर लगी मेरे ज्ञान शब्द की, खुल गई झपना।
अमरपुरी में सन्त बसत हैं, वहीं पुरुष अपना ॥
सन्त समाज सभा जहां बैठी, दर्शन कर चलना।
कह कमाली कबीरा थारी बाली, सन्त नाम जपना ॥

कबीर का अमरपुर और जायसी के अमरपुर में मुझे बहुत कम फसल दिखाई देता है अगर इसका सरलीकरण करके निष्कर्षों पर जाएं तो हमे प्राप्त होता है कि दोनों का आदर्श कल्पना एक ही है दोनों ही इस समाज मे सत्य को स्थापित कर भेदभाव और छुआ-छूत रहित समाज का स्वप्न देखते हैं।

बहुत से आलोचकों ने सुरदास जी के वृंदावन वर्णन और गोचारण संदर्भ को भी एक यूटोपिया कहा है। मैनेजर पाण्डेय सूरदास के काव्य में मौजूद गोचारण को जब, उस दौर की सामाजिकता के सार की तरह देखते हैं और उसे एक यूटोपिये की तरह व्याख्यायित करते हैं, तो उनके अनुसार ''कृषि और व्यापार की व्यवस्थाओं से उपजी जटिलताओं से निकलकर प्रकृति के स्वच्छंद वातावरण में विचरने की मानवीय आकांक्षा की अभिव्यक्ति का एक माध्यम है गोचारण-काव्य.'' रमेशकुन्तल मेघ ने भी सूर के गोचारण संदर्भ की व्याख्या को एक यूटोपिया के नजरिए से देखते हैं—

भक्ति साहित्य के सूफी कवि भी आदर्श कल्पित समाज की रचना करने में पीछे नहीं रहे हैं। पद्मावत में जायसी का सिंहलद्वीप वर्णन इसका उदाहरण हैं। वे जिस तरह से सिंहलद्वीप का वर्णन करते हैं वैसा राज्य, साम्राज्य सिर्फ कल्पना में ही हो सकता है। वे सिंहलद्वीप का वर्णन इन विशेषताओं से करते हैं-

पथिक जो पहुँचौ सहि कै घामू।
दुख बिसरै, सुख होइ बिसरामू ॥
जेइ वह पाई छाँह अनूपा।
फिरि नहिं आइ सहै यह धूपा ॥

जो पथिक धूप और गर्मी सहकर यहाँ तक पहुँच जाता है, वह अपने सारे कष्ट भूलकर सुख और आराम पा जाता है। जो भी इस अनुपम छाया का अनुभव कर लेता है, वह फिर धूप के कष्ट नहीं सहता।

उलथहिं सीफ, मोति उतरहीं।
चुगहिं हंस औ केलि करहीं ॥

सीपों के उलट जाने से मोती निकलकर इस मानसरोवर में तैर रहे हैं, जिन्हें चुगते हुए हंस क्रीड़ा कर रहे हैं।

पैग पैग पर कुआँ बावरी। साजी बैठक और पाँवरी ॥
और कुंड बहु ठावहिं ठाऊँ।
औ सब तीरथ तिन्ह के नाऊँ ॥
मठ मंडप चहुँ पास सँवारे।
तपा जपा सब आसन मारे ॥
कोइ सु ऋषीसुर, कोइ संन्यासी।
कोई रामजती बिसवासी ॥
कोई ब्रह्मचार पथ लागे।

कोइ सो दिगंबर बिचरहिं नाँगे॥
कोई सु महेसुर जंगम जती।
कोइ एक परखै देबी सती॥
कोई सुरसती कोई जोगी।
निरास पथ बैठ बियोगी॥

यहाँ कदम-कदम पर कुएँ बावड़ियाँ बनी हुई हैं। उनके चारों ओर बैठने के लिए चबूतरे और उनमें चढ़ने-उतरने के लिए सीढ़ियाँ भी बनी हुई हैं। जगह-जगह जलाशय बने हुए हैं, ये सब और इनके नाम भी तीर्थों के समान हैं। चारों ओर मठ और मंडप शोभा दे रहे हैं, जहाँ जप-तप करने वाले आसन लगा कर बैठे हैं। इनमें कोई ऋषीश्वर है तो कोई संन्यासी। कोई राम की भक्ति पर विश्वास करने वाला है, कोई ब्रह्मचर्य धारण किये हुए है। तो कोई दिगंबर साधुओं की तरह नग्न बैठा है, कोई महेश्वर शिव का साधक है तो कोई देवी सती की भक्ति कर रहा है। कोई सरस्वती की साधना कर रहा है तो कोई सबसे निराश होकर योगी बन गया है।

जब हम आदर्श राज्य के कल्पना या यूटोपिया की बात करते हैं तो महाकवि तुलसी दास को किस तरह नजरअंदाज किया जा सकता है। तुलसी का रामराज्य एक ऐसा आदर्श राज्य है जहां किसी को किसी भी प्रकार का कोई कष्ट नहीं है जैसा राज्य अन्यत्र न ही है और न ही संभव है।

दैहिक दैविक भौतिक तापा।
राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥

किसी की भी मृत्यु कम उम्र में रोग, दुख, दर्द से नहीं होती है। सभी सुंदर हृष्ट पुष्ट हैं। कोई भी अज्ञानी और गुणरहित नहीं है अर्थात् सभी विद्वान और गुणयुक्त हैं।

अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा।
सब सुंदर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना।
नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥

रामचंद्र के राज्य में इतना अनुशासन है कि बादल भी आवश्यकता से अधिक वर्षा नहीं करते हैं। धूप भी उतनी ही निकलती है जितनी जरूरत है अर्थात् प्रकृति भी नियंत्रण में है-

बिधु महि पूर मयूखन्हि रबि तप जेतनेहि काज।
मागें बारिद देहिं जल रामचंद्र कें राज॥

महाकवि तुलसी ने अपने रामराज्य में राजधर्म, राजकर्तव्य, सामाजिक निर्वहन, सामाजिक रिश्ते, संत असंत की व्याख्या व कर्तव्य का पूरा आदर्श प्रस्तुत किया है।

तुलसी के रामराज्य और रैदास के बेगमपुरा तथा कबीर के अमरपुर राज्य की तुलना सर टामस मोर (1478-1535) की महत्वपूर्ण कृति 'यूटोपिया' से की जा सकती है; जो साम्यवादी काल्पनिक चिंतन पर आधारित है। यह कृति 'प्लेटो' की परंपरा का नवीकरण करते हुए स्वयं 16वीं सदी के पश्चात् साम्यवादी कल्पनालोकों के सृजन में प्रेरणा का स्रोत बन गई। 'यूटोपिया' एक काल्पनिक द्वीप है, जिसका वर्णन एक पुर्तगाली यात्री रैफेल हिथलोडे प्रमुख पात्र के रूप में करता है। वह इंग्लैंड और पश्चिमी यूरोप में प्रचलित सामंती समाज के व्यवस्थागत दोषों की आलोचना करता है और यूटोपिया द्वीप की आदर्श साम्यवादी प्रणाली की प्रशंसा करता है।

जायसी का आदर्श राज्य पूर्णत: काल्पनिक लगता है। मैनेजर पांडेय जी कहते हैं, ''जायसी का 'सिंहलद्वीप' और तुलसी का 'रामराज्य' कल्पना लोक ही है। सूर का वृंदावन जायसी के सिंहलद्वीप और तुलसी के रामराज्य की तुलना में उस काल के सामंती समाज की सीमाओं से अधिक स्वतंत्र है।'' लेकिन मेरा मानना है कि तुलसी के रामराज्य में भले ही सामंती सीमाओं से बंधा है लेकिन अपने विचारों में फिर भी वह स्वतंत्र दिखाई देता है और आम जनमानस के हक की बात करता है।

कबीर जब इस दुनिया को ससुराल और उस दुनियां को 'बाबुल का देस' कहते हैं या रैदास जिसे इस दुनियां की ऊंच-नीच, भेदभाव और अन्यायपूर्ण स्थितियों से मुक्त 'बेगमपुरा' कहते हैं, तो वे जिस तरह के यूटोपिये का निर्माण करते हैं, वह आमूलचूल परिवर्तन लाने वाला प्रतीत होने की वजह से कहीं अधिक क्रांतिकारी और प्रगतिशील मालूम होता है। कबीर ऐसे समाज की रचना करते हैं जिसमें न हिंदू मुसलमान का भेद है, न मूर्ति इबादत की सीमाएँ। उनका ''निर्गुण राम'' मनुष्य की अंत:चेतना में बसता है, और सामाजिक असमानताओं को नकारता है। यह एक ऐसा यूटोपियन समाज है जहाँ सबकी समान भागीदारी है, कोई जाति-मजहब नहीं, केवल 'साहिब' और उसकी सृष्टि।

आज हम तुलसी के रामराज्य की जिस हकीकत को बेपरदा होता देख रहे हैं, वह इस बात को साबित करने के लिये पर्याप्त है, कि भक्तिकाल के एक लंबे कालखंड की रचनाशीलता के बदलते रूपों को एक ही लाठी से हांकना कितना भ्रामक हो सकता है? तुलसीदास के यहाँ भी रामराज्य

का चित्रण एक यूटोपिया का ही रूप है जहाँ न दुख है, न रोग, न वैमनस्य; सब परस्पर प्रेम में बँधे हुए हैं और न्याय का शासन है। अत: हमें इस आदर्श समाज की अवधारणा को समझने की जरूरत है। महात्मा गांधी ने जिस तरह रामराज्य को आधार मानकर सुराज या स्वराज्य की अवधारणा दी वह हमें इस यूटोपिया या आदर्श कल्पना लोक से संभव तत्वों को लेकर चलने की प्रेरणा भी देता है।

निष्कर्ष

इस तरह भक्तिकालीन साहित्य केवल धार्मिक अनुभवों का संग्रह नहीं, बल्कि एक ऐसी सांस्कृतिक परियोजना है जो समाज को सुधारने, उन्नत करने और उसे प्रेममय बनाने की कल्पना करती है। यह युग मनुष्य के भीतरी परिवर्तन के माध्यम से एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था की निर्मिति का स्वप्न देखता है। भक्त कवियों के यहाँ यूटोपिया केवल कल्पना नहीं, बल्कि आचरण का आग्रह भी है; वे बताते हैं कि आदर्श समाज भीतर की शुद्धि, प्रेम, समानता और सहिष्णुता के मूल्य अपनाने से ही संभव है। अत: भक्तिकाल और यूटोपिया का संबंध अत्यंत सहज और गहरा है। जहाँ यूटोपिया एक आदर्श समाज की कल्पना है, वहीं भक्तिकाल उस कल्पना को आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक धरातल पर साकार करने का प्रयास है। भक्त साहित्य में गूँजती समानता, प्रेम और मानवीय गरिमा की वाणी इस यूटोपियन दृष्टि का ही विस्तार है, जो आज भी समाज के लिए प्रेरक बनी हुई है।

भक्तिकालीन साहित्य का सामाजिक सरोकार जितना व्यापक था उतना गहरा भी। इसने मानव मात्र की समानता की भावना की उद्घोषणा की, जीवन जगत से खुद को गहराई से जुड़ा। भक्तिकालीन साहित्य शोषण से त्रस्त जनता की इस आकांक्षा को प्रकट करता है, कि ऐसे समाज का निर्माण हो जहां ऊंच-नीच का भेद ना हो, जिसमें सताने वाले राजा ना हो, धर्म के ठेकेदार ना हो, समाज का आधार प्रेम हो, जहां लोग रोग, अकाल से ना मरे जहां लिंगगत भेद ना हो। कोई भी काव्य, जो अपने समय की सीमाओं को लांघ कर परवर्ती कालों के लिये विवेचनीय बना रहता है, उसे तत्कालीन सामाजिक अंतर्वस्तु से संबद्ध ऐसे जीवनानुभवों की उपज माना जाना चाहिये, जो किसी भिन्न अर्थ बोध के कारण भिन्न हालात में भी पाठक को संवेदित कर पाते हैं। ऐसे में सवाल उठता है कि किसी काव्य की तत्कालीन सामाजिक अंतर्वस्तु का अध्ययन हमें किस नजरिये से करना चाहिये? भक्ति साहित्य के कवियों के आदर्शलोक को समझने के लिए हमें इस बात का ध्यान रखना पड़ता है।

बेहतर और वैकल्पिक समाज का स्वप्न भक्ति साहित्य के मूल में है। यह स्वप्न कितना सुंदर और भव्य है, इसे वही समझ सकता है जो बेहतर और वैकल्पिक समाज रचना का आकांक्षी है। भेदभाव रहित समाज का स्वप्न देखने वाले कवियों के लिए दुख-दैन्य दुनिया की सबसे बड़ी कुरूपता है। इसे अस्वीकार कर वे सुंदर संसार का स्वप्न देखते हैं। इसलिए इस काल के सभी महत्वपूर्ण कवियों का अपना एक सुंदर लोक है जिसे आधुनिक अर्थ में यूटोपिया कहा जाएगा। भक्तिकालीन साहित्य में एक तरह की परिवर्तनकारी दृष्टि के साथ भक्त कवि अपनी-अपनी तरह का यूटोपिया रचते हैं, वह उनकी परिवर्तनकामिता के सार की तरह उनके काव्य का मुख्य प्रयोजन हो जाता है।

शोध छात्र, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : ak.ac.jnu@gmail.com

सन्दर्भ ग्रंथ

1. हिंदी साहित्य का इतिहास- आचार्य रामचंद्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
2. परंपरा का मूल्यांकन - रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
3. भक्ति आन्दोलन और काव्य-प्रो गोपेश्वर
4. भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य- मैनेजर पांडेय, वाणी प्रकाशन
5. पद्मावत - मालिक मोहम्मद जायसी, लोकभारती प्रकाशन
6. अमृतवाणी सतगुरु, रविदास महाराज जी, (सटीक), संत सुरिन्दरदास बाबा जी, श्री गुरु रविदास जन्म अस्थान पब्लिक चौरिबल ट्रस्ट, वाराणसी
7. पुस्तक : कबीर समग्र, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन प्रा. लि., वाराणसी (2001)
8. कबीर ग्रंथावली, श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा (वाराणसी), चौदहवां संस्करण
9. रामचरित मानस (उत्तरकांड) - तुलसीदास, गीता प्रेस

कल्हण कृत राजतरंगिणी में वर्णित कराधान प्रणाली

प्रो. रणजीत कुमार मिश्रा* **शिवराज सिंह****

शोध-सारांश

यह शोध पत्र कल्हण की 'राजतरंगिणी' में वर्णित कर व्यवस्था का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करता है। 'राजतरंगिणी' 12वीं शताब्दी का एक महत्वपूर्ण संस्कृत ग्रंथ है, जो कश्मीर के इतिहास का विस्तृत विवरण देता है। इस ग्रंथ में विभिन्न कालों में लागू कर प्रणालियों, करों के प्रकार और उनके प्रशासन का उल्लेख मिलता है। इस शोध पत्र में, हम 'राजतरंगिणी' में उल्लिखित कर व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं का परिक्षण करेंगे, जिसमें निम्न विषय अंतर्वेशित हैं :

⋆ **करों के प्रकार :** भूमि कर, व्यापार कर, और अन्य विशेष करों का विश्लेषण।

⋆ **कर प्रशासन :** कर संग्रह की प्रक्रिया, अधिकारियों की भूमिका और कर चोरी से निपटने के उपायों की चर्चा।

⋆ **आर्थिक प्रभाव :** कर व्यवस्था का समाज और अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों का मूल्यांकन।

⋆ **ऐतिहासिक परिवर्तन :** विभिन्न शासकों के अधीन कर प्रणालियों में आए परिवर्तनों का अध्ययन किया जाएगा।

यह शोध पत्र 'राजतरंगिणी' में वर्णित कर व्यवस्था का गहन परीक्षण करके, प्राचीन कश्मीर की आर्थिक और प्रशासनिक संरचना पर प्रकाश डालता है। यह ऐतिहासिक संदर्भ में कर नीतियों के विकास और उनके सामाजिक-आर्थिक प्रभावों को समझने में मदद करता है।

प्रस्तावना

विपुल ज्ञान निधि संस्कृत वांग्मय में अनेक विषयों से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ लिखे गए हैं। जिनमें राजनीति, इतिहास, अर्थशास्त्र, भूगोल, खगोल, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि महत्वपूर्ण विषय हैं। महाभारत, रामायण आदि इतिहास ग्रंथ भी संस्कृत भाषा में रचित है, रामायण और महाभारत साहित्य एवं इतिहास दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। इतिहास लेखन की वैश्विक एवं भारतीय दृष्टि दोनों का समावेश हमें कल्हणकृत राजतरंगिणी में वर्णित मिलता है, जहाँ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और यथातथ्य विषय विश्लेषण एवं तत्कालीन इतिहास की स्पष्ट जानकारी मिलती है। महाभारत, रामायण एवं अन्य भारतीय इतिहास बोध के ग्रंथों में राजतरंगिणी की तरह स्पष्ट एवं तथ्यात्मक यथातथ्य जानकारी प्राप्त नहीं होती है। राज्य की शासन व्यवस्था के सुचारु संचालन के लिए अर्थ की आवश्यकता होती है। अत: अर्थ संग्रहण को लेकर राजतरंगिणी में विभिन्न प्रकार की कर प्रणालियों एवं कर की प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष व्यवस्था की चर्चा कल्हण द्वारा की गई है, जो अद्यतन प्रभृति भी प्रासंगिक है। कल्हणकृत राजतरंगिणी भारतीय एवं वैश्विक इतिहास का एक अद्वितीय ग्रंथ है, जिसमें कवि कल्हण द्वारा अपनी कवि प्रतिभा द्वारा काव्यात्मक शैली में काश्मीर का प्रारंभ से लेकर 1149 ई. अपने समय तक का इतिहास वर्णित है, राजतरंगिणी में आठ तरंग तथा 7826 श्लोकों में कश्मीर का इतिवृत्त वर्णित है, जो तथ्यात्मक यथातथ्य भय एवं लालच तथा पक्षपात से परे है। कल्हण के विषय में कीथ कहते हैं कि कल्हण कवि के साथ-साथ एक सच्चे इतिहासकार हैं। विश्व इतिहास दर्शन के महान इतिहास तत्त्वज्ञ एडवर्ड हैलेट कार द्वारा निर्दिष्ट इतिहास की परिभाषा इतिहास, इतिहासकार और उसके तथ्यों की क्रिया-प्रतिक्रिया की एक अनवरत प्रक्रिया है। अतीत और वर्तमान के बीच एक अंतहीन संवाद है।[1] निरुक्तकार यास्क इतिहास की परिभाषा करते हुए

कहते हैं—**इति ह एवमासीत् इति य उच्यते स इतिहासः**[2]—इति (इस प्रकार से) ह (निश्चयेन) आस (था, वर्तमान था) अर्थात् प्राचीन काल में निश्चय रूप से होने वाली घटना इतिहास के द्वारा निर्दिष्ट की जाती थी। इतिहास का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ प्राचीनकाल में वास्तव रूप में घटित होने वाली घटना का द्योतक है।

अर्थववेद तथा ब्राह्मण ग्रंथों में यह शब्द पुराण से भिन्न स्वतंत्र रूप में इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। राजशेखर के अनुसार इतिहास दो प्रकार का होता है—

परिक्रिया पुराकल्प इतिहासगतिर्द्वधा।
स्यादेकनायका पूर्वा द्वितीया बहुनायका॥[3]

परिक्रिया अर्थात् एक नायक वाली कथा जैसे रामायण तथा पुराकल्प अर्थात् बहू नायक वाली कथा जैसे महाभारत। फलतः राजशेखर इतिहास का क्षेत्र संकुचित तथा सीमित नहीं मानते। दोनों महाकाव्यों को इस शब्द के अभिधान के भीतर स्वीकार कर वे अपने व्यापक दृष्टिकोण का परिचय देते हैं।

इतिहास को लेकर कल्हण की अपनी एक स्वतंत्र नीरक्षीर विवेकी दृष्टि है। राजतरंगिणी के प्रथम तरंग के सातवें श्लोक [4] में कल्हण अपने इतिहास दृष्टि को उजागर करते हुए इतिहासकार का लक्षण बताते हैं कि वह गुणवान कवि ही प्रशंसा का पात्र होता है जिसकी वाणी राग द्वेष से रहित सच्चे इतिहास को बतलाने में समर्थ हो। अतः कल्हण की यह इतिहास दृष्टि विश्व इतिहास के लिए अनुकरणीय है। एडवर्ड हैलेट कार का इतिहास दर्शन भी कल्हण का अनुकरण करता दिखाई देता है। इतिहास लेखन के जो मानदंड ई. एच. कार द्वारा बताए गए हैं उनके अनुरूप लिखा गया इतिहास ही युग का पथ प्रदर्शन करता है। अतः इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए कल्हण की इतिहास दृष्टि भी हमारे लिए अनुकरणीय हैं और वर्तमान समाज के लिए भी ग्राह्य है।

अर्थ का महत्व

किसी भी समाज एवं राज्य के संचालन के लिए अर्थ की महती आवश्यकता होती है एवं अर्थ के सृजन के लिए कर संग्रहण महत्वपूर्ण है। कर संग्रहण को लेकर संस्कृत वांग्मय में अनेक उदाहरण मिलते हैं, महाकवि कालिदास द्वारा रघुवंश महाकाव्य में एक बहुत सुंदर श्लोक के माध्यम से यह बताया गया है कि राजा को किस प्रकार कर एकत्र करना चाहिए-

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥[5]

जिस प्रकार सूर्य पृथ्वी से एक बूंद जल को ग्रहण कर उसका सहस्र गुणा करके वर्षा के रूप में पृथ्वी को देता है, उसी प्रकार राजा को भी कर ग्रहण कर प्रजा में जन कल्याणकारी योजनाओं में व्यय करना चाहिए। अर्थशास्त्र में कर के सन्दर्भ में द्वितीय अधिकरण अध्यक्ष प्रचार के छठे अध्याय **समाहतृसमुदयप्रस्थानम्** में कर व्यवस्था का निरूपण किया गया है। कौटिल्य के अनुसार राजा षष्ठांश का भागी होता था और उसके बदले में राजा को प्रजा की सुरक्षा करना मुख्य कर्त्तव्य होता था। आज के समय में परिप्रेक्ष्य बदला है। लेकिन आज भी राज्य का ये कर्तव्य है कि वह हर व्यक्ति को सुरक्षा प्रदान करे। राज्य के संचालन में कर की महती भूमिका होती है, राजा द्वारा किया गया आय-व्यय व प्रजापालन कर के रूप में संचित धन से ही होता है, राज्य की अर्थिक व्यवस्था का आधार कर है, राज्य से सबंद्ध कार्य सुचारू रूप से चले अतः 'कर' लेना राज्य के लिए आवश्यक है। भारतीय कर-व्यवस्था का आधार वैदिक साहित्य में मूल रूप से मिलता है। ऋग्वेद के एक सूक्त में ऋषि द्वारा प्रार्थना की गई है कि इन्द्र प्रजाओं से राजा को बलि दिलाए। गोपथ ब्राह्मण में भी इन्द्र को कर के रूप में अन्न देने का संकेत मिलता है कितना कर देते थे यह तो स्पष्ट नहीं होता, परन्तु कर देते थे इस बात की पुष्टि होती है।[6] प्रजापति ने देवताओं को अलग-अलग भाग कर के रूप में दिए।[7] राजा को न्यायोचित कर ग्रहण करना चाहिए। परन्तु राजा स्वेच्छापूर्वक कर ग्रहण नहीं कर सकता। जिस प्रकार राजा स्वयं दण्डनीति के अधीन है उसी प्रकार कर भी दण्डनीति शास्त्र में प्रतिपादित व्यवस्था के अधीन ही निर्धारित किए जाते हैं। जैसे राजा धर्म के अधीन है वैसे ही कर-पद्धति भी धर्मशास्त्रीय व्यवस्था के अधीन है। राजा केवल धर्म के अनुरूप ही कर प्राप्त कर सकता है।[8] इसी धर्म को महाभारत में शास्त्रनीति कहा गया है।[9] इसी भाव को दृष्टि में रखकर मनु ने राजा को निर्दिष्ट फल का भोक्ता कहा है अर्थात् निर्धारित करों को प्राप्त करने वाला ही राजा है।[10] शुक्र के अनुसार जो राजा नीतिशास्त्र को परित्याग कर प्रजा के पीडन द्वारा धन प्राप्त करता है, उसका राज्य शत्रुवश में चला जाता है।[11] कहने का अभिप्राय यह है कि यदि प्रजा कष्ट प्राप्त करेगी तो वह राजा का सम्मान नहीं करेगी और अन्ततः अन्य राज्य में मिल जाएगी अथवा राजा एवं अनैतिक राज्य के प्रति विद्रोह कर देगी। प्रजा के दुर्बल होने से शत्रु राज्य से राजा पराजित हो जाएगा। धन की प्राप्ति के लिए

धर्म-पूर्वक लाभ की इच्छा करना ही उचित है, जो राजा कर के सम्बन्ध में शास्त्र पर अर्थात् शास्त्र का अनुगामी नहीं होता, उसके धर्म और अर्थ दोनों अस्थिर हो जाते हैं। शास्त्र के विरुद्ध धन को प्राप्त करने का यत्न करने वाला राजा धन को प्राप्त नहीं कर पाता, और ऐसा राजा जो अन्याय से धन को प्राप्त करता है, उसका सब-कुछ नष्ट हो जाता है।[12] कर की प्राप्ति के धर्म और शास्त्र पर आधारित होने के कारण राजा के लिए यह सम्भव नहीं था कि वह इस सम्बन्ध में स्वेच्छाचारी हो सके। वर्तमान समय में भी राष्ट्रीय राज्य की अवधारणा लोकोपकारी राज्य की है और लोकोपकारी राज्य का आदर्श बिना कर आधार के प्राप्त नहीं किया जा सकता है अत: यह आवश्यक हो जाता है कि राज्य कर ग्रहण करे। राज्य का कर्तव्य है कि सूर्य के समान जहाँ अधिक है वहाँ से अधिक एवं जहाँ कम है वहाँ कम मात्रा में कर ग्रहण करे।

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारकों एवं राजनीतिक ग्रंथकारों ने कर ग्रहण के केन्द्रीय अभिकरण के रूप में कोष का वर्णन किया है। कोष राज्य के सप्तांग में वर्णित है।[13] राज्य की खुशहाली एवं समृद्धि तथा स्थायित्व के लिए कोष का आर्थिक रूप से सुदृढ़ होना आवश्यक है। राज्य की समृद्धि के लिए अर्थ संग्रह हेतु राजा द्वारा जो कर प्रजा पर लगाए जाते हैं, उन्हीं करों पर राज्य की समृद्धि आश्रित होती है। प्रजा की खुशहाली के लिए करों की दर न्यायोचित होनी चाहिए। असमान कर दरें प्रजा में असंतोष उत्पन्न कर करती हैं।

राजतरङ्गिणी में वर्णित कर का अर्थ सामन्त राजाओं द्वारा अथवा प्रजा द्वारा काश्मीर के राजाओं को दी जाने वाली वार्षिक निश्चित राशि ही है। राजस्व के एक मुख्य पारिभाषिक शब्द 'शुल्क' का भी राजतरङ्गिणी में प्रयोग किया गया है। राजतरंगिणीकार कविवर कल्हण ने कुछ राजाओं के शासन काल में कर प्रणाली के दुष्प्रयोगों का विस्तार से वर्णन किया है। काश्मीर के प्रतापी सम्राट् ललितादित्य ने ही अपने वसीयतनामे में अपने उत्तराधिकारियों को परामर्श दिया था कि किसानों पर इतना कर लगाया जाय कि उसके पास केवल वर्ष भर के लिए पर्याप्त अन्न ही बच जाए-

वर्षोपभोग्यान्यन्नानि क्षेत्रभूसंमिता वृषा:।
ग्राम्याणां नातिरिच्यन्ते यथा कार्यं तथाऽसकृत्॥[14]

ललितादित्य ने दिग्विजय के अभियानों में धन एकत्रित किया था और उसकी परम्परा का अनुसरण करके उसके पौत्र जयापीड ने दिग्विजय द्वारा धनसंग्रह के प्रयास में प्रभूत राजकोष का अपव्यय किया। जयापीड के धूर्त अधिकारी वर्ग ने उसे दिग्विजय के प्रयासों का परित्याग कर प्रजा से प्रभूत कर एकत्रित करने का परामर्श दिया- **किं दिग्जयादिभि: क्लेशै: स्वदेशादर्ज्यतां धनम्।**[15] शंकरवर्मा ने दिग्विजय में अथाह धनराशि नष्ट करके प्रजा को करों द्वारा अत्यन्त पीड़ित किया। उसने प्रजावर्ग पर कर का इतना बोझ डाल दिया कि वायुभक्षण द्वारा प्राणरक्षा के अतिरिक्त प्रजा के पास अन्य कोई उपाय न था-

आयासै: श्वासशेषैव प्राणवृत्ति: शरीरिणाम्॥[16] यह सामान्य रूप से अतिशयोक्ति प्रतीत होता लेकिन यह प्रसंग राज्य के कर लेने के क्रूरतम रूप को हमारे सामने लाता है। शंकरवर्मा ने कर उगाहने के लिए अट्टपतिभाग और गृहकृत्यभाग जैसे दो नए विभाग स्थापित किए- **तेनाट्टपतिभागाख्यगृह-कृत्याभिधे कृते।**[17] उसने ग्रामकायस्थ ओर ग्रामस्कन्द के मासिक वेतन का भार भी ग्रामीणों पर डाल दिया- **स्कन्दक-ग्रामकायस्थमासवृत्त्यादिसंग्रहै:।**[18] ग्रामीणों के बोझ न ढोने पर उसने बेगार के बदले नगद लेने की परम्परा भी काश्मीर में प्रवर्तित की। ब्राह्मण भी इस बेगार प्रथा से मुक्त न थे। स्मृति ग्रन्थों में सम्पूर्ण ब्राह्मण वर्ग को कर मुक्त रखने का विधान है- यथा—**ब्राह्मणेभ्य: करादानं न कुर्यात्।**[19] हर्ष के काल में ब्राह्मणों ने मन्दिरों की सम्पत्ति जब्त करने के बदले स्वयं को इस बेगार से मुक्त करवाया था-**निष्क्रयं रूढभारोढिवारणेन प्रदापित:।** शंकरवर्मा ने मन्दिरों में उपयोग में लाई जानेवाली वस्तुओं जैसे धूप, चन्दन, तेल आदि की बिक्री पर भी कर लगाया था। राजतरङ्गिणी में इसके अतिरिक्त बिक्रीकर का कोई उल्लेख नहीं मिलता। संभवत: अन्य राजाओं के काल में मन्दिर के उपयोग की वस्तुएँ बिक्रीकर से रहित थीं-**धूपचन्दन तैलादिविक्रयोत्थं समाददे।**[20] संग्रामराज अपनी सम्पत्ति को अन्यायपूर्वक अर्जित ही समझते थे-

सत्यं विवेक्ता संग्रामराजो योऽन्याय्यतोऽर्जितम्।
निजं ब्रुवाणो द्रविणं प्रपामपि न निर्ममे॥[21]

राजा कलश के समय में जिन्दुराज ने राजपुरी तथा अन्य प्रदेशों को राजा का करद बना दिया था।[22] हर्ष के राज्यकाल में द्वारपति कन्दर्प ने राजपुरी के राजा से कर लेना प्रारम्भ कर दिया था। हर्ष ने अपने राज्य में प्रजा पर इतने कर लगाये कि मिट्टी भी कर रहित नहीं रही-**पुरग्रामादिषु क्वापि न मृदप्यवशेषिता।** राजतरङ्गिणी में द्रंग नाम से अभिहित सुरक्षा चौकियों पर भी कर एकत्रित किया जाता था। सुस्सल ने हर्ष

पर आक्रमणों में विजय प्राप्त करते हुए शूरपुर द्रंग पर विजय के साथ साथ अतुलित धनराशि भी प्राप्त की–**प्रापि शूरपुरदूंगांजयश्रीः श्रीश्च भूयसी।**[23] जयसिंह के काल में डामरों के शक्तिशाली नेता ने द्रंग के अधिकारियों को बाँध कर स्वयं कर लेना प्रारंम्भ कर दिया था। वह राजा के समान पात्रों पर अपने नाम की सिन्दूरी मुद्रा को लगाने लगा–

बद्ध्वाधिकारिणः शुल्कं गृह्णताऽकारि राजवत्।
तेन स्वनाम्ना भाण्डेषु द्रङ्गे सिन्दूरमुद्रणम्॥[24]

राजतरङ्गिणी में नौका कर के बारे में केवल उच्चल के शासन काल में एक उल्लेख मात्र मिलता है। जयसिंह के काल में किसी पदार्थ को करमुक्त करने का एकमात्र उल्लेख मिलता है। जयसिंह ने काष्ठ सदृश पदार्थ को करमुक्त कर दिया था। काश्मीर में राजस्व का एक विशिष्ट भाग काष्ठ के कर द्वारा ही प्राप्त होता था–

दारूणामाकराः कोशवृद्धये ये धराभुजाम्।
नवीचक्रे पुरं सर्व स्वाधानान्ये विधाय भजाम॥[25]

प्रजा को अपराध के लिए धन द्वारा दण्डित करने से भी राजा को प्रभूत धनराशि प्राप्त होती है। शंकरवर्मा ने ग्रामीणों को बोझा उठाने न आने पर उस वर्ष के बाजारभाव के आधार पर ग्रामीणों को दण्डित किया था। उच्चल दण्डनीय अपराधियों से जुर्माने के रूप में धनराशि न लेकर उन्हें सत्कर्म करने के लिए प्रेरित करता था। जयसिंह के काल में नगराधिकारी कुलराज ने इस प्रथा का अन्त ही कर दिया। राजतरङ्गिणी के विवरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आपद् काल में राजा धनाढ्य वर्ग से प्रशासकीय कार्यों के लिए धन लेते थे। कलश के राज्यकाल में जयानन्द ने पैदल सैनिकों के संगठनों के लिए दुराचारी घनाढ्य वर्ग से भी ऋण लिया था। महाभारत में भी इस प्रथा का अनुमोदन करते हुए कहा गया है कि राजा ही प्रजा का रक्षक एवं भक्षक है। अतः वह प्रजा से पालन हेतु धन ले सकता है। कलश निःसंतान मरने वाले लोगों की सम्पत्ति राजकोष में मिला देता था–**धनानि निरपत्यानामाहर्तु व्यवसायिना।**[26] इस प्रकार हम देखते हैं कि काश्मीर के अलग–अलग राजाओं ने अपनी–अपनी प्रकृति एवं राजनीतिक परिस्थितियों के आधार पर अपनी कर प्रणाली का निर्धारण किया। राजकोष की अल्पता तथा स्वयं राजाओं की लोलुपता के कारण किसी–किसी युग में प्रजा करों के बोझ से पीड़ित रही तथा किसी युग में प्रजा को करों से राहत भी मिली। वास्तव में कर–व्यवस्था राजनीतिक परिस्थितियों से संचालित और उन्हीं पर निर्भर रहने वाला तत्त्व है। जिसमें कभी–कभी राजा की व्यक्तिगत उदारता या कृपणता के कारण गुणात्मक परिवर्तन आ जाता था। इन सभी विषयों से एक यथार्थ जो हमारे सामने आता है वह यह है कि स्मृति काल एवं अर्थशास्त्र जो कर का सैद्धांतिक स्वरूप कर के विषय में हमारे सामने देते है उस व्यवस्था से पूर्व मध्यकाल में हमें विचलन दिखाई देते हैं ब्राह्मण जो कर मुक्त थे उन्होंने अपनी सामाजिक स्थिति को खोया एवं वो राज्य के कराधान में आ गए एवं राज्य कर के लिए और अधिक कठोर दिखाई देता है।

राजधन

कल्हण की राजधन के बारे में स्पष्ट तथा सटीक मान्यता है कि यदि राजा प्रजा को क्लेश देकर धन संग्रह करेगा, तो निश्चित रूप से वह धन नष्ट हो जाएगा। अनेक उद्धरण देकर उन्होंने अपनी बद्धमूल धारणा की अभिव्यक्ति की है। राजा जयापीड ने प्रजा को पीड़ित कर अथाह धन संग्रह किया था। उसके पौत्र का वध करने वाले उत्पल आदि दासीपुत्रों ने उसी धन का अपव्यय किया। शंकरवर्मा ने प्रजा को अत्यधिक क्लेश देकर जो धन संचित किया था, उसका भोग उसकी पत्नी के उपपति प्रभाकर आदि ने किया। राजा पंगु की कामातुर पत्नियाँ पापपूर्वक अर्जित धन को संभोग के भागीदार सुगन्धादित्य को देती थी। राजा यशस्कर के संचित धन को, उसकी कामविवश पत्नी अपने चाण्डाल प्रेमी को देती थी। पूर्ववर्ती राजाओं द्वारा अर्जित धन प्राप्त करके भी क्षेमगुप्त स्वयं उसका विशेष उपभोग नहीं कर पाया तथा उसके मरने पर वह धन उसकी पत्नी दिद्दा के उपपति तुंग आदि को प्राप्त हुआ। संग्रामराज का धन भी उसकी पत्नी श्रीलेखा के प्रेमियों ने लूट लिया। राजा अनन्त की सम्पत्ति आग में जल गयी। कुत्सित उपायों द्वारा अर्जित किए गए कलश के धन को उसके पुत्रों ने कुपात्रों और स्त्रियों ने उपपतियों को देकर नष्ट कर दिया।श हर्ष का धन, प्रसाद, स्त्री तथा पुत्रों सहित अग्निसात हो गया–

सह गेहैः समं स्त्रीभिः सत्रा पुत्रैरभूद्धनम्।
अश्रान्तार्जनतर्षस्य हर्षदेवस्य वह्निसात्॥[27]

चन्द्रापीड, उच्चल, अवन्तिवर्मा आदि धार्मिक राजाओं के न्यायपूर्वक अर्जित कोष को कोई आँच नहीं आई।

निष्कर्ष

कल्हण की 'राजतरंगिणी' में वर्णित कर व्यवस्था, प्राचीन कश्मीर की आर्थिक संरचना और शासकों की राजस्व नीतियों पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालती है। इस शोध पत्र में किए गए

विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि 'राजतरंगिणी' में विभिन्न प्रकार के करों का उल्लेख मिलता है, जो तत्कालीन समाज की आर्थिक गतिविधियों और शासकों की राजस्व आवश्यकताओं को दर्शाते हैं। करों के संग्रहण की प्रक्रिया और प्रशासनिक व्यवस्था से यह पता चलता है कि राज्य की आर्थिक नीतियाँ कितनी राजकोष हितैषी और प्रजा शोषिता थीं। करों का सामाजिक-आर्थिक प्रभाव, समाज के विभिन्न वर्गों पर अलग-अलग ढंग से पड़ता था, जिससे शासकों की नीतियों और उनके शोषण का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। 'राजतरंगिणी' में वर्णित कर व्यवस्था की अन्य समकालीन स्रोतों से तुलना करने पर, कश्मीर की आर्थिक स्थिति और राजस्व नीतियों और धर्मशास्त्रीय कर संबंधी नियमों के उल्लंघन की विशिष्टता का पता चलता है। इस शोध से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'राजतरंगिणी' में वर्णित कर व्यवस्था, प्राचीन कश्मीर के आर्थिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण पहलू है। यह न केवल तत्कालीन शासकों की राजस्व नीतियों को समझने में मदद करता है, बल्कि यह प्राचीन भारतीय आर्थिक व्यवस्था के अध्ययन में भी महत्वपूर्ण योगदान देता है।

***संस्कृत विभाग, हंसराज महाविद्यालय**
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
****शोधार्थी**
संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. ई. एच कार, इतिहास क्या है। पृष्ठ संख्या -21
2. निरुक्त 2/3/1 दुर्गाचार्य की वृत्ति
3. काव्यमीमांसा, राजशेखर
4. श्लाघ्यः स एव गुणवान्रागद्वेषबहिष्कृता।
   भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती॥
5. रघुवंशम् 1/18
6. ''ते देवा अब्रुवन्निन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठस्तस्मा एतन्परिहरन्तीति ततस्मै पर्यहरंस्तत्सद्'' गोपथ ब्रा. 2.1.3
7. वही, 2.1.7
8. धार्म्यं शुल्कमवहारयेत - आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2.10.16.9
9. ''दापयित्वा करं धर्म्य राष्ट्र नीत्या यथाविधि॥
   तथैतं कल्पयेद्राजा योगक्षेममतन्द्रितः॥'' महा. शान्ति 71.11 ? वही, 71.10
10. निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते... मनु. 7.144
11. ''त्यक्त्वा नीति बलं प्रजापीडनतो धनम्।
    सञ्चितं येन तत्तस्य स राज्यं शत्रुसामवेत॥ शुक्र 4.8
12. महा. शान्ति 71.13-14
13. अर्थशास्त्र-6.96.1, मनुस्मृति 9.294, शुक्रनीति 2.2.1, याज्ञवलक्यस्मृति-1.327-28
14. राजतरंगिणी-4/347
15. राजतरंगिणी-4/621
16. राजतरंगिणी-5/184
17. राजतरंगिणी-5/167
18. राजतरंगिणी-5/175
19. विष्णुस्मृति 3-25-6
20. राजतरंगिणी-5/168
21. राजतरंगिणी-7/122
22. राजतरंगिणी-7/265-67
23. राजतरंगिणी-7/991
24. राजतरंगिणी-8/2010
25. राजतरंगिणी-8/2390
26. महाभारत 12.130.23-24
27. राजतरंगिणी-8/1960

शिवसङ्कल्पसूक्त में मनोविज्ञान एक अध्ययन

डॉ. आयुष गुप्ता*

शुभम रॉय**

यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिव-सङ्कल्पमस्तु[1]

हे परमेश्वर! जिस मन में रथ के पहिये के धुरे में लगे हुए आरों की तरह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का ज्ञान प्रतिष्ठित रहता है और जिसमें सब प्राणियों की चिन्तन-शक्ति ओत-प्रोत है, वह मेरा मन आपकी कृपा से शिवसङ्कल्प यानि अच्छे विचारों वाला होवे, इस वैदिक उद्घोषणा के साथ प्राचीन ऋषि मुनियों द्वारा मानव जीवन में क्रोध, लोभ, ईर्ष्यादि विकार से मुक्त, शुद्ध एवं संतुलित मन की पराकाष्टा को अत्यंत महत्वपूर्ण एवं सर्वोपरि माना गया है। जिस प्रकार एक कुम्भकार अपने कौशल से मिट्टी को साकार रूप प्रदान करता है ठीक उसी प्रकार एक गुरु ज्ञान के द्वारा शिष्यों को शिक्षित कर उन्हें ज्ञानी बनाते हैं। इन दोनों ही कार्यों में मन की विशेष भूमिका होती है क्योंकि मन ही उन्हें उस कार्य में प्रवृत होने की प्रेरणा देता है। प्राचीन भारतीय ज्ञान परम्परा का उद्भव वैदिक वाङ्मय से हुआ है। प्राचीनकाल में ज्ञान के साथ-साथ ज्ञानियों की कठिन परीक्षाएँ होती थीं जिसके अन्तर्गत समय-समय पर ज्ञान-सत्र आयोजित होते थे, जिसमें ऋषि-मुनि और सन्त अपनी ज्ञान एवं प्रतिभा का प्रदर्शन करते थे।[2] आरम्भिक काल में वेद लिपिबद्ध नहीं थे, बाद में पूज्य महर्षियों द्वारा इसे लिपिबद्ध किया गया तथा कालान्तर में गरु शिष्य शिक्षा परम्परा द्वारा वेद का प्रचार प्रसार हुआ। वेदों के अन्तर्गत प्राणी जगत् से संबंधित आचार-विचार, धर्म-कर्म, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक आदि विषयों से सम्बन्धित कई महत्त्वपूर्ण तत्त्व बतलाए गये है। इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट के परिहार का उपाय बताने वाले ये वेद मानव जीवन को आनंद की ओर अग्रसित करने वाले तथा अवसाद् एवं अशांति का परिहार करने के उपदेशवाले होते हैं। यद्यपि वैदिक काल में मानव जीवन अत्यधिक सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित होने के कारण मानसिक समस्याओं से अत्यधिक ग्रसित नहीं था, तथापि कालांतर में होने वाले मनोविकारों के दृष्टिगत वैदिक मंत्रों के द्वारा मार्ग प्रशस्त किये गए हैं। शिक्षण एवं अधिगम के लिए वेद व उपनिषद् के सिद्धान्तों का अनुपालन किया जाता है जिससे व्यक्ति स्वयं, परिवार व समाज के प्रति कर्तव्यों को पूरा कर सके।[3] वेदों का अंतिम भाग माने जाने वाले उपनिषद् जिसे वेदान्त के नाम से भी जाना जाता है आध्यात्मिक शिक्षा का एक ऐसा कोश है जो मानव अन्तःकरण से सम्बन्ध रखता है। क्रोध, लोभ, ईर्ष्या आदि मनोविकारों के आवेश में आकर मनुष्य अनेक प्रकार की व्याधियों का शिकार हो जाता है ऐसे में वह ध्यान, प्रार्थना तथा आत्मचिंतन के द्वारा इससे मुक्ति पाने का उपाय करता है। मानव मन से सम्बन्ध रखने वाला विज्ञान जिसे हम मनोविज्ञान से अभिहित करते हैं वास्तव में एक ऐसा विज्ञान है जो प्राणी जगत के मानसिक प्रक्रियाओं, अनुभवों, व्यवहारों का एक क्रमबद्ध तथा वैज्ञानिक अध्ययन कराता है। मनोविज्ञान को अंग्रेजी भाषा में साईकोलॉजी कहते हैं, जो ग्रीक भाषा के दो शब्द साइकी और लॉगस से मिलकर बनी है जिसका अर्थ है आत्मा का ज्ञान।[4] वैदिक मनोविज्ञान के अनुसार, मन ज्ञान एवं कर्म का साधन माना गया है। कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय उपनिषद् में उल्लेखित पिता वरुण द्वारा पुत्र भृगु को ब्रह्म का ज्ञान कराते हुए कही गयी यह उक्ति ''जिससे ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर जीवित रहते हैं और अन्त में उसी में विलीन हो जाते हैं वह ब्रह्म हैं। यह ब्रह्म तप से जाना

जाता है।'' भारतीय दार्शनिक परम्पराओं को जीवन्तता प्रदान करने वाले ये वैदिक कथन भारतीय मनोवैज्ञानिकता की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। इसी क्रम में सूक्ष्म रूपी इन्द्रिय जिसे हम मन कहते हैं वो सभी प्राणियों में व्याप्त रहती है। किसी भी कार्य को करने के लिए मन का स्वस्थ रहना अतिआवश्यक है। वस्तुत: मन दो प्रकार की होती है—शुद्ध मन एवं अशुद्ध मन। मन की एकाग्रता ही हमारे कार्य को सफल बनाती है। जिसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ श्रोत्र, चक्षु, स्पर्श, रस, घ्राण, मन का अधिष्ठाता बनकर विषयों को ग्रहण कर कार्य को सफल बनाने में मुख्य भूमिका निभाते हैं। परन्तु कार्य को सफल बनाना इतना भी सरल नहीं कहा जा सकता है क्योंकि मन का स्वस्थ एवं इन्द्रियों का संयमित रहना अतिआवश्यक है, इसी क्रम में अर्जुन गीता के श्लोक के माध्यम से श्रीकृष्ण से मन की चंचलता, दृढ़ आदि ऐसे गुणों की बोधगम्यता हेतु जिज्ञासा व्यक्त की है-

चञ्चलं हि मनः कृष्ण! प्रमाथि बलवद्दृढ़म्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥[5]

इस श्लोक में अर्जुन श्रीकृष्ण के सामने अपनी समस्या को बतलाते हुए कहते हैं- हे कृष्ण! जो मन है वो निश्चित रूप से बड़ा चंचल, बलशाली, दृढ़ तथा व्यक्ति को झकझोर देने वाला कर देता है, उसको वश में करना मैं वायु को रोकने के समान अत्यन्त कठिन मानता हूँ। क्योंकि सोते जागते हर समय वह किसी न किसी प्रकार से कोई न कोई रूप में सक्रिय रहता है। यही मन की चंचलता है। आगे अर्जुन कहते हैं उस मन को वश में करना मैं वायु के रोकने के समान कठिन मानता हूँ। यहां इन्होंने वायु का उदाहरण देकर कठिनता को सिद्ध किया है। जैसे शरीर में निरंतर चलने वाला श्वास रूपी वायु के प्रवाह को हठ, विचार, विवेक और तल आदि साधनों के द्वारा रोक लेना अत्यंत कठिन है, ठीक उसी प्रकार विषयों में निरंतर विचरने वाले चंचल प्रयत्नशील बलवान और दृढ़ मन को रोकना भी अत्यंत कठिन कार्य है। तत्पश्चात् इस प्रश्न के उत्तर में श्री कृष्ण कहते हैं-

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥6/35॥[6]

श्री कृष्ण कहते हैं हे कुन्ती पुत्र! जो आपने पूछा था मन के विषय में जो चंचल, बलवान, दृढ़ आदि जो व्यक्ति को झकझोर देता है और व्यक्ति उसे अपने वश में नहीं कर पाता, परन्तु श्री कृष्ण आगे कहते हैं वह अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा वश में किया जा सकता है। अभ्यास का अभिप्राय है, किसी भी काम को बार-बार करना अभ्यास कहलाता है तथा वैराग्य आज के समय में जीवन में अनुभव किये हुए और सुने हुए विषय जो दु:ख से रहित, मन, इन्द्रियों पर सम्पूर्ण वशीकरण की जो अनुभूति 'वैराग्य' कहलाती है।

इन दो श्लोक के माध्यम से हम ये कह सकते हैं कि किसी भी कार्य को सफल एवं सरल बनाना बहुत कठिन होता है, परन्तु हमें ये ज्ञात हुआ इन दो श्लोक के माध्यम से ही जब व्यक्ति अभ्यास एवं वैराग्य के मार्ग को अपनाता है तब वह कार्य सफल एवं पूर्ण होता है।

आज के वर्तमान समय के बारे में कहा जाए तो व्यक्ति मानसिक रोगों से अत्यधिक प्रभावित है जो हमारे समाज के लिए दिन-प्रतिदिन एक जटिल समस्या बनती जा रही है। उदाहरण के तौर पर आत्महत्या, यौन शोषण, हाइपरटेंशन आदि ऐसे कई विषय आज के वर्तमान संदर्भ में प्राप्त होते हैं।

इन आकृत घटनाओं को रोका जा सकता है, परन्तु यहां हम ये पुष्टि नहीं करते ये घटनाएँ हमारे समाज से एकदम से समाप्त हो जाएंगी मगर धीरे-धीरे इनके मनोवृत्ति को सही मार्ग पर लाकर समाप्त किया जा सकता है।

इसी क्रम में इस विषय से संबंधित मेरा जो शोध पत्र का विषय है- 'शिवसङ्कल्पसूक्त में मनोविज्ञान एक अध्ययन' इस विषय के आधार पर पूर्व में कही गई बातें- यजुर्वेद के शुक्ल यजुर्वेद के चौतिसवें अध्याय में शिवसङ्कल्पसूक्त जिसके ऋषि याज्ञवलक्य 6 मंत्रों के माध्यम से मार्मिक एवं सूक्ष्म कथन मन के विषय में बतलाया है। जो आज के वर्तमान समाज में आकृत घटनाएँ जो घट रही है वो इन सूक्त के माध्यम से समाज के लिए दिव्य ज्योति एवं सार्थकपूर्ण कहलाएगा।

इस सूक्त की एक अच्छी बात है, जिसमें ऋषि याज्ञवल्क्य सभी मंत्रों के अंत में कहते हैं- ''तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु'' जिसका अर्थ है जो मन है वह मेरा शुभ संकल्प वाला हो, क्योंकि यहां शिव का अर्थ शुभ कहा गया है। इसी प्रकार यहां मन का भी दो रूप बतलाया गया है- 1. शुभ संकल्प वाला मन, यहां शुभ संकल्प का अर्थ यह है जैसे उदाहरण के रूप में काई व्यक्ति को भजन सुनना है तो यहां श्रोत हमें नहीं बतलाता की हमें भजन सुनना है, वो हमारा मन बतलाता है कि हमें भजन सुनना है। इस कथन का आशय यह है कि आप अपने मन को जिस मार्ग पर ले जाना चाहेंगे वह उसी मार्ग पर जाएगा। 2. अशुभ संकल्प वाला मन- यहां अशुभ संकल्प का

अर्थ युद्ध है, जैसे उदाहरण के रूप में व्यक्ति की रसेन्द्रियाँ कई गलत भोज्य पदार्थों का सेवन करने से बहुत सारी बीमारियों का समाना करना पड़ रहा है। यहां भी हमारी रसेन्द्रियाँ हमें भोज्य पदार्थों का सेवन करने के लिए प्रेरित नहीं करती, वो हमारा मन ही प्रेरित करता है जिसकी वजह से कई बीमारियों का सामना करना पड़ता है। इसलिए ऋषि याज्ञवलक्य कहते है मन ही शुभ संकल्प वाला हो जाए, तो रसेन्द्रियाँ एवं श्रोतेन्द्रियाँ आदि सभी इन्द्रियाँ स्वयं शुभ संकल्प वाला हो जायेगा।

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं, तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥[7]

ऋषि याज्ञवल्क्य कहते हैं जो मन पुरुष की जाग्रतावस्था में अधिक दूर चला जाता है, जो एकमात्र आत्मा का दर्शन करने वाला है, जो पुरुष की सुषुप्तावस्था में उसी प्रकार लौट आता है तथा जो सभी बाह्य इन्द्रियों का एकमात्र प्रकाशक है,वह मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो।

ऋषि याज्ञवल्क्य के इसी श्लोक के माध्यम से पूर्व में जो मेरे द्वारा कहे गये कथन वर्तमान समय में जो मानसिक रोगों एवं अकृत घटनाएँ देखने को मिल रही है, जो हमारी समाज एवं राष्ट्र के लिए बहुत ही चिंतनीय विषय बनता जा रहा है। उसे सुदृढ़ एवं सत्य मार्ग पर हम ला सकते हैं जैसे कि शिवसंकल्पसूत्र के अंत में ऋषि याज्ञवलक्य कहते हैं-'तन्मे मनः शिवसंकलपसूक्त' जो मेरा मन है वह शुभसंकल्प वाला हो न कि अशुभ संकल्प जैसा। कहने का तात्पर्य यह है कि इस सूक्त का अध्ययन किया जाए तो कुछ हद तक ऐसे अकृत घटनाएँ को उनके मन को इनमें दिये गये श्लोकों के माध्यम से परिवर्तित किया जा सकता है। इसमें सूक्त के ज्ञान के माध्यम से प्रयास यही रहेगा कि समाज में ऐसी अकृत घटनाओं पर अंकुश सा लग जाये जो हमारे समाज एवं राष्ट्र के लिए गौरवपूर्ण बात होगी।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥2॥[8]

ऋषि याज्ञवल्क्य इस मंत्र के माध्यम से कहते हैं जिसे मन के द्वारा कर्मनिष्ठ व्यक्ति विद्वान और धैर्यवान लोग यज्ञ में उपासनाओं में कर्म करते हैं, जो प्राणी के अंदर विद्यमान है, जो सबसे पहले उत्पन्न होने वाला है, जो महान है, ऐसा मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो जाये या वह मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्जयोतिरन्तरमृतं प्रज्ञासु।
यस्मान्न ऋते किञ्च्चन कर्म क्रियते, तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥3॥[9]

इस मंत्र के माध्यम से ऋषि मन के विशेष गुण के बारे में कह रहे हैं, जो मन है वो प्राणी को सामान्य और विशेष ज्ञान का बोध इन्द्रियों के माध्यम से कराता है और वह धैर्यस्वरूप विद्यमान है। प्राणियों के अन्तर्भाग में विद्यमान मन सभी इन्द्रियों का एकमात्र प्रकाशक भी है। जो विनाश रहित भी है। इसके बिना कोई भी कार्य नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार जो मेरा मन है, वह शुभ संकल्प वाला हो।

निष्कर्ष

मानव के कल्याणभूत वेदनीहित अमूल्य ज्ञान एवं मानव शरीर में विद्यमान मन दोनों ही अपना एक विशिषट स्थान रखते हैं। वैदिक मनोविज्ञान मानव के सर्वांगीन विकास हेतु दिशा-निर्देश करने के साथ-साथ आत्म-अध्ययन और आत्मनिरीक्षण के लिए बुद्धि को नियोजित करने पर केन्द्रित व्यावहारिक तकनीकों के उपयोग के विषय पर भी बल देता है। यजुर्वेद में मन को त्रिकालदर्शी कहा गया है क्योंकि यह मन भूत, वर्तमान् एवं भविष्य तीनों काल को देख सकता है। ''तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'' जिसका अर्थ है जो मन है वह मेरा शुभ संकल्प वाला होके माध्यम से मार्मिक एवं सूक्ष्म कथन मन के विषय में बतलाया है। जो आज के वर्तमान समाज में आकृत घटनाएँ जो घट रही हैं वो इन सूक्त के माध्यम से समाज के लिए दिव्य ज्योति एवं सार्थकपूर्ण कहलाएगा।आज के वर्तमान समय में आत्महत्या, यौन उत्पीड़न, हाइपरटेंशन आदि ऐसे कई विषय आज के वर्तमान संदर्भ में प्राप्त होते हैं। व्यक्ति मानसिक रोगों से अत्यधिक प्रभावित है जो हमारे समाज के लिए दिन-प्रतिदिन एक जटिल समस्या बनती जा रही है। इन आकृत घटनाओं को रोकने हेतु शिव सङ्कल्प सूक्तों का अनुसरण कर धीरे-धीरे मनोवृत्ति को सही मार्ग पर लाकर समाप्त किया जा सकता है।

*** सहायक प्राध्यापक,**
वैदिक अध्ययन विभाग,
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

****शोधार्थी,**
वैदिक अध्ययन विभाग,
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
ईमेल- suburoy95@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. यजुर्वेद शुक्ल, यजुर्वेद–माध्यान्दिन शाखा, 34वां अध्याय, श्लोक–5
2. ज्ञान का युग और भारत, खण्ड–1 (ज्ञान विविध–आयाम), पृष्ठ–15
3. शिक्षा की अवधारणात्मक रूपरेखा, इकाई–1, 1.1, पृष्ठ–15
4. मनोविज्ञान के आधार एवं प्रायोगिक मनोविज्ञान, अध्याय–1, पृष्ठ– 3
5. श्रीमद्भगवद्गीता, षष्ठोध्याय: ध्यान योग, श्लोक–34
6. श्रीमद्भगवद्गीता, षष्ठोध्याय: ध्यान योग, श्लोक–35
7. यजुर्वेद शुक्ल, यजुर्वेद–माध्यान्दिन शाखा, 34वां अध्याय, श्लोक–1
8. यजुर्वेद शुक्ल, यजुर्वेद–माध्यान्दिन शाखा, 34वां अध्याय, श्लोक–2
9. यजुर्वेद शुक्ल, यजुर्वेद–माध्यान्दिन शाखा, 34वां अध्याय, श्लोक–3

सन्दर्भ ग्रंथ

1. डॉ. विनोद कुमार, गीता में आत्मप्रबन्धन, परिमल पब्लिकेशन्स, नई–दिल्ली, वर्ष–2016 , द्वितीय संस्करण, पृष्ठ संख्या– 87.
2. श्री हरिकृष्णदास गोयन्दका, श्रीमद्भग्वद्गीता (शंकरभाष्य, हिन्दी–अनुवादसहित), गीताप्रेस, गोरखपुर (गोबिन्द भवन–कार्यालय, कोलकत्ता का संस्थान), वर्ष– , छत्तीसवाँ संस्करण, पृष्ठ संख्या–190.
3. डॉ. पुष्पा गुप्ता, संस्कृत साहित्य का बृहद् इतिहास, ईस्टर्न बुक लिंकस, नई–दिल्ली, वर्ष–2011, प्रथम संस्करण, पृष्ठ संख्या–3–S
4. डॉ. पुष्पा गुप्ता, वेदवत्सरी, ईस्टर्न बुक लिंकस, नई दिल्ली, वर्ष–2012, प्रथम संस्करण, पृष्ठ संख्या– ix-xii.
5. एस. के. मंगल, शिक्षा मनोविज्ञान, प्रेन्टिस–हॉल ऑफ इण्डिया प्राईवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, वर्ष–2012 छठा संस्करण, पृष्ठ–2–10
6. डॉ. अमित भारद्वाज, शिक्षा की अवधारणात्मक रूपरेखा, ठाकुर पब्लिकेशन प्रा. लि., लखनऊ, वर्ष–2022, प्रथम संस्करण, पृष्ठ–15–16
7. रघुनाथ अनंत माशेलकर, ज्ञान का युग और भारत, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, वर्ष– 2008, पृष्ठ–15

दाम्पत्य जीवन की त्रासदी और आपका बंटी

आकांक्षा सिंह

हिन्दी कथा साहित्य की चर्चित लेखिका मन्नू भंडारी का उपन्यास 'आपका बंटी' उस दौर की तथा समकालीन समय की विविध समस्याओं को उजागर करता है। सत्तर के दशक में लिखा गया यह उपन्यास अपने नए विषय एवं संरचनात्मक बुनावट के कारण अत्यंत लोकप्रिय रहा है। इसमें संबंध विच्छेद से उत्पन्न स्त्री-पुरुष या पति-पत्नी की समस्याओं को उजागर करना लेखिका की प्राथमिकता न होकर उसके तीसरे पहलू बच्चे के मानसिक द्वंद्व को केन्द्र में रखना था। गोपाल राय इस पर लिखते हैं-**हिंदी का यह पहला उपन्यास है जिसमें एक विशेष परिस्थिति में पले हुए बच्चे की मन:स्थिति का इतने विस्तृत फलक पर चित्रांकन किया गया है।**[1]

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कथा साहित्य की एक विशिष्ट पहचान स्त्री-पुरुष संबंधो को नए तरीके से बड़ी बेबाकी और गहराई से व्यक्त करना रहा है इसी कारण यह उसके पूर्ववर्ती कथा साहित्य से इसे अलगाती भी है। डॉ. नगेन्द्र का विचार है कि **''आधुनिकता के उपन्यासों की परम्परा में मन्नू भंडारी कृत 'आपका बंटी' काफी प्रसिद्ध है इसमें कहीं वैयक्तिक तो कहीं पारिवारिक और सामाजिक विषमताओं का मुखर विरोध मिलता है।''**[2] संबंधों के इस विश्लेषण में कहीं न कहीं संबंधों का विघटन भी शामिल है और इसीलिए पति-पत्नी के बीच संबंध-विच्छेद को आधार बनाकर काफी कुछ लिखा जा रहा है। 'आपका बंटी' उपन्यास में इसी स्त्री-पुरुष के संबंध विच्छेद को आधार बनाकर कथा की बुनावट की गई है पर इस उपन्यास की दिलचस्प चीज संबंध विच्छेद तक सीमित नहीं बल्कि इसके दुष्परिणाम स्वरूप एक बच्चे की जिंदगी का सवाल है। बच्चा बंटी उस पेड़ की सूखी हुई शाखा है जिसकी विस्थान के बाद जड़ें तो पुन: मजबूत हो जाती हैं परन्तु कमजोर शाखा सूखकर अलग हो जाती है। बंटी ही इस संबंध विच्छेद की त्रासदी को सर्वाधिक झेलता है। **''आपका बंटी में कथानक अत्यन्त सूक्ष्म है। पति-पत्नी और उनका बच्चा बंटी इस कथानक का केन्द्रबिन्दु है। इस तरह एक सामाजिक पारिवारिक समस्या के बीच जन्में और पल रहे संवेदनशील बालक बंटी को उपन्यासकार ने केन्द्र में रखा है। एक ओर सामाजिक विसंगति के शिकार बालकों के जीवन की त्रासदी और दूसरी ओर अधिकार भावना के थोथे अहंवाद से पीड़ित मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी नारी-पुरुषों के सम्बन्धों के खोखलेपन को व्यक्त करने का प्रयास किया है।''**[3]

यह सच है कि विवाह एक सामाजिक अनुबंध है, एक समझौता है, जिसे वर्तमान समाज और उसकी व्यवस्था दोनों पक्षों को जीवित अवस्था में भी मुक्ति की व्यवस्था देती है। बच्चे का प्राकृतिक जन्म विवाह को प्राकृतिक अनुबंध बना देता है और तलाक की व्यवस्था उस प्राकृतिक व्यवस्था को अमानवीय और क्रूर दृश्य में परिवर्तित कर देता है। वही दृश्य बंटी के रूप में व्यक्त हुआ है। डॉ. मनमोहन सहगल के अनुसार, **''माता-पिता की समस्याओं में पिसती हुई संतान को जिस मनोग्रथियों का शिकार हो जाना पड़ता है। उनका अनावरण करते हुए लेखिका ने युगलों को चेतावनी दी है, ताकि कोई कदम उठाने से पहले सामाजिक दायित्व को पहचाने।''**[4]

उपन्यास के केंद्र में बच्चा बंटी और उसकी माँ शकुन है।

कभी यह पूर्णता बंटी की कहानी लगती है जो दाम्पत्य विच्छेद की त्रासदी को सबसे अधिक झेलता है। बंटी के विषय में मन्नू जी लिखती हैं, **''इस पूरी स्थिति की सबसे बड़ी विडम्बना ही यह है कि इन संबंधों के लिए सबसे कम जिम्मेदार और सब ओर से बेगुनाह बंटी ही इस ट्रेडजी के त्रास को सबसे अधिक भोगता है। शकुन, अजय के संबंधों का तनाव और चटख बंटी की नस-नस में ही प्रतिध्वनित होती है। स्थिति की इस विडम्बना ने ही मेरे मन में एक आतंक जगाया था। शकुन अजय के आपसी संबंधी में बंटी चाहे कितना ही फालतू और अवांछनीय हो गया हो, परंतु मेरी दृष्टि को सबसे अधिक उसी ने आकर्षित किया। वस्तुतः उपन्यासकार के लिए अप्रतिरोध चुनौती, सहानुभूति और मानवीय करूणा के केन्द्र वे ही लोग हो पाते हैं, जो कहीं-न-कहीं फालतू हो गये हैं।''5**

तो कभी यह पूरी तरह शकुन की कहानी, जिसका अपना जीवन है जो जिंदगी में समझौता करना नहीं चाहती क्योंकि उसका अहं बीच में आ जाता है। वह पढ़ी-लिखी स्त्री है, कॉलेज में प्रिंसिपल है, आत्मनिर्भर है इसलिए समझौता का प्रश्न ही नहीं उठता?

शुरू के दिनों में ही एक गलत निर्णय ले डालने का अहसास दोनों के मन में बहुत साफ होकर उभर आया था। पर हर दिन और हर घटना ने जिस पर केवल सान ही चढ़ाई थी। समझौते का प्रयत्न भी दोनों में एक अंडरस्टैंडिग पैदा करने के लिए नहीं होता था, वरन् एक-दूसरे को पराजित करके अपने अनुकूल बना लेने की आकांक्षा से तर्कों और बहसों में दिन बीतते थे और ठंडी लाशों की तरह लेटे-लेटे दूसरे को दुखी और बेचैन तथा छटपटाते हुए देखने की आकांक्षा में सोते।[5]

उपन्यास में सदियों से चले आ रहे संस्कारों में लिप्त पतिव्रता, अबला, बेचारी, बेबस नारी की मनोदशा के बरक्स आधुनिक शिक्षित, स्वतंत्र एवं नौकरीपेशा नारी की मनोस्थिति को दर्शाया गया है। एक तरफ उसे अपने एकाकी जीवन के खिलाफ जीने और मातृत्व का ऋण चुकाने का बोझ है तो वहीं दूसरी तरफ वह आधुनिक नारी अपने हक की जिंदगी जीने की चाह रखती है। क्या वह केवल दूसरों की चाहनाओं को पूरती रहे, खुद कुछ न चाहे, चाहे तो गलत हो जाए, यह कैसी बात है। **''ऐसी अनुचित असंभव भी तो उसने कुछ नहीं चाहा। एक सहज सीधी जिंदगी, जिसमें रहकर वह कम से कम यह तो महसूस कर सके कि वह जिंदा है।''[6]**

अलग-अलग परिवेशों में अंकित शकुन की मानसिकता में आए परिवर्तन एक तरह से एकाकी जीवन से निकलकर नए संबंध स्थापित करने के लिए मजबूर करते हैं। जब उसे पता चलता है कि अजय दूसरा विवाह करने जा रहा है तो वह भी समाज की परवाह किए बगैर पुनर्विवाह के बारे में सोचती है और तभी वकील चाचा का एक कथन मात्र डॉ. जोशी के प्रति उसके आकर्षण को शादी के बंधन से जोड़ देता है, **''ठीक है जो कुछ भी हुआ, वह बहुत सुखद नहीं है, पर अंतिम भी नहीं है। कम से कम तुम जैसी औरतों के लिए वह अंतिम नहीं हो सकता है, नहीं होना चाहिए।''7**

सही मायनों में उसने यह संबंध इतनी आसानी से स्वीकार नहीं किया। जब वकील चाचा ने तलाक के कागज उसके सम्मुख रखे तो उसके अंतर्मन की पीड़ा इन वाक्यों में व्यक्त होती है—**साथ-साथ रहने की यंत्रणा भी बड़ी विकट थी और अलगाव का त्रास भी। एक अध्याय था जिसे समाप्त होना था और वह हो गया। इस वर्ष का यह विवाहित जीवन एक अंधेरी सुरंग में चलते-चले जाने की अनुभूति से भिन्न न था।.... इस सुरंग ने उसे एक दूसरी सुरंग के मुहाने पर छोड दिया है- फिर एक और यात्रा वैसा ही अंधकार वैसा ही अकेलापन।[8]**

शकुन की अहंवादिता के कारण विवाह-विच्छेद होकर रहता है । बहुत शिक्षित होने के बावजूद शकुन सफल पत्नी न बन सकी और न ही अच्छी माँ। इस बारे में चंद्रकांत बांदिबडेकर का कथन है—**शकुन की मानसिक पीड़ा का सशक्त चित्रांकन तो हुआ है ही, समस्त अनुभव की भारतीयता पर जो दृष्टि केंद्रित हुई है, उसके कारण पता चलता है कि शकुन जैसी आधुनिक नारी के लिए भी तलाक जैसी घटना कितनी पीड़ादायक है।[9]**

लेखिका ने पूरे उपन्यास में यही चित्र उकेरे हैं कि बच्चे की जिम्मेदारी सिर्फ माँ की नहीं होती पिता की भी समान जिम्मेदारी होती है। अगर पिता अजय बड़ी आसानी से किसी दूसरी स्त्री से अपने संबंध स्थापित कर सकता है तो एक स्त्री को भी समान स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। जब बंटी के उत्पात बढ़ते जाते हैं तो वह इस अंतर्द्वंद्व से गुजरती है- **बंटी उसके और अजय के बींच सेतु नहीं बन सका तो उसे वह अपने और डॉ. के बीच बाधा भी नहीं बनने देगी। बंटी को जरार बनना है तो मीरा और अजय के बीच बने। अजय**

भी तो जाने कि बच्चे को लेकर किस तरह यातना से गुजरना होता है....कि पुरानी स्लेट इतनी जल्दी आसानी से साफ नहीं होती।''[10]

लेखिका नें शकुन के द्वारा नई मान्यताओं, नयी पाश्चात्य संस्कृति में विकसित स्वतंत्र नारी व्यक्तित्व की स्थापना की है। शकुन मन्नू के स्वयं के विचार स्वातंत्र्य की प्रतीक है। प्राचीन समय में नारी का शोषण होता था और आज के इस तथाकथित प्रगतिशील समाज में भी उसका शोषण होता है। डॉ. रामदरश मिश्र कहते हैं कि ''**जहाँ उषा प्रियंवदा ने अपने 'रूकोगी नहीं राधिका' जैसे उपन्यासों में आधुनिक पढ़ी-लिखी नारी के स्वतंत्र निर्णय लेने की शक्ति को भी एक अजीब बेबसी और सामाजिक घिराव के यथार्थ में व्यक्त किया है वैसे ही मन्नू भंडारी ने इस नये प्रश्न को बच्चे, पत्नी और पति तीनों की मानसिकता चित्रित करते हुए बच्चे के जीवन की अनिश्चितता और उसकी ट्रेडेजी के अट्टहास को उभारा है। लेखिका बच्चे को केन्द्र में रखने के बावजूद पत्नी के दर्द को अधिक संक्रांत और प्रामाणिक रूप से उभार सकी है।''**[11]

शकुन अजय से अलग है और डॉ. जोशी से विवाह के बाद भी खुश नहीं है वह सोचती है-''साथ-साथ रहने की यंत्रणा भी बड़ी विकट थी और आज अलगाव त्रासद है।'' यही आधुनिकता की विडम्बना है जो शकुन भोग रही है। एक तरफ वर्तमान का मनचाहा रूप संवारने की आकांक्षा रखती है तो वहीं दूसरी ओर अतीत से मुँह नहीं मोड़ पाती। एक तरफ मातृत्व दांव पर लगा है तो दूसरी ओर नयी पत्नी, नयी माँ से आशाएँ, अपेक्षाएँ हैं।

शकुन की यही यातना की लय समूचे सुखों के बीच उपन्यास के आरम्भ से अंत तक बनी रहती है। शकुन की यातना और अकेलापन एक ऐसा अभिशाप है जो उसकी स्वाधीनता को बांझ बना देता है। शकुन अपने अकेलेपन और भावना के बीच अपनी स्वतंत्रता में बंध जाने की पीड़ा और व्याकुलता को झेलती रहती है। इसीलिए ''**शकुन के व्यक्तित्व की स्वतंत्रता, स्त्री-पुरुष के संबंधों की ऐसी संस्था की मांग करती है जो उसकी यातना और समस्या का मानवीय एवं संतोषप्रद उत्तर दे सके।''**[12]

शकुन के इस नये संतुलन समायोजन में देह धर्म का भी अंश है किन्तु इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण है अजय को पीड़ित और पराजित देखना इसी वजह से वह सात वर्षों से एकाकी जीवन जी रही है- ''**सामने वाले को पराजित करने के लिए जैसा सायास और सन्नद्ध जीवन उसे जीना जीवन पड़ा, उसने उसे खुद ही पराजित कर दिया।**''

आपका बंटी परम्परागत संबंधों के तर्ज का उपन्यास होते हुए भी विद्रोही तेवर और क्रांतिकारी अंतर्वस्तु की सम्भावनाओं और समस्याओं से युक्त है। यह आधुनिक जीवन की यथार्थवादी समस्या है जिसकी चोट से सबसे अधिक पीड़ा बंटी को होती है। **हमारी प्राचीन परम्परा में भी बच्चों की शिक्षा हेतु उन्हें माता-पिता, घर-परिवार से दूर गुरुकुल भेजा जाता था, आधुनिक युग में बंटी बोर्डिंग स्कूल जाता है। दोनों ही घटनाएँ समान हैं लेकिन परिस्थितियाँ भिन्न हैं, एक बच्चा शिक्षा प्राप्त कर अपने घर, अपने माता-पिता के पास आने के लिए अत्यंत प्रसन्न और उत्सुक है तो वही बंटी घर की स्थितियों से त्रस्त होकर मां-बाप के तलाक के बाद की घटनाओं से तंग आकर बोर्डिंग जाता है और कभी पीछे मुड़कर नहीं देखना चाहता।**

यह उपन्यास आधुनिकता और परम्परावादिता के बीच दिग्भ्रमित पति-पत्नी को जीवन की सम्पूर्णता से साक्षात्कार कराकर पारम्परिक मूल्यों के सम्बंध में सोचने को बाध्य करता है। अत: शकुन न तो एक आदर्श स्त्री के रूप में उभरती है, न सफल पत्नी के रूप में जी पाती है, न मातृत्व की सफलता का आनंद ले पाती है। शकुन के इस नए पत्नीत्व के समक्ष उसका मातृत्व बौना पड़ जाता है और अपने घुटने टेक लेता है। वह प्राय: बिखरी-बिखरी रहती है। वह बंटी को अपने से दूर करके भूल नहीं पाती। माधुरी बाजयोगी कहती हैं - **शकुन ने समाज और पड़ोसियों की परवाह न कर स्वतंत्र निर्णय भले ही लिया हो किन्तु निजी संबंधों पर विचार करना भी आवश्यक है, उसके बिना बाह्य परिवर्तन कितने ही सुखद हो किन्तु मानसिक क्लेश से मुक्ति असान नहीं।**[13]

मन्नू जी ने 'आपका बंटी' में शकुन के माध्यम से नारी अस्मिता को दर्शाया है। उन्होंने इस उपन्यास में इस प्रकार के प्रश्न उठाए हैं कि यदि पुरुष तलाक लेकर दूसरा विवाह कर सकता है तो स्त्री क्यों नहीं? दूसरा विवाह-विच्छेद हो जाने पर बच्चे की जिम्मेदारी माँ ही क्यूँ उठाए? क्या एक स्त्री को अपने जीवन को अपनी इच्छानुसार चलाने का कोई हक नहीं?

निष्कर्षत: यह उपन्यास आधुनिक शिक्षित पति-पत्नी के अहं और द्वंद्व का शिकार बंटी की समस्याओं को तो उठाता ही है साथ ही तलाकशुदा स्त्री के नये जीवन के साथ सामंजस्य,

बीते सम्बंधों से उत्पन्न अकेलेपन की अकुलाहट, पत्नीत्व और मातृत्व से अलग निजी जीवन जीने की व्याकुलता को भी रेखांकित करता है। **'आपका बंटी' स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में बदले हुए स्त्री-पुरुष संबंधों के परिप्रेक्ष्य में संबंध विच्छेद की त्रासदी को बच्चे की दृष्टि से देखने का प्रयास है। शकुन और अजय, अपने-अपने प्रसंग में संबंध-विच्छेद की इस जटिल प्रक्रिया से जीवन जीने की स्थिति से गुजर कर फिर काफी कुछ सामान्य जाते हैं। लेकिन लेकिन बंटी के साथ ऐसा नहीं होता। अलग-अलग परिवेशों में अंकित बंटी की मानसिकता में घटित परिवर्तन वस्तुतः उसके विकास के अलग-अलग स्तर हैं जो एक निश्चित क्रम में ही सार्थक हैं। इस परिवेश से भागकर भी मुक्ति की राह जैसे उसके लिए बंद है।**[14]

शोधार्थी, पीएच.डी. हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : aakanksha123singh@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. राय गोपाल, समीक्षा, सम्पादक-गोपाल राय, संस्करण, 1971, पृ. 3
2. धमेंद्र प्रताप सिंह, आपका बंटी एक समीक्षा, पृष्ठ 5
3. डॉ. बंशीधर, डॉ. राजेन्द्र मिश्र मन्नू भण्डारी का श्रेष्ठ सर्जनात्मक साहित्य, पृष्ठ 71
4. डॉ. मनमोहन सहगल उद्धृत नन्दिनी मिश्र, मन्नू भंडारी का उपन्यास साहित्य, पृष्ठ 129
5. आपका बंटी-मन्नू भंडारी, पृष्ट 31
6. वही, पृष्ठ 132
7. वही, पृष्ठ 30
8. वही, पृष्ठ 33
9. चंद्रकांत बांदिबडेकर- नायक, खलनायक, विदूषक, आते जाते यायावर, पृष्ठ 514
10. वही, पृष्ठ 121
11. डॉ. वंशीधर, राजेन्द्र मिश्र: मन्नू भंडारी का श्रेष्ठ सर्जनात्मक साहित्य, पृष्ठ 6
12. डॉ. नित्यानन्द तिवारी, 'सृजनशीलता का संकट', पृष्ठ 58
13. माधुरी बाजयोगी- उपन्यासकार मन्नू भंडारी एक अध्ययन, पृष्ठ 56
14. मधुरेश -हिंदी उपन्यास का विकास, पृष्ठ 200

आधुनिक जीवनशैली में योग की उपादेयता

शानू* डॉ. नीलम शर्मा**

शोध सारांश

भारतीयों के लिये योग की संस्कृति मानव जीवन की तरह विस्तृत है, योग मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष से सम्बन्धित है। भारतीय जीवन का मौलिक आधार योग है, योग मानव आत्मा का मूल स्वरूप है। मनुष्य मात्र योग की तरफ अग्रसर है। सभी भारतीय दार्शनिकों ने आत्मोन्नति के साधन के रूप में योग की महत्ता को माना है। हमें वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण सभी में योगाभ्यास का वर्णन मिलता है। भारतीय संस्कृति तथा परम्परा में योग साधना का असाधारण महत्व है, योग की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है।

योग के द्वारा मनुष्य शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक शक्ति को प्राप्त कर सकता है। वह भौतिक समृद्धि के साथ आर्थिक समृद्धि प्राप्त कर अपने जीवन को सार्थक व धन्य बनाता है। वर्तमान समय में मनुष्य अनेक प्रकार के सन्तापों से पीड़ित है। आज योग की क्रियाओं से मनुष्य को अनेक व्याधियों से मुक्ति प्राप्त हो रही है। योग दर्शन का मुख्य विषय साधना है, योग दर्शन को भारत ही नहीं विश्व के समस्त धार्मिक सम्प्रदायों ने ग्रहण किया। आधुनिक समय में योग दर्शन की वैज्ञानिकता को देखकर चिकित्सा शास्त्र में भी इसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है।

प्रमुख शब्द :

योग, शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, नैतिक

योग शब्द 'युज् समाधौ' आत्मनेपदी दिवादिगण धातु में 'घञ्' प्रत्यय से निष्पन्न होता है, योग का अर्थ है जोड़ना, मिलाना। योग भारतीय दर्शन का एक प्रमुख अंग है। योग लौकिक जीवन ही नहीं पारलौकिक जीवन को सफल बनाने पर बल देता है।

योग दर्शन एक क्रिया प्रधान दर्शन है जिसमें यौगिक क्रियाओं एवं प्राणायाम के माध्यम से चित्त एकाग्र तथा मन प्रसन्नचित रहता है। वेद, ब्राह्मण और उपनिषदों में योग प्रक्रिया का विशिष्ट वर्णन है। जैन और बौद्ध साहित्य में भी योग प्रक्रिया का विवेचन किया गया है। योग दर्शन विवेक ज्ञान के अतिरिक्त मोक्ष प्राप्ति के साधनों पर बल देता है और इन सभी साधनों में मानसिक क्रियाओं के नियन्त्रण के बारें में बताया गया है। योग को एक स्वतन्त्र दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय महर्षि पतंजलि को जाता है। उनका योगसूत्र योग दर्शन का सर्वप्रथम प्रमाणिक ग्रन्थ है। योग के द्वारा मनुष्य के अन्दर उपस्थित सभी मलिनतायें नष्ट हो जाती हैं, जो व्यक्ति का नैतिक उत्थान के साथ ही सामाजिक कल्याण का मार्ग भी प्रशस्त करती है। योग प्रक्रिया को वैज्ञानिक और आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान करना इस दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है।

योग के द्वारा मनुष्य को शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य के साथ-साथ परमात्मा की प्राप्ति होती है। योग का मुख्य प्रयोजन ईश्वर साक्षात्कार है, उसी से मानव समस्त दुःखों से मुक्त होता है और नित्यानन्द की प्राप्ति करता है। योगी बनने के लिये शुद्ध ज्ञान, शुद्ध कर्म और शुद्ध उपासना का होना आवश्यक है। ज्ञान के प्रमुख विषय तीन हैं - एक ईश्वर, दूसरा जीव और तीसरा प्रकृति, जो व्यक्ति इन तीनों के स्वरूप को अच्छे प्रकार से नहीं जानता वह योगी कभी नहीं बन सकता।

कठोपनिषद् में योग के विषय में कहा गया है -

यदा पचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।

बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गति।।

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम्।

अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।।[1]

जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ स्थिर हो जाती है और मन निश्चल बुद्धि के साथ आ मिलता है इस अवस्था को परम गति कहते हैं। इन्द्रिय, मन और बुद्धि की स्थिर धारणा का ही नाम योग है ऐसा अनुभवी योगी मानते हैं, क्योंकि उस समय साधक विषय दर्शनरूप सब प्रकार के प्रमाद से सर्वथा रहित हो जाता है।

अतः परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छा वाले साधक को निरन्तर योगयुक्त रहने का दृढ़ अभ्यास करते रहना चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है -

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गंत्यक्त्वा धनजंय।

सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।[2]

योग में स्थिर होकर कर्मफल का त्याग कर और सिद्ध-असिद्ध में सम होकर कर्तव्य कर्मो को करना चाहिये, यही समता योग है।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।[3]

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि कर्मो में कुशलता का नाम ही योग है, कर्मो की कुशलता से तात्पर्य यह है कि हमें कर्म इस प्रकार से करने चाहिये कि वे बन्धन का कारण न बने, अनासक्त भाव से अपने कर्तव्य कर्मो का निर्वहन करना ही कर्म योग है।

महर्षि पाणिनी के अनुसार योग की परिभाषा संसार के साथ वियोग और ईश्वर के साथ संयोग का नाम योग है। महर्षि पतंजलि ने अपने योग ग्रन्थ में योग के विषय में कहा है -

योगश्चितवृत्ति निरोधः।।[4]

प्रधानता से चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग नाम से कहा गया है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।।[5]

चित्त की वृत्तियों के निरोध हो जाने पर मनुष्य अपने जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त करता है, परम लक्ष्य अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित होना है।

तप, स्वाध्याय और ईश्वर शरणागति ये तीनों क्रियायें योग है।

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।।[6]

योग का मुख्य उद्देश्य जीव का ब्रह्म से मिलाना है मनुष्य ईश्वरीय अंश होने के कारण ईश्वर से मिलने का अभ्यास करता है और अभ्यास के परिपक्व हो जाने पर मनुष्य स्वयं को ईश्वर से जोड़ पाता है। प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति भले ही न हो परन्तु शान्ति प्राप्ति करना है।[7] योग का प्रथम चरण है कि अपने विचार, व्यवहार को इस प्रकार रखे जो दूसरों के प्रति पवित्र, सहानुभूतिपूर्ण हो, दूसरा चरण है आत्मशोधन। जब तक शरीर, इन्द्रिय तथा मन मनुष्य के वश में नहीं रह पाते तब तक योग की सिद्धि नही हो पाती।[8]

शारीरिक महत्व :-

''शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'' शरीर ही धर्म (कर्तव्य) के पालन का प्रथम और प्रमुख साधन है। यदि शरीर स्वस्थ नहीं है, तो व्यक्ति धर्म या किसी भी कर्म को सही ढंग से नहीं कर सकता। स्वस्थ शरीर ही जीवन के सभी कार्यो और कर्तव्यों को पूरा करने का माध्यम है।

योग के आठ अंगों में आसन व प्राणायाम से शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है, जिससे शारीरिक शक्तियों का विकास किया जा सकता है। आसन व प्राणायाम से सभी अंग व्यवस्थित ढंग से कार्य करने लगते हैं। प्राणायाम के अभ्यास से वायु शुद्ध होती है, श्वास द्वारा सात्विक अंश शरीर में प्रवेश होता है और प्रश्वास द्वारा ज्यादा मात्रा में विशुद्ध पदार्थो का निष्क्रमण होता है जिससे जीवन शक्ति में वृद्धि होती है। रक्त शुद्ध होता है, शरीर को स्थिरता प्राप्त होती है, वर्तमान समय में फैल रहे अनेक प्रकार के रोगों पर विजय पाने के लिये मनुष्य योग द्वारा अपनी रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ा सकते हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन भी आज योग को शारीरिक, मानसिक रोगों के उपचार की अनिष्फल चिकित्सा विधि मानता है। आधुनिक जीवन में योग को अपनाकर अनेक प्राणघातक रोगों से बचा जा सकता है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में योग के शारीरिक महत्व को इस प्रकार बताया गया है -

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः।

प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरं।।[9]

जिसने योग रूपी अग्नि में अपने शरीर को तपा लिया उस मुनष्य के शरीर में न तो कोई रोग होता है और न ही उसमें बुढ़ापे के लक्षण प्रकट होते हैं और न ही असमय मृत्यु होती है।

मानसिक महत्व :-

आधुनिक समाज में मानसिक रोगों में वृद्धि होती जा रही है। जो विकट रूप लेती जा रही है, आधुनिक विज्ञान भी जिसका निराकरण करने में असमर्थ है।

तनाव, चिन्ता, तीव्र भावावेश, कटुता, घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध आदि से व्यक्ति के शरीर का सन्तुलन बिगड़ जाता है, जिससे शरीर में कई रोग उत्पन्न होते हैं जिनके कारण मस्तिष्क में दुर्विचार आते हैं। जो शरीर के लिये हानिकारक होते हैं। मन और शरीर का घनिष्ठ सम्बन्ध है यदि मन स्वस्थ है तो शरीर भी स्वस्थ रहता है। मन के चिन्ताग्रस्त होने पर शरीर भी दुर्बल हो जाता है और मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं।

योग द्वारा चित्त की वृत्तियों पर नियन्त्रण लगाया जा सकता है मन की चंचलता को कम करके एकाग्रता को प्राप्त किया जा सकता है। योग अभ्यास से मन को प्रभावित करने वाली वासनाओं व कुविचारों को नष्ट करके शरीर के सभी मानसिक रोगों की मुक्ति से तनाव रहित जीवन की प्राप्ति होती है।

योग से मस्तिष्क शान्त हो जाता है, चेतना और भावनाओं में सुधार होता है, जिससे आत्मविश्वास में वृद्धि होती है और जीवन ऊर्जा का प्रवाह भी सुधर जाता है। कुल मिलाकर योग से चिन्ताओं को कम करने में मदद मिलती है और आशावादी दृष्टिकोण का विकास होता है।

आध्यात्मिक महत्व :-

योग साधना के अभ्यास से व्यक्ति अपने मन को ईश्वरोन्मुख बनाकर तत्वज्ञान की प्राप्ति कर सकता है। योग दृष्टि के द्वारा ही सृष्टि के गूढ़तम रहस्यों को उजागर किया जा सकता है। योग के माध्यम से तत्वदर्शन, आत्मदर्शन, अतीन्द्रिय दर्शन व ब्रह्मसाक्षात्कार किया जाता है। योग की जड़ें आध्यात्मिकता में गहराई से निहित है जिससे व्यक्ति अपनी आत्मा से जुड़कर स्वयं की शक्तियों को जागृत करता है।

पारिवारिक महत्व :-

मनुष्य के विकास की नींव परिवार होता है जिसमें विश्वास, श्रद्धा, त्याग, संयम इत्यादि सम्मिलित है। पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति के अनुकरण से समाज में अनेक समस्यायें पैदा हुई, जिससे नैतिक मूल्यों का ह्रास हुआ है। जिससे परिवारों में अनैतिक आचरण देखनें को मिल रहा है। अष्टांग योग में इसका समाधान निहित है। यम, नियम के माध्यम से मनुष्य के व्यवहारिक पक्ष की शुद्धि होती है जिससे व्यक्ति एक अच्छे परिवार की संरचना कर सकता है। भौतिक सुखों की चाह को सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह के द्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है।

सामाजिक महत्व :-

आधुनिक समाज में मनुष्य ऐश्वर्यपूर्ण जीवन बिता रहा है, प्रतिस्पर्धा व धन की लोलुपता में मनुष्य अनैतिक कार्यों को कर रहा है जिससे समाज में सामाजिक बुराइयाँ, नकारात्मक चिन्तन बढ़ रहा है। जिससे शारीरिक व मानसिक रोगों में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। योग के अन्तर्गत प्राणायाम व आसनों का अभ्यास करने से शारीरिक व मानसिक रोगों का निवारण होता है। जिसका प्रभाव समाज पर पड़ता है क्योंकि स्वस्थ व्यक्ति ही स्वस्थ समाज का निर्माण कर सकता है, जिससे आदर्श समाज की स्थापना होती है।

आर्थिक महत्व :-

आधुनिक जीवन में योग विद्या व आर्थिक स्तर का सीधा सम्बन्ध है, क्योंकि स्वस्थ व्यक्ति ही अधिक परिश्रम करके अपने आय के साधनों का विकास कर अपनी आय को बढ़ाता है। शरीर में रोग होने की स्थिति में व्यक्ति की कार्यक्षमता प्रभावित होती है जिससे आर्थिक स्तर भी प्रभावित होता है। योग के अभ्यास से कार्य करने वाले श्रमिकों, कर्मचारियों की कार्यकुशलता को बढ़ाया जा सकता है, जिससे उत्पादकता में वृद्धि कर आर्थिक क्षेत्र में उन्नति कर सकते हैं। योग का अभ्यास मनुष्य को निरन्तर कार्य करने की प्रेरणा देता है। योग प्रशिक्षक योग विद्या से धन का लाभ उठा रहे हैं। आज देश में ही नहीं विदेशों में अनेक योग केन्द्र खुल गये हैं जो शुल्क लेकर योग सिखा रहे हैं।

नैतिक महत्व :-

योग नैतिक मूल्यों का विकास करता है योग के अभ्यास से इन्द्रियों पर नियन्त्रण होता है व सद्विचारों तथा अच्छी आदतों में वृद्धि होती है।

योगाभ्यास के माध्यम से मनुष्यों के मन की शुद्धि होती है व शरीर की शुद्धि होती है। योगानुष्ठान करने वाले व्यक्ति की बुद्धि दुर्गुणों से रहित हो जाती है और ज्ञान की प्राप्ति के साथ ही उचित, अनुचित का बोध होने लगता है।

अष्टांग योग के अंन्तर्गत यम (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य) और नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय,

ईश्वर प्राणिधान) से मनुष्यों के व्यवहार की शुद्धि होती है। योगाभ्यास से इन्द्रियों में संयम व विचारों में संयम आ जाता है तथा सुव्यवस्थिति व अनुशासित जीवन हो जाता है नैतिक गुणों को विकसित करने में योग की अहम् भूमिका है।

चारित्रिक महत्व :-

योग एक आदर्श व उच्च चरित्र के निर्माण में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। योग के अभ्यास से मन एकाग्र व जीवन मर्यादित होता है एवं चरित्र उत्तम होने लगता है।

प्राचीनकाल में भी योग की महत्ता का वर्णन श्रीमद्भगवद्गीता में श्री कृष्ण ने इस प्रकार किया है -

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुनः।।[10]

अर्थात् योग तपस्वियों से भी श्रेष्ठ माना जाता है और केवल शास्त्रों के जानने वाले अनुभवरहित ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना जाता है। कर्मकाण्डियों से भी योगी श्रेष्ठ है इसलिये हे अर्जुन तू योगी बन और शास्त्रों के ज्ञाता से, तप से योगी को श्रेष्ठ बताया गया है।

अतः इस योगविद्या का अनुसरण कर मनुष्य जीवन के मुख्य उद्देश्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। यम नियम का अनुसरण करने पर सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य एवं तपस्वाध्याय, सन्तोष जैसे गुण जीवन में सम्मिलित हो जाते हैं और मनुष्य को लोभ, मोह, आलस आदि से छुटकारा मिल जाता है। जीवन में उत्साह, सौन्दर्य का प्रवेश होता है तथा उत्तम चरित्र प्राप्त कर मनुष्य अपने जीवन को प्रकाशित करता है।

***शोधकर्त्री, संस्कृत विभाग**
कु. मायावती राजकीय महिला
स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
बादलपुर, गौतमबुद्धनगर, उ.प्र.
****Corresponding Author**
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
कु. मायावती राजकीय महिला
स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
बादलपुर, गौतमबुद्धनगर, उ.प्र.

सन्दर्भ सूची

1. ईशादि नौ उपनिषद्, कठोपनिषद् 2/3 10-11, व्या. गोयन्दका हरिकृष्ण दास, गीताप्रेस गोरखपुर, प्रकाशन सं. 2073।
2. श्रीमद्भगवद्गीता 2/48, सम्पादक गोयन्दका जयदयाल, गीताप्रेस गोरखपुर, प्रकाशन सं. 2073।
3. गोयन्दका जयदयाल, श्रीमद्भगवद्गीता 2/50।
4. पतजंलि, योगदर्शनम् 1/2 व्या. परिव्राजक स्वामी सत्यपति, दर्शन योग महाविद्यालय, आर्यवन, रोजड, पत्रालय-सागपुर जि. साबर काँठा (गुजरात) प्रकाशन, द्वितीय संस्करण-2003।
5. पतजंलि, योगदर्शनम् 1/3।
6. पतजंलि, योगदर्शनम् 2/1।
7. राजेश कर्मयोगी, योग और शिक्षा पृष्ठ-12, ग्रा.- डाडी़, पो.- सगरा सुन्दरपुर प्रतापगढ़ मयंक प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2002।
8. राजेश कर्मयोगी, योग और शिक्षा पृष्ठ-121
9. ईषादि नौ उपनिषद्, श्वेताश्वेतरोपनिषद् 2/12, व्या. गोयन्दका हरिकृष्ण दास, गीताप्रेस गोरखपुर, प्रकाशन सं. 2073।
10. गोयन्दका जयदयाल श्रीमद्भगवद्गीता 6/46, व्या. गोयन्दका हरिकृष्ण दास, गीताप्रेस गोरखपुर, प्रकाशन सं. 2073।

शोध-पत्र

हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त विस्थापन एवं प्रवास की समस्या

सौरभ चन्द्र शर्मा

शोध सारांश :

देश-विदेश की नीतियों में विस्थापन की गंभीरता को आँका गया है। देश की गिरती अर्थव्यवस्था की समस्या ने निचले तबके के लोगों को अधिक प्रभावित किया है। उसके बाद 'निम्न मध्यवर्ग' को फिर 'उच्च मध्यवर्ग' कहीं हद तक प्रभावित हुआ है। आर्थिक स्थिति को सुधारने हेतु मनुष्य अपने घर-परिवार से दूर प्रवासी जीवन व्यतीत कर रहा है। किसान महंगे कृषि उत्पाद को खरीदने में अक्षम है, जिसकी वजह से उसकी खेती मारी जा रही है। इस महंगाई के दंश के वशीभूत होकर किसान आत्महत्या कर रहे हैं। दूसरी ओर गरीब, मजदूर एवं किसान अर्थ की किल्लत के कारण अपने घर परिवार से दूर होता जा रहा है। युवा खुद को बेरोजगार अनुभव कर बड़े-बड़े शहरों में विस्थापन और प्रवासी जीवन जीने का मजबूर हो गया है। साहित्य अपने समय के इस बदलाव पर चिंतनशील है। अर्थ की कमी से आए विस्थापन के विभिन्न बिंदुओं से जन सामान्य को परिचित करा उन्हें उद्धृत करने का काम उसने किया है। जिस पर आगे क्रमशः विचार किया गया है।

बीज शब्द :

गाँव, विस्थापन, प्रवासीकरण, त्रासदी, कारखानों, घर की स्मृतियाँ, अकेलापन।

शोध आलेख :

विस्थापन की त्रासदी से ग्रसित लोग देश में ही नहीं विदेशों में भी है। इस दंश से जनजाति समुदाय अधिक उत्पीड़ित है, जहाँ भी जिस जगह में सरकार को खनिज-पदार्थ की मात्रा अधिक मिलती है या बाँध निर्माण करना होता है। उस जगह को अधिकृत कर सदियों से बसे लोगों को त्वरित विस्थापित होने की सूचना प्रसित कर दिया जाता है। जब तक जनजातीय लोग उस सूचना के बारे सोच ही रहे होते हैं, तब तक कॉर्पोरेटिव सेक्टर के लोग राजनेताओं और पुलिस प्रशासन के साथ मिलकर उनको मारपीट कर दर-ब-दर कर देते हैं। विस्थापित जन को नई जगह में व्यवस्थित होने में कितनी समस्या आती है। उसका अनुमान लगाना शायद ही संभव हो पाए। कई लोग विस्थापन के कारण दूसरे शहरों में जन जीवन का पेट पालने के लिए प्रवासी जीवन का सामना भी करता है। इस मुद्दे को लेकर कई साहित्यकारों ने विस्थापन से त्रस्त लोगों की कहनियाँ रचनाओं में उल्लेखित की हैं। विस्थापन और प्रवास पर मधु काँकरिया, रणेन्द्र, हरीराम मीणा, भगवानदास मोरवाल, कमल किशोर गोयनका एवं तेजेंद्र शर्मा आदि लेखकों ने अपनी कलम चलाई है। इन्होंने विस्थापन की टीस और प्रवासी जीवन की कठिनाई को साहित्य के माध्यम से बहुत बड़े पाठक वर्ग तक पहुँचाया है। अपने भरण पोषण और महँगाई के दंश से परिवार को निकली खातिर एक राज्य से दूसरे राज्य तथा एक देश से दूसरे देश में रोजगार खातिर जाना पड़ता है।

गाँव बस्ती के लोग जब दूसरे शहरों में जाकर रोजगार की तलाश कर वहाँ बस जाते हैं तो शहरों की कहानी और प्रवासी जीवन में चल रही व्यथा को उद्धृत कर हैं। प्रवासी मजदूरों की कथा को अभिव्यक्त करते सूर्यदीन यादव 'अँधेरा जहाँ उजाला' उपन्यास में लिखते हैं, ''शहर में लोग अपनी कहानी मन में दबाये हुए मिलों, कारखानों और अन्य नौकरी-पेशों से ऐसे जुड़े रहते हैं, जैसे चुंबक से लोहा जुड़ा हो। एक मिल से

अनेक जाति, धर्म, देश विविध भाषी आदमी नहीं, एक चुंबक से कई लोहे के टुकड़े जुड़े होते हैं। ...शहरी जीवन फैशनेबल कहा जा सकता है, पर गाँव की तरह जीवंत कम लगता है। यहाँ धूल में ओरिजनटी की खुशबू है। वहाँ के धुएँ में मेकअप की गलाघोंटी गंध। यह जन्मभूमि है, वह कर्मभूमि।''[1] भूमंडलीकरण की पद्धति ने प्रवासी जीवन जीने के लिए व्यक्ति को बड़े-बड़े शहरों के कारखानों में गरीबी को दूर करता दृष्टिगत हुआ है। अनेक धर्म, जाति, व मजहब के लोग एक-एक कर शहरों में जा कर ग्रामीण स्मृतियों को याद करता हुआ। प्रवासी दिनचर्या जीने लगता है। सगे-संबंधियों से दूर प्रदूषित वातावरण में जीवन खपा रहा है। राजनेता प्रवासी लोगों के लिए उनके राज्य में कोई बड़ा प्लांट स्थापित नहीं करता जिससे की लोगों को प्रवास के जीवन से मुक्ति मिले। बड़े-बड़े उद्योग धंधे भी गाँव कस्बों से दूर महानगरों में बनाए जाते हैं ताकि लोग बेरोजगारी के कारण व बढ़ती महँगाई एवं गरीबी के भंवर से अपने छूटने के लिए महानगरों की ओर पलायन करें। इस पलायन की वजह से राजनेता को ग्रामीण विकास की मगज-मारी से मुक्ति मिल जाती है, क्योंकि राजनेताओं से वहाँ कोई सवाल पूछने वाला बूतरु भी नहीं रह जाता है। इस पलायन के संदर्भ में विद्यावती दुबे 'शेफाली के फूल' रचना में लिखती हैं, ''अमरहा गाँव के बहुत-से युवक शहरों की ओर पलायन कर गए। फिर वहीं रहने भी लगे। कुछ ने तो गाँव को बिल्कुल ही भुला दिया है। जिन्हें याद भी है वे संपर्क तो बनाए हुए हैं, लेकिन गाँव के विकास की ओर उनका ध्यान न होकर अपने-अपने स्वार्थों में उलझा हुआ है।''[2]

लेखिका ने इस उद्धरण में युवा वर्ग की राजनीति उदासीनता को रेखांकित करते हुए पलायन के पीछे निजी स्वार्थ को भी लिपिबद्ध किया है। आज का युवा वर्ग अपने मूल से विचलित होकर पलायन वादी संस्कृति को ओढ़ तथा बिछा रहा है। अपने बुजुर्गों की दयनीय होती परिस्थिति की को भी विस्मृत कर शहरी विदेशी सुख भोग रहा है। पलायन वादी सभ्यता की परिपाटी में तथाकथित बाहर पढ़ने वाले लोग शामिल हैं। इस स्थिति को समझने के बाद दो प्रकार के व्यक्ति उल्लेखित हुए हैं। एक वह लोग जिनको विस्थापन के कारण दुख-दर्द, अत्याचार, का सामना करना पड़ता है। भारत जैसे के आंतरिक राज्य के जैसे-मणिपुर, मेघालय, मिजोरम अथवा असम आदि इलाकों से जब लोगों को जबरन अपनी संस्कृति से विस्थापित किया जाता है तो भारत के ही अन्य राज्य उनके साथ विविध भेदभाव करते हैं जिसकी वजह से आंतरिक कलह का शिकार हो जाते हैं।

विस्थापित होने की त्रासदी को अलका सरावगी 'शेष कादम्बरी' में लिखती हैं, ''वे लोग मेघों के देश से आए थे : धानखेती, शिलांग, मेघालय। दादा-दादी, दो बेटे, दो बहुएँ, दो-दो यानी चार बच्चे। रूबी दी के घर के सन्नाटे को एकबारगी गायब करते एक साथ दस प्राणी, जो धानखेती के हरेपन में खून का लाल रंग घोलने को तत्पर लोगों से बचकर आए थे। अपहरण की धमकी मिली थी, धानखेती के पार पाइन के जंगलों से। रातोरात वे जो-सो बाँध-जोड़कर निकल गए थे, इस विश्वास के साथ कि कभी सद्बुद्धि जागेगी और वे लौट आएँगे।''[3]

उक्त कथन में उद्योगपतियों के गुंडों से सताये जाने पर अपनी पूरी संपत्ति छोड़कर किसी दूसरी जगह विस्थापित होना पड़ा। निजी कारण की इस नीति ने, आधुनिक व बाजारी सभ्यता के दुष्प्रभाव ने पर्यावरण तथा वहाँ के जनजाति समुदाय के जन-जीवन को विकास के तर्ज पर डरा-धमका कर प्रकृति की गोद से खदेड़ दिया है। इस टीस को लेखिका व्यक्त करते हुए लिखती है, ''जब दूसरे महायुद्ध में बर्मा पर जापान की फौज ने अधिकार कर लिया, और उनके आसपास के लोग वह देश छोड़कर वापस भारत लौटने लगे तब भी वे वहीं टिके रहे। एक बार अपने देश की सुनहली-रुपहली रेत को छोड़कर आने में उन्होंने घोर कष्ट का अनुभव किया था, अब इस देश को छोड़ने में उन्हें उससे भी अधिक कष्ट हो रहा था। वे जानते थे कि मिट्टी छूटने की तकलीफ क्या होती है, क्योंकि वह उनके पुरखों से उनके रक्त में बहती चली आई थी। पर अंतत: वह मिट्टी छूटकर ही रही। ...जब उन्होंने तितलियों पर भी बंदूक तान दीं, तब वे समझ गए कि अब उनका यहाँ ठौर नहीं है। उन्होंने बोरिया-बिस्तर बाँध लिया।''[4]

जनजाति समुदाय को तानाशही व्यवस्था की क्रूरता के कारण एक-से-अधिक बार जब विस्थापन के दंश से गुजरना पड़ता है। एक देश का दूसरे देश की प्राकृतिक भू-संपदा में मौजूद खनिज-पदार्थ को हथियाने हेतु भीषण युद्ध हुए। युद्ध पश्चात जो देश जीता उसने वहाँ की सभी संपत्ति पर कर्जा कर लिया। इस कारण वहाँ की जनता को असमय ही भाग निकलना पड़ा। अपनी मिट्टी से विस्थापित होने का जो तकलीफ होती है उसे लेखिका ने वर्णित कर दिया है। साहित्यिक रचनाएं समाज

में घटित घटनाओं अथवा लंबे समय से चल रही विभिन्न मुद्दों को केंद्रित कर उस पर विचार करने के लिए बौद्धिक वर्ग को उकसाती है। विस्थापन व पलायन के कहर से मूलनिवासी वैदिक ग्रंथों के दौर से ही भुक्तभोगी रहा है।

इस परिप्रेक्ष्य में रणेन्द्र 'ग्लोबल गाँव के देवता' में रुमझुम के माध्यम से विस्थापित होने भयावह व लुप्त होती जाति के विशेष संदर्भ में लिखते हैं, ''रुमझुम का मानना था कि हमारी जाति-विनाश की एक झलक मात्र है इस कहानी में हम वैदिक काल के सप्तसिन्धु के इलाके से लगातार पीछे हटते हुए आजमगढ़, शाहबाद, आरा, गया, राजगीर से होते इस वन-प्रान्तर कीकट, पौंड्रिक, कोकराह या चुटिया नागपुर पहुँचे। ...कितनी-कितनी बार हमारा विनाश किया, कितने गढ़ ध्वस्त किये, उसकी कोई गणना किसी में दर्ज नहीं है। ...मुंडाओं की लहरों ने, उसके बाद आये उराँवों की लहरों ने पीछे ठेलते-खदेड़ते हमें यहाँ तक पहुँचा दिया इस पहाड़ के ऊपर के पाट पर।''[5]

वैदिक काल से ही कई जनजाति सभ्यता को उसके लोगों को जबरन विस्थापित करने की परंपरा चली आ रही है। जल, जंगल और जमीन का संरक्षण करने वाली विशाल जनजाति की कई जातियाँ विस्थापन की चपेट में नष्ट व लुप्त हो गई। जो बचे वह हिन्दी पट्टी के इर्द-गिर्द बस गए। वर्तमान में जो लोग अलग-अलग राज्यों में दिखाई देते हैं। वही जनजाति है जिनको मिथकीय समय काल से विस्थापित कर पलायन के लिए विवश किया गया था।

प्राचीन, मध्य एवं आधुनिक इतिहास पर नजर उठाकर देखें तो विश्वीय स्तर पर वर्चस्ववादी देश गरीब व दबे-कुचले लोगों को अपनी जमीन से जहाँ वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी रहता आया है। उसे उस जमीन से उखाड़ फेंकने के लिए वहाँ की सरकार ने हजारों करोड़ों डॉलर खर्च कर दिए। जो लोग पलायन करने से विरोध का रहे थे। उनको वहाँ की सैन्य शक्ति का सामना करना पड़ा। इस विस्थापन की विभीषिका को उद्धृत करते हुए रणेन्द्र लिखते हैं, ''सन् 1837 ई. में फ्रीक जनजाति के चौदह हजार लोग विस्थापित किये गये। सन् 1835-1840 ई. के बीच सेमिनोल जनजाति को उजाड़ने में चार से छह करोड़ डॉलर खर्च किये गये। सोलह हजार चिराकी जनजाति के लोगों को सेना ने घेरकर कैंपों में बन्दी बनाकर रखा। पूरी गरमी बीत जाने के बाद, बरसात के दिनों में सन् 1838 ई. में उन्हें 1500 किलोमीटर की यात्रा पर जबरन भेज दिया गया। लकड़ी की खच्चर गाड़ियों में उनका सामान लाद दिया गया। लगभग आठ हजार बच्चे, बूढ़े, बीमार महिलाएँ इस यात्रा में मारे गये। ...इस त्रासदीपूर्ण यात्रा को 'आँसुओं की पगडंडी' का नाम दिया गया। इस भयावह विवरण के बाद हमारे पास कहने-सुनने के लिए कुछ बचा नहीं था।''[6]

ऐतिहासिक मूल में जाकर यह मालूम होता है कि विस्थापन का दंश उन जनजाति को अधिक झेलना पड़ा है जो काले रंग के थे। एक समय रंग भेद के कारण कई अफ्रीकी जनजाति, चेराकी जनजाति एवं भारतीय मूल के लोगों को भी रंग भेद के कारण विदेशों से पलायन कर अपने देश आना पड़ा। जिन जनजाति समुदायों ने नस्ल भेद का विरोध किया उसको बंदी बनाकर प्रताड़ित किया गया। जैसा की चेराकी जनजाति समुदाय के साथ देखने को मिलता है। पलायन व प्रवास की व्यथा से कई समुदायों की रास्ते में ही जान चली गई। इस भयावह दृश्य को इतिहास के पन्नों में देखा गया। देश हो या विदेश दोनों ही धरती में भूमंडलीकरण की अंधी विकास की धारा ने उन क्षेत्रों पर अपना स्वामित्व स्थापित कर दिया है। जहाँ सैकड़ों वनस्पतियों से आर्थिक लाभ हासिल किया जा सके। इस आर्थिक लाभ के वशीभूत राजनेता आदिवासी समुदाय को जाहिल, नक्सली घोषित कर उनको अपनी माटी से दूर करने का कार्य के शिक्षित वर्ग पर छोड़ दिया गया है।

इस संदर्भ में ''वन विभाग असुरों और आदिवासियों को अपने क्षेत्र में घुसपैठिया मानता है। वह यह मानने के लिए तैयार नहीं है कि वन गाँवों में लोग सैकड़ों वर्षों से रहते आये हैं। वन विभाग ही बाद में आया है। वनस्पतियों और जीवों की तरह आदिवासी-आदिम जाति भी जंगल के स्वाभाविक बाशिंदे हैं। यह स्वीकार करने से उनकी पढ़ाई रोकती है। वे गाँव खाली कराकर ही दम लेंगे।''[7]

उक्त कथन में जनजाति समुदायों के साथ बढ़ती कानूनी कार्य वहीं की तर्ज पर जल, जंगल जमीन को अपना सर्वस्व माने वाले भिन्न-भिन्न जनजातीय समाज को वन विभाग के प्रशासनिक लोग उन पर अत्याचार करते हैं। उनके सीधे स्वभाव का फायदा उठाकर उन्हें नक्सली करार कर जंगलों में ही दफन कर देते हैं। जंगल के इन बाशिंदों को शिक्षित समाज के लोग ही राजनेताओं की नीतियों के अनुकूल ही जनजाति समुदाय को पलायन करने के लिए विवश कर देते हैं। आदिवासी जनजाति समुदाय अपने मूल को बचाने हेतु कई सालों से देश की राजधानी दिल्ली में धारणा प्रदर्शन कर रहे हैं। ताकि सरकार और अन्य लोग उनकी समस्या को समझ

सके। झारखंड, बस्तर, छत्तीसगढ़, राजस्थान, महाराष्ट्र एवं सात बहने राज्यों के आदिवासी समुदाय अपनी पहचान को बचाने हेतु सरकार से उनकी बेढंगी योजनाओं से संघर्ष कर रहा है। इस संघर्ष में तिल-तिल मर रहे लोगों की व्यथा को लेखक उद्धृत करते हैं, ''लालचन दा को लगा, इससे तो अच्छा रहता कि पुलिस उन्हें गोली ही मार देती। यह कैसी मार मारी थी कि अपने ही उनके दुश्मन हो गये। देखते-देखते न केवल अपना घर, बल्कि आसपास के गोतिया-दियाद ने भी अपने घर खाली कर दिये। न केवल घर खाली किये, बल्कि वे अपने छप्पर उलट और चूल्हे तोड़कर चले गये। यह उनका सामाजिक बहिष्कार था। वे अब अकेले थे। अपने समाज, अपने लोगों के लिए अछूत। नितांत अकेले। उन्होंने अपनी ही छाती में जोर का मुक्का मारा और वहीं मिट्टी में धसककर बैठ गये। बेआवाज रुलाई से छाती फट रही थी। रोते-रोते आसपास की मिट्टी गीली हो गयी।''[8]

प्रशासन की बेरुखी के कारण अपने ही लोग अपने समुदाय का दुश्मन बना दिया जाता है। विस्थापन का विरोध कर रहे समुदाय ही पलायन कर जा रहा है। अपने हाथों से ही अपनी जिंदगी तबाह कर रहा है। बसे-बसाये घर-आँगन को ध्वस्त कर दूसरे ठिकाने की तलाश में भूखे-प्यासे भटक रहे हैं। अपनी जड़ों से कट जाने के दर्द को लेखक ने उपन्यास में अभिव्यक्त किया है। ग्लोबल दुनिया के शक्तिशाली लोग अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए जंगलों को साफ कर बड़ी-बड़ी इमारतों का निर्माण करवा रहा है। प्राकृतिक संसाधनों का सीमा से अधिक खनन कर भू-गर्भ को कमजोर कर रहा है। पहाड़ी इलाकों की कटाई कर उसके पत्थरों को बेच कर मोटा धन कमा रहा है। जल जंगल से अर्जित धन का इस्तेमाल जनजातीय लोगों को उजड़ने में कर रहा है। सरकार के कर्मचारी भी जनजाति समुदाय को उजड़ने में सहयोग कर रही है।

इन सभी मुद्दों के केंद्र में अधिक से अधिक धन अर्जित करने की रणनीति कार्य कर रही है। गरीबी, महँगाई से निजात हेतु शिक्षित व अशिक्षित व्यक्ति दोनों ही रोजगार एवं नौकरी की तलाश में शहर व देश से बाहर जा कर प्रवासी जिंदगी जीने लगता है। अधिकतर लोग यानी नौकरी पेशा वाले छोटे से गाँव से निकल कर बड़े महानगरों की व्यवस्था के अनुकूल ढलने का प्रयास करते हैं। किंचित हुए परिवर्तन पर काशीनाथ सिंह 'रहन पर रग्घू' उपन्यास के पात्र रघुनाथ के प्रवासी जीवन का उदाहरण देते हुए लिखते हैं, ''सच-सच बताओ रघुनाथ, तुम्हें जो मिला है उसके बारे में कभी सोचा था? कभी सोचा था कि एक छोटे से गाँव से लेकर अमेरिका तक फैल जाओगे? चौके में पीढ़ा पर बैठ कर रोटी प्याज नमक खाने वाले तुम अशोक विहार में बैठ कर लंच और डिनर करोगे?''[9]

देश की अर्थव्यवस्था के आधार पर राजनेता व सरकार सभी लोगों को तो नौकरी मुहैया नहीं करवा पाता है। जिसके कारण मनुष्य पढ़-लिखकर देश से बाहर नौकरी करने चले जाते हैं तो कुछ देश में ही नौकरी कर एक शहर से दूसरे शहरों में तबादला करवा कर अपने ही देश में प्रवासी बनकर रहे जाते हैं। और जो लोग विदेशों में जाकर कामधंधा करते हैं वह वहाँ की व्यवस्था के अनुकूल अनुशासन में जीवन व्यतीत करते हुए प्रवासी जीवन अनुभव की स्मृतियों को पुनः दोहराने लगता है। जो व्यक्ति जमीन में आसान लगा कर भोजन ग्रहण करता था अब वह बनारस जैसे शहर में टेबल-कुर्सी में बैठकर नाश्ता एवं डिनर कर रहे हैं। भूमंडलीकरण के दौर में प्रवासी जीवन से जुड़े संदर्भों को लेखक ने बनारस से लेकर अमेरिका तक के सफर को रेखांकित किया है।

समग्रतः में कहें तो विस्थापन और प्रवास का विश्लेषण करते हुए पाया है कि विविध रचनाकारों ने देश-विदेश में घटित विस्थापन व पलायन की समस्या में राजनीतिक भूमंडलीकरण की रणनीति का विशेष हाथ है। राजनेताओं व कॉर्पोरेट घरानों ने जहाँ प्राकृतिक खनिज-पदार्थों के भंडार मिले। उस जगह को सरकारी अधिकृत योजनाओं के आधार पर जनजाति समुदाय को वहाँ से पलायन करने के लिए विवश कर दिया। उनकी भू-संपदा पर बिजली उत्पादन करने वाली मशीनों को स्थापित कर दिया। साथ ही कहीं पर आदिवासी समुदाय की खेतिहारी जमीन पर उद्योग धंधे लगा दिए। इस औद्योगिक कारण की नीति ने जनजातीय समुदाय पर विस्थापन के नाम पर कुठारघात किया है। विस्थापन के इस आघात से अभी तक जनजातीय समुदाय सत्ता से संघर्ष कर रही है। तो दूसरी ओर रोजगार की खोज ने प्रवास की स्थिति पैदा कर दिया है। बढ़ती महँगाई और गरीबी के तारतम्यता की वजह से भी लोग प्रवासी मजदूर व अन्य शहरों में नौकरी करने को बाध्य है। प्रवासी जीवन की समस्या भी विस्थापन की समस्या से थोड़ा अलग है। इन दोनों ही प्रारूपों पर साहित्यकारों ने जमकर लेखन कार्य किया है। अपने-अपने समझ अनुसार लेखकों ने सरकार की राजनीतिक व्यवस्था में विस्थापन और प्रवास पर प्रश्न खड़े किए हैं। भारत देश एक

लोकतांत्रिक व्यवस्था है। इस व्यवस्था के चार स्तंभ है। न्यायपालिका, कार्यपालिका, विधायिका और मीडिया है। हर एक स्तंभ की अपनी शक्ति है। जो लोकतंत्र की व्यवस्था में चल रही अराजकता को अपने हिसाब से दुरुस्त करने का कार्य करता है। किन्तु कुछ दशकों से लोकतंत्र की चौथे स्तंभ पर राजनीतिक गतिविधियों ने हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया है। इस कारणत: मीडिया जन सरोकार की खबरों की जगह कॉर्पोरेट की खबरों को प्रथम पृष्ठ में दिखाने का कार्य किया है। राजनीतिक प्रचार-प्रसार का भी कार्य मीडिया कर रही है। जिस मीडिया का कार्य सत्ता दल से जन हित के कार्यों पर प्रश्न पूछना चाहिए था। वह अब धार्मिक उन्माद, सांप्रदायिक खबरों का प्रसारण कर एक कॉम को दूसरे कॉम से लड़ाने का दायित्व निभाती हुई राजनेताओं की चाटुकार बन गई है। मीडिया उद्योगपतियों की हर बात को तामिल करता हुआ दृष्टिगत है, क्योंकि अब ज्यादातर राष्ट्रीय मीडिया हाउस बड़े-बड़े उद्योगपतियों हाथ के नीचे काम कर रहा है। जिस मीडिया को जनता की समस्याओं पर सवाल-जवाब कर बढ़ती महँगाई, गरीबी, विस्थापन, पलायन, प्रवास जैसे मुद्दों कहीं न कहीं एक दूसरे से जुड़ी समस्या रही हैं। गरीबी और महँगाई से ही जुड़ा किसान आत्महत्या का मुद्दा भी सामाजिक अर्थव्यवस्था के बिगड़ते परिणाम को रेखांकित करता हुआ चलता है। किसान आत्महत्या जैसे बिन्दु को अगले क्रम में विश्लेषित किया जा रहा है।

असिस्टेंट प्रोफेसर
गार्गी महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय
Email : saurabh.c.sharma1996@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. यादव, सूर्यदीन, अँधेरा जहाँ उजाला, भावना प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2003, पृष्ठ संख्या-44
2. दुबे, विद्यावती, शेफाली के फूल, सुनील साहित्य सदन प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 2006, पृष्ठ संख्या-62
3. सरावगी, अलका, शेष कादम्बरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 2016, पृष्ठ संख्या-126
4. वही, पृष्ठ संख्या-127-128
5. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 2019, पृष्ठ संख्या-43
6. वही, पृष्ठ संख्या-45
7. वही, पृष्ठ संख्या-79
8. वही, पृष्ठ संख्या-98
9. सिंह, काशीनाथ, रेहन पर रग्घू, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, छठा संस्करण, 2022, पृष्ठ संख्या-156

ममता कालिया के उपन्यासों में मध्यवर्ग

('दुक्खम- सुक्खम' और 'बेघर' के विशेष संदर्भ में)

मुक्ता धामा* **प्रो. (डॉ.) राजमोहिनी सागर****

शोध सारांश

वर्ग सामाजिक स्तरीकरण का आधार है। यूँ तो प्राचीन समाजों की रचना से लेकर आधुनिक समाजों की रचना को समझने में वर्ग की प्रकृति में होने वाले परिवर्तन की व्याख्या का महत्व है किन्तु विशेषरूप से आधुनिक समाजों की विवेचना वर्गों की संरचना को समझे बिना यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। जब समाज में व्यक्तियों की स्थिति का निर्धारण उनके व्यक्तिगत गुणों जैसे शिक्षा, आय, व्यवसाय, आवास की दशा आदि के आधार पर होता है तो समाज मे स्तर विभाजन की यह प्रणाली वर्ग व्यवस्था के नाम से जानी जाती है। यह एक खुली व्यवस्था है। इसमें व्यक्ति अपने प्रयास में सफल या विफल होने पर अपने से उच्च या निम्न स्थिति को प्राप्त करता है और इस प्रकार वह अपने से उच्च या निम्न वर्ग का सदस्य बनता है। प्रस्तुत शोधपत्र में शोधकर्ती ने ममता कालिया के उपन्यासों में मध्यवर्ग की स्थिति व स्वरूप पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

भूमिका

आजादी के बाद सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थितियों में जो परिवर्तन किया इसका सर्वाधिक प्रभाव भारतीय मध्य वर्ग पर ही पड़ा। लोग आर्थिक कारणों से घर से बेघर होने पर मजबूर हुए जिससे नई समस्याओं ने जन्म लिया पारिवारिक संरचना बिखरने लगी और संयुक्त परिवार टूटकर एकल परिवारों में परिवर्तित होने लगे। पीढ़ियों के द्वंद्व तथा स्त्री-पुरुष संबंधों में भी परिवर्तन लक्ष्य किए जाने लगे। यह सभी समस्याएं ममता कालिया के उपन्यास या, यूं कहें की मध्यवर्गीय जीवन में प्रणय (प्रेम) विवाह और मध्यवर्ग का दाम्पत्य जीवन तथा पारिवारिक जीवन की विवेचन मध्य वर्ग के सामाजिक पक्ष के अंतर्गत अभिव्यक्त हुई है, क्योंकि सामाजिक संबंधों का तानाबाना ही समाज है। अत: एक परिवार के सदस्यों के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन करें, तो समाज का अध्ययन हो जाता है। ममता कालिया के सभी उपन्यासों में मध्य वर्ग के सामाजिक पक्ष को उठाया है। जिसमें स्त्री-पुरुष और परिवार से संबंधित समस्याओं को उजागर किया गया है। इसके साथ ही ममता कालिया के उपन्यासों में मध्यवर्गीय जीवन की छवि यूं देखी जा सकती है, कि मध्यवर्ग संयुक्त परिवार को ना पसंद कर एकल परिवार की अवधारणा निर्मित करता है। पुरुष वर्ग तो कुछ समय संयुक्त परिवार में काट भी सकता है पर महिलाएं नहीं चाहती कि उन्हें जीवन में संयुक्त परिवार में रहना पड़े वह एकल परिवार में खुशी से रहना पसंद करती हैं इसका उदाहरण बेघर की रमा और दुखम-सुखम की इंदु है जो संयुक्त परिवार से दूर होने के बाद वहां जाने के नाम से घबराती हैं।

समकालीन महिला साहित्यकारों में ममता कालिया का स्थान विशिष्ट एवं अनंत्तम है इन्हें आधुनिक काल की यथार्थवादी लेखिका के रूप में जाना जाता है। इन्होंने पौराणिकता, ऐतिहासिकता की अपेक्षा आधुनिक विषय, स्त्री समस्या और पारिवारिक परिस्थितियों को उठाना ही ज्यादा उचित समझा है। साहित्य में स्त्री को पुरुष के समानांतरण दर्शन उनके साहित्य सृजन का उद्देश्य रहा है। वे स्त्री का विचारक विकास चाहती हैं। ममता कालिया उन लेखिकाओं में से हैं जो आम आदमी की रोजमर्रा की जिंदगी में आने वाले दुखों, समस्याओं और उसके जीवन के हर एक पहलू के बारे में बड़ी गहराई से

समग्रता से अपने सभी उपन्यासों में प्रस्तुत करती हैं। इनके साथ ही आम आदमी के जीवन को नारकीय (नर्क) बनाने वाले कर्म संस्थाओं की व्यवस्था के मार्मों (रहस्य) तक जाकर उन्हें खगालने, एक-एक रेशे की गांठ को खोलने और उनकी असलियत से पाठकों को रूबरू कराना उनके उपन्यास में बुनियादी सरोकार है।

बीज शब्द :

ममता कालिया, उच्चवर्ग, मध्यवर्ग, निम्नवर्ग, उपन्यास, औपनिवेशिक शासन।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत शोध का उद्देश्य ममता कालिया के उपन्यासों में निहित सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक समस्याओं को मध्यवर्गीय दृष्टिकोण से उजागर करना है। हिंदी साहित्य के विस्तृत फलक पर ममता कालिया सातवें दशक की रचनाकार के रूप में उभर कर सामने आती हैं, विमर्श के दायरे से बाहर निकलकर उन्होंने बृहत्तर जीवन मूल्यों को साहित्य में अभिव्यक्ति प्रदान की है। इसके साथ ही उनके सभी उपन्यासों के पात्र तथा उसमें निहित घटनायें हमारे आसपास के जीवन से ही एकत्रित किये गए हैं, उदाहरण के लिए देखा जा सकता है, 'बेघर' कौमार्य (कुँआरापन) के मिथक को तोड़ता प्रतीत होता है। इन सब परिस्थितियों से ऊपर उठकर जो मुख्य समस्या सामने आती है वह मध्यवर्गीय व्यक्ति के जीवन से संबंधित है।

हिन्दी उपन्यासों में मध्यवर्ग के प्रखर हो रहे व्यक्तिवाद को अनेक रूपों में प्रतिबिंबित किया गया है। हिंदी उपन्यास इस तरह के बिंदु पर आ पहुंचा है कि यहां बेघर कथा आरंभ होती है नगरों में रहते युवा वर्ग के संघर्ष और अंतर संबंधों को आधुनिकता के शिल्प में रेखांकित करता है। हिंदी में 'बेघर' पहला उपन्यास है, जो कौमार्य के मिथक की पुरुष समाज में व्याप्त रूट धारणाओं पर प्रश्न चिन्ह उठाता है।

भारतीय मध्य वर्ग के उदय

आधुनिक काल के साथ ही साहित्य में उपन्यास नामक विधा का जन्म हुआ। इस विधा के जन्म के कई कारण रहे, जिनमें से एक प्रमुख कारण औद्योगिकीकरण के परिणामस्वरूप मध्यवर्ग का उदय माना जाता है। भारत में मध्यवर्ग का व्यवस्थित उदय अंग्रेजी साम्राज्य के फलस्वरूप हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत में यह वर्ग दिखने लगा था। मध्यवर्ग का उदय इस देश में उस समय दिखाई देने लगा था जब अंग्रेजी शासन व्यवस्था अपनी जड़ें जमाने की फिराक में था। अंग्रेजों ने अपनी शासन व्यवस्था को सही ढंग से चलाने के लिए भारतीय समाज से कुछ ऐसे विचौलियों को चुन लिया था, जो उनकी व्यवस्था को सुविधा मुहैया करायें तथा पारिश्रमिक के रूप में कुछ लेकर संतोष करें। भारतीय समाज में मध्यवर्गीय समुदाय का जो स्वरूप आज देखने में मिल रहा है वह अंग्रेजों के आगमन पूर्व इस देश में नहीं था। समाज की संरचना से हम इस बात को बड़ी आसानी से समझ सकते हैं कि शासक वर्ग के नजदीक समाज का एक ऐसा वर्ग हर समय रहता है जो समाज के सामान्य व्यक्तियों एवं प्रशासन के बीच तालमेल स्थापित करने में अहम् भूमिका निभाता है। ऐसे लोगों को मध्यवर्गीय समाज का व्यक्ति कहा जा सकता है। मध्यवर्ग की बड़ी विशेषता होती है कि यह वर्ग समाज के दूसरे वर्ग के संसाधनों से अपनी आवश्यकताओं को पूरा करता है।

सुप्रसिद्ध विचारक हूमायूँ कबीर ने लिखा है,

''समस्त प्राचीन मूल्यों और विश्वासों को चुनौती दी जा रही थी। सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएं तीव्र गति से टूट रही थीं। प्राचीन सामाजिक संगठन अव्यवस्थित हो रहा था। नए तत्व उभर रहे थे, जिनकी बीते युग से कोई मिसाल नहीं मिलती।''

समाजशास्त्री डॉ. बी.बी. मिश्र ने मध्यवर्ग के उदय की इन्हीं स्थितियों को स्पष्ट करते हुए लिखा, ''पश्चिम में मुख्यत: इंग्लैंड में उदाहरण के लिए मध्यवर्ग का उदय आर्थिक एवं तकनीकी बदलाव के कारण हुआ। उसका बहुत सारा भाग व्यवसाय एवं तकनीकी कार्यों में लिप्त था इस आधार पर मध्यवर्ग की विशेषता को यदि देखा जाये तो इस वर्ग को समझने में बड़ी सुविधा होगी तथा इस वर्ग के नये से नये रूप को बड़ी आसानी से समझा जा सकता है।

हिंदी साहित्य कोष के अनुसार मध्यवर्ग की परिभाषा इस तरह दी गयी है - ''पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था ने समाज को इतना जटिल कर दिया है कि एक मध्यवर्ग की आवश्यकता हुई जो इस जटिल व्यवस्था के संगठन सूत्र को संभाल सके। इस वर्ग में नौकरीपेशा शिक्षक, क्लर्क और अन्य साधारण लोग आते हैं। मध्यवर्ग विशेषत: बुद्धि प्रधान और सामाजिक क्रांति के विचारों का सर्जन मध्यवर्ग में ही होता है।''

मध्यवर्गीय परिवार की प्रवृत्तियां

यथार्थ चित्रण : 'बेघर', 'दौड़', 'दुक्खम सुक्खम' में

इसका यथार्थ चित्रण ममता कालिया ने किया है। इसके साथ ही बढ़ती महंगाई और दिखावे वाला मध्यवर्गीय जीवन भी उनके सभी उपन्यासों में बखूबी चित्रित हुआ है। ममता कालिया के उपन्यासों में मध्यवर्गीय पात्रों की मनोग्रंथि, मन की भावनाओं इत्यादि का चित्रण भी यथार्थता के साथ प्रस्तुत हुआ है। इसे मध्यवर्ग का मनोवैज्ञानिक पक्ष कहा जा सकता है, इससे मानव मन की विभिन्न प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया जाता है प्रमुख रूप से कम, अहं और हीनता।

धार्मिक कर्म एवं रूढ़ियों में विश्वास : इसके अलावा ममता कालिया के उपन्यासों के पात्र धार्मिक कर्म एवं रूढ़ियों में विश्वास भी रखते हैं और उनका जीवन उसी विश्वास से परिचालित होता है। 'बेघर' का परमजीत अपनी रूढ़िवादी सोच के चलते ही संजीवनी से विवाह नहीं करता।

संस्कारों और मूल्यों की मार : ''बेघर में मध्यवर्गीय संस्कारों और मूल्यों की मार झेलती स्त्री की नियति का अंकन किया गया है। परम्परागत धार्मिक नैतिक संहिताओं के चलते मध्यवर्गीय दाम्पत्य जीवन के नरक बन जाने के यथार्थ का अंकन इस उपन्यास में हुआ है।'' ममता कालिया ने भारतीय मध्यवर्गीय जीवन को जीवंत रूप में चित्रित किया है, उनका समग्र साहित्य मध्यवर्गीय जीवन की समस्याओं का दस्तावेज है। महानगरीय जीवन एवं वहां के नौकरीपेशा स्त्री-पुरुष की समस्याओं का अंकन भी उन्होंने बारीकी से किया है।

साहित्य समाज का दर्पण : ममता कालिया की रचनाओं का केंद्रबिंदु समाज रहा है, उन्होंने मध्यवर्गीय जीवन की समस्याओं का विश्लेषण अपने सभी उपन्यासों में किया है। पारिवारिक सम्बन्धों का वर्तमान स्वरूप, आधुनिक परिवर्तित सन्दर्भों में दाम्पत्य सम्बन्धों की व्याख्या एवं अविवाहित स्त्री और कामकाजी महिलाओं की समस्याएं उनके प्रत्येक उपन्यास में परिलक्षित होती है, जो आज भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी आजादी के दौर व उसके बाद थी। साहित्य समाज का दर्पण होता है, उसमें एक ओर एक व्यक्ति की भावनाओं को मूर्त रूप मिलता है तो दूसरी ओर युग धर्म भी झांकता दिखाई देता है।

मध्यवर्गीय शिक्षित स्त्री की अस्मितागत : इसके साथ ही मध्यवर्गीय शिक्षित स्त्री की अस्मितागत समस्याओं को भी पर्याप्त प्रश्रय दिया गया है। स्त्री की स्थिति का विश्लेषण, उसके दु:ख-दर्द, उसके संघर्षों को स्त्री पुरुष सम्बन्ध और पारिवारिक मूल्यों के सन्दर्भ में प्रस्तुत करते हुए उसकी संवेदनाओं और आकांक्षाओं को वाणी दी है। उनके उपन्यासों में स्त्री अपने व्यक्तित्व से लेकर अस्तित्व तक के हर स्तर पर स्वाधीन होने के लिए निरंतर संघर्षरत है और उन्हें स्वाधीनता चाहिए संकल्प-विकल्प की, अभिव्यक्ति की, मानसिक गुलामी से छुटकारे की, आर्थिक रूप से स्वतंत्र होने की। इसकी अभिव्यक्ति उनके सभी उपन्यासों में देखी जा सकती है।

मध्यवर्गीय जीवन में बेकारी और आजीविका की तलाश : ममता कालिया के उपन्यासों में मध्यवर्गीय जीवन में व्याप्त स्थितियों को अनेक स्तरों पर चित्रित किया गया है जैसे बेकारी और आजीविका की तलाश में दर-ब-दर का भटकाव, जीवन मूल्यों के प्रति समर्पित व्यक्ति का मौका परस्त समझौतावादियों के सम्मुख निरन्तर निरस्त होता जाना। कर्तव्य परायण लोगों को नौकरी से निकाल देना, व्यावसायिक यांत्रिकता, और उस यांत्रिकता में व्यक्ति का घर परिवार से दूर होते जाना, कामकाजी महिलाओं का दोहरे उत्तरदायित्व से टूटना, पुरुष की देहवादी दृष्टि के परिणाम जैसी अनेक मध्यवर्गीय समस्याओं को उकेरा गया है जो आज भी समाज में ज्यों की त्यों देखी जा सकती हैं।

साहित्य समीक्षा

प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों और कहानियों के माध्यम से यथार्थता को दिखाने का प्रयास किया है। उनके उपन्यासों और कहानियों के पात्र आम मध्यमवर्गीय पृष्ठभूमि से संबंध रखने वाले पात्र होते थे। प्रेमचंद ने मनोविज्ञान और समाजशास्त्र की पाठ्य पुस्तकों से नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष अनुभव से मध्यवर्ग के वातावरण को जाना-सीखा था । प्रेमचंद के उपन्यासों में 'उभरता हुआ' मध्यवर्ग नैतिक मूल्यों की स्थापना करने में सफल हुआ है। नैतिक मूल्यों पर विश्वास रखने के कारण उन्होंने अपने सभी उपन्यासों में असत्य पर सत्य की जीत दिखायी है। प्रेमचंदोत्तर काल में भी इसी प्रकार का चित्रण देखने को मिलता है। इनमें सामाजिक और पारिवारिक विघटन की समस्या, अर्थाभाव के चलते घुटन, कुंठा व आपसी एकता की कमी आदि शामिल हैं। प्रेमचंद ने साहित्य को महलों तथा राज दरबारों से निकाल कर आम आदमियों के कारणों और मजदूरों तक पहुंचा उनका प्रथम उपन्यास 'सेवा सदन' 1918 में अर्थ भाव में मध्यवर्गीय व्यक्ति को कितना पतनोन्मुख बनना पड़ता है। इसमें वैश्य समस्या, स्त्री शिक्षा तथा दहेज प्रथा आदि का चित्रण नायिका सुमन के द्वारा किया गया है। 'रंगभूमि' में ताहिर अली, सोफिया, सोफिया का परिवार, माहिर जैसे पात्र

मध्यमवर्ग से संबंध रखते हैं। जो की मध्य वर्ग की बेरोजगारी झूठी शान-शौकत, अर्थाभाव तथा स्वार्थी मनोवृत्तियां जैसी समस्याओं को प्रकट करते हैं।

जैनेंद्रकुमार ने सुनीता (1934) में मध्यवर्गीय नारी सुनीता के अंतर्द्वंद्व, कर्तव्य, त्याग आदि का चित्रण किया है। 'त्यागपत्र' (1937) में 'मृणाल' द्वारा मध्यवर्गीय नारी की हीन दशा, उसकी विवेचना तथा मध्यवर्गीय परिवार के खोखलेपन एवं संकुचित वृत्ति का चित्रण किया है। जैनेंद्रकुमार ने अपने 'कल्याणी','सुखदा','विवर्त', 'व्यतीत' में मध्यवर्गीय परिवार के बनते-बिगड़ते रिश्ते, टूटते दांपत्य जीवन, जर्जरित विवाह संस्था, नारी का मानसिक, सामाजिक एवं शारीरिक शोषण, स्वार्थी प्रेम भावना, प्रेम में वासना की प्रधानता आदि को दर्शाया है।

डॉ. हरदयाल का कथन द्रष्टव्य है- 'त्यागपत्र' के संदर्भ में ''त्याग पत्र की मृणाल शारीरिक शुद्धता, सतीत्व के स्थान पर मानसिक शुद्धता, नए सतीत्व की खोज पर अपना जीवन दाँव पर लगा देती है। वह समाज तोड़ना नहीं चाहती, कोई भी मध्यवर्गीय व्यक्ति समाज को तोड़ना नहीं चाहता लेकिन बदलना अवश्य चाहता है। यह मृणाल की मध्यवर्गीय व्यक्तिवादिता अत: इससे स्पष्ट है कि मध्यवर्गीय नारी खुद को बंधनों, आदर्शों, रीति-रिवाजों, रूढ़ियों से आजाद कराना चाहती है।

धर्मवीर भारती ने 'गुनाह का देवता' में मध्यवर्गीय युवकों की भावुकता और वासना का चित्रण किया है। धर्मवीर भारती के 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' के संदर्भ में रामदरश मिश्र का कथन है- ''लेखक ने निम्न-मध्यवर्ग संघर्षपूर्ण, टूटे हुए, श्रृंखलित जीवन का सही चित्र उपस्थित किया है।''[1]

नई पीढ़ी के उपन्यासकारों में महिला लेखिकाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें कृष्णा सोबती, उषा प्रियवंदा, मन्नू भंडारी, ममता कालिया, गीतांजलि श्री आदि हैं। इन लेखिकाओं ने मध्यवर्गीय नारी को केंद्र बनाया है। कृष्णा सोबती ने 'मित्रो मरजानी', ममता कालिया ने 'बेघर' उपन्यास, मन्नू भंडारी जी ने 'आपका बंटी' में आधुनिक मध्यवर्गीय समाज में स्त्री-पुरुष के बदलते संबंधों, तलाक और बच्चों पर पड़नेवाले उसके प्रभाव का चित्रण किया है। 'महाभोज' में मध्यवर्गीय व्यक्ति की राजनीतिक एवं राजनेताओं के प्रति वितृष्णा एवं घृणा को स्पष्ट किया है।

ममता कालिया के उपन्यासों में मध्यवर्ग के तीनों रूपों - उच्च मध्यवर्ग, मध्य मध्यवर्ग, निम्न मध्यवर्ग को यथार्थ के साथ प्रस्तुत किया है। उनके मध्यवर्गीय संस्कारों से परिचालित पात्र अपना जीवन इस तरह पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हैं, जिससे सामाजिक यथार्थ को स्पष्ट देखा जा सकता है। प्रेम के विवाह में बदलते ही उसकी सारी चमक और खनक के खत्म होने, परम्परागत धार्मिक, नैतिक संहिताओं के चलते मध्यवर्गीय दाम्पत्य जीवन के नरक बनने समाज के ऊपरी वर्ग के दाम्पत्य जीवन के कृत्रिम खोखले और संवेदनहीन होने शिक्षित और उच्च पदों पर काम करने वाले पुरुषों द्वारा भी अपनी पढ़ी-लिखी पत्नियों को घर की एक वस्तु समझने और आत्मकेंद्रित, पाखंडी, परपीड़क, संवेदनहीन पतियों की ओछी हरकतों आदि मध्यवर्गीय समाज में उपजी परिस्थितियों की यथार्थ अभिव्यक्ति ममता कालिया के सभी उपन्यासों में दिखाई देती है।

ममता कालिया उन लेखिकाओं में से हैं जो आम आदमी की रोजमर्रा की जिंदगी में आने वाले दुखों, यातनाओं, समस्याओं और उसके जीवन के हर एक पहलू के बारे में बड़ी गहराई और समग्रता से अपने सभी उपन्यासों में प्रस्तुत करती हैं।

'बेघर' ममता कालिया द्वारा रचित 'बेघर' उपन्यास पति-पत्नी के आपसी विश्वास एवं शारीरिक सम्बन्धों को बयान करता है। 'बेघर' में 'सेक्स' के स्वरूप को लेखिका ने नये दृष्टिकोण से आंका है।

उपन्यास का नायक परमजीत और संजीवनी दोनों ही सुशिक्षित है। काम की तलाश में आये परमजीत की मुलाकात बैंक में काम करने वाली संजीवनी के साथ होती है। वह मित्रता जल्द ही प्यार में बदल जाती है। दोनों ने विवाह से पूर्व ही शारीरिक सम्बन्ध बना लिये थे। घर वाले संजीवनी की शादी नहीं करना चाहते। क्योंकि उसकी कमाई से ही घर चलता है। संजीवनी का कौमार्य पहले ही भंग हो जाने के शक से परमजीत संजीवनी के सहवास में उदासीन रहता है और उसका मन विद्रोह करने लगा कि संजीवनी के जीवन में वह पहला पुरूष नहीं है। ''परमजीत को तकलीफ हुई, बेतरह तकलीफ यह जानकर कि वह पहला नहीं था। बदहवासी मिटते ही यह बात उसे पत्थर की तरह लगी। लड़कियों के कुंवारेपन की पहचान उसने चीख पुकार और खून से सम्बद्ध की थी। आरम्भिक विरोध के बाद संजीवनी उसे प्रस्तुत मिली और बाधाहीन। इस समय अपने बदन में यह अहसास लिये वह संजीवनी को घूरता बैठा था। उसे गुस्सा नहीं आ रहा था, खीझ भी नहीं पर वह हार गया था। वह संजीवनी को अपनी दुनिया में पूरी तरह समा चुका था, उसने कतई नहीं सोचा था

कि संजीवनी की उससे अलग एक व्यक्तिगत दुनिया रही होगी। जिसका भागीदारी कोई ओर रहा होगा। वह सोचता था कि संजीवनी को छूना भी जिम्मेदारी को भारी बनाना है, इस समय अपने को एकदम ताकतहीन पा रहा था। पहला न होने की निराशा के सन्नाटे के साथ-साथ उसे अपनी जिन्दगी का सारा नक्शा मुड़ा हुआ दिखाई दे रहा था।'' आत्म समर्पण की सजा हमेशा स्त्री को ही भुगतनी पड़ती है। 'बेघर' में भी संजीवनी के साथ ऐसा ही हुआ। परमजीत उससे सम्बन्ध स्थापित करने के बाद उसे छोड़ देता है।[2]

दाम्पत्य सम्बन्धों की विषमता समकालीन जीवन का एक कटु सत्य है। इस कटु सत्य का यथार्थ चित्रण ममता कालिया ने अपने उपन्यास साहित्य में प्रस्तुत किया है। पति-पत्नी के शारीरिक संबंधों को केन्द्र में रखकर यह उपन्यास लिखा गया है। कुंवारेपन की कसौटी को लेकर हमारे समाज में आज भी जो रूढ धारणाएं हैं उन पर इस उपन्यास में तीखा व्यंग्य है।[3] हालांकि संजीवनी जिस तिस की शय्या संगिनी बनने वाली लड़की नहीं थी। एक असफल बलात्कार का शिकार हुई थी। लेकिन परमजीत उससे विमुक्त होकर एक अनजानी रमा से विवाह कर लेता है। कौमार्य की कसौटी पर खरी उतरने वाली रमा पति परमजीत की अनगिनत कोमल संवेदनाओं को चूर-चूर कर देती है। परमजीत की कोमल कलात्मक प्रकृति की संजीवनी के साथ जीवन यापन करने की मधुर कल्पनाएँ फूहड़ और भेदस रूचि की रमा के साथ विवाह करने पर एक-एक कर टूटती जाती है। रमा के खराब आचरण के कारण परमजीत को हृदयाघात हो जाता है।

'दुखम सुखम' ममता कालिया का नया उपन्यास है। ममता कालिया ने अपने लेखन में रोजमर्रा के संघर्ष को उजागर किया है और अपनी रचनाओं में रेखांकित किया कि स्त्री और पुरुष का संघर्ष अलग नहीं वरन् समाजशास्त्रीय अर्थों में ज्यादा महत्वपूर्ण है। आधुनिक नारी के बारे में ममता जी की राय है कि आधुनिक नारी नाम के वास्ते स्वतंत्र होते हुए भी वास्तव में कठपुतली है। उसका वैचारिक विकास नहीं हो पा रहा है। उपन्यास भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के आखिरी दौर से प्रारंभ होकर नए जमाने तक चला है। मथुरा के एक वैश्य परिवार के इर्द-गिर्द यह उपन्यास किसी प्रचलित विमर्श या मुहावरे में नहीं अटकता उपन्यास में दादी मां और दो बहनें बड़े चरित्र के रूप में उभरी हैं। ममता जी ने इसके लिए जिस भाषा का उपयोग किया है वह मथुरा ब्रज के घरों में बोली जाने वाली पारंपरिक बोली है। कवि मोहन नौकरी के लिए घर छोड़कर जा रहे हैं तो मां का बिसूरना देखिए ''पहले मेरी किरिया कर जा लाला बाके बाद जहां जाना है जा। छोरिया तो सुखी नहीं छोरा दिल्ली में ठोकरे खाएगा बंसीवाले हमें उठायलो।'' उपन्यास में भीतरी-बाहरी बेड़ियां में जकड़ी स्त्रियों के नवजागरण का गतिशील चित्र और उनकी मुक्ति का मानचित्र भी दिखाया गया है ममता कालिया ने स्त्री के दोयम दर्जे का स्वरूप भी उपन्यास में प्रकट किया है जिसमें उसका स्वयं का अस्तित्व तो कहीं होता ही नहीं हो वह बेटी किसी और की होती है और बहू किसी और की दोनों परिवारों की जरूरतें पूरी करने में वह अपनी जरूरत को तो जैसे भूल ही जाती है। इसी सच का यथार्थ उद्घाटन उपन्यास में किया गया है।

''जिस दिन वह पैदा हुई घर में कोई उत्सव नहीं मना लड्डू नहीं बटे बधावा नहीं बजा उल्टे घर की मनहूसियत ही बढ़ी चूल्हा तक नहीं जलाया। लालटेन की मध्यम रोशनी में सर पर हाथ रखे वे देर तक तख्त पर बैठी रही बेटे की बेटी के लिए उनके मन में अस्वीकार का भाव था।''

शिक्षित भारतीय समाज में लड़की के जन्म लेने से पूर्व ही उसका लिंग परीक्षण करवा कर मार दिया जाता है। जिसमें समाज में असमानता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जिस दिन किसी के घर कन्या का जन्म होता है, परिवार के किसी भी सदस्य को कोई विशेष प्रसन्नता नहीं होती। अपने ससुराल वालों के अमानवीय व्यवहार से इंदु इतनी तंग आ जाती है और अपनी कोख से निकली हुई नन्ही जान को भी मारने का विचार करती है। वह अपनी बेटी के लिए कह उठती है, यह लड़का होती तो मेरे कितने ही दुख दूर हो जाते।

इसमें भारत के स्वतंत्रता संग्राम देश विभाजन की त्रासदी और आजादी के बाद की भारत की स्थिति का परिदृश्य उठाया गया है। 1947 के स्वतंत्रता संग्राम के साथ-साथ पारिवारिक जीवन में सभी प्रकार के द्वंद्व तनाव, बिखराव, टूटन विसंगतियां, जन समस्याओं का यथार्थ चित्रण आदि का उद्घाटन दुखम-सुखम में किया गया है। जीवन के जटिल यथार्थ का यह उपन्यास मध्यवर्गीय परिवार की परंपरागत रूढ़ियों में जकड़ा हुआ है। जिसमें घुटन, स्राव, अलगाव रिश्तों में टकराव अकेलापन जैसी समस्याएं विद्यमान हैं।

अगर हम दुक्खम-सुक्खम उपन्यास के कथा की बात करें तो यह उपन्यास वृंदावन, मथुरा, दिल्ली और मुंबई तक के शेरों को खुद में समेटे हुए हैं। उपन्यास में आजादी से पूर्व,

विभाजन के बाद की आर्थिक सामाजिक, राजनीतिक स्थितियों को ममता जी द्वारा चित्रित किया गया है। उपन्यास के प्रमुख पात्रों में तीन पीढ़ियों का लेखा-जोखा है। पहली पीढ़ी का आरंभ मथुरा में रहने वाले लाला नत्थीमल और उनकी पत्नी विद्यावती से होता है, दूसरी पीढ़ी में लीला, भगो, कम्मो, कविमोहन और कवि की पत्नी इंदू आते हैं। कवि-इंदु की दो बेटियां प्रतिभा और मनीषा तीसरी पीढ़ी का यथार्थ है। उपन्यास एक मथुरा के वैश्य परिवार के इर्द-गिर्द इसमें दादी मां और दो बहनें बड़े चरित्र के रूप में उभरती हैं लेकिन कहीं भी स्त्री मुक्ति का विरुद्ध नहीं है। अगर हम बात करें कविमोहन के चरित्र की तो वह एक सिद्धांतवादी अध्यापक और प्रशासक के रूप में आने वाली छवि हमें उसमें नहीं दिखती है, बल्कि वह एक भारतीय ग्रस्त व्यक्ति की तरह हमें दिखाई देता है और उसकी दो पुत्री के जन्म के साथ ही इस उपन्यास की कथा अपने वास्तविक आकार की ओर आगे बढ़ती है। उपन्यास की शुरुआत दूसरी पुत्री यानी मुन्नी मनीषा के जन्म से होती है और उसके जन्म के साथ ही उसकी दादी विद्यावती का स्वभाव पूरी तरह बदल जाता है, जो इस आशा में होती है कि इस बार पुत्र पैदा होगा जबकि वह स्वयं यह भूल जाती है कि उसकी स्वयं की तीन-तीन पुत्री जिसका ज्ञान उन्हें उनके पति नथीमल भी कराते हैं। लेकिन अपने स्वभाव के अनुरूप मुन्नी और उसकी मां इंदु की कोई देखभाल नहीं करती है जिसके चलते मुन्नी यानी मनीषा बहुत ज्यादा कमजोर हो जाती है। शारीरिक रूप से और यह कमजोरी युवावस्था तक उसमें दिखाई देती है। समय पर बी.सी.जी. का टीका ना लगवाने के कारण वह चेचक का शिकार भी हो जाती है। आगे चलकर और उसे उपन्यास की अगर हम खास बात करें तो इस उपन्यास में हमें सहजता दिखाई देती है, जो ममता कालिया जी के लेखन की एक खास विशेषता है। कहानी में कहीं भी बनावटी, या कहीं कुछ ज्यादा की बात नहीं दिखाई देती है बड़ी सहजता से उन्होंने इन तीन पीढ़ियां को अकेला है।

निष्कर्ष

ममता कालिया का कथा साहित्य विषय वस्तु की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध है। उसका विश्लेषण भी अनेक दृष्टिकोण से हो चुका है और विभिन्न विश्वविद्यालयों में उनके कई शोध प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें ममता कालिया के कथा साहित्य को स्त्री चेतना, नारी विमर्श, स्त्री अस्मिता की तलाश, नारी चेतना के संदर्भ में विश्लेषित किया गया है। इसके साथ ही उनके समग्र कथा साहित्य का विवेचन विश्लेषण सृष्टि और दृष्टि तथा सम्वेदना और शिल्प के दृष्टिकोण से भी किया जा चुका है।

दूसरा, विश्लेषण का आधार कही जाने वाली संबंध की श्रेणियों के द्वारा विश्लेषणात्मक अध्ययन उपन्यासों में निहित मध्यवर्गीय जीवन की स्थिति और उसकी समस्याओं को उजागर करने में सहायक होगा। इसके अंतर्गत वस्तु व घटना का निश्चित संबंध, कार्य-कारणों का अनुमानित संबंध तथा समूह और अंग का घटनात्मक संबंध का अध्ययन होता है। समकालीन उपन्यासों में लेखिका की यह कथाकृति चर्चित है ।

***शोधार्थी, हिन्दी विभाग,**
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
****प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,**
हंसराज कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

आधार ग्रंथ

1. डॉ. ज्ञानचंद शर्मा, 'आधुनिक हिंदी कहानी में वर्णित सामाजिक यथार्थ', राधा पब्लिकेशन, दिल्ली (1974), पृ.सं. 1, 2
2. ममता कालिया, 'बेघर' पृ. 66, 67
3. वही, पृ. 45
4. वही, पृ. 125
5. ममता कालिया, 'दुक्खम सुक्खम', पृ. 5
6. सं. ओमलता, 'स्त्रियों का सामाजिक जीवन एवं अन्य निबंध'।

सहायक ग्रंथ

1. https://www.sahitya.jan-manthan.com/mamata-kaliya-ke-upanyas/
2. https://vaniprakashan.com/home/product_view/8049/Mamta-Kaliya-Ki-Kahaniyan-
3. https://ir.nbu.ac.in/bitstream/123456789/1700/5/05_chapter_01.pdf
4. https://shabd-braham.com/ShabdB/archive/v2i11/sbd-v2-i11-sn14.pdf
5. https://oldror.lbp.world/UploadedData/4292.pdf
6. https://vishwahindijan.blogspot.com/2017/07/blog-post_92.html

बृहत्त्रयी में वास्तु विज्ञान

सूरज

प्रस्तावना

वेद समस्त ज्ञान-विज्ञान की कुञ्जी है। वेद आर्यजाति के प्राण हैं। ये मानवमात्र के लिए प्रकाश स्तम्भ और शक्ति के स्रोत हैं। विश्व को संस्कृति का ज्ञान देने का श्रेय वेदों को है। वेद ही विश्वबन्धुत्व, विश्व कल्याण और विश्वशान्ति के प्रथम उदघोषक है। वेद ही मानवमात्र के लिए विकास का मार्ग प्रशस्त करते हुए सुख और शान्ति की स्थापना कर सकते हैं। वेदों के विषय में मनु का यह कथन सारगर्भित है कि-'**सर्वज्ञानमयो हि सः' (मनु. 2.7)** अर्थात् वेदों में सभी विद्याओं के सूत्र विद्यमान है। वेदों में जहाँ धर्म, आचारशिक्षा, नीतिशिक्षा, सामाजिक जीवन, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद आदि से संबद्ध पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है, वहीं विज्ञान के विविध अंगों से संबद्ध सामग्री भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। वेदों में भौतिकी, रसायन विज्ञान, वनस्पतिशास्त्र, जन्तुविज्ञान, प्रौद्योगिकी, कृषि, गणितशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, वृष्टिविज्ञान, पर्यावरण एवं भूगर्भविज्ञा, वास्तुविज्ञान से संबद्ध सामग्री बहुलता से प्राप्य है।

वेद चार हैं- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेदा इन चार वेदों के चार उपवेद हैं। वेद का उपवेद आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गान्धर्व वेद, अथर्ववेद का उपवेद स्थापत्यवेद है और स्थापत्यवेद ही वास्तुशास्त्र का उद्गम स्थल है। यद्यपि चारों ही वेदों में वास्तुशास्त्र से सम्बन्धित उल्लेख प्राप्त होते हैं तथापि इसका मूल उद्गम स्थापत्यवेद को ही माना जाता है क्योंकि स्थापत्यवेद साक्षात् अथर्ववेद का ही उपवेद है अतः वास्तुशास्त्र का मूल सम्बन्ध अथर्ववेद से है। इस प्रकार वेद का वास्तुशास्त्र से सीधा-सीधा संबंध है। वास्तुशास्त्र का मूल उद्गम स्थल होने के कारण वास्तुशास्त्र के स्वरूप निर्धारण में वेद की प्रमुख भूमिका है। वैदिक काल में उद्भूत इस शास्त्र का उत्तर वैदिक काल और पौराणिक काल में पल्लवन हुआ और आज यह स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित है। इस इकाई में वास्तुशास्त्र का परिचय प्रस्तुत किया गया है। इस इकाई के अध्ययन से हम वास्तुशास्त्र से परिचित हो सकेंगे और जान पायेंगे कि वास्तुशास्त्र की परिभाषा क्या है? वास्तुशास्त्र का मूल स्वरूप क्या है? वास्तुशास्त्र की क्या आवश्यकता है? वास्तुशास्त्र आधुनिक वास्तुकला से किस प्रकार से भिन्न है? बृहत्त्रयी संज्ञक किरातार्जुनीय, शिशुपालवध और नैषधीयचरित में वास्तु सम्बन्धित क्या विधान था? भवन, दुर्ग आदि के निर्माण में वास्तु विज्ञान किस प्रकार सहायक होता था? इसके विषय में जान सकेंगे।

वास्तु विज्ञान का श्लोक सहित सम्पूर्ण परिचय

वास्तुविद्या प्राचीनतम् विद्या है, जिसका उल्लेख प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद में मिलता है। मनुष्य के जीवन को सुगम, सरल व कल्याणकारी बनाने के लिए हमारे ऋषि-मुनि सदैव चिंतित रहे हैं। इसके सिद्धांत पूर्णतः वैज्ञानिक है। अतः यह एक व्यावहारिक विज्ञान है जिसकी उपयोगिता स्पष्ट एवं निश्चित है। प्राचीनकाल में विद्यार्थी गुरुकुल में चौसठ विद्याओं का अध्ययन करते थे, जिनमें वास्तु विद्या प्रमुख थी। विगत कुछ वर्षों से इस विद्या की ओर लोगों का विशेष ध्यान आकृष्ट हुआ है। विश्वकर्मा प्रकाश में कहा गया है- '**वास्तुशास्त्रं प्रवक्ष्यामि लोकानां हितकाम्यया**'। 'वास्तु' शब्द का अर्थ है बसने या वास करने योग्य वास्तुविद्या एक अत्यंत विस्तृत एवं गूढ़ विज्ञान है। इसके अधिकांश ग्रंथ लुप्त हो चुके हैं।

रामचरितमानस में तुलसीदास जी ने लिखा है-''**क्षिति जल पावक गगन समीरा। पंच तत्व रचित यह अधम शरीरा॥**'' जिस प्रकार मानव शरीर पांच तत्वों से निर्मित है उसी प्रकार प्रकृति भी इन्हीं पांचों तत्वों से निर्मित है। इसलिए ये पांच तत्व जीवन के अभिन्न अंग हैं। यदि मनुष्य प्रकृति के इन पांच तत्वों के अनुकूल वातावरण में वास करे तो उसका जीवन सुखी, स्वस्थ एवं आध्यात्मिक बना रहेगा। अनुकूल एवं प्रतिकूल घटनाएं मानव जीवन के अंग हैं, जो प्रकृति का शाश्वत सत्य है। प्रारब्ध का हमारे जीवन में एक महत्वपूर्ण स्थान है फिर भी मनुष्य को शास्त्रों में बताए गए मार्गों के अनुसार ही कर्म करना चाहिए। वास्तुशास्त्र एक गूढ़ एवं विस्तृत विषय है जो वर्तमान समय में सभी लोगों के लिए प्रासंगिक हो गया है। इसके सिद्धांतों का उचित ज्ञान प्राप्त कर इनका प्रयोग भवन निर्माण में किया जाए तो यथासंभव वास्तुजनित दोषों का निराकरण किया जा सकता है।

प्राचीन काल से ही सुरक्षा के दृष्टि से भवन निर्माण होता था। दुरवगाह होने पर भी सीढ़ियों का निर्माण कर दिये जाने पर प्रवेश योग्य जलाशय की तरह अत्यन्त दुर्बोध होने पर भी नीतिशास्त्र उपदेश-अध्ययन इत्यादि अभ्यास करने पर सुबोध हो जाता है; किन्तु जलाशय तथा नीतिशास्त्र के विषय में इस प्रकार का महापुरुष अत्यन्त विरल होता है, जो गर्त पाषाण इत्यादि स्खलन से रहित प्रवेश हेतु सोपानों का निर्माण करता है तथा देश-काल के अनुकूल संधि-विग्रह-यान-आसन-द्वैधीभाव-समाश्रयरूप उपायों का उपदेश देता है-

विषमोऽपि विगाह्यते नयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः।
स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः॥

किरातार्जुनीय 2.3

राजा नल सदैव अपने भवन में ज्यादातर समय कवि तथा विद्वानों के साथ व्यतीत किया करते थे। इसके विषय में श्री हर्ष नैषधीयचारितम् में श्लोक प्रस्तुत करते हैं—

अजस्रमभ्याससमुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च।
दधौ पटीयान् समयं नयन्नयं दिनेश्वर श्रीरुदयं दिने दिने॥

नैषधीयचरित 1.17

राजा नल ज्यादातर समय कवि तथा विद्वानों के सत्संग में रहकर सदैव हर्ष का अनुभव किया करते थे। जिस प्रकार दिन में ईश्वर के सदृश कान्ति को धारण करने वाला, अन्धकार दूर करने में अत्यधिक समर्थ, यह देव सूर्य, सर्वदा समीप में स्थित रहने वाले, कवि (शुक्र) और बुध नामक दो ग्रहों के साथ, प्रतिदिन उदय (निकलने) को धारण करने वाला है। उसी प्रकार सूर्य की कान्ति के समान कान्ति को धारण करने वाला अर्थात् तेजस्वी और अपने विरोधी अथवा विपक्षी राजाओं को नीच दिखलाने में पूर्णतया समर्थ थे, राजा नल भी निरन्तर समीप में विद्यमान रहने वाले काव्यशास्त्र के ज्ञाता पण्डितों तथा विद्वानों के साथ प्रसन्नतापूर्वक समय को व्यतीत करते हुए प्रतिदिन उन्नति को ही धारण किया करते थे।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस भाँति सूर्य शुक्र तथा बुध ग्रहों के साथ रहते हुए प्रतिदिन उदित होता है उसी भाँति राजा नल भी निरन्तर कवियों और विद्वानों के साथ रहकर प्रसन्नतापूर्वक अपने समय को व्यतीत करते हुए प्रतिदिन उन्नति को ही प्राप्त करता था।

गुप्त वार्तालाप हेतु भवन में एक विशेष स्थान होता है। जिसका वर्णन **किरातार्जुनीय** में इस प्रकार है- किरातों के स्वामी के इस प्रकार के सन्देश का निवेदन करके पुरस्कार प्राप्त कर (अपने निवास स्थान को) प्रस्थान कर जाने के अनन्तर राजा (युधिष्ठिर) द्वारा द्रौपदी के भवन में प्रवेश करके (भीमसेन-अर्जुन इत्यादि) भाइयों के सामने (वनेचर किरात द्वारा कथित) वह वचन कहा गया। अथवा भवन में प्रवेश करके भाइयों के सामने द्रौपदी से वह वचन कहा गया (कृष्ण सदनम् का कृष्णाया सदनम् इस समास विग्रह द्वारा कृष्णा अर्थात् द्रौपदी के भवन में यह अर्थ होता है तथा कृष्णा की अलग पद तथा सदनम् को अलग पद मानकर सदन अर्थात् भवन में प्रवेश करके राजा द्वारा कृष्णा अर्थात् द्रौपदी को यह वचन कहा गया अर्थ भी होता है-

इतीरयित्वा गिरमात्तसत्क्रिये गतेऽथ पत्यौ
वनसन्निवासिनाम्।
प्रविश्य कृष्णासदनं महीभुजा तदाचचक्षेऽनुजसन्निधौ
वचः॥ *किरातार्जुनीय 1.26*

द्वारकाधीश श्रीकृष्ण जी का भवन अति रमणीय है। लक्ष्मी (रुक्मिणी) के पति जगत् के आधारभूत, जगत का नियन्त्रण करने के लिये वसुदेव के श्रीसम्पन्न गृह में (श्रीकृष्णरूप में) निवास करते हुये भगवान् विष्णु ने (एक बार) आकाश से उतरते हुये ब्रह्मपुत्र नारद मुनि को देखा-

श्रियः पतिः श्रीमति शासितु जगज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि।
वसन्ददर्शावतरन्तमम्बराद्धिरण्यगर्भाङ्गभुव मुनि हरिः॥

शिशुपालवध 1.1

इंद्रियों के द्वारा न जानने योग्य ज्ञान के निधान नारद जी अपने पीछे आते हुए देवताओं को, जो प्रणाम कर चुके थे, लोटा कर दैत्यों का वैभव विध्वस करने वाले सुदर्शनचक्रधारी भगवान् कृष्ण के इन्द्रभवन सा सुन्दर स्थान पर आ पहुँचे -

निवर्त्य सोऽनुव्रजतः कृतानतीनतीन्द्रियज्ञाननिधिर्नभः सदः।
समासदत्सादित दैत्यसंपदः पदं महेन्द्रालयचारु चक्रिणः॥

शिशुपालवध 1.11

बड़े महानील मणि के समान कति वाले केसरि भगवान् कृष्ण के सम्मुख ऊँचे ग्रासन पर बैठे हुए नारद जी सायकाल मे उदयाचल पर स्थिर चन्द्रमा की सुन्दरता चुरा रहे चन्द्रमा के समान सुशोभित हो रहे थे-

महामहानं शिलारुचः पुरो निवेदिवान्कसप स विष्टरे।
श्रितोदयाद्रेरभिसाय मुच्चकै रचू चुरच्चन्द्रमसोऽभिरामताम्॥

शिशुपालवध 1.16

जो (आप युधिष्ठिर) सुवर्णरत्नों से जड़े हुए बहुमूल्य शय्या पर सुखपूर्वक शयन करते हुए पूर्वकाल में (अर्थात् अपने राजसिंहासनासीन काल में) प्रशंसा तथा गायन रूप में मांगलिक शब्दों द्वारा जगाए जाते थे, वहीं आप (अब इस वनवास काल में) तीक्ष्ण मुख वाले प्रचुर कुशों से भरी हुई अपरिष्कृत (विषम) भूमि पर शयन करके अमांगलिक शृंगालियों के द्वारा निद्रा त्यागते हैं-

पुराधिरूढः शयनं महाधनं विबोध्यसे यः स्तुतिगीतिमङ्गलैः।
अददर्भामधिशय्य स स्थलीं जहासि निद्रामशिवैः शिवारुतैः॥

किरातार्जुनीय 1.38

यक्ष का भवन अपने स्वामी कुबेर के भवन के पास उसके भवन से सटा हुआ उत्तर दिशा में है। उसके घर का बाह्य द्वार अर्धवृत्ताकार है तथा ऊँचा भी है। वह द्वार रंग-बिरंगा है तथा मणियों से खचित होने के कारण चमकदार भी है। अतएव वह इन्द्रधनुष के समान देखने में सुन्दर है। ऊँचा होने से दूर से ही दिखाई पड़ता है। समीप में ही यक्ष की पत्नी द्वारा पुत्रवत् रक्षित मन्दार-वृक्ष है, जो फूलों के गुच्छों से झुका है। तथा उसे हाथ से भी छुआ जा सकता है-

तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं दूराल्लक्ष्यं
सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन।
यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे,
हस्तप्राप्यस्तबकनमितो बालमन्दारवृक्षः॥

उत्तरमेघ 53

उस वापी के किनारे पर सुन्दर इन्द्रनीलमणि से निर्मित शिखरों वाला, एवं सोने की कदलों के घेराव से दर्शनीय एक क्रीड़ापर्वत है। हे मित्र! किनारे में बिजली की चमक के साथ विद्यमान तुझे देखकर व्याकुल मन से सोचता हूँ कि तुम मेरी प्रिया का वही क्रीडापर्वत हो-

वापी चास्मिन् मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा,
हेमैश्छन्ना विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः।
यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं सन्निकृष्टं
नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः।

उत्तरमेघ 16

हिन्दू-संस्कृति बहुत विलक्षण है। इसके सभी सिद्धान्त पूर्णतरू वैज्ञानिक हैं और उनका एकमात्र उद्देश्य मनुष्य मात्र का कल्याण करना है। मनुष्य मात्र का सुगमता से एवं शीघ्रता से कल्याण कैसे हो-इसका जितना गम्भीर विचार हिन्दू-संस्कृति में किया गया है, उतना अन्यत्र नहीं मिलता। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त मनुष्य जिन-जिन वस्तुओं एवं व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है और जो-जो क्रियाएँ करता है, उन सबको हमारे क्रान्तदर्शी ऋषि-मुनियों ने बड़े वैज्ञानिक ढंग से सुनियोजित, मर्यादित एवं सुसंस्कृत किया है और उन सबका पर्यवसान परम श्रेय की प्राप्ति में किया है। इतना ही नहीं, मनुष्य अपने निवास के लिये भवन-निर्माण करता है तो उसको भी वास्तुशास्त्र के द्वारा मर्यादित किया है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में वास्तुशास्त्र या स्थापत्यकला से संबद्ध कुछ मंत्र मिलते हैं, जिनसे उस समय की प्रोन्नत शिल्प व्यवस्था का ज्ञान होता है। वेदों में वसति, दुर्ग, पुर एवं भवन सम्बन्धी विभिन्न संकेतों से प्रोन्नत वास्तु-विकास का ज्ञान होता है। प्रो. विनोद विहारी दत्त ने 'टाइन प्लानिंग इन एंसेंट इंडिया' में कहा है कि ''निश्चय ही वे लोग जो लोह दुर्ग का निर्माण कर सकते थे, स्तम्भबहुल विशाल भवनों के निवेश में दक्ष थे तथा बड़े नगरों का विन्यास कर सकते थे, वे निश्चय ही नागरिक कलाओं के वैज्ञानिक ज्ञान से शून्य नहीं थे।''

विशाल भवन : ऋग्वेद में वर्णन है कि राजा मित्र और वरुण के राजद्वार में हजार खंभे थे। **राजानौ .. ध्रुवे सदस्युत्तमे। सहस्रस्थूण आसाते। ऋ. 2.41.5** राजद्वार या सभागृह के लिए मंत्र में सदस् शब्द है।

एक अन्य मंत्र (ऋग. 5.62.6) में भी 'सहस्रस्थूणम्' हजार खम्भे वाले घर का उल्लेख है। ऋग्वेद के एक मंत्र में राजा वरुण के एक हजार द्वार वाले बड़े महल का उल्लेख है।

बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते। मंत्र में 'बृहन्तं मानम्' के द्वारा विशाल परिमाण वाले भवन को सूचित किया गया है। ऋग्वेद में त्रिधातु अर्थात् तिमंजिले (त्रिभूमिक) भवन का उल्लेख है। भवन की विशेषता बनाई गई है कि यह भद्र (सुखद) और अनातुरम् (किसी प्रकार के रोगाणु से रहित) हो। इसमें सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था हो। **यद् भद्रं यदनातुरम्। त्रिधातु यद् वरूथ्यम्।** ***ऋग. 8.47.5***

ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में त्रिधातु (तिमंजिले) भवन की विशेषताएँ बताई गई हैं कि वह त्रिवरूथ हो, उसमें तीन प्रकार की सुरक्षा की व्यवस्था हो, अर्थात् गर्मी, सर्दी और वर्षा तीनों ऋतुओं में उसमें सुरक्षित रह सके। स्वस्तिमत् का अभिप्राय है कि वह सभी सुविधाओं से युक्त हो। साथ ही उसकी छत (छर्दि) ऊँची हो। **इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तिमत्। छर्दिर्यच्छ मघवद्भ्यः। ऋग. 6.46.9.** एक अन्य मंत्र (ऋग. 7.101.2) में सुखद तिमंजिले भवन की प्रार्थना की गई है।

लोह-निर्मित नगर : ऋग्वेद और अथर्ववेद के कई मंत्रों में लोह-निर्मित नगर या किले का वर्णन है। मंत्र का कथन है कि ये लोहे के बने दुर्ग अजेय हो। **पुरः कृणुध्वम् आयसीरधृष्टाः।** ***अथर्व. 19.58.4***

ऋग्वेद का कथन है कि इन्द्र ने असुरों के लोहे के किलों को नष्ट किया और उन्हें मारा। **हत्वी दस्यून् पुर आयसीर्नि तारीत्।** ***(ऋ. 2.20.8)*** एक अन्य मंत्र में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह सौ लोहे की नगरी दे और हमारी रक्षा करे। **शतं पूर्मिरायसीभिर्नि पाहि।** ***ऋ. 7.3.7*** इस प्रकार हमें वेदों में दुर्ग भवन किले घर से सम्बन्धित पर्याप्त मन्त्र देखने को मिलते हैं और तीनों ऋतुओं शरद, ग्रीष्म व वर्षा ऋतु के अनुसार सुखद घर भवन निर्माण के विषय में भी पर्याप्त मन्त्र प्राप्त होते हैं।

वास्तु में दिशाओं का महत्व

वास्तुशास्त्र दिशात्मक ऊर्जा पर आधारित एक व्यवहारिक विज्ञान है। वास्तु विज्ञान में आठ दिशाओं अर्थात् चार मुख्य दिशाएं उत्तर पूर्व दक्षिण और पश्चिम तथा चार कोणीय दिशाओं उत्तर-पूर्व (ईशान्य), दक्षिण-पूर्व (आग्नेय), दक्षिण-पश्चिम (नैऋत्य) और उत्तर-पश्चिम (वायव्य) के आधार पर पूरे वास्तु की गणना की जाती है। सभी कोणीय दिशाओं पर दोनों दिशाओं का संयुक्त प्रभाव रहता है। अतः वास्तुशास्त्र में प्रत्येक दिशा का अपना अलग महत्व होता है क्योंकि प्रत्येक दिशा पर अलग-अलग ग्रहों देवताओं तथा विभिन्न दिशाओं से आने वाली ब्रह्मांडीय शक्ति रश्मि एवं ऊर्जाओं का संयुक्त प्रभाव रहता है। इस कारण से हमारे ऋषि-मुनियों ने हजारों वर्ष पूर्व इस बात की आवश्यकता महसूस किया कि दिशाओं को ठीक रखना चाहिए ताकि अच्छे वास्तु के साथ मनुष्य सुख-शांति, समृद्धि एवं आरोग्य पूर्वक अपने जीवन को व्यतीत कर सके। वास्तु में दिशाओं का निर्धारण दिशा सूचक यंत्र के द्वारा भूखंड के केन्द्र में रखकर की जाती है।

दिशा और देवता

वास्तु सिद्धांत के अनुसार चार प्रमुख दिशाओं के अलावा चार उपदिशाओं अर्थात् आठ दिशाओं के आधार पर पूरे वास्तु की गणनाएं की जाती हैं। सभी कोणीय दिशाओं पर दोनों दिशाओं का प्रभाव रहता है। अतः वास्तु शास्त्र में प्रत्येक दिशा का अपना अलग महत्व होता है। क्योंकि प्रत्येक दिशा पर अलग-अलग देवताओं, ग्रहों एवं विभिन्न दिशाओं से आने वाली ब्रह्मांडीय शक्तियों एवं ऊर्जाओं का संयुक्त प्रभाव रहता हैं।

वास्तु का ज्योतिष से संबंध

वास्तु, ज्योतिष एवं मुहूर्त विज्ञान पर आधारित उच्च कोटि का व्यवहारिक विज्ञान है। ग्रहों और नक्षत्रों के बिना वास्तु का ज्ञान अधुरा प्रतीत होता है। क्योंकि मनुष्य का जीवन भाग्य और वास्तु दोनों से ही सामान रूप से प्रभावित होता है। मनुष्य का भाग्य अच्छा है लेकिन उनकी वास्तु खराब है तो प्रयासों के बावजूद पूर्ण सुख-समृद्धि नहीं मिल पाती है। यदि भाग्य खराब हो एवं वास्तु अनुकूल तो परेशानियां कम होगी लेकिन खत्म नहीं होगी। यदि भाग्य एवं वास्तु दोनों ही खराब हो, तो मनुष्य जीवन भर संघर्षपूर्ण स्थिति से निजात नहीं पा सकता। इसके विपरीत भाग्य के साथ-साथ वास्तु अच्छी रहने पर अधिकतम सुख सुविधा के साथ जीवन यापन करता है। मनुष्य अपने भाग्य को तो बदल नहीं सकता। परंतु वास्तु की सहायता से अपने प्रयत्नों के द्वारा इसे संवार सकता है। ग्रहों की प्रतिकूलता के परिणाम सभी को भोगने पड़ते हैं। जिस प्रकार मानव जीवन पर ग्रहों के शुभाशुभ परिणाम होते हैं उसी तरह अन्य सजीव एवं निर्जीव वस्तुएं भी ग्रहों एवं रश्मियों के प्रभाव से प्रभावित होते हैं। जहां तक वास्तु का सवाल है भवन में दिशाओं का महत्व है तथा प्रत्येक दिशा किसी न किसी ग्रहों से शासित होता है। दिशाओं के शुभ और अशुभ रहने पर ग्रहों के प्रभाव में भी अंतर आता है। इसलिए कहा जाता है कि वास्तु में दिशाओं को ठीक रखें अन्यथा तत्संबंधी ग्रहों के

प्रभाव में भी प्रतिकूलता आ जाएगी। कहा जाता है कि दिशा बदलो दशा बदलेंगी। यदि आपको अपनी दशा में बदलाव लानी है तो उस दिशा को ठीक कर डालिए। तत्पश्चात् आपकी दशा में अवश्य सुधार हो जाएगा। भारतीय ज्योतिष 9 ग्रह 12 राशि और 27 नक्षत्र पर आधारित है। सभी राशियों में पंचतत्वों में से किसी न किसी तत्व की प्रधानता रहती है और राशियां भी दिशाओं का प्रतिनिधित्व करता है।

सारांश

हिन्दू-संस्कृति बहुत विलक्षण है। इसके सभी सिद्धान्त पूर्णतः वैज्ञानिक हैं और उनका एकमात्र उद्देश्य मनुष्य मात्र का कल्याण करना है। मनुष्य मात्र का सुगमता से एवं शीघ्रता से कल्याण कैसे हो- इसका जितना गम्भीर विचार हिन्दू-संस्कृति में किया गया है, उतना अन्यत्र नहीं मिलता। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त मनुष्य जिन-जिन वस्तुओं एवं व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है और जो-जो क्रियाएँ करता है, उन सबको हमारे क्रान्तदर्शी ऋषि-मुनियों ने बड़े वैज्ञानिक ढंग से सुनियोजित, मर्यादित एवं सुसंस्कृत किया है और उन सबका पर्यवसान परम श्रेयकी प्राप्ति में किया है। इतना ही नहीं, मनुष्य अपने निवास के लिये भवन-निर्माण करता है तो उसको भी वास्तुशास्त्र के द्वारा मर्यादित किया है। प्राचीनकाल में विद्यार्थी गुरुकुल में चौसठ विद्याओं का अध्ययन करते थे, जिनमें वास्तु विद्या प्रमुख थी। विगत कुछ वर्षों से इस विद्या की ओर लोगों का विशेष ध्यान आकृष्ट हुआ है। विश्वकर्मा प्रकाश में कहा गया है-**''वास्तुशास्त्रं प्रवक्ष्यामि लोकानां हितकाम्यया।''**'वास्तु' शब्द का अर्थ है बसने या वास करने योग्य वास्तुविद्या एक अत्यंत विस्तृत एवं गूढ़ विज्ञान है। इसके अधिकांश ग्रंथ लुप्त हो चुके हैं। रामचरितमानस में तुलसीदास जी ने लिखा है- **''क्षिति जल पावक गगन समीरा। पंच तत्व रचित यह अधम शरीरा॥''** ऋग्वेद और अथर्ववेद में वास्तुशास्त्र या स्थापत्यकला से संबद्ध कुछ मंत्र मिलते हैं, जिनसे उस समय की प्रोन्नत शिल्प व्यवस्था का ज्ञान होता है। वेदों में वसति, दुर्ग, पुर एवं भवन सम्बन्धी विभिन्न संकेतों से प्रोन्नत वास्तु-विकास का ज्ञान होता है। प्रो. विनोद विहारी दत्त ने 'टाइन प्लानिंग इन एंसेंट इंडिया' में कहा है कि ''निश्चय ही वे लोग जो लोह दुर्गा का निर्माण कर सकते थे, स्तम्भबहुल विशाल भवनों के निवेश में दक्ष थे तथा बड़े नगरों का विन्यास कर सकते थे, वे निश्चय ही नागरिक कलाओं के वैज्ञानिक ज्ञान से शून्य नहीं थे।'' इस लिए भविष्य में किसी भी प्रकार का वास्तु दोष न उत्पन्न हो, इसके लिए हमें वास्तु विज्ञान का अध्ययन करना चाहिए।

आचार्य एवं ग्रन्थ

वास्तुशास्त्र के प्रमुख आचार्यों का उल्लेख वास्तुशास्त्र के अनेक ग्रन्थों और पुराणों में प्राप्त होता है। मत्स्यपुराण में भृगु, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नारद, नग्नजित, विशालाक्ष, पुरन्दर, ब्रह्मा, कुमार, नन्दीश, शौनक, गर्ग, वासुदेव, अनिरुद्ध, शुक्र तथा बृहस्पति इन अठारह आचार्यों का वर्णन किया गया है। यथोक्तम् ...

'भृगुरत्रिर्वशिष्ठश्च विश्वकर्मामयस्तथा।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः॥
ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनको गर्म एव
चा वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती॥
अष्टादशैते विख्याता वास्तुशास्त्रोपदेशकाः।
संक्षेपेणोपदिष्टं यन्मनवे मत्स्यरूपिणः॥''

अग्निपुराण में वास्तुशास्त्र के उपदेशक आचार्यों की सङ्ख्या पच्चीस कही गई है। अग्निपुराण की इस सूची में हयशीर्ष (हयशीर्ष तन्त्र), गालव, त्रिलोकमोहन (त्रैलोक्यमोहन तन्त्र), नारद (नरदीय तन्त्र), विभव (विभव तन्त्र), सम्प्रश्न, पुष्कर (पौष्कर तन्त्र), शाण्डिल्य (शाण्डिल्य तन्त्र), प्रह्लाद (प्रह्लाद तन्त्र), विश्वक (वैश्वक तन्त्र), गर्ग (गार्ग्या तन्त्र), सत्य (सात्य तन्त्र), शुनक (शौनक तन्त्र), वशिष्ठ (वशिष्ठ तन्त्र), ज्ञानसार, स्वयम्भू (स्वायम्भुव तन्त्र), कपिल (कापिल तन्त्र), तार्क्ष्य, नारायण (नारायणिका तन्त्र), अत्रि (आत्रेय तन्त्र), नरसिंह (नारसिंह तन्त्र), आनन्द, अरुण (आरुण तन्त्र), बौधायान, ऋषि (आर्ष) आदि का उल्लेख प्राप्त होता है।

वास्तुशास्त्र के एक अन्य मुख्य ग्रन्थ मानसार में वास्तुशास्त्र के उपदेशक आचार्यों की सङ्ख्या बत्तीस कही गई है। मानसार में विश्वकर्मा, विश्वेश, विश्वेसार, प्रबोधक, वृत्र, मय, त्वष्टा, मनु, नल, मानवित, मानकल्प, मानसार, प्रष्टा, मानबोध, विश्वबोध, नय, आदिसार, विशाल, विश्वकाश्यप, वासुबोध, महातन्त्र, वास्तुविद्यापति, पाराशरीयक, कालवूपचैत्य, चित्रक, आर्य, साधकसार, भानु, इन्द्र, लोकज्ञ और सूर्य इन आचार्यों का उल्लेख किया गया है। आचार्य वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में गर्ग, मनु, वशिष्ठ, पाराशर, विश्वकर्मा, नग्नजित, मय आदि सात आचार्यों की चर्चा वास्तुशास्त्रज्ञ के रूप में की है। सनत्कुमार वास्तुशास्त्र में ग्यारह वास्तुविदों का उल्लेख मिलता है। जिनके नाम क्रमशः ब्रह्मा गौतम, भृगु इन्द्र गार्ग्य, अंगिरा,

यम, मनु, विश्वकर्मा, भार्गव, तथा व्यास है।

वास्तुकौस्तुभ ग्रन्थ में शौनक, राम, रावण, परशुराम, हरि, गालव, गौतम, शोभित, वैद्याचार्य, कार्तिकेय और च्यवन आदि आचार्यों का उल्लेख किया गया है। विश्वकर्माप्रकाश में पन्द्रह (15) वास्तुविदों का उल्लेख मिलता है। जिनके नाम क्रमशः अगस्त्य कश्यप, पालकप्य, नन्दी, लोकदर्शक, पुण्डरीक, नारद, कात्यायन, दीर्घदर्शी, बृहस्पति, मरीचि, पुनर्वसु, तिम्यलोक चित्रतोयक तथा योगसार है। इसी प्रकार से रामायणकाल में वास्तुविद् के रूप में आचार्य नल और नील का वर्णन प्राप्त होता है। इन्होंने ही समुद्र पर सेतु का निर्माण किया था। महाभारत काल में लाक्षागृह का निर्माण करने वाले आचार्य पुरोचन प्रमुख वास्तुविद् थे। आचार्य कश्यप का काश्यपशिल्प, अगस्त्य का सकलाधिकार प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस प्रकार अनेक ग्रन्थों के अनुसार भिन्न-भिन्न वास्तुशास्त्रीय आचार्यों के नामोल्लेख का वर्णन प्राप्त होता है।

शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
Email : surajsingh130296@gmail.com

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

- ऋग्वेद।
- अथर्ववेद।
- मनुस्मृति।
- विश्वकर्म प्रकाश - सम्पादक महर्षि अभय कात्यायन।
- किरातार्जुनीय - आचार्य श्रीनिवास शर्मा, भारतीय विद्या प्रकशन, दिल्ली; 2013
- शिशुपालवध - डॉ. आद्या प्रसाद मिश्र, साहित्य भण्डार, प्रयागराज, 1969
- नैषधीयचरित - डॉ. सुरेन्द्र देव शास्त्री, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी; 2012
- महाकवि माघः उनका जीवन तथा कृतियाँ - डॉ. मनमोहन लाल जगन्नाथ शर्मा, नवयुग प्रकाशन, दिल्ली; 1963
- बृहत्त्रयी : एक तुलनात्मक अध्ययन - डॉ. सुषमा कुलश्रेष्ठ ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली; 1983

शोध-पत्र

भारत में वर्तमान स्त्री शिक्षा : ऐतिहासिक संघर्ष, सामाजिक बदलाव और 'आपहुदरी' चेतना का उदय

सरोज प्रमिला

शिक्षा किसी भी राष्ट्र की चेतना का मेरुदंड होती है, और जब बात 'स्त्री शिक्षा' की आती है, तो यह केवल साक्षरता का प्रश्न न रहकर एक गहन सामाजिक, राजनीतिक और अस्तित्ववादी विमर्श बन जाता है। 'वाक् सुधा' पत्रिका का ध्येय वाक्य-''विचार की प्रतिबद्धता में राष्ट्रहित सर्वोपरि है" इस बात का संकेत देता है कि राष्ट्र का वास्तविक हित आधी आबादी को बौद्धिक रूप से सशक्त करने में ही निहित है। वर्तमान भारतीय परिदृश्य में, स्त्री शिक्षा एक ऐसे मुकाम पर खड़ी है जहाँ उसने सदियों की बेड़ियों को तोड़ा तो है, किन्तु पूर्ण आकाश अभी भी उसकी पहुँच से दूर है।

आलेख का उद्देश्य भारत में स्त्री शिक्षा की वर्तमान स्थिति का समग्र मूल्यांकन करना है। यह मूल्यांकन केवल सरकारी आंकड़ों या नीतिगत दस्तावेजों तक सीमित नहीं है, बल्कि इसमें उन ऐतिहासिक संघर्षों, सामाजिक अवरोधों और मनोवैज्ञानिक द्वंद्वों का भी विश्लेषण किया गया है जो एक भारतीय स्त्री अपनी शिक्षा-यात्रा के दौरान अनुभव करती है। इस विस्तृत विश्लेषण में हम श्री आत्मानंद सिंह द्वारा लिखित स्त्री शिक्षा के प्रबल समर्थक: ईश्वरचंद्र विद्यासागर: प्रिया लोकारे की 'द हिस्ट्री ऑफ विमेन एजुकेशन इन इंडिया' प्रदीप कुमार केसरवानी की भारतीय समाज में महिलाओं की बदलती हुई स्थिति', गोल्डी गुप्ता एवं मनजीत कुमारी द्वारा संपादित 'विमेन एजुकेशन इन इंडिया' तथा राजर्षि रॉय द्वारा संपादित 'विमेन एजुकेशन एंड डेवलपमेंट' जैसी महत्वपूर्ण पुस्तकों के विचारों को समाहित करेंगे। साथ ही, 'वाक् सुधा' में प्रकाशित कविता सरोज के लेख और रमणिका गुप्ता की आत्मकथा 'आपहुदरी' के माध्यम से स्त्री के आंतरिक विद्रोह और शिक्षा के अंतर्संबंधों की पड़ताल करेंगे।

शिक्षा केवल अक्षर ज्ञान नहीं है, यह वह माध्यम है जो एक स्त्री को अपनी 'देह' और 'नियति' पर लगे पितृसत्तात्मक तालों को खोलने की चाबी सौंपता है। जैसा कि रमणिका गुप्ता ने अपनी आत्मकथा में लिखा है, ''नदी को न पत्थर बांध सकते हैं, न बांध। नदी तब तक नहीं रुकती जब तक उसका पानी का स्रोत खत्म नहीं हो जाता ''। भारतीय स्त्री की शिक्षा भी इसी नदी की तरह है, जो तमाम सामाजिक बंधनों के बावजूद अपना रास्ता बनाती रही है।

भारतीय स्त्री शिक्षा का इतिहास संघर्षों का इतिहास रहा है। वैदिक काल की गार्गी और मैत्रेयी की विद्वता के बाद, मध्यकाल में पर्दा प्रथा और बाल विवाह जैसी कुरीतियों ने स्त्री शिक्षा के द्वार लगभग बंद कर दिए थे। 19वीं शताब्दी में जब भारतीय नवजागरण की शुरुआत हुई, तो स्त्री शिक्षा उसका केंद्र बिंदु बनी। इस संदर्भ में, आत्मानंद सिंह की पुस्तक 'स्त्री शिक्षा के प्रबल समर्थक ईश्वरचंद्र विद्यासागर' एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है। यह पुस्तक रेखांकित करती है कि विद्यासागर का संघर्ष केवल स्कूलों की स्थापना तक सीमित नहीं था। यह एक वैचारिक युद्ध था। उस समय का समाज यह मानता था कि यदि स्त्री पढ़ेगी तो वह विधवा हो जाएगी। विद्यासागर ने शास्त्रों का हवाला देकर इस अंधविश्वास को चुनौती दी। उन्होंने न केवल 35 से अधिक बालिका विद्यालयों की स्थापना

की, बल्कि यह भी सुनिश्चित किया कि शिक्षा का पाठ्यक्रम ऐसा हो जो लड़कियों को आत्मनिर्भर बनाए। विद्यासागर का मानना था कि एक शिक्षित माँ ही एक सभ्य समाज का निर्माण कर सकती है। उनकी दृष्टि में शिक्षा का अर्थ केवल 'अक्षर ज्ञान' नहीं, बल्कि विवेक का जागरण था।

प्रिया लोकारे अपनी पुस्तक 'द हिस्ट्री ऑफ विमेन एजुकेशन इन इंडिया' में इस ऐतिहासिक यात्रा को विस्तार देती हैं। वे लिखती हैं कि औपनिवेशिक काल में मिशनरी स्कूलों और देसी सुधारकों के प्रयासों ने स्त्री शिक्षा की नींव रखी। सावित्रीबा फुले और फातिमा शेख का योगदान, जिन्होंने पुणे में दलित और पिछड़ी जातियों की लड़कियों के लिए स्कूल खोले, यह इतिहास का स्वर्णिम अध्याय है। लोकारे का विश्लेषण बताता है कि 1854 का वुड्स डिस्पैच (Wood's Dispatch) पहला सरकारी दस्तावेज था जिसने स्त्री शिक्षा को राज्य का दायित्व माना। हालांकि, उस समय शिक्षा का उद्देश्य सीमित था–महिलाओं को 'अच्छी गृहिणी' और 'आदर्श माँ' बनाना। उन्हें गणित या विज्ञान के बजाय गृह विज्ञान, सिलाई और कढ़ाई सिखाई जाती थी। यह पितृसत्ता का एक नया रूप था, जो शिक्षा के माध्यम से भी महिलाओं को घरेलू भूमिकाओं में ही कैद रखना चाहता था। फिर भी, जैसा कि इतिहास गवाह है, शिक्षा पाकर महिलाएं केवल गृहिणी नहीं रहीं, वे स्वतंत्रता संग्राम की अग्रदूत बनीं। सरोजिनी नायडू, एनी बेसेंट और बाद में इंदिरा गांधी जैसी नेत्रियों का उदय इसी शिक्षा का परिणाम था।

प्रदीप कुमार केसरवानी अपनी पुस्तक 'भारतीय समाज में महिलाओं की बदलती हुई स्थिति' में एक बहुत ही सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। वे तर्क देते हैं कि स्वतंत्रता के बाद, विशेष रूप से 1990 के उदारीकरण के बाद, भारतीय महिलाओं की स्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन आया है। शिक्षा ने महिलाओं को 'वस्तु (Object) से 'कर्ता' (Subject) में बदल दिया है।

केसरवानी के अनुसार, आज की शिक्षित स्त्री दोहरी भूमिका निभा रही है। वह घर भी संभाल रही है और दफ्तर भी। इसे समाजशास्त्रीय भाषा में 'दोहरा बोझ' कहा जाता है। शिक्षा ने उसे आर्थिक स्वतंत्रता तो दी, लेकिन सामाजिक मानसिकता ने उसे घरेलू जिम्मेदारियों से मुक्त नहीं किया। फिर भी, शिक्षा ने उसे प्रश्न पूछने का साहस दिया है। अब वह विवाह, संतान और करियर के बारे में अपने निर्णय स्वयं लेने का प्रयास कर रही है।

केसरवानी की पुस्तक यह भी इंगित करती है कि 'महिला' को एकरूप वर्ग नहीं है। एक सवर्ण, शहरी महिला की शिक्षा की चुनौतियां एक दलित, ग्रामीण महिला से भिन्न हैं। 'वाक् सुधा' में रमणिका गुप्ता के जीवन का संदर्भ इस बात की पुष्टि करता है कि रमणिका जी, जो एक सामंती परिवार से थी, उन्हें अपनी शिक्षा और स्वतंत्रता के लिए अपने ही परिवार और 'मास्टर' जैसे शोषकों से लड़ना पड़ा। दूसरी ओर, वंचित वर्गों की महिलाओं के लिए शिक्षा तक पहुँच ही सबसे बड़ी चुनौती है।

राजर्षि रॉय द्वारा संपादित पुस्तक विमेन एजुकेशन एवं डेवलपमेंट इस बात पर जोर देती है कि स्त्री शिक्षा केवल एक मानवाधिकार का मुद्दा नहीं है, बल्कि यह आर्थिक विकास की अनिवार्य शर्त है। अमर्त्य सेन के 'क्षमता दृष्टिकोण' का उपयोग करते हुए, रॉय और उनके सह-लेखक तर्क देते हैं कि जब एक लड़की शिक्षित होती है, तो उसका प्रभाव बहुआयामी होता है।

यह पुस्तक स्पष्ट करती है कि भारत जैसे विकासशील देश के लिए स्त्री शिक्षा में निवेश करना सबसे लाभदायक निवेश है। केरल का उदाहरण हमारे सामने है, जहाँ उच्च महिला साक्षरता ने राज्य को मानव विकास सूचकांक (HDI) में शीर्ष पर रखा है।

संयुक्त राष्ट्र के सतत विकास लक्ष्य 4 (गुणवतापूर्ण शिक्षा) और लक्ष्य 5 (लैंगिक समानता) सीधे तौर पर आपस में जुड़े हुए हैं। 'विमेन एजुकेशन एंड डेवलपमेन्ट' पुस्तक में यह विश्लेषण किया गया है कि भारत सरकार की योजनाएं जैसे 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' और 'सुकन्या समृद्धि योजना' इन लक्ष्यों की प्राप्ति की दिशा में उठाए गए कदम है। शिक्षा अब केवल नौकरी पाने का साधन नहीं, बल्कि सतत विकास का इंजन है।

गोल्डी गुप्ता और मनजीत कुमारी द्वारा संपादित पुस्तक 'विमेन एजुकेशन इन इंडिया' वर्तमान आंकड़ों का विस्तृत विश्लेषण प्रदान करती है। यद्यपि सकल नामांकन अनुपात में प्राथमिक स्तर पर लड़कियों ने लड़कों को पछाड़ दिया है, लेकिन उच्च शिक्षा और शोध के स्तर पर एक 'लीकी पाइपलाइन' की समस्या बनी हुई है।

पुस्तक में यह चिंता व्यक्त की गई है कि डिग्री प्राप्त करने के बाद भी, महिलाओं की श्रम शक्ति में भागीदारी भारत में गिर रही है। इसे शिक्षा-रोजगार विरोधाभास कहा जाता है। शिक्षित महिलाएं विवाह के बाद या मातृत्व के कारण नौकरी छोड़ देती हैं, या उन्हें कार्यस्थल पर भेदभाव का सामना करना पड़ता है।

कोविड-19 महामारी के बाद, शिक्षा में तकनीक का हस्तक्षेप बढ़ा है। 'विमेन एजुकेशन इन इंडिया' पुस्तक के अद्यतन संदर्भ बताते हैं कि भारत में 'डिजिटल जेंडर गैप' बहुत गहरा है। ग्रामीण क्षेत्रों में, परिवारों के पास यदि एक स्मार्टफोन है, तो वह पिता या बेटे के पास होता है, बेटी के पास नहीं। इसने लड़कियों को ऑनलाइन शिक्षा की धारा से काट दिया है। यह 21वीं सदी का नया शैक्षिक अंधकार है।

शिक्षा का सबसे गहरा प्रभाव स्त्री के मनोविज्ञान पर पड़ता है। 'वाक् सुधा' में प्रकाशित कविता सरोज का लेख 'आपहुदरी' एक अतरंग परिचय' और रमणिका गुप्ता की आत्मकथा इस बात का जीवंत दस्तावेज है। रमणिका जी का जीवन यह बताता है कि शिक्षा एक स्त्री को 'आपहुदरी' बनाती है। 'आपहुदरी' शब्द को अक्सर समाज नकारात्मक अर्थ में लेता है, लेकिन स्त्री विमर्श में यह एक सकारात्मक शब्द है। इसका अर्थ है-जो अपनी हदें खुद तय करे। रमणिका गुप्ता लिखती हैं: ''मैं अपने आचरण को भी तौलती हूँ, खुद भी तराजू के एक पलड़े पर चढ़ बैठती हूँ ताकि अपनी औकात अपनी हकीकत जान सकूँ, आंक सकूँ।'' यह आत्म-मूल्यांकन शिक्षा की ही देन है।

रमणिका गुप्ता के जीवन का वह प्रसंग जहाँ उनके ट्यूशन मास्टर ने उनका यौन शोषण किया, और उन्होंने शिक्षा को उस नर्क से निकलने का माध्यम बनाया, अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने सोचा, ''मैं उससे विवाह करके बीबीजी और उस घर से निजात दिलाने की मिन्नत करूंगी ताकि मास्टर के चंगुल से निकल सकूं।'' यह एक विडंबना है कि एक बालिका को शोषण से बचने के लिए विवाह का सहारा लेना पड़ा, लेकिन शिक्षा ने बाद में उन्हें उस विवाह के बंधन से भी मानसिक रूप से मुक्त किया। वर्तमान पाठ्यक्रम में 'गुड टच, बैड टच', पोक्सो कानून और यौन अधिकारों की शिक्षा का अभाव है। रमणिका जी का संघर्ष हमें सिखाता है कि स्त्री शिक्षा को केवल किताबी ज्ञान तक सीमित नहीं होना चाहिए, बल्कि उसे 'देह की राजनीति' और 'सहमति' का पाठ भी पढ़ाना चाहिए। शिक्षित स्त्री वह है जो कह सके-''मेरा शरीर, मेरा अधिकार।"

भारत में स्त्री शिक्षा की यात्रा विद्यासागर के विद्यालयों से शुरू होकर आज डिजिटल यूनिवर्सिटी तक आ पहुँची है। आत्मानंद सिंह से लेकर प्रिया लोकारे तक के इतिहासकारों ने जिस नींव की चर्चा की, उस पर आज एक भव्य इमारत खड़ी हो रही है। प्रदीप कुमार केसरवानी का समाजशास्त्र और राजर्षि रॉय का विकास मॉडल हमें बताता है कि दिशा सही है, लेकिन गति और नियत में सुधार की आवश्यकता है।

गोल्डी गुप्ता की पुस्तक की चिंताओं और रमणिका गुप्ता के 'आपहुदरी' साहस को मिलाकर देखें, तो निम्नलिखित निष्कर्ष और सुझाव उभरते हैं।

पाठ्यक्रम में बदलाव :

शिक्षा को केवल रोजगार-परक नहीं, बल्कि 'अस्मिता-परक' बनाना होगा। पाठ्यक्रम में जेंडर संवेदनशीलता और कानूनी अधिकारों का समावेश अनिवार्य हो।

सुरक्षित वातावरण :

जैसा कि रमणिका जी के अनुभव से स्पष्ट है, शिक्षण संस्थान और ट्यूशन केंद्र शोषण के अड्डे भी बन सकते हैं। सख्त निगरानी और आंतरिक शिकायत समितियां का सक्रिय होना आवश्यक है।

मानसिकता का परिवर्तन :

सरकार स्कूल बना सकती है, लेकिन बेटियों को स्कूल भेजने का निर्णय समाज को लेना है। इसके लिए निरंतर सामाजिक संवाद की आवश्यकता है।

तकनीकी सशक्तिकरण :

डिजिटल डिवाइड को पाटने के लिए छात्राओं को मुफ्त लैपटॉप/टैबलेट और इंटरनेट एक्सेस प्रदान करना, आज की छात्रवृत्ति का नया रूप होना चाहिए।

अंततः, शिक्षा वह शक्ति है जो एक स्त्री को यह कहने का साहस देती है, जैसा कि रमणिका जी ने कहा था, ''नदी को न पत्थर बांध सकते हैं, न बांध मैंने अपने भीतर की स्त्री के स्रोत को कभी खत्म नहीं होने दिया।" भारत की प्रत्येक बेटी के भीतर की इस 'नदी' को प्रवाहित रखना ही वर्तमान स्त्री शिक्षा का परम लक्ष्य है।

इस शोध-आलेख के निर्माण में निम्नलिखित पुस्तकों

और स्रोतों का विशेष श्रेय और आभार है, जिन्होंने भारत में स्त्री शिक्षा के विविध आयामों को समझने में अमूल्य योगदान दिया है।

शोधार्थी
मध्यकालीन और आधुनिक भारत
डॉ० भीमराॅव अम्बेडकर राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय
फतेहपुर (उत्तर प्रदेश) 212601
Email : pramilasaroj20@gmail.com
प्रो० राजेन्द्र सिंह (रज्जू भैय्या)
विश्वविद्यालय, प्रयागराज
शोध निर्देशिका
प्रो० डॉ० मीरा पाल
विभागाध्यक्ष-इतिहास
डॉ० भीमराॅव अम्बेडकर राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय
फतेहपुर (उत्तर प्रदेश) 212601
प्रो० राजेन्द्र सिंह (रज्जू भैय्या)
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सन्दर्भ सूची

1. स्त्री शिक्षा को प्रबल समर्थक **ईश्वर चन्द्र विद्या सागर-आत्मानन्द सिंह,** अंशिका पब्लिकेशन्स।
2. भारतीय समाज में बदलती हुई स्थिति **प्रदीप कुमार केसरवानी** संरचना पब्लिकेशन्स प्रयागराज।
3. द हिस्ट्री ऑफ वुमेन एजुकेशन इन इंडिया, **प्रिया लोकारे** बुक सागा पब्लिकेशन्स।
4. वुमेन एजुकेशन इन इंडिया, **श्रीमती गोल्डी गुप्ता,** बुक रिवर्स पब्लिकेशन्स।
5. वुमेन एजुकेशन इन डेवलपमेन्ट, **राजश्री रॉय**, सिप्रा पब्लिकेशन्स।
6. **सरोज, कविता, 'आपहुदरी'** एक अतरंग परिचय, वाक् सुधा (अन्तर्राष्ट्रीय त्रैमासिक शोध पत्रिका), वर्ष 11, अंक 41, जुलाई -सितम्बर 2024, पृ. 66-69 (रमणिका गुप्ता की आत्मकथा और स्त्री विमर्श पर आधारित शोध आलेख)।
7. **रमणिका गुप्ता, 'आपहुदरी'** (आत्मकथा) एवं हादसे (स्त्री जीवन के संघर्ष और राजनीतिक चेतना के प्रत्यक्ष अनुभव)।

आत्मसंयम में अष्टांग योग की भूमिका

ओम प्रकाश कुमार*

सीमा रानी**

शोध सार :

प्रस्तुत शोध का उद्देश्य भारतीय दर्शन में प्रतिपादित संयम की अवधारणा तथा उसके तात्त्विक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप का समग्र अध्ययन करना है। वेद, उपनिषद्, भगवद्गीता तथा पतञ्जलि योगसूत्र के संदर्भों के आलोक में यह स्पष्ट किया गया है कि संयम केवल बाह्य इन्द्रियनिग्रह नहीं, अपितु मन, बुद्धि और अहङ्कार के अनुशासन द्वारा आत्मचेतना में प्रतिष्ठित होने की साधना है।

प्रस्तुत शोध पत्र के माध्यम से यह दर्शाया गया है कि उपनिषदों में वर्णित आत्मरथ उपमा, गीता में प्रतिपादित कूर्मवत् इन्द्रियसंयम तथा योगसूत्र का **''त्रयमेकत्र संयमः''** सूत्र संयम के बहुआयामी स्वरूप को उद्घाटित करते हैं। संयम के तीन स्तर शारीरिक, मानसिक और आत्मिक का शास्त्रीय विश्लेषण करते हुए यह सिद्ध किया गया है कि संयम का चरम लक्ष्य आत्मबोध एवं मोक्षसाधना है।

आधुनिक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में, जहाँ भोगवाद, तनाव तथा नैतिक विचलन जीवन को असन्तुलित कर रहे हैं, वहाँ योगजन्य संयम मानसिक स्वास्थ्य, नैतिक उत्थान एवं सामाजिक सामञ्जस्य का प्रभावी साधन सिद्ध होता है।

अतः इस शोध का निष्कर्ष है कि संयम भारतीय जीवन-दर्शन की केन्द्रीय साधना है, जो मानव को इन्द्रियासक्ति से आत्मसंयम, असन्तुलन से स्थैर्य और अज्ञान से आत्मबोध की ओर प्रेरित करता है तथा आज भी जीवन-सन्तुलन एवं आन्तरिक शान्ति की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है।

कूट शब्द : संयम, इन्द्रिय, मन, योग, साधना, धारणा, ध्यान

भूमिका :

भारतीय दर्शन में मानव जीवन का लक्ष्य केवल भौतिक उन्नति नहीं, अपितु आत्मिक शुद्धि, मानसिक स्थैर्य एवं इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि का संयम माना गया है। उपनिषद्, भगवद्गीता, स्मृतिग्रन्थ तथा योगदर्शन यह घोषित करते हैं कि जब तक मनुष्य अपनी इच्छाओं एवं इन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं करता, तब तक न तो उसे स्थायी सुख की प्राप्ति होती है और न ही वह आत्मज्ञान की दिशा में अग्रसर हो सकता है।

कठोपनिषद् की आत्मरथ-उपमा के अनुसार आत्मा रथी है, बुद्धि सारथी और इन्द्रियाँ अश्व हैं।[1] यदि बुद्धि विवेकयुक्त न हो और मन-रूपी लगाम संयमित न हो तो इन्द्रियाँ जीवन-रथ को असंयम और विनाश की ओर ले जाती हैं।[2] इसी भाव को भगवद्गीता में आत्मोद्धार के सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित किया गया है कि मनुष्य स्वयं अपना मित्र अथवा शत्रु बनता है।[3]

आधुनिक युग में भोगवाद, उपभोक्तावाद, तकनीकी आश्रय, सामाजिक प्रतिस्पर्धा तथा तीव्र जीवन-गति के कारण मानसिक तनाव, अनिद्रा, अवसाद एवं नैतिक विचलन तीव्र होते जा रहे हैं। इस संकट का समाधान भारतीय योग-परम्परा में निहित है। जिसमें महर्षि पतञ्जलि योगसूत्र का सिद्धान्त देते हैं कि -

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः[4]

योग का उद्देश्य चित्त की अस्थिर प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण स्थापित करना बताता है। यही आत्मसंयम का वास्तविक सार है।

अष्टांग योग की पद्धति यम एवं नियम द्वारा नैतिक अनुशासन, आसन-प्राणायाम द्वारा शारीरिक-प्राणिक संतुलन, प्रत्याहार द्वारा विषयविरक्ति तथा धारणा-ध्यान-समाधि द्वारा

मानसिक एवं आध्यात्मिक एकाग्रता साधक को क्रमशः बहिर्मुखता से अन्तर्मुखता की ओर ले जाती है।

इस प्रकार अष्टांग योग केवल साधना-पद्धति नहीं, अपितु संपूर्ण जीवन-दर्शन है, जो व्यक्ति को संयम, संतुलन और आत्मबोध की ओर उन्मुख करता है। इसी आलोक में प्रस्तुत शोध-पत्र आत्मसंयम में अष्टांग योग की भूमिका का तात्त्विक एवं व्यावहारिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

संयम का व्युत्पत्तिगत एवं तात्त्विक अर्थ :

'संयम' शब्द **'यमँ उपरमे'** धातु से 'सम्' उपसर्ग पूर्वक बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है अपनी इच्छाओं, भावनाओं, आवेगों और कार्यों पर खुद का नियंत्रण रखना, उन्हें गलत दिशा में जाने से रोकना, और अपने मन तथा इंद्रियों को वश में करना, जिससे व्यक्ति मानसिक शांति, अनुशासन और सही दिशा में प्रगति प्राप्त कर सके, यह आत्म-अनुशासन और इच्छाशक्ति का एक महत्वपूर्ण गुण है। भारतीय दर्शन में संयम आत्म अनुशासन तथा मनःसंयोजन का उच्चतम साधन माना गया है। योगदर्शन में महर्षि पतञ्जलि ने संयम को ध्यान प्रक्रिया का पराकाष्ठा रूप कहा है, जिसमें साधक की चेतना बाह्य विषयों से हटकर लक्ष्य-तत्त्व में पूर्णतः समेकित हो जाती है।

संयम का स्वरूप :

महर्षि पतञ्जलि **'संयम'** का निरूपण योगदर्शन के विभूतिपाद **त्रयमेकत्र संयमः**[5] के द्वारा किया है। इस सूत्र के अनुसार धारणा, ध्यान एवं समाधि ये तीनों जब एक ही विषय के साक्षात्कार हेतु समन्वित रूप से प्रवृत्त होती हैं, तब उस एकीकृत साधना को ही 'संयम' कहते हैं। योग के अष्टाङ्गिक मार्ग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार के पश्चात् धारणा, ध्यान और समाधि ये अन्तिम तीन अंग क्रमशः साधक के अंतर्मुखी विकास के विशेष सोपान हैं। प्रारम्भिक अवस्था में साधक पहले धारणा का अभ्यास करता है, जिसमें चित्त को किसी एक देश, वस्तु अथवा भाव में स्थिर रखने का प्रयास होता है। इस स्तर पर ध्यान तथा समाधि की पूर्णावस्था का स्वतः प्रादुर्भाव नहीं होता। क्रमशः जब धारणा सतत अभ्यास से सुदृढ़ होकर निर्विघ्न प्रवाह प्राप्त करती है, तब वह ध्यान में परिणत होती है। उसी ध्यान की परिपाकावस्था में, जहाँ विषय और चेतना का द्वैत लुप्तप्राय हो जाता है, समाधि का उदय होता है। अतः जब एक ही समय में, एक ही विषय पर धारणा की स्थैर्यता, ध्यान की अविच्छिन्न धारा और समाधि की तन्मयता ये तीनों संयुक्त रूप से क्रियाशील हो जाती हैं, तब उस समुच्चय को योगशास्त्र में 'संयम' कहा जाता है।[6] इस प्रकार संयम कोई पृथक साधना नहीं, अपितु धारणा,ध्यान एवं समाधि की एकात्म क्रिया है, जो साधक को अंतःप्रज्ञा, सूक्ष्म साक्षात्कार तथा दिव्य अनुभूति की ओर उन्मुख करती है।

अष्टांग योग का स्वरूप एवं आत्मसंयम में उसकी भूमिका :

महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित अष्टाङ्गयोग योगदर्शन की वह सुव्यवस्थित साधना-पद्धति है, जिसके माध्यम से मनुष्य क्रमशः बाह्य आचरण-नियमन से लेकर अन्तःकरण की पूर्ण शुद्धि तथा आत्मसाक्षात्कार तक की यात्रा करता है। यह प्रणाली आत्मसंयम के केवल उपदेशात्मक सिद्धान्तों तक सीमित न रहकर उसके व्यावहारिक पक्ष को भी प्रदान करती है।

अष्टाङ्गयोग मनुष्य को नैतिक अनुशासन, शारीरिक संयम, इन्द्रिय-संयम, मानसिक एकाग्रता एवं आध्यात्मिक स्थिरता की ओर अग्रसर कृत हैं। इसी क्रमिक विकास प्रक्रिया से आत्मसंयम का वास्तविक स्वरूप साकार होता है।

जैसा की भगवद्गीता में बताया गया है -

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवदृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥[7]

मन बहुत हठीला एवं चंचल है उसको वश में करना वायु को वश में करने से भी दुष्कर कार्य है। एक अन्य श्लोक के माध्यम से भी बताया गया है कि मन ही मनुष्य के बन्धन का और मोक्ष का भी कारण है। इन्द्रियविषयों में लीन मन बन्धन का कारण है और विषयों से विरक्त मन मोक्ष का कारण है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासङ्गो मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥[8]

जिसने मन को जीत लिया है, उसके लिए मन सर्वश्रेष्ठ मित्र है, किन्तु जो ऐसा नहीं कर पाया उसके लिए मन सबसे बड़ा शत्रु बना रहेगा।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥[9]

अतः पतञ्जलि ने अपने योग का लक्ष्य चित्त की चंचल वृत्तियों का निरोध बताया है।[10] चित्तवृत्तिनिरोध की यह अवस्था आत्मसंयम की चरम परिणति है, और अष्टाङ्गयोग इसके लिए साधक को क्रमबद्ध प्रशिक्षण देता है। महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र में अष्टांग योग का निम्नलिखित रूप में वर्णन किया है -

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयो-ऽष्टावङ्गानि।[11]

1. यम - यम योग का प्रथम सोपान है और आत्मसंयम की आधारशिला है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पञ्च यम कहे जाते हैं।[12] ये मनुष्य की वृत्तियों को बाह्य स्तर पर नियंत्रित कर उसे हिंसा, असत्य, लोभ, भोग और संग्रहमय प्रवृत्तियों से मुक्त करते हैं। यहाँ आत्मसंयम का अर्थ केवल शरीर-नियंत्रण नहीं, बल्कि विचार, वाणी एवं कर्म के शुद्ध आचरण की स्थापना है। योगसूत्र में कहा गया -

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।[13]

यह दर्शाता है कि यमों के अभ्यास से व्यक्ति का संपूर्ण सामाजिक वातावरण संयम और शान्ति से भर जाता है।

2. नियम - नियम आत्मसंयम को बाह्य व्यवहार से भीतर की साधना की ओर मोड़ते हैं। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान नियम कहे जाते हैं।[14] शौच से चित्त की निर्मलता, सन्तोष से कामनाओं का शमन, तप से इच्छाशक्ति एवं सहनशीलता का विकास, स्वाध्याय से आत्मज्ञान और ईश्वरप्रणिधान से अहंकार का क्षय होता है।

इन नियमों के फलस्वरूप साधक में इच्छाओं पर नियंत्रण, भावनात्मक संतुलन, आत्मचिन्तन की प्रवृत्ति, एवं अहंभाव में क्षय जैसी मानसिक योग्यताएँ विकसित होती हैं, जो आत्मसंयम को दृढ़ आधार प्रदान करती हैं।

3. आसन - आसन का उद्देश्य केवल स्वास्थ्य-प्रद अभ्यास नहीं है। योगसूत्र में स्पष्ट है-

स्थिरसुखमासनम्।[15] (2.46)

अर्थात् जिस अवस्था में शरीर स्थिर और सुखपूर्वक बैठ सके वही आसन है। आसन साधक के शरीर को नियंत्रित कर उसे ध्यानयोग्य बनाते हैं। शरीर की चंचलता मन को अस्थिर बनाती है; आसनों के अभ्यास से नाड़ी-संतुलन,स्नायु-सुदृढ़ता एवं शारीरिक थकान का क्षय होता है, जिसके फलस्वरूप मन शान्त एवं संयमित बनता है। इस प्रकार शारीरिक संयम, मानसिक संयम की पूर्वपीठिका सिद्ध होता है।

4. प्राणायाम - प्राणायाम श्वास-प्रश्वास के नियमन से प्राणशक्ति को संतुलित करता है। योगसूत्र में कहा गया है-

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।[16]

प्राण और मन परस्पर सम्बद्ध हैं, जहाँ प्राण चंचल होता है वहाँ मन अशान्त होता है। प्राणायाम द्वारा मानसिक तनाव घटता है, भावनाओं में संतुलन आता है, एकाग्रता बढ़ती है।

यहाँ आत्मसंयम सूक्ष्म स्तर पर कार्य करने लगता है, जहाँ मन पर नियंत्रण बाह्य अनुशासन से आगे बढ़कर प्राण-नियंत्रण के माध्यम से स्थापित होता है।

5. प्रत्याहार - प्रत्याहार का लक्ष्य इन्द्रियों को विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी बनाना है

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।[17]

मनुष्य का असंयम प्रायः विषयासक्ति से उत्पन्न होता है। प्रत्याहार साधक को भोगेच्छा के बन्धन से मुक्त करता है। इससे विषय-वासना शिथिल होती है, इन्द्रियों का स्वैच्छिक निग्रह होता है, मन स्थिरता के लिए तैयार होता है।

6, 7. धारणा एवं ध्यान - धारणा में चित्त को किसी एक बिन्दु पर स्थिर किया जाता है।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।[18] **(3.1)**

जब यह स्थिरता अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में चलती रहती है तो ध्यान बन जाता है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।[19] **(3.2)**

धारणा-ध्यान आत्मसंयम को उच्च मानसिक स्तर पर प्रतिष्ठित करते हैं। चित्त की चंचल वृत्तियाँ शांत होकर एकाग्रता, तल्लीनता, भावशुद्धि का रूप धारण करती हैं।

7. समाधि - समाधि वह अवस्था है जहाँ साधक और साध्य का भेद मिट जाता है।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।[20] **(3.3)**

यहाँ मन पूर्णतः संयमित होकर अपनी सीमाएँ लांघ जाता है। समाधि ही आत्मसंयम की परिणति है, जहाँ पर कामना का क्षय, अहंकार का लय एवं आत्मतत्त्व की अनुभूति होती है।

संयम का परिणाम :

महर्षि पतञ्जलि योग सूत्र में बताते हैं विभूतिपाद में सूत्र है - **तज्जयात् प्रज्ञालोक**[21] अर्थात् संयम की सिद्धि से प्रज्ञा का प्रकाशित होता है। यहाँ 'संयम-जय' का तात्पर्य केवल अभ्यास नहीं, अपितु धारणा, ध्यान एवं समाधि की पूर्ण परिपक्वता एवं स्थैर्य है। इस संदर्भ में 'प्रज्ञा' सामान्य बुद्धि नहीं, बल्कि समाधिजन्य दिव्य प्रज्ञा है। योगसूत्र के प्रथम पाद में कहा गया है कि निर्विचारा समापत्ति की प्रवीणता से बुद्धि में 'वैशारद्य' उत्पन्न होता है, जिससे यथार्थ तत्त्व का साक्षात्कार होता है।[22]

निरन्तर समाधि-अभ्यास से बुद्धि रजस्-तमस् मल से शुद्ध होकर सत्त्वगुण में प्रतिष्ठित हो जाती है। इस निर्मल,

प्रकाशमय अवस्था में उदित विशेष विवेकात्मक ज्ञान को ही आचार्यों ने 'प्रज्ञालोक' अथवा 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' कहा है।[23] जो केवल सत्य का आश्रय लेती है, विपर्यय से रहित होती है। प्रज्ञा की वृद्धि के साधनों का निरूपण इस प्रकार है-

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्॥

अर्थात् आगम (श्रवण), अनुमान (मनन) एवं ध्यानाभ्यास (निदिध्यासन) से प्रज्ञा विकसित होकर योग की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त होती है। अत: स्पष्ट है कि संयम की दृढ़ता बढ़ने के साथ समाधिजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रकाशित होती है। यही अवस्था 'प्रज्ञालोक' कहलाती है, जो बुद्धि का परम उत्कर्ष है।

निष्कर्ष :

प्रस्तुत अध्ययन के सम्यक विश्लेषण से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि आत्मसंयम मानव जीवन की सर्वोच्च नैतिक एवं आध्यात्मिक उपलब्धि है, और पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित अष्टांग योग इसकी प्राप्ति का सर्वाधिक व्यवस्थित, वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक साधन है। यम और नियम मनुष्य में नैतिक जागरूकता एवं सामाजिक उत्तरदायित्व विकसित करते हैं। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसी साधनाएँ बाह्य आचरण को संयमित करती हैं, जबकि शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान से आन्तरिक शुद्धि तथा मानसिक सन्तुलन सुदृढ़ होता है। आसन और प्राणायाम शरीर, मन एवं प्राण के समन्वय द्वारा चित्त की अस्थिरता को शान्त करते हैं और ध्यान-साधना के लिए आवश्यक आधार निर्मित करते हैं।

प्रत्याहार इन्द्रियों को विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी बनाता है, जिससे आत्मसंयम की दिशा में निर्णायक परिवर्तन घटित होता है। धारणा और ध्यान चित्त को एकाग्र कर विक्षेपों से मुक्त करते हैं, जबकि अन्तिम अवस्था समाधि में चित्तवृत्तियों का पूर्ण निरोध होकर साधक आत्मसाक्षात्कार एवं ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त करता है। यह शोध स्पष्ट करता है कि आत्मसंयम केवल संन्यासियों की साधना नहीं, वरन् गृहस्थ, विद्यार्थी एवं कर्मयोगी सभी के लिए समान रूप से प्रासङ्गिक जीवन-पद्धति है।

आधुनिक तनावग्रस्त समाज में अष्टांग योग मानसिक स्वास्थ्य, भावनात्मक स्थिरता, नैतिक चेतना तथा सामाजिक सौहार्द का प्रभावी साधन है।

अत: निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि आत्मसंयम की सिद्धि हेतु अष्टांग योग एक सर्वांगीण मार्ग है, जो मानव को बहिर्मुख भोगवादी प्रवृत्तियों से उठाकर आत्मनियन्त्रण एवं अन्तत: आत्मिक स्वतन्त्रता तथा शान्ति की ओर अग्रसर करता है। यह न केवल व्यक्तिगत उत्थान का मार्ग है, अपितु समाज में भी सद्भाव, शान्ति और मानवीय मूल्यों की पुनर्स्थापना का आधार बनता है।

***शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग,**
दिल्ली विश्वविद्यालय

****सहाचार्या, संस्कृत विभाग,**
मिरांडा हाउस कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय

सन्दर्भ सूची

1. कठ. उ. 1/3/3
2. कठ. उ. 1/3/4
3. भ. गी. 6/5
4. यो. सू. 1/2
5. यो. सू. 3/4
6. व्या. भा. 3/4
7. भ. गी. 6/34
8. अमृत. उ. 2
9. भ. गी. 6/6
10. यो. सू. 1/2
11. यो. सू. 2/29
12. यो. सू. 2/30
13. यो. सू. 2/35
14. यो. सू. 2/32
15. यो. सू. 2/46
16 यो. सू. 2/49
17. यो. सू. 2/54
18. यो. सू. 3/1
19. यो. सू. 3/2
20. यो. सू. 3/3
21. यो. सू. 3/5
22. यो. सू. 1/47
23. यो. सू. 1/48

सङ्केताक्षर सूची :

कठ. – कठोपनिषद

यो. सू. – योग सूत्र

भ. गी. – भगवद्गीता

अमृत. उ. – अमृतबिन्दु उपनिषद

संदर्भग्रंथ सूची :

1. पतञ्जलि, महर्षि. अथ पातञ्जलयोगदर्शनम् (व्यासभाष्य-सहितम्). गुजरात : दर्शन योग महाविद्यालय, 2014.
2. श्रीवास्तव, सुरेशचन्द्र. पातञ्जलयोगदर्शनम् (व्याख्या). वाराणसी : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2012.
3. गोयन्दका, हरिकृष्णदास. पातञ्जलयोगदर्शनम् (व्याख्या). गोरखपुर : गीता प्रेस, 1991.
4. गोयन्दका, हरिकृष्णदास. ईशादि नौ उपनिषद् (व्याख्या). गोरखपुर : गीता प्रेस, 2081.
5. यादव, बलवान सिंह. कठोपनिषद (शांकरभाष्यसहित). वाराणसी : चौखम्भा संस्कृत भवन, 2010.
6. गोयन्दका, हरिकृष्णदास. श्रीमद्भगवद्गीता (शांकरभाष्य सहित, हिन्दी अनुवाद). गोरखपुर : गीता प्रेस, 2019

अनिता तोमर

बच्चों में नैतिक मूल्यों तथा संस्कारों के विकास में बाल-साहित्य की भूमिका

प्रस्तावना

बाल्यावस्था किसी भी व्यक्ति के जीवन की सबसे महत्वपूर्ण एवं संवेदनशील अवस्था मानी जाती है। यह वह अवस्था होती है, जब एक बच्चे का शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं भावात्मक विकास होता है। यह एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया होती है, जिसमें बच्चा विभिन्न अनुभवों के माध्यम से सीखता रहता है। एक शोध से यह सिद्ध हुआ है कि तीन से छह वर्ष की आयु में बच्चों का मष्तिष्क सबसे तीव्र गति से विकसित होता है इसलिए प्रारंभिक बाल्यावस्था में दी गई शिक्षा जीवनभर के लिए आधारशिला सिद्ध होती है। किसी भी समाज का भविष्य उसके बच्चों के हाथों में होता है, जो भविष्य में एक जिम्मेदार नागरिक बनते हैं। एक राष्ट्र की उन्नति केवल विज्ञान, तकनीक और आर्थिक प्रगति से नहीं होती, बल्कि उस देश के नागरिकों के चारित्रिक विकास, मानवीय संवेदनाओं और नैतिक दृढ़ता से भी मापी जाती है। नैतिक मूल्य और संस्कार किसी भी समाज की बुनियादी आवश्यकता हैं। बचपन वह अवस्था है, जब मन को आकार देने का कार्य सबसे गहरा और स्थायी होता है। बचपन में पढ़ी और सुनी गई बातें स्थायी रूप से बाल मन पर अपनी गहरी छाप छोड़ देती है, इसलिए बच्चों को सही दिशा देने, उनमें मानवीय मूल्यों को रोपित करने तथा जीवन के व्यावहारिक सत्य को समझाने में बाल-साहित्य की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है।

बाल साहित्य अपने मनोरंजक, सहज और कल्पनाशील रूप में बच्चों तक उन मूल्यों को पहुँचाता है जिन्हें केवल उपदेशों द्वारा सिखाना कठिन होता है। अध्ययन बताते हैं कि कहानी और कविता के माध्यम से बच्चों में आत्मानुशासन, सहानुभूति, सामाजिक उत्तरदायित्व और सांस्कृतिक चेतना का विकास अत्यधिक प्रभावी ढंग से होता है। बाल साहित्य न केवल मनोरंजन प्रदान करता है, बल्कि बच्चे के व्यक्तित्व को आकार देने वाला सांस्कृतिक माध्यम है। इस साहित्य के माध्यम से बालक हँसते-खेलते जीवन मूल्यों- सत्य, करुणा, सहयोग, ईमानदारी, साहस, परोपकार, पर्यावरण-संरक्षण, सामुदायिक सौहार्द को समझता है और उन्हें अपने व्यवहार में उतारता है। बाल साहित्य की उपयोगिता और प्रासंगिकता को सभी शिक्षाशास्त्रियों तथा विचारकों ने विशेष रूप से रेखांकित किया है। हर कालखंड में बाल साहित्य की आवश्यकता रही है और यह मशाल थामे बच्चों का पथ प्रदर्शक बनकर आगे रहा है। जिस समाज या देश के पास अच्छा और समृद्ध बाल-साहित्य नहीं होता, वह पूरी तरह खुशहाल और विकसित नहीं बन पाता। क्योंकि बाल-साहित्य बच्चों के मन में उमंग, खुशी, आशा और विश्वास पैदा करके उन्हें मजबूत और अच्छे नागरिक बनाने में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

यह शोधपत्र बच्चों में नैतिक मूल्यों एवं संस्कारों के विकास में बाल साहित्य की भूमिका का विश्लेषण करता है। इसमें बाल साहित्य की विशेषताओं, आवश्यकता, प्रभाव, वर्तमान प्रवृत्तियों, चुनौतियों तथा उसके सामाजिक-सांस्कृतिक महत्व पर विस्तार से चर्चा की गई है।

बाल-साहित्य की अवधारणा और महत्त्व

'बाल-साहित्य' शब्द का अर्थ केवल बच्चों के लिए

लिखा गया साहित्य नहीं है, बल्कि वह संपूर्ण सृजन है जो बच्चे की मानसिक, बौद्धिक और भावनात्मक दुनिया को समझते हुए रचा गया है। इसमें कहानी, कविता, लोककथा, बाल उपन्यास, जीवनी, नाटक, चित्रकथा, कॉमिक, बाल गीत, प्रेरक प्रसंग आदि सब आते हैं। बाल-साहित्य का प्रमुख उद्देश्य है- बच्चों को मनोरंजन प्रदान करना, शिक्षा देना, समाज तथा मानवीय जीवन के सत्य से परिचित कराना, नैतिक मूल्यों एवं संस्कारों का विकास करना, रचनात्मकता तथा कल्पनाशक्ति को विकसित करना तथा भाषा कौशल को विकसित करना।

देखा जाए तो बच्चे जिज्ञासु प्रवृत्ति के होते हैं। बचपन वह अवस्था होती है, जब मन को आकार देने का कार्य सबसे गहरा और स्थायी होता है। जो वे प्रतिदिन सीखते हैं, भविष्य में वही सीख उनके चरित्र का आधार बनती है। इसलिए श्रेष्ठ बाल साहित्य उनके मानसिक विकास का आधार स्तंभ है। बाल साहित्य अपने मनोरंजक, सहज और कल्पनाशील रूप में बच्चों तक उन मूल्यों को पहुँचाता है जिन्हें केवल उपदेशों द्वारा सिखाना बहुत ही कठिन होता है।

नैतिक मूल्यों और संस्कारों की आवश्यकता क्यों?

प्रो. मैकेन्जी के अनुसार-''मूल्य या जीवन मूल्य से हमारा आशय उस विचार से है, जो एक विचारशील प्राणी के चिंतन का परिणाम है।''[1] यदि हम अपने चारों ओर नजर घुमाकर देखें तो पाएँगे कि आज के बच्चों को जो सुख-सुविधाएँ अपने माता-पिता से मिल रही हैं, वह शायद हमें नहीं मिली किंतु कहीं-न-कहीं आज का बच्चा अंदर से गहन उदासी से घिरा है। आज संयुक्त परिवार नहीं हैं, एकल परिवार रह गए हैं। बच्चे को छोटी-छोटी कहानियों के माध्यम से जीवन मूल्य और सीख देने वाली दादी-नानी अब दूर तक भी दिखाई नहीं देती हैं। माता-पिता अपने बच्चों के लिए सुख-सुविधाएँ जुटाने में इस कदर व्यस्त हैं कि उनके पास अपने बच्चों के लिए समय ही नहीं है।

आज के इस विज्ञान और प्रौद्योगिकी के युग में सामाजिक मूल्य, परिवारिक संबंध और मानवीय संवेदनाएँ कई स्तरों पर प्रभावित हो रही हैं। आज बच्चों पर डिजिटल दुनिया, सोशल मीडिया और प्रतिस्पर्धा का दबाव बढ़ रहा है। आज के बच्चे को टीनएजर नहीं बल्कि स्क्रीनएजर कहना ज्यादा सही होगा। तकनीक ने कहीं-न-कहीं बच्चे की संवेदना, समझ और भावनाओं को प्रभावित किया है। आज के किशोरों को गलत कार्यों में लिप्त होते हुए देख सकते हैं। उनमें गलत और सही की समझ तथा सही निर्णय लेने की क्षमता घट रही है। अपराधबोध की भावना के कारण कई बार वे बहुत ही गलत कदम उठा लेते हैं। अब प्रश्न उठता है कि इस पीढ़ी को सुसंस्कृत कैसे बनाया जाए?

आज बच्चों में प्रेम, सहानुभूति, दया, ईमानदारी, माता-पिता एवं बड़ों का सम्मान, परस्पर सहयोग, पर्यावरण के प्रति संवेदनशीलता, देशप्रेम की भावना, अनुशासन आदि मूल्यों को रोपित करना एक बहुत बड़ी आवश्यकता बन गई है। यदि हम कहें कि परिवार और स्कूल मिलकर यह कार्य कर सकते हैं तो एक स्तर तक ही यह हो सकता है। चूँकि एक परिवार और माता-पिता की व्यस्तम जीवन शैली के कारण शायद वे बच्चे को समय दे पाने में असमर्थ हों। दूसरी ओर स्कूली पाठ्यक्रम के दबाव के कारण अध्यापक भी एक दायरे में सिमटकर रह जाता है। ऐसे में केवल बाल साहित्य ही सबसे प्रभावी माध्यम है, जो बच्चों की भावनात्मक दुनिया तक सीधे पहुँचता है। बाल साहित्य के माध्यम से बच्चों में आत्मानुशासन, सहानुभूति, सामाजिक उत्तरदायित्व और सांस्कृतिक चेतना का विकास अत्यधिक प्रभावी ढंग से होता है।

बाल-साहित्य और नैतिक मूल्य

बाल साहित्य का सबसे बड़ा उद्देश्य बच्चों को मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञान देना है, लेकिन ज्ञान तभी सार्थक है जब वह चरित्र निर्माण से जुड़ता है। बाल साहित्य में नैतिक मूल्य दो तरीकों से दिए जाते हैं-

(क) प्रत्यक्ष रूप में नैतिक मूल्य

जहाँ कहानी, कथा, कविता या कोई प्रसंग सीधे-सीधे किसी नैतिक संदेश को प्रस्तुत करते हैं, वहाँ प्रत्यक्ष रूप में बच्चों को नैतिक मूल्य मिल जाते हैं। जैसे-'सत्य की जीत' वाली कहानियाँ, सहयोग और मित्रता पर आधारित कथाएँ, ईमानदारी का फल बताने वाली लोककथाएँ आदि।

(ख) अप्रत्यक्ष रूप में नैतिक मूल्य

जहाँ कथानक और पात्र को इस प्रकार गढ़ा जाता है कि बच्चा स्वत: ही उससे सीख ले लेता है। जैसे- पंचतंत्र की कहानियाँ, हितोपदेश की कहानियाँ, अकबर-बीरबल, तेनालीराम की कहानियाँ, आधुनिक बाल कथाकारों जैसे-

प्रेमचंद, रामनारायण उपाध्याय, शोभा सक्सेना आदि की कहानियाँ। बच्चा इन कहानियों के पात्रों से स्वयं को जोड़कर सीखता है कि नैतिकता केवल उपदेश नहीं, बल्कि जीवन जीने का व्यावहारिक तरीका है।

संस्कारों के विकास में बाल साहित्य की भूमिका

भारत में 'संस्कार' शब्द का अर्थ केवल धार्मिक या पारंपरिक गतिविधियाँ नहीं है। संस्कार का अर्थ है व्यक्ति के मन में बसे वे मूल्य जो उसे अच्छा-बुरा, उचित-अनुचित का बोध कराते हैं। व्यक्ति के जीवन में ऐसे क्षण आते हैं, जहाँ सही और गलत के बीच उसके संस्कार ही उसे सही दिशा-निर्देश देते हैं। आज जब हम अपने आसपास संवेदनहीन और संस्कारहीन लोगों को देखते हैं, तो हम उनके संस्कारों पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं। यदि एक बच्चे को बाल्यवस्था में सही संस्कार मिल जाएँ तो वह बड़ा होकर देश का अच्छा नागरिक बनता है। बाल साहित्य बच्चों में इन संस्कारों को कई स्तरों पर विकसित करता है-

(क) पारिवारिक संस्कार

बाल कहानियाँ बच्चों में माता-पिता के प्रति सम्मान, दादा-दादी के प्रति स्नेह का भाव, परिवारिक एकता, बड़ों की आज्ञा को मानने जैसे गुण उत्पन्न करती हैं। बच्चा इन कहानियों से स्वत: ही इन मूल्यों को ग्रहण कर लेता है।

(ख) सामाजिक संस्कार

चूँकि लोककथाएँ, दंतकथाएँ, बोध कथाएँ आदि बहुत पहले से चली आ रहीं हैं इसलिए इन कथाओं में सामाजिक संस्कार समाहित हैं। बहुत ही सहज रूप में ये कथाएँ बच्चों के दिल में गहराई से उतर जाती हैं। आधुनिक बाल उपन्यास भी बच्चों को परस्पर सहयोग, समानता, मित्रता, कमजोरों की सहायता करना, सामाजिक न्याय आदि सिखाते हैं।

(ग) सांस्कृतिक संस्कार

बाल साहित्य बच्चों को उनके त्योहारों, परंपराओं, लोकगीतों, लोककथाओं, ऐतिहासिक प्रसंगों द्वारा देश की संस्कृति, भाषा और विरासत से जोड़ता है। इससे बच्चों में अपनी संस्कृति के प्रति गौरव की भावना विकसित होती है।

(घ) पर्यावरणीय संस्कार

वर्तमान समय में 'ग्रीन लिटरेचर' के माध्यम से बच्चों को पर्यावरण संरक्षण, पशु-पक्षी प्रेम, वृक्षारोपण आदि के प्रति संवेदनशील बनाया जा रहा है। बाल साहित्य बच्चों को पर्यावरण के प्रति जागरूक करता है। बाल साहित्यकारों द्वारा पेड़-पौधों, पर्यावरण का मानवीकरण करके बच्चों में संस्कार देना, एक नवीन और अनूठा प्रयोग है, जो बहुत सफल रहा है। बाल पाठक स्वयं को सहज रूप से प्रकृति से जोड़ पाता है।

भारतीय बाल साहित्य की परंपरा और नैतिक मूल्य

भारत का बाल साहित्य सदियों पुराना है। वेदों, उपनिषदों से लेकर पंचतंत्र, जातक कथाएँ, रामायण-महाभारत, लोकगीत-लोककथाएँ, बच्चों के लिए प्रथम और श्रेष्ठ साहित्य का रूप रही हैं। मानव जीवन को आदर्श बनाने में मानव मूल्य सहायक होते हैं इस संदर्भ में रामदरश मिश्र मान्यता है कि, ''मानव मूल्य सृजनात्मक एवं शिवत्व प्रधान गुणों को कहते हैं जो मानवता को एक अखंड और गौरव गरिमामय रूप प्रदान करने में सहायक हुए हैं, हो रहे हैं, और यथासंभव होते रहेंगे।''[2]

(क) पंचतंत्र

पंचतंत्र की कहानियाँ नीतियों और नैतिक मूल्यों का अद्‌भुत संग्रह हैं।

यहाँ पशु-पक्षियों के माध्यम से चतुराई, बुद्धिमत्ता, ईमानदारी, विचारशीलता, मित्रता, सहयोग, नेतृत्व आदि को सरलता से दर्शाकर बाल पाठकों को शिक्षित किया जाता है। 'शेर और चूहे' कहानी बच्चों को बताती है कि छोटा भी बड़ा काम कर सकता है।

(ख) जातक कथाएँ

जातक कथाएँ करुणा, त्याग, बलिदान, सेवा और नैतिक ढ़ता पर केंद्रित हैं। इन कथाओं द्वारा बालमन सहज रूप से मूल्यों को ग्रहण कर लेता है। उदाहरण के लिए 'दूध का सार' जातक कथा बच्चों को प्रेम, त्याग और कर्तव्य सिखाती है।

(ग) आधुनिक बाल साहित्य

प्रेमचंद, गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर, सुभद्रा कुमारी चौहान, महादेवी वर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'गर्व', शिवानी आदि ने बच्चों के लिए ऐसा साहित्य रचा जिसमें संवेदना, मानवीयता, सत्य, ईमानदारी, देशप्रेम जैसे मूल्य सहज रूप से आते हैं। प्रेमचंद जी की कहानी 'ईदगाह' दया, करुणा, नि:स्वार्थता और मातृत्व जैसे मूल्यों का उत्कृष्ट उदाहरण है। इस कहानी को आज के बच्चे भी पढ़ते हैं तो उनका मन संवेदनाओं से भर जाता है।

बाल साहित्य और व्यक्तित्व निर्माण

साहित्य के संदर्भ में जयप्रकाश भारती ने लिखा है, ''संपूर्ण

बाल साहित्य का प्रमुख स्वर रहा है जीने की चाह जगाना, मुसीबतों से जूझने की प्रेरणा भरना, साहस, आस्था, विश्वास का दीप बुझने न देना। मानव में मानव के प्रति ही नहीं, पशु-पक्षियों के प्रति भी संवेदना जगाने में बाल साहित्य की उल्लेखनीय भूमिका रही है।''[3]

बाल साहित्य का प्रभाव केवल नैतिक मूल्यों तक सीमित नहीं, बल्कि एक बच्चे के संपूर्ण व्यक्तित्व पर पड़ता है। बच्चे के संपूर्ण विकास में बाल साहित्य मील का पत्थर साबित होता है। मुक्तिबोध का कहना है कि, ''जीवन में जो कुछ अर्जित है, जो कुछ विशिष्ट अनुभव हैं, और जीवन जगत संबंधी जो कुछ आत्मकृत सामान्यीकरण है, जो भी जीवन मूल्य आत्मसात किए जाते हैं जिनके लिए संघर्ष किया जाता है जो संस्कार जो आदर्श जो यथार्थ हृदय का अनंत अंग बन गया है यह सब का सब स्थिर रूप में व्यक्तित्व का अंग होता है।''[4]

(क) भावनात्मक विकास

किसी भी कहानी को पढ़ते हुए बाल पाठक में सहानुभूति, प्रेम, करुणा, संवेदना का विकास होता है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जी ने 'मनुष्यता' कविता में लिखा है - सहानुभूति चाहिए, महाविभूति है यही—

वशीकृता सदैव है बनी हुई स्वयं मही।

दया, करुणा, सहानुभूति आदि गुणों के विकास में बाल साहित्य का बहुत बड़ा योगदान है।

(ख) बौद्धिक विकास

आज के बच्चे बौद्धिक क्षमता वाले बच्चे हैं। वे आसानी से किसी भी बात को स्वीकार नहीं करते हैं। बाल साहित्य उनकी जिज्ञासा, तर्क, कल्पनाशक्ति और विश्लेषण क्षमता को बढ़ाता है।

(ग) रचनात्मक विकास

बच्चों के रचनात्मक विकास में बाल कविताओं और कहानियों का बहुत बड़ा योगदान रहा है। बाल कहानियों, नाटकों का मंचन, अभिनय, गीत-संगीत आदि उनकी प्रतिभा को प्रोत्साहित करते हैं।

आधुनिक संदर्भ में बाल साहित्य का स्वरूप

आज बाल साहित्य केवल किताबों तक सीमित नहीं है। डिजिटल माध्यम पर ई-बुक, बाल कहानियों के ऑडियो, एनिमेटेड स्टोरी, इंटरैक्टिव एप्स के रूप में भी उपलब्ध हैं। इनका सकारात्मक प्रभाव यह है कि बच्चों के लिए सीखना रोचक और आकर्षक हो जाता है। लेकिन इनके साथ यह बड़ी चुनौती भी है कि मनोरंजन प्रधान सामग्री अकसर नैतिक मूल्यों से दूर हो जाती है। अत: अभिभावकों और शिक्षकों को विवेकपूर्ण इनका चयन करना आवश्यक है।

बाल साहित्य के समक्ष चुनौतियाँ

- ⋆ अत्यधिक मनोरंजन केंद्रित साहित्य को स्थान देना
- ⋆ विदेशी प्रभाव के कारण सांस्कृतिक मूल्यों की अवहेलना
- ⋆ डिजिटल कंटेंट का बढ़ता दबाव
- ⋆ बच्चों का पढ़ने की ओर कम झुकाव
- ⋆ गुणवत्तापूर्ण बाल साहित्य का सीमित प्रचार

इन चुनौतियों के बावजूद भी श्रेष्ठ साहित्य आज भी प्रभावशाली है। केवल विद्यालयों तथा परिवारों में इसे पुन: स्थापित करने की आवश्यकता है।

समाधान एवं सुझाव

- ⋆ स्कूलों में बाल साहित्य पठन-पाठन के घंटे का निर्धारण
- ⋆ पुस्तकालयों में बाल-साहित्य की अच्छी पुस्तकों का समावेश
- ⋆ माता-पिता, दादा-दादी द्वारा नियमित कहानी सुनाना
- ⋆ डिजिटल प्लेटफॉर्म पर नैतिक मूल्य आधारित सामग्री बढ़ाना
- ⋆ लेखकों और प्रकाशकों को मूल्य आधारित बाल साहित्य रचने/छापने के लिए प्रोत्साहन
- ⋆ बच्चों को कथानक आधारित गतिविधियों जैसे- नाटक, चित्रकला, संवाद-लेखन से जोड़ना।

निष्कर्ष

नैतिक मूल्यों और संस्कारों के विकास का सबसे सहज और प्रभावी माध्यम बाल साहित्य है। जीवन के आरंभिक वर्षों में पढ़ी गई कहानियाँ बच्चों के मन में स्थायी छाप छोड़ती हैं। बाल साहित्य बालक को न केवल मनोरंजन प्रदान करता है, बल्कि उसे विचारशील, संवेदनशील, साहसी, ईमानदार और जागरूक नागरिक बनाता है। आज समाज जिन नैतिक चुनौतियों से गुजर रहा है, उन्हें देखते हुए मूल्य-आधारित बाल साहित्य की अनिवार्यता और भी बढ़ जाती है। देखा जाए तो बाल साहित्य केवल बच्चे का ही नहीं अपितु पूरे समाज का नैतिक आधार मजबूत करता है।

अत: स्पष्ट है कि बच्चों में नैतिक मूल्यों और संस्कारों के विकास में बाल-साहित्य की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण, प्रभावशाली और अपरिहार्य है।

शोधार्थी
डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर
मराठवाडा विश्वविद्यालय
छत्रपति संभाजी नगर

शोध निर्देशक
प्रो. डॉ. अशोक वसंतराव मर्डे
शोध निर्देशक तथा अध्यक्ष हिंदी विभाग
यशवंतराव चव्हाण महाविद्यालय, तुलजापुर
धाराशिव

सन्दर्भ ग्रंथ

1. J.S.Mackenzic, A Manual of Ethics, पृष्ठ संख्या-11
2. जाधव डॉ. भगवान् नारायण, हिंदी बाल साहित्य : विविध आयाम-2, पृष्ठ संख्या-82
3. यादव उषा, सिंह राजकिशोर, हिंदी बाल साहित्य और विमर्श, पृष्ठ संख्या-74
4. मुक्तिबोध, आलोचना, अप्रैल-जून, 1968, पृष्ठ संख्या-6-8
5. NCF-2023, एन.सी.ई.आर.टी, नई दिल्ली
6. Value Education Guidelines and Manuals, सी.बी. एस.सी, CBSE, नई दिल्ली

पौराणिक कश्मीर : चंद्रकांता की दृष्टि से पुनर्पाठ

मेघना अविनाश दवे* प्रो.डॉ. अशोक वसंतराव मर्डे**

प्रस्तावना :

हिंदी की प्रख्यात कथाकारा चंद्रकांता का साहित्य कश्मीर की सांस्कृतिक स्मृतियों, पौराणिक परंपराओं और मानवतावादी संघर्षों का व्यापक दर्पण प्रस्तुत करता है। कश्मीर की ऐतिहासिक गहराइयों में समाहित पौराणिक आख्यान- जैसे सतीसर की कथा, काश्यप ऋषि द्वारा घाटी की उत्पत्ति, नीलमत-पुराण की कथाएँ तथा दैवी-प्रकृति का सह-अस्तित्व—उनके लेखन में जीवंत प्रतीक के रूप में उभरते हैं। सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ से सीधे संवाद करती उनकी रचनाएँ केवल अनुभवात्मक जीवन को नहीं दर्शाती, बल्कि कश्मीर के पुराण पर आधारित सांस्कृतिक मानव को भी नए साहित्यिक बिंदु प्रदान करती हैं।

चंद्रकांता के उपन्यासों और कहानियों में पौराणिक तत्व किसी सांस्कृतिक पुनर्पाठ की तरह प्रकट होते हैं, जो कश्मीर की भूमि, जल, स्मृति और संघर्ष को दीर्घवधि ऐतिहासिकता से जुड़ता है। मिथक यहाँ वास्तविकता के विरुद्ध नहीं कार्य करता है बल्कि उनके लेखन में पौराणिक भू-दृश्य दंतकथाओं, लोकविश्वासों और आध्यात्मिक प्रतीकों के माध्यम से कश्मीर की सांस्कृतिक पहचान के पुनर्निर्माण का सृजनात्मक साधन बन जाते हैं।

पौराणिक चित्रण : नीलमत पुराण के अनुसार एक पुरातन कथा में कहा गया है कि प्राचीन कश्मीर एक विशाल सरोवर था। इस सरोवर को 'सतीसर' कहा जाता था। सरोवर में जलोद्भव नाम का एक दैत्य रहता था। जलोद्भव जब छोटा था तब ब्रह्मा जी से उसे वरदान मिला था कि जब तक तुम पानी में रहोगे; तुम्हें कोई मार नहीं सकेगा। बड़ा होने जलोद्भव भयंकर क्रोधी हो गया। उसने आस-पास रहने वाले लोगों को तंग करना प्रारंभ कर दिया। कश्यप ऋषि ने ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश से इस दैत्य से मुक्ति के लिए प्रार्थना की। भगवान विष्णु तथा शिव ने वहाँ के पहाड़ों को काटा। 'सतीसर' भयंकर प्रवाह से गरजता हुआ बह निकला। जलोद्भव पानी में न छिप सका तब वह माया का जाल फैलाने लगा। शिव ने इसे नाकाम कर दिया। विष्णु भगवान के सुदर्शन चक्र ने दैत्य का गला धड़ से अलग कर दिया। कश्यप ऋषि के प्रयास द्वारा निकली जमीन कारण के कारण यह वादी कश्यपमार, अर्थात् काश्मीर कहलाई।

एक और गल्प के अनुसार कथाओं में देवी सती (भगवान शिव की पत्नी) के रहने और ऋषि कश्यप के साथ मिलकर नाग को हराने का भी वर्णन है, जिससे पानी झेलम नदी के रास्ते बह गया। इस प्रकार की अन्य कई कथाएँ प्रचलित हैं।

कश्मीर के इतिहास की बात करें तो एन. के. सिंह जी ने अपनी पुस्तक 'Savism in Kashmir' में काफी विस्तार से कश्मीर को निरूसंदेश घाटी को शिव की भूमि कहा है। वे लिखते हैं -"The history of the Kashmiri Shaivism is shrouded in mystery- Archaeologists have discovered traces of shiva worship in the proto-historic Harappa culture. It is not known, whether the Shiva of Kashmir was an immigrant from the neighbouring Indus Valley or was of local origin. The conception of Rudra Shiva of the Vedic Aryans perhaps might have had some influence on the development and early growth of Savism in the valley."[1]

काश्मीर के शैव दर्शन या त्रिकदर्शन को संसार भर में ख्याति प्राप्त हुई है। इस दर्शन से संबंधित जिन-जिन ग्रंथों की रचना का समय-समय पर निर्माण किया गया है, उन ग्रंथों ने संसार भर के विद्वानों एवं दार्शनिकों का ध्यान अपनी ओर खींचा। इस दर्शन के प्रमुख सिद्धांत इस प्रकार के है कि ''यह संसार असत्य नहीं अपितु सत्य है। आत्मा चैतन्य है इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति तथा क्रिया शक्ति का सम्मिश्रण ही चेतन है। विश्व का स्त्रोत परम शिव है। शिव और प्रकाश विमर्श के दो रूपों में विद्यमान है। ये दोनों ही रूप एक-दूसरे से अविच्छेद्य है।''[2]

चंद्रकांता के उपन्यासों में पौराणिक चित्रण :

'कथा सतीसर' चंद्रकांता द्वारा लिखित एक बृहत उपन्यास है। उपन्यास के द्वारा लेखिका ने सन् 1931 से 2000 ई. के शुरुआती समय के बनते बिगड़ते कश्मीर को इस ग्रंथ में वर्णित किया है। इस पर गौर फरमाएं तो शीर्षक ही बहुत कुछ कह जाता है। 'कथा सतीसर' यानि कि कहानी है पार्वती माँ की। ऐसा दर्शाया है सतीसर यानि भगवान शिव की पत्नी। यदि हम कश्मीर के इतिहास में गौर करें तो यहाँ का ऐतिहासिक काल भगवान शिव से शुरू होता है। 'कथा सतीसर' में चंद्रकांता ने पौराणिक आधारों के संकेतों द्वारा इस सफर को पूरा किया है।

उपन्यास की भूमिका में लेखिका ने महाभारत काल से बीस वर्ष पूर्व, गोनन्द राजा के शासन काल के साथ कई हजार साल का प्रारंभ होता है। राजा गोनंद ने मुनि वृहदाश्व से पूछा था कि सात मन्वंतरों पूर्व कश्मीर देश तो था नहीं, फिर वैवस्वत मनु के अन्त में इसका अस्तित्व कैसे आ गया, तब मुनि ने सतीसर की कथा बताई थी। इसका वर्णन लेखिका ने 'कथा सतीसर' में किया है। ''मुनि, बृहदाश्वने राजा को कल्प के आरम्भ से लेकर कश्मीर जन्म की कथा संस्कृत श्लोकों में सुनाई। प्रलय के बाद जब चौतरफा जल ही जल नजर आता था, सती उस शिवरुपी जलसृष्टि में नौका बन गई थी और विष्णु भगवान ने मत्स्य रूप धारण कर उस नौका को खींचकर कश्मीर के दक्षिण-पश्चिम में नवबंधन की चोटी पर बाँध दिया था। तब नाव बनी सती ने भूमि का रूप धारण कर लिया। बृहदाख लिखते हैं-

''नौदेहेन, सती देवी भूमिर्भवति पार्थिव।
तस्यान्तु भूमौ भवति सरस्तु विमलोदकम।''[3]

यहाँ संस्कृत के श्लोक के माध्यम से चंद्रकांता ने कम शब्दों में व्यक्त करते हुए लिखा है कि जब ''भगवती सती ने, जो नाव के रूप में प्रकट हुई थी भूमि का रूप धारण कर लिया।''[4]

कश्मीर की भौगोलिक सुंदरता जब वर्तमान में इतनी अनूठी हैं तो पौराणिक युग में तो स्वर्ग से भी बढ़कर रही होगी इसमें कोई संदेह नहीं। मुनि बृहदाश्व बताते हैं कि कैसे सतीसर में जलोद्भव राक्षस का निवास सुरक्षा के लिए ही बन गया। कथा में भूमि के बीच छह योजन लंबे और तीन योजन चौड़े सतीसर का जिक्र है, जिसमें कालांतर में ब्रह्मा से अमरत्व का वर प्राप्त जलोद्भव राक्षस सुरक्षा के लिए रहने लगा। जलोद्भव जब अपनी राक्षसी वृत्तियों के कारण, किनारों पर रहते नाग, निषाद, दर्द, भुट, भिक्ष आदि आदिवासी जातियों का संहार करने लगा तो भीषण यन्त्रणाओं से त्रस्त राजा नील ने, जो उन दिनों नागों का राजा था, पिता कश्यप ऋषि के पास कनखल जाकर अरदास की, कि उन्हें जलोद्भव से मुक्ति दिलाई जाए। आगे किस के प्रकार घोर तपस्या कर, कश्यप, ब्रह्मा, विष्णु और महेश को प्रसन्न कर नवबंधन शिखर पर ले आए और किस विधि से सतीसर झील के पानी को पहाड़ काटकर रिक्त कर दिया गया और जलोद्भव का अन्त हुआ, इस सबका विधिवत वर्णन करने के साथ, मुनि ने झील के भीतर से सुंदर वादी निकलने का भी सविस्तार वर्णन किया और चूँकि कश्यप के प्रयासों से वादी का जन्म हुआ, सो उसी के नाम पर वादी कश्यपमर-यानी कश्मीर कहलाई। देवतागण इस अद्भूत अवर्णनीय सौंदर्य से लकदक वादी से मुग्ध; अभिभूत होकर यहीं रहने लगे और देवियाँ, जनकल्याण के लिए नदियों में ढलकर पूरी वादी में बिछ गई।''[5]

कश्मीर की पौराणिक उत्पत्ति के विषय में अनेक कथोपकथन प्रचलित है। नदी, सुंदर चोटियों का आख्यान नीलमत पुराण में विस्तारपूर्वक जानने को मिलता है। कई लोककथाओं का वर्णन सतीसर में चंद्रकांता जी ने वर्णित किया है, जो कि लोककथाओं के रूप में प्रसिद्ध है- जैसे किसी ने कहा कि विष्णु भगवान ने नीलनाग (वेरीनाग) के पास धरती से पानी निकाला और शिवजी ने जिस तरह अपने त्रिशूल से प्रहार किया, वहीं से पार्वती 'वितस्ता' के रूप में बह निकली।''[6]

इस प्रकार कश्मीर के पौराणिक इतिहास में भिन्न-भिन्न कथाएँ प्रचालित हैं। जिसमें केवल शिव, पार्वती, ब्रह्मा, विष्णु ही नहीं शक्ति के एक और महान रूप का वर्णन भी मिलता

है। जैसे-''बारामूला के पास पहाड़ काटकर जल की निकासी हुई और स्वयं दुर्गा देवी ने सारिका का रूप धारण कर चोंच में भारी पत्थर उठाया और राक्षस के ऊपर दे मारा। साक्ष्य के तौर पर वो पत्थर आज भी मौजूद है और झील डल के किनारे, 'हारी पर्वत' बनकर खड़ा है।''[7]

चंद्रकाता जी ने 'कथा सतीसर' में अधिकांशत: स्थान पर कहानी के साथ-साथ पौराणिक कथा भी चल रही हैं, जिसके कारण हम 'कथा सतीसर' को ऐतिहासिक ग्रंथ न कहकर साहित्यिक ग्रंथ मान रहे हैं। ''हाँ तो बच्चों, बहोत-बहोत पहले कल्प के आरम्भ में यह हमारी वादी बहुत बड़ी झील थी जिसे सतीसर कहते थे। सतीसर क्यों? नन्हे भैया ने जानना चाह पार्वती का 'थान' है न हमारी वादी। इसी से इसका नाम पड़ा सतीसर। इसमें जलोद्भव नाम का राक्षस घुस गया और पहाड़ के दामन में रहते नागों को त्रस्त करने लगा।''[8]

इस प्रकार के संवादों द्वारा भी लेखिका ने पौराणिक इतिहास को वर्णित किया है। आगे बढ़ाते हुए ''ऐसा है मुन्नी, अधूरी कहानी में प्रश्न करोगे तो समझोगे क्या? सुनो, जलोद्भव ने अखंड तपस्या कर ब्रह्मा से माँग लिए तीन वर। ये, थे, जल से अमरत्व, विक्रम और मायाशक्ति। जल में वह सुरक्षा के लिए रहता था और नाग, सर्प नहीं थे। यहाँ रहते तो सोनगोबुरों! कहते हैं लोग जलोद्भव के आतंक से दुखी होकर नागों के पिता ब्रह्मापुत्र कश्यप के पास फरियाद लेकर गए। ...सोचने लगे। निलमत पुराण में लिखा है कि कश्यप ऋषि ने हरीपुर के निकट नौबन्ध में रहकर एक हजार वर्ष तक महादेव शम्भो की तपस्या की। तब ... यानी कश्मीर पड़ गया।''[9]

चंद्रकांता अपने लेखन में अच्छे कर्मों से मिलने वाला अगला जन्म या पूर्वजों की बात भी उपन्यास में कही गई है। उपन्यास में जब कहानी क्रमवार चलती है तब उन्होंने इस प्रकार का जिक्र किया है। ''दत्तात्रेय मुनीश्वर का अर्थ समझाते ऋषि आत्रेय और उनकी पत्नी अनुसूया की कहानी भी सुना डाली, कि किस प्रकार घूमते-घामते नारद मुनीश्वर, ब्रह्मा, विष्णु और महेश की अर्धांगिनयों के पास गए और कहीं नहीं। कैसे सावित्री .... और भोजन परोसे।''[10]

एक और उदाहरण- ''उधर देवों के वापस न लौटने पर देवियाँ चिंतित हो उठीं। नारद मुनि से सूचना पाकर तीनों अनुसूया ने पालने में सोए शिशुओं की ओर संकेत कर, 'अपने-अपने पति को पहचानो। देवियाँ नहीं पहचान पाई। उनका गर्व चूर हो गया। अनुसूया को दया आई। उसने पति के पाँव धोकर छिड़ककर देवताओं को वास्तविक रूप दिया। देवता सती के ओज तेज से प्रभावित हुए।

देवताओं ने तथास्तु कहा और तब जन्मे दत्तात्रेय। तीन सिरों छह भुजाओंवाले। मध्य भाग में विष्णु, दाएँ शिव और बाएँ ब्रह्मा। आत्रेय को दिया यही बालक दत्तात्रेय नाम से प्रसिद्ध हुआ और इसी के वंशज है पंडित कृष्णाजु कौल।''[11]

यहाँ इतनी बड़ी पौराणिक कथा से वर्तमान को जोड़ने का एक महान वंश से जोड़ना। चंद्रकांता ने केवल कश्मीर की उत्पत्ति के लिए ही नहीं अपितु कश्मीरी लोगों की महान उत्पत्ति से भी सतीसर को जोड़ा है। चंद्रकांता जी ने 'कथा सतीसर' के 'आनंद शास्त्री' वाले भाग में नीलमत पुराण में लिखी गई संस्कृति भाषा को लिखकर उसे व्यक्त किया है। नीलमत पुराण कंठस्त रखनेवाले आनंद जू सामने फैले पानी के विस्तार के आगे ध्यानमग्न हो पुराण के एक-एक श्लोक को साकार होते देख रहे हैं। लेकिन देख वही लेते हैं जो देखना चाहते हैं। प्रात:काल की इस पवित्र वेला में कामातुर 'संग्रह दैत्य' दैत्य के शनि को देखकर सतीसर के गिरे वीर्य से उत्पन्न जलोद्भव से वह ध्यान हटा लेते हैं। ''कश्यप के प्रयासों से बलराम को खादलवार के पास हल से पहाड़ काटते और सतीसर से बहकर निकलते पानी का विकराल वेग शिराओं में महसूस कर लेते हैं। यह जरूरी था दैत्य के संहार के लिए। भगवान विष्णु को कश्मीर भूमि को पापरहित बनाना था, युद्ध करके चक्र से दैत्य का सिर काटना था। युद्ध च ते देवगणा: समस्ता, चक्रेण देव प्रवर समाते। विच्छेद दैतस्य शिर: प्रसहय ब्रह्मा ततस्तोषमु पाजगाम।''[12]

'कथा सतीसर' में कश्यप ऋषि ने तपस्या कर देवियों को मनाया। उन्होंने नदी को माँ लक्ष्मी का रूप बताया। लेखिका ने आनन्द जूँ का वर्णन करते हुए इस पौराणिक कथा का वर्णन किया है। कश्यप ने तपस्या कर देवियों को मनाया। देवियाँ नदियाँ और स्त्रोत बनकर पुण्य भूमि पर अवतरित हुई। क्रमसार (कौंसरनाग) से लक्ष्मी विशोका नदी बनकर निकली। देवताओं की माता अदिति कुलग्राम के पास त्रिकोटी नदी बनकर बही। शची हर्षपथा नदी के रूप में प्रकट हुई, दिति चंद्रावती बनी और गंगा और जमुना ने एक-एक भाग वितस्ता को अर्पित किया। और हर के अनुरोध पर अपने ही शरीर से बनाए कश्मीर प्रदेश में देवी सती वितस्ता का रूप धारण कर जन-जन के कल्याण के लिए मुक्तिदायिनी बनीं। सभी नदियों का पुण्य संगम।चंद्रकांता जी लिखती हैं-''आनन्दजू ने 'प्रभो शूलपाणे,

विभो विश्वनाथ को दंडवत किया और वितस्ता में डुबकी लगाई। स्वस्ति का अपूर्व अनुभव! पूर्व की और करबद्ध खड़े होकर होकर सूर्य-वन्दना की - ॐ मित्राय नमः ॐ रवये नमः, ॐ सूर्याय नमः...।''[13]

कात्या का अनुमान भी दिखाया गया है जब वो कार्तिक को रास्ते में नीलमत पुराण की कुछ कहानियाँ सुनाती है जैसे ''मेरे नानाजी नीलमत पुराण के अच्छे जानकार थे। हमें नाग और यक्षों कहनियाँ सुनाते। हो सकता है, सभ्यता के प्रथम चरण में यहाँ कोई बस्ती रही हो, जहाँ नागों का राजा नील रहता हो। आर्यों के आने से पहले तो नागवंशी ही रहते थे यहाँ।''[14]

'चंद्रकांता' लिखती हैं - ''कहते हैं, पहले-पहले जब वादी में नाग, पिशाच आदि आदिवासी जातियाँ रहती थीं, ब्राह्मण छह मास वादी में रहते और छह मास वादी में रहते छह मास मैदानों में चले जाते थे। एक बार एक कमजोर ब्राह्मण चन्द्रदेव, सर्दियों में भी वादी में रह गया, तो एक पिशाच ने उसे उठाकर नीलनाग में फेंक दिया। झील के अन्दर कश्यप पुत्र राजा नील को देखकर ब्राह्मण ने अपना दुख उसे सुनाया। नील ने ब्राह्मण को तसल्ली दी और नीलमल पुराण ग्रंथ हाथ में थमाकर आदेश दिया कि इसमें वर्णित विधि से रहो। धर्म, कर्म करो, दान-पुण्य। तो तुम्हारे दुख दूर हो जाएंगे और तुम सदा के लिए वादी में बस सकोगे। कहते हैं, ब्राह्मण ने बाहर आकर ठीक वैसा ही किया जैसा नील ने आदेश दिया और तभी से ब्राह्मण, नाग-पिशाच, यक्ष आदि जातियों के साथ मिलकर रहने लगे।''[15]

कश्मीर के पौराणिक ग्रन्थों के अलावा वहाँ के भौगोलिक साक्ष्य भी घाटी का इतिहास बयाँ करते हैं। ''पुराणों में समय का सच कथा-कहानियों में गूँथा गया है। वक्त के अन्तराल में सच, मिथ और लेजेंड बनकर जनमानस में बस जाता है। उसमें गहरे जाओ तो इतिहास का सच खुल जाता है। नीलमत पुराण के अलावा, भौगोलिक साक्ष्यों के आधार पर भी तो यह सिद्ध हो चुका है कि कश्मीर वादी पहले बहुत बड़ी झील थी। आरकेयोलोजीस्ट मानते हैं कि किसी भयंकर भूकम्प या भूमि धसाँव से पानी की निकासी हुई होगी। पानी सूखने पर जाहिर है, वर्षों लगे होंगे। तभी ठंड में लोग छह मास के लिए गर्म प्रदेशों की ओर चले जाते रहे होंगे। काल का यही सच कथाओं में झाँक आता है।''[16]

'कथा सतीसर' जो कि चंद्रकांता जी का वृहत ग्रंथ है उसमें उन्होंने कश्मीर के पौराणिक कथाओं से आज की स्थिति से हमें अवगत करवाया है। लेखिका के एक अन्य उपन्यास 'ऐलान गली जिन्दा है' में भी हमें पौराणिक इतिहास की कुछ झलक देखने को मिली है।

यो दयाराम मास्टरजी खिचड़ी अमावस्या का भी एक अलग ही किस्सा सुनाते हैं। उनका कहना है कि ''नीलमत पुराण के प्राचीन काल में 'यक्ष' नाम के डाकू जाति वादी के लोगों को बेहद परेशान करते थे। डाकू कभी भी आकर लूटमार कर जाते थे। एक बार लोगों ने आपस में सलाह-मशविरा करके उन्हें सन्देश भेजा कि लूटमार करने की बजाय पौष अमावस के दिन उनके यहाँ आ जाया करें, जहाँ उनके लिए भोजन आदि का प्रबन्ध होगा। इसीलिए खिचड़ी अमावस्या को वे एक थाली खिचड़ी, मांस, मछली आदि से भरी हुई रख देते थे जिसे यज्ञ लोग आकर खा जाते थे।''[17] कुछ और किवंदतियों के अनुसार एक और कहानी प्रचलित है, जो कि 'ऐलान गली' के द्वारा प्रचलित हुई। प्राचीन काल में एक महर्षि रहा करते थे, नाम था अनमित्र, पत्नी का नाम भद्रा। उन्होंने एक बड़े प्रतापी पुत्र को जन्म दिया, जिसे पूर्व जन्म का ज्ञान तो था ही, भविष्य का भी पूरा ज्ञान था। एक बार जब माँ उसे गोद में खिलखिलाकर बार-बार चुम्बन देकर स्नेह दिखा रही थी, बालक जोर-जोर से हँसने लगा। ...लेकिन दया, बह्मा ने उत्तर दिया, उसे ध्यान से सुनो। ब्रह्मा जी बोले, हे वत्स। अब तक प्राणी के पास कर्मों का संचय, उसे कर्म करना ही है। उसे मोक्ष ....''ब्रह्मा के कहने पर आनन्द अपने कर्म में रत हो गए। गृहस्थ जीवन अपनाया। उनका नाम चाक्षुष पड़ा।''[18] 'कथा सतीसर', 'ऐलान गली जिन्दा है', 'अपना-अपना कोणार्क' सहित अपनी समस्त कृतियों में लेखिका ने पौराणिक गल्प का प्रयोग विस्तार देने, सत्यता को साबित करने के लिए कथानक, रीति रिवाजों द्वारा इतिहास से नवागतों को अवगत करने के प्रयास में पूर्ण रूप से सक्षम रही है।

चंद्रकांता के संस्मरण में पौराणिक चित्रण : चंद्रकांता ने संस्मरण में अप्रत्यक्ष रूप से पौराणिक चित्रण को दर्शाया है क्योंकि संस्मरण चंद्रकांता की आपबीती कहानी है, जिसमें उन्होंने अपनी माँ तथा सास का जिक्र करते वक्त इन कहानियों का वर्णन किया है। चन्द्रकांता अपनी माँ के गाँव का चित्रण करते समय कहती हैं कि -''कल्हण की राजतरंगिणी के अनुसार, कुलूसा गाँव 'कलश' शब्द से जुड़ा है। मधुमती नदी किनारे, शारदा मन्दिर के आसपास बसा यह छोटा-सा गाँव,

शायद कभी मन्दिर के चमचमाने कलश के कारण जाना जाता हो। माँ शारदा, मात्र कुलूसा गाँव के लिए ही नहीं, पूरे कश्मीर के लिए पूजनीय है क्योंकि उसका भान कश्मीर भूमि है। उन्हीं के कारण कश्मीर को 'शारदापीठ' नाम मिला हैं। 'नमस्ते शारदा देवी, कश्मीर पुर वासिनी, श्लोक इस विश्वास का गवाह है।''[19] चंद्रकांता ने अपनी सासू माँ को एक बड़ा कथाकार कहा है जैसे- ''सो उनकी कहानियों में नई कहानी-अकहानी का अद्‌भुत मेल रहता। कहीं-कहीं मार्खेव का जादुई यथार्थवाद भी नजर आता, तो उन्होंने ''हीमाल नागराम, 'बोंबुर-यम्बरजल' जैसी लोक कथाओं और सोमदेव की कथा सरितसागर की सुनी-सुनाई कहानियों से अपनाया था।''[20] चंद्रकांता के उपन्यासों, कहानी संग्रहों तथा संस्मरणों में पौराणिक इतिहास का वर्णन हमें प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में देखने को मिला है। इन्हें पढ़कर यह अवश्य सिद्ध होता है कि इतिहास कभी मरता नहीं अपितु किसी न किसी रूप में हम सब के समक्ष आता जरूर है।

निष्कर्ष : 12वीं सदी में कल्हण द्वारा लिखित राजतरंगिणी में कश्मीर के राजाओं और इतिहास का पहला विवरण देखने को मिलता है, जो पौराणिक कहानियों को ऐतिहासिक संदर्भ देता है। कश्मीर के पुरातन इतिहास को केवल इतिहास नहीं कहा जा सकता, अपितु इस क्षेत्र की आध्यात्मिकता और संस्कृति भी इसका अभिन्न अंग है। यदि कम शब्दों में कहना चाहें तो कश्मीर की पौराणिक कथाएँ प्रकृति, देवताओं और ऋषियों से जुड़ी हैं, जो इस वादी को एक पवित्र और ऐतिहासिक भूमि का दर्जा देती है। चंद्रकांता अपने साहित्य में कश्मीर के पौराणिक इतिहास को पूर्ण रूप-से प्रमाणित करती हैं।

***शोधार्थी**
डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर
मराठवाड़ा विश्वविद्यालय
छत्रपति संभाजी नगर

****शोध निर्देशक**
शोध निर्देशक तथा अध्यक्ष हिन्दी विभाग
यशवंतराव चव्हाण महाविद्यालय, तुलजापुर
धाराशिव

सन्दर्भ सूची

1. Singh N.K., Savism in Kashmir, Page No. 01
2. सक्सैना आजाद, चंद्रकांता के उपन्यास में जीवन संघर्ष, पृष्ठ संख्या-50
3. चंद्रकांता, कथा सतीसर, पृष्ठ संख्या-13
4. वही, पृष्ठ संख्या 13
5. वही, पृष्ठ संख्या 13
6. वही, पृष्ठ संख्या 14
7. वही, पृष्ठ संख्या 88
8. वही, पृष्ठ संख्या 88
9. वही, पृष्ठ संख्या 88
10. वही, पृष्ठ संख्या 91
11. वही, पृष्ठ संख्या 92
12. वही, पृष्ठ संख्या 83
13. वही, पृष्ठ संख्या 332
14. वही, पृष्ठ संख्या 330
15. वही, पृष्ठ संख्या 330
16. वही, पृष्ठ संख्या 335
17. चंद्रकांता, ऐलान गली जिंदा है, पृष्ठ संख्या 15
18. वही, पृष्ठ संख्या 61
19. चंद्रकांता, हाशिए की इबादतें, पृष्ठ संख्या 17
20. वही, पृष्ठ संख्या 155

शोध-पत्र

'मृगनयनी' में बुन्देलखण्ड के कला और लोक जीवन का अन्तर्संबंध

डॉ. बिपिन प्रसाद

एक साहित्यकार का मन कब दु:खी और सुखी रहता है वह अपने साहित्यिक लेखन के द्वारा अभिव्यक्त कर देता है। जिसे समाज पढ़कर लाभ उठाता है। साहित्य को सभी बुद्धि, भाव को समेटने का गौरव प्राप्त है जिसके द्वारा समष्टि का कल्याण होता है। साहित्य की परिभाषा देते हुए कहा गया है- ''इसमें मनुष्य की सारी बोधन और भावन चेष्टा समाविष्ट हो जाती है, तथा समस्त ग्रन्थ समूह, साहित्य के अन्तर्गत आ जाते हैं। साहित्य मनुष्य के भावों और विचारों की समष्टि है।''[1] हम साहित्य एवं साहित्यकार को लोक जीवन से अलग करके नहीं देख सकते हैं।

हिन्दी साहित्य में उपन्यासकार के रूप में वृन्दावनलाल वर्मा का महत्वपूर्ण स्थान है। वर्मा जी जीवन पर्यन्त साहित्य से जुड़े रहे। यहां तक की बचपन से ही उन्हें साहित्य में विशेष रूचि रही और हमेशा पुस्तकों से जुड़ाव रहा। उनका जन्म स्थान बुन्देलखण्ड है जिसके परिवेश को वर्मा जी ने अपना विषय बनाया है। बुन्देलखण्ड क्षेत्र के कण-कण का परिचय वर्मा जी के मानस पटल पर है। बुन्देलखण्ड के परिचय के सम्बन्ध में उषा भटनागर लिखती हैं- ''भारत के मध्य भाग में स्थित एक बड़े क्षेत्रफल वाला प्रदेश बुन्देलखण्ड, बहोल खण्ड और बिन्ध्येल खण्ड दशार्ण, ब्रज, जैजाक भुक्ति आदि नामों से जाना जाता रहा है। इसका प्राचीन नाम जुझार खण्ड और जुझौती भी था। वर्तमान में इसका प्रचलित नाम बुन्देलखण्ड ही है। यह प्रदेश अपार प्राकृतिक सम्पदा अपनी क्रोड़ में समेटे है। विदेशी आक्रमणों के लिए यह प्रदेश सदैव चुनौती बना रहा है।''[2]

बुन्देलखण्ड के पश्चिमी भाग में ग्वालियर और भोपाल है। वृन्दावनलाल वर्मा ऐतिहासिक उपन्यासकार माने जाते हैं क्योंकि इन्होंने इतिहास को अपने उपन्यास का मुख्य विषय बनाया है। साथ ही सामाजिक उपन्यासों की भी रचना की है। वर्मा जी ने लगभग पन्द्रह ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जिनमें गठकुण्डार (1927 ई.), विराटा की पद्मिनी (1933 ई.), झांसी की रानी लक्ष्मीबाई (1946 ई.), माधव जी सिंधिया (1948 ई.), मृगनयनी (1950 ई.), अहिल्याबाई (1955 ई.), रामगढ़ की रानी (1961 ई.), देवगढ़ की मुस्कान (1975 ई.) इत्यादि प्रमुख हैं। वहीं इन्होंने लगभग ग्यारह सामाजिक उपन्यास भी लिखे जिनमें लगन (1927 ई.), प्रेम की भेंट (1922 ई.), अचल मेरा कोई (1947 ई.), सोना (1950 ई.), उदय किरण (1960 ई.) इत्यादि प्रमुख हैं।

उपन्यास के साथ-साथ वृन्दावन लाल वर्मा ने नाटक भी लिखा है। वृन्दावन लाल वर्मा ने अपने सभी उपन्यासों में अपनी प्रिय भूमि बुन्देलखण्ड को ही केन्द्र में रखा है। देशराज सिंह के शब्दों में, ''झांसी, ग्वालियर, इंदौर और सागर में तीन रेखाएं हैं वर्मा जी के उपन्यासों की घटनाओं की। दिल्ली, पंजाब, मालवा और गुजरात का उल्लेख मुसलमान शासकों की क्रीड़ाभूमि होने से छुपा है। लेकिन वर्मा जी ने कहीं भी पदसंचरणा किया हो, किन्तु उनकी आत्मा बुन्देलखण्ड में ही रही है।''[3] बुन्देलखण्ड कला, तीज, त्योहारों और पर्वों का क्षेत्र है। यहाँ के प्रकृति से जूझने वाले लोक जनजीवन अपने उल्लास के लिए बहाने ढूंढते रहते हैं और ये बहाने उन्हें कला और तीज, ज्योहारों के रूप में आसानी से मिल जाते हैं।

'मृगनयनी' (1950 ई.) वृन्दावन लाल वर्मा का महत्वपूर्ण एवं ख्याति प्राप्त उपन्यास है। जिसका नामकरण स्त्री चरित्र

के आधार पर किया गया है। 'मृगनयनी' ऐतिहासिक उपन्यास होते हुए कला एवं लोक जीवन के अन्तर्संबंध की झांकी प्रस्तुत करती है। 'मृगनयनी' में राजा मानसिंह, मृगनयनी, अटल और लाखी के मुख्य चरित्र को आधार बनाया गया है। बीच-बीच में अन्य चरित्र भी आते रहते हैं। मृगनयनी के महत्व पर डॉ. सिंहल का कथन है, ''मृगनयनी' का महत्व उसमें निहित सजीव युग-चित्रण, प्रेरक पात्रों के प्रतिष्ठान, संस्कृति एवं लोकतत्वों तथा स्फूर्तिमय जीवनांकन पर निर्भर है। वर्मा जी भारतीय संस्कृति के अनुरागी आस्थावान कलाकार हैं। अतीत उन्हें उत्तेजित नहीं करता वरन, गम्भीर चिन्तन की प्रेरणा देकर वर्तमान में उनका मार्ग-निर्देश करता है। यह तथ्य 'मृगनयनी' में भली-भांति द्रष्टव्य है।''[4] वृन्दावन लाल वर्मा ने ग्रामीण परिवेश को जिया है और उसके अन्दर रहने वाले अनेक प्रकार के अनुभव को 'मृगनयनी' में दिखाने का प्रयास किया है।

उपन्यासकार वृन्दावन लाल वर्मा ने 'मृगनयनी' में कला और लोक जीवन के सम्बन्ध को बखूबी दिखाया है। कला में जीवन का सन्देश होता है। कोई भी कलाकार अपने कला का प्रदर्शन जीवन के लिए ही करता है। उसमें जीवन की बहुलता दिखाई देती है। कला हमें देखने में रूचि पूर्ण हो तो उसमें मनुष्य उस व्यक्ति के जीवन को आसानी से देख सकता है। उपन्यास में कला को प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं दिखाया जा सकता बल्कि उपन्यासकार उसे पढ़ने की क्रिया द्वारा अनुभव कराता है। इससे हम उस समय के कलाओं से परिचित हो पाते हैं और उस समय के लोक जीवन से परिचित होते हैं। कला को केवल मनोरंजन एवं आनंद नहीं माना जाना चाहिए क्योंकि कला हमारे जीवन में बुद्धि, विवेक एवं ज्ञान के भण्डार को भी बढ़ाती है। सुरेन्द्र त्रिपाठी का कथन है, ''कला में जीवन का संदेश हमें कवि की वाणी में प्राप्त होता है, अत: कला का हमारे जीवन में गहरा महत्व है। उसे हम केवल मनोरंजन का साधन नहीं मानते उसका आध्यात्मिक मूल्य हमारे लिए कहीं अधिक हैं नैतिक जीवन से कला भी सम्बन्ध है। हमारे उत्कर्ष और ह्रास में कला का प्रमुख हाथ है, और हमारी सभ्यता और संस्कृति के संजीवन और पुनर्निर्माण में कला सौम्य अग्रणी रहती है।''[5]

मध्ययुगीन इतिहास की पृष्ठभूमि पर लिखी गयी 'मृगनयनी' में समसामयिक परिस्थितियों के प्रभाव में आकर वर्मा जी ने अपने युग को सन्देश देने की चेष्टा की है। उनका सन्देश कला के द्वारा लोक जीवन को समेटने का भी था। कला उस समय की प्रमुख विधियों में से एक थी। भारत वर्ष में प्राचीन समय से ही कला के सारे पहलू कहीं न कहीं उपस्थित हैं। कलाकार किसी राष्ट्र का अमूल्य निधि होता है इसीलिए उसकी कला की रक्षा का भार राष्ट्र पर होता है। आज के इस विज्ञान और भौतिकतावादी समय में भी संसार के प्रत्येक देश में कलाकार की अपनी पृथक सत्ता है। समाज में कलाकार सम्मान प्राप्त करता है उसे देश से भी विशेष सम्मान मिलता है यदि श्रेष्ठ कलाकार अपने कला को लोकहित में ठीक से प्रदर्शित कर पाता है तो उस देश का यह कर्तव्य बनता है कि उसके जीवन की अन्य आवश्यकताओं की यथा सम्भव पूर्ति करें। जिससे कलाकार की कला बनी रहे।

वर्मा जी ने 'मृगनयनी' में कला को प्रत्यक्ष रूप में देखने के लिए बघर्रा के मुँह से कारीगरों की खूबसूरती को बताया है। बघर्रा के कथन से यह मालूम होता है कि प्राचीन समय में पत्थरों को काटकर मूर्तियां बनाई जा रही थीं। उसका भी ध्यान वृन्दावन लाल वर्मा को है जो उस समय के लोक जीवन से जुड़ी हुई थी। वर्मा जी कलाकार थे। इसलिए उनका रूझान कलाओं की ओर बहुत रहा। कला को सौन्दर्य के रूप में भी देखा जाता है। उपन्यास के आरम्भ में ही लाखी और निन्नी के सौन्दर्य की चर्चा होती हुई दिखती है जो बुन्देलखण्ड की नारी सौन्दर्य को भी उद्घाटित करती है, ''निन्नी ने कहा, तुम बहुत तगड़ी हो, हाथ ऐसे हैं जैसे महुए की डालें। पर मैं भी किसी तरह पार पा ही गई। ...मेरी बांहे यदि महुए की डालें हैं तो तुम्हारी सांप की रस्सी जैसी हैं। नहाने-धोने के समय लाखी ने देखा निन्नी की गोरी देह बहुत पुष्ट है।''[6] वर्मा जी के उपन्यास 'मृगनयनी' में सौन्दर्य कला की विस्तृत चर्चा है। उनकी दृष्टि पर प्रकाश डालते हुए डॉ. शान्तिस्वरूप गुप्त ने लाखी और निन्नी के सौन्दर्य पर टिप्पणी किया है, ''उसके व्यक्तित्व में शौर्य और सौन्दर्य का गणिकांचन संयोग है। शौर्य का सम्बन्ध यदि युद्ध और कर्तव्य पालन से है, तो सौन्दर्य का कला से। निन्नी के चरित्र में यह शारीरिक बल और सौन्दर्य बचपन से ही मिलता है। उसकी गोरी और पुष्ट देह को देखकर लाखी सोचने लगती है कि इस प्रकार के शरीर निर्माण के लिए वह क्या खाती होगी। उसकी बांहों में अपार शक्ति है।''[7]

'मृगनयनी' वर्मा जी के उपन्यासों में बुन्देलखण्डी कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान रखती है। वृन्दावन लाल वर्मा के समय की मांग थी कलाएँ। वर्मा जी का जीवन बचपन से ही

संगीत में खिला। वर्मा जी जिस इतिहास को उपन्यास का विषय बना रहे थे उस समय समाज में कलाओं का स्थान महत्वपूर्ण था। कला सम्बन्धी प्रसंगों में मूर्तिकला, संगीत कला, नृत्य कला, चित्रकला, स्थापत्य कला सभी का वर्णन मृगनयनी उपन्यास में देखा जा सकता है। संगीत कला प्राचीन कलाओं में स्थान पाती है। इस कला को जनमानस बहुत पहले से अपनी लोक जीवन में गाते आ रहा है। और आज भी बुन्देलखण्ड के क्षेत्र में संगीत बहुत तेजी से लोक जीवन में गाया जा रहा है। संगीत कला पर उषा भटनागर का कथन है, ''यह कला हमारी सबसे प्राचीन कला है। सामवेद के सभी मंत्र गीतिमय है। हमारी यह कला जगजीवन की कला है। विशेष अवसरों पर गाए जाने वाले गीत फाग, रिझौरे, भजन और लोकगीत इस कला को जनप्रिय बनाते हैं। हमारे देश में अपने आरम्भिक काल में ही संगीत जन-धन में उतना ही लोकप्रिय रहा है जितना की वट संगीताचार्यों के कष्टों या ऊँची-ऊँची अटालिकाओं में था।''[8]

'मृगनयनी' को गायन-वादन, सभी कलाएँ सिखाने का इन्तजाम मान सिंह करते हैं। 'मृगनयनी' के पूछने पर यह बताते हैं कि तुम बहुत थोड़े समय में ही इन सभी कलाओं में पारंगत होकर 'कला' और 'बैजनाथ' की गुरु हो जाओगी। वे आज संध्या से ही मृगनयनी को गायन, वादन, चित्रकारी सिखाने का आदेश दे देते हैं। जब राजा मान सिंह 'मृगनयनी' के संगीत शिक्षा को देखने पहुंचे तो आश्चर्यचकित हो गये। मान सिंह ने बैजनाथ से पूछा क्या मृगनयनी संगीत सीख ली है या कहाँ तक पहुँची है सीख पायेगी या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर बैजनाथ इस प्रकार देते हैं, ''मान सिंह ने आते ही पूछा, कहिए आचार्य! आपके नए शिष्य की प्रगति का क्या हाल है? बैजू ने उत्तर दिया, महाराज, वह पूर्वजन्म में संगीत का अवतार रही होगी। मुझको अपना आचार्य पद बनाए रखने के लिए विशेष अभ्यास करना पड़ेगा।''[9] संगीत कला जीवन का अनुभूतिमय प्रदर्शन है। संगीत की अमरता और चिरंतनता इस तथ्य में निहित है कि कितनी कुशलता से अपनी गहरी संयोजना के साथ जीवन को परिवर्तित कर सुन्दर, कल्पनामय एवं पुनीत रूप प्रदान करता है।

लोक जीवन में किसी विशेष अतिथि के घर आने पर भी गीत, संगीत गाने की प्रथा है। लोक समाज इस कला के साथ उस मेहमान का स्वागत करता है। इस विशिष्ट पद्धति से अतिथि खुश होता है तथा वहां के लोगों की संस्कृति को भी समझता है। अच्छा अनुभव होने पर फिर आने का वचन भी देता है। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में आज भी होली के अवसर पर लोक जीवन में संगीत की धूम देखी जाती है। मृगनयनी के आधार पर डॉ. उषा भटनागर का कथन है, ''होली के अवसर पर निन्नी, लाखी, अटल, बोधन पुजारी तथा राई गांव के सभी स्त्री-पुरुष होली गाते हुए नृत्य करते हैं। यहीं निन्नी, मृगनयनी हो जाने पर बड़े-बड़े संगीताचार्यों विजय जंगम और नायक बैजनाथ के संसर्ग से ग्वालियर आकर वीणा-वादन और संगीत में दक्षता भी प्राप्त कर लेती है।''[10] इस प्रकार जब हम मृगनयनी की तरह देखते हैं तो उपन्यास के प्रारम्भ में ही लोक जीवन से बहुत घनिष्ट सम्बन्ध रखने वाले होली का चित्रण मिलता है। यह लोक जीवन के साथ-साथ शहरी समाज में भी पहुंच गया है। यहाँ तक की बुन्देलखण्ड क्षेत्र में उस दिन रसिया भी मंदिरों में गाया जाता है। साधारण जनता अपना काम करते समय भी संगीत के साथ आनन्द लेती रहती है। किसान वर्ग अपने खेतों की रखवारी करने जाता है तब भी इन गीतों से पीछे नहीं हटता।

संगीत में दो कलाकारों में अपने-अपने कला प्रदर्शन को लेकर होड़ भी लग जाती है। 'मृगनयनी' उपन्यास में यह बताया गया है कि जब मान सिंह ने दो कलाकारों को बुलाकर संगीत शुरू किया तो समाप्त होने पर वाह! वाह! की आवाज गूँज उठी। बैजू और विजय जंगल में दो बड़े कलाकार अपने कला प्रदर्शन से एक दूसरे को पछाड़ रहे थे। इसे सुनते हुए मृगनयनी के मुँह से भी वाह-वाह की ध्वनि निकल पड़ी। ''उसको सुनते हुए लाखी से कहा, वाह! वाह! क्या बात है। कैसा गला है! और कैसी गायकी है! कितना तन्मय होकर गा रहे हैं आचार्य! उनको अपने आस-पास की बिल्कुल ही सुध नहीं! कला और कलाकार इसको कहते हैं।''[11] इस प्रकार वर्मा जी ने मृगनयनी में संगीत कला की ओर विशेष ध्यान दिया है। वर्मा जी संगीत को लोक जीवन का सर्वोपरि हिस्सा मानते थे।

मृगनयनी में राजा मान सिंह ने बैजनाथ का गीत सुनकर 'नायक बैजनाथ' का पद दे दिया। नायक वह होता है जो नए राग का सृजन करे। बैजू ने कई रागों का सृजन किया है। इन रागों में गूजरी, माल-गजरी, बाहुल गुजरी और मंगली गूजरी प्रमुख है।

जैसे-जैसे हम मृगनयनी उपन्यास के परतों को खोलने की कोशिश करते हैं वैसे-वैसे कला के अन्य रूप भी सामने आने

लगते हैं। उपन्यासकार वर्मा जी ने मृगनयनी में चित्रकला को भी लोक जीवन से जोड़ने की पूरी कोशिश की है। जिस प्रकार प्राचीन काल में चित्र देखकर ही उस जगह का पता लगाया जाता था। चित्र में विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों, पहाड़-जंगल, मनुष्य, देवता इत्यादि को देखकर उसे लोक मानस भी समझने एवं जानने का प्रयास करता था। आज भी चित्रकला अपना अस्तित्व बनाए हुए है। आज तो चित्रकारों की आवश्यकता और बढ़ गई है। आजकल कैमरे, मोबाइल इत्यादि की सहायता से एक जगह के चित्र को दूसरे जगह भी दिखाया जाता है। संगीत की भांति चित्रकला भी समस्त देशों में अपने प्रादेशिक रंगों में विकसित हुई है। लेकिन संगीत की अपेक्षा चित्रकला व्यापक रूप में नहीं आ सकी। इस कारण संगीत वाले तो हर एक जगह मिल जायेंगे लेकिन चित्रकारी करने वाले हर जगह नहीं मिल सकते, चित्रकारी करना एक कठिन कार्य है।

'मृगनयनी' अपने जीवन में चित्रकार से चित्रकारी भी सीखती है। वह बहुत अल्प समय में ही चित्रकारी करना भी सीख लेती है। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में चित्रकला का भी अपना महत्व है जिसे वर्मा जी ने मृगनयनी में उजागर किया है, ''मान सिंह के भीतर ललित कलाओं का अनुष्ठान फिर जाग पड़ा। बोला! तुमने चित्रकारी में भी बहुत कुशलता पा ली है। थोड़े से वर्षों में ही इतना रस सीख लिया! विलक्षण हो।''[12] वर्मा जी ने चित्रकारी का अद्‌भुत वर्णन किया है। 'मृगनयनी' द्वारा जो चित्र खिंचा गया है वह अद्‌भुत है। राजा मानसिंह भी उसे देखकर दंग रह जाता है। चित्रकार लोक जीवन को बखूबी उजागर करता है जिसे बिना पढ़े-लिखे मनुष्य भी चित्रों के द्वारा समझ सके। 'मृगनयनी' का चित्रशाला राजा मान सिंह अनेक बार देख चुका था। फिर भी उसे बार-बार देखने की लालसा रहती थी।

चित्रकला पर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा गया है, ''चित्रकला के माध्यम से सूक्ष्म मानवीय भावनाएं बड़े प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त की जा सकती हैं चित्रकार की शैली व्यंजनात्मक होती है और विशेषकर भारतीय चित्रकला में इस शैली का बड़ा सुन्दर परिपाक मिलता है। चित्र वही सफल होता है जो बोलता सा प्रतीत हो और हमारी भावनाओं से उसका सामंजस्य हो सके।''[13] वर्मा जी ने 'मृगनयनी' के द्वारा दरबार का चित्र बनवाया है। वह चित्रकारी बोलती है। उन चित्रों में महोत्सव, वीणा वादन, युद्ध, प्रकृति, देवताओं एवं राजा मान सिंह के विविध स्थितियों के चित्र थे। उन चित्रों में लोक जीवन से सम्बन्धित कौमुदी महोत्सव, वसन्तोत्सव, राग-रागिनियों, वस्त्राभूषणों से सजी हुई सुन्दरी, वीणा, नृत्य इत्यादि शामिल है। राजा मानसिंह के द्वारा मृगनयनी के चित्रकारी को खूब सराहा जाता है। राजा उनमें से कुछ चित्रों को देखकर समझ जाता है कि वह राजदरबार का ही चित्र है। कहा गया है कि मृगनयनी, सोलहवीं शताब्दी में कला नामक चित्रकार से चित्रकारी सीखती है।

वर्मा जी ने चित्रकारी में लोक जीवन को भी उभारा है। वे कला और कर्तव्य को साथ लेकर चलते हैं। वे लोक जीवन की कला और कर्तव्य को छोड़ने के पक्ष में नहीं है। मान सिंह का कथन है, ''कला का अनुशीलन और कर्तव्य का पालन साथ-साथ चल सकते हैं मैं सेना को भी सजाऊँगा और ललित कलाओं की भी उन्नति करता रहूँगा।''[14] यह वर्मा जी का कलाओं के प्रति समर्पण है जिसे वे लगातार अपनी लेखनी में शामिल करते हैं। मान सिंह सेना को युद्ध के लिए भी तैयार करता है और अपने कर्तव्यों के द्वारा लोक जीवन की रक्षा का भी प्रण लेता है। मानसिंह के महलों को अलंकृत करने वाले चित्रों में भी कला और लोक जीवन का समन्वय प्रस्तुत किया गया है। दरबार में कला वाले अंग के ऊपर लिखा था, 'कला' और दूसरे अंग के ऊपर लिखा था 'कर्तव्य' इस प्रकार चित्रकला के माध्यम से भी वर्मा जी ने लोक जीवन को जोड़ने का प्रयास किया है।

इसमें दो राय नहीं हो सकता कि यदि संगीत कला प्राचीन समय से चली आ रही है तो नृत्य कला का क्या समय होगा? हमारे यहां देवता भी नृत्य कला में पारंगत बताये गये हैं। भगवान शंकर का ताण्डव नृत्य इसका प्रमाण है। नृत्य कला से लोक जीवन का बहुत गहरा सामंजस्य होता है। जब संगीत सुनते हैं तो अनायास ही शरीर नृत्य की मुद्रा में आने लगता है। नृत्यकला भी चित्रकला की तरह कठिन है। वर्मा जी ने उपन्यास के शुरुआत में ही गांव वालों को नृत्य करते, होली खेलते दिखाया है। जब सभी लोग चले गये तब लाखी और निन्नी उस पुजारी के बारे में बात करने लगी। जब वे नृत्य कर रही थीं तो उसकी दृष्टि क्या थी। डॉ. उषा भटनागर के शब्दों में, ''नृत्य कला श्रेष्ठ आचार्यों, राजा महलों या शिक्षित वर्गों के अनुकरण की वस्तु नहीं है। इसका प्रचार इन वर्गों से भी अधिक सामान्य जनता में पाया जाता है। विवाह के अवसर पर, होली, दशहरा आदि त्योहारों पर गोंड स्त्री पुरुष अपना

लोक नृत्य खेला करते हैं और हृदय के उल्लास को अभिव्यक्ति देते हैं।''[15] वृन्दावन लाल वर्मा ने मृगनयनी से ताण्डव नृत्य करवाया और यह बताया कि शिव का यह नृत्य क्या-क्या संकेत करता है।

'मृगनयनी' के नृत्य के पूर्व की सज्जा और वेशभूषा को इस प्रकार चित्रित किया गया है। ''मृगनयनी नटराज शिव के वेश में थी और लाखी वीणा लिए हुए सरस्वती के वेश में। मृगनयनी शिव वेश में होते हुए भी अपने सब अंगों को भली भाँति ढके हुए थी। मानसिंह ने कहा, 'सभा भवन में चलो। पहले ताण्डव नृत्य होगा, फिर उनका गायन वादन।''[16] इसके पश्चात् मृगनयनी ने शिव ताण्डव स्रोत को गाया और लाखी ने वीणा पर बजाया। फिर मृगनयनी ने ताण्डव नृत्य किया। ऐसा लग रहा था कि शिव अपने ताण्डव नृत्य से शक्ति को जड़ और चेतन में स्पंदित और स्फुरित करते हैं। जीवन और आकार प्रकार में शिव की नृत्य लीला प्रकट होती है। इस प्रकार रानी मृगनयनी 'कला' द्वारा दीक्षा प्राप्त कर नृत्य कला में भी पारंगत हो जाती है। इस तरह हम देखते हैं कि वर्मा जी ने नृत्य के माध्यम से भी लोक जीवन को जोड़े रखने का प्रयास किया है।

वृन्दावन लाल वर्मा ने अपने उपन्यासों में मूर्तिकला को भी स्थान दिया है। मूर्तिकला का विस्तार से वर्णन 'कीचड़ और कमल' उपन्यास में मिलता है। वर्मा जी ने 'मृगनयनी' उपन्यास में भी मूर्तिकला को लोक जीवन से जोड़ने की कोशिश की है। देवताओं के रूप में मूर्तिकला के द्वारा वर्मा जी आध्यात्मिक दिशा देना चाहते हैं। वे मृगनयनी में भगवान शंकर की मूर्ति का स्थापना कराते हैं और उसकी व्याख्या करते हैं। मूर्ति कला हमारे लोक जीवन में अन्दर तक पहुंच चुका है। यह ध्यान वर्मा जी को हमेशा से रहा है। हमारे यहां लोक परम्परा में मिट्टी की अनेक प्रकार की मूर्तियाँ बनाकर उसे विविध रूप देकर पूजा एवं अर्चना की भी प्रथा है। भारत वर्ष में मूर्ति पूजा मनुष्य के जीवन का अहम् हिस्सा है। इसमें मूर्तियाँ बनायी जाती हैं और उनको अनेक प्रकार से नामकरण किया जाता है। तथा उनका नमूना बताया जाता है कि ये देवता या मनुष्य या पशु-पक्षी इत्यादि इस तरह के हैं।

आज भी लोक जीवन में मूर्तियों का अत्यधिक महत्व है। अनेक धार्मिक उत्सवों दशहरा, दिवाली इत्यादि अवसरों पर बुन्देलखण्ड क्षेत्र में मूर्तिकला विद्यमान है। मिट्टी के अतिरिक्त सोने, चांदी, कांस्य, लोहे इत्यादि की भी अधिकता अब देखी जा रही है। मृगनयनी में मूर्तिकला का स्पष्ट संकेत वर्मा जी ने किया है, ''गूजरी महल के उत्तरी भाग के पश्चिमी कक्ष में एक खासा बड़ा सभा-भवन बनाया गया था। ...मंच पर नटराज की सोने की मूर्ति इसकी विजयजंगम की देखरेख में बनाया गया था। ...नटराज की मूर्ति एक विकसित कमल पर खड़ी। ...मूर्ति चतुर्भुजी थी। एक दाएँ हाथ में डमरू, दूसरा बायां हाथ बरदमुद्रा में। ...एक जटा में साढ़े चार कुंडलियाँ मारे हुए नाग, छोटा-सा मुंड और गंगा का प्रतिबिम्ब और ऊपर चौथ का चन्द्रमा। शरीर के आधे भाग पर व्याघ्रचर्म।''[17] भगवान शंकर की मूर्ति लोक जीवन के अत्यन्त करीब और प्रेरणादायक है। ऐसा मान्यता है कि नटराज की पूजा अर्चना से भाग्य बदल जाता है।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि वृन्दावन लाल वर्मा ने अपने उपन्यास 'मृगनयनी' में बुन्देलखण्ड क्षेत्र की कला और लोक जीवन के समन्वय को दिखाया है। वे कला के माध्यम से लोक जीवन को भी दिखाना चाहते हैं। मृगनयनी में लोक जीवन के भीतर बसे कलाओं का समिश्रण दिखता है। बुन्देलखण्ड की भूमि पर लिखा गया यह उपन्यास लोक जीवन को देखने का अलग नजरिया प्रस्तुत करता है। यह उपन्यास कला के द्वारा जीवन की सूक्ष्म अनुभवों पर खड़ा उतरता है। इतिहास समस्त उपन्यास होने के कारण हम उस समय के समाज में ये ललित कलाएं देख सकते हैं। ये कलाएं, लोक जीवन में वर्मा जी के समय में भी मौजूद थी और समकालीन समय में भी मौजूद है। भारत की भूमि और कलाएं भावनामय एवं संवेदनशील है जो पाठक को बार-बार अपनी तरफ आकर्षित करती है। इसी कारण ये कलाएं आज भी फल-फूल रही हैं ये कलाएं वर्मा जी के 'मृगनयनी' में भी दिखाई देती है।

सहायक आचार्य
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी
ई-मेल : bkanaujiya9@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. हिन्दी साहित्य कोश, सं. धीरेन्द्र वर्मा, भाग-1, पृ. 920
2. वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों का सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ. (श्रीमती) उषा भटनागर, पृ. 17
3. मृगनयनी समीक्षा, देशराज सिंह, पृ. 29
4. उपन्यासकार वृन्दावन लाल वर्मा, डॉ. शशिभूषण सिंहल,

पृ. 126
5. साहित्य कला और रूचि, सुरेन्द्रनाथ त्रिपाठी, पृ. 33
6. मृगनयनी, वृन्दावन लाल वर्मा, पृ. 23
7. हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यास और मृगनयनी, डॉ. शान्तिस्वरूप गुप्त, पृ. 131
8. वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों का सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ. श्रीमती उषा भटनागर, पृ. 225
9. मृगनयनी, वृन्दावन लाल वर्मा, पृ. 173
10. वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों का सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ. (श्रीमती) उषा भटनागर, पृ. 256
11. मृगनयनी, वृन्दावन लाल वर्मा, पृ. 219
12. वही, पृ. 280
13. साहित्य कला और रूचि, सुरेन्द्रनाथ त्रिपाठी, पृ. 30
14. मृगनयनी, वृन्दावन लाल वर्मा, पृ. 281
15. वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों का सांस्कृतिक अध्ययन!, डॉ. (श्रीमती) उषा भटनागर, पृ. 257
16. मृगनयनी, वृन्दावन लाल वर्मा, पृ. 275
17. वही, पृ. 275

हिंदी फ़िल्मी गीतों की वैविध्यपूर्ण परम्परा

ज्योति यादव

गीत-संगीत भारतीयों की रुचि का हिस्सा रहा है। फ़िल्मी गीत-संगीत के बिना भारतीय संगीत की बात अधूरी है। शुरुआत से ही गीत फ़िल्मों का हिस्सा रहे हैं। सिनेमा के शुरुआती दौर में फ़िल्में मूक थीं। उस वक्त लाईव प्रदर्शन के माध्यम से गीतों को फ़िल्मों का हिस्सा बनाया जाता था। ऐसा कहा जाता है फ़िल्म प्रदर्शन के दौरान संगीतकार अपने वाद्ययंत्रों के साथ पेड़ के पीछे या मंच के किनारे बने गड्ढे में बैठकर कथा की परिस्थिति के अनुरूप संगीत देते थे। सन् 1931 में बोलती फ़िल्मों के शुरुआत के साथ गीतों को फ़िल्म की पटकथा के साथ जोड़कर प्रदर्शित किया जाने लगा। शुरुआत में गीत लोकगीतों पर आधारित थे। शुरुआती फ़िल्में पौराणिक थीं। इसलिए गीतों में भजन ज्यादा देखने को मिलते थे। आजादी के बाद यह परिदृश्य बदला। नये विषयों पर फ़िल्में बनने लगीं। सामाजिक समस्याओं और प्रेमकथाओं को भी फ़िल्मों की पटकथा का हिस्सा बनाया जाने लगा, जिससे गीत भी प्रभावित हुए। धीरे-धीरे गीतों का स्वरूप विकसित हुआ और भिन्न प्रकार के गीत सिनेमा का हिस्सा बनते रहे। गीत कहानी कहने का अहम् तत्व माने जाने लगे। गीत अपनी मनमोहक धुनों, कर्णप्रिय गायन और बेहतरीन प्रस्तुति के कारण आज भी लोगों के मन-मस्तिष्क पर छाए हुए हैं। हिंदी फ़िल्मों ने भावपूर्ण गीतों से लेकर थिरकाने वाले नृत्य गीतों तक विविध प्रकार के गीत दिये हैं। इस उप-अध्याय में यहां गीतों को उनकी शैली, थीम और संगीतमय विशेषता के आधार पर बांटकर अध्ययन का प्रयास किया जायेगा।

सवाक् फ़िल्मों की शुरुआत से ही ग़ज़ल हिंदी फ़िल्मी गीतों की लोकप्रिय विधाओं में से एक माना जाता है। ग़ज़ल पारसी नाटकों का अहम् हिस्सा थे। जब पारसी नाटकों का फ़िल्मी रूपांतरण होने लगा तो ग़ज़ल भी सहज ही फ़िल्मों का हिस्सा बनने लगे। बोलती फ़िल्मों के शुरुआती दौर से ही ग़ज़लों की भरमार देखने को मिली। सन् 1931 में निर्मित फ़िल्म 'लैला मजनू' में एक ग़ज़लनुमा गीत 'दिल ये कहता है दिलरुबा तू है' दर्शकों ने बेहद पसंद किया। इसके अगले ही वर्ष 1932 में पर्दे पर आई फ़िल्म 'इंद्रसभा' ने फ़िल्मों में सबसे ज्यादा गीतों का रिकॉर्ड बनाया जो आज भी कायम है साथ-साथ इस फ़िल्म में गीतों के कई प्रकार उपयोग किया गया था। ''1932 में मदन थिएटर द्वारा निर्मित और सैयद आगा हसन अमानत के नाटक पर आधारित इस फ़िल्म में कुल 69 से 72 गीत थे। 15 गीतों के अतिरिक्त इसमें 31 ग़ज़लें, 9 ठुमरियाँ, 4 होरी, 2 चौबासा और 5 छंद शामिल थे-ये सभी गायन की विशिष्ट शैलियों (जॉनर) में प्रस्तुत किए गए थे।''[1] इस फ़िल्म में 'चमन में यूं मेरी सखी ने मैखघना बना दिया' जैसी कई भावात्मक ग़ज़लें थीं। कुंदन लाल सहगल ने सन् 1933 में 'यहूदी की लड़की' में चार ग़ज़लें गाईं। उनकी गायकी ने ग़ज़लों की लोकप्रियता में चार चांद लगा दिए। 1936 में 'हृदय मंथन' फ़िल्म में 'दिल ही तो है न संग-ओ-ख़िश्त दर्द से भर न आए क्यूँ' जद्दन बाई ने विशिष्ट कोठा शैली में संगीतबद्ध किया, साथ ही अपनी सुरम्यी आवाज भी दी। जद्दन बाई हिंदी फ़िल्मों की पहली महिला संगीत निर्देशक थीं। आर. सी. बोराल और न्यू थियेटर के कई अन्य संगीतकारों ने ग़ज़ल को फ़िल्मी गीतों की लोकप्रिय विधा के रूप में स्थापित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। बीसवीं सदी के चौथे दशक में पहली बार ग़ज़ल रिकॉर्ड किया गया। सांता

आप्टे की आवाज में यह ग़ज़ल थी 'दुनिया न माने'। हिंदी फ़िल्मों के ग़ज़ल की दुनिया में उन दिनों मिर्जा गालिब, मीर तकी मीर, मोमिन, फैज अहमद फैज का विशेष स्थान था। उनके कई ग़ज़लें ग़ज़ल फ़िल्मों का हिस्सा बनी। कालांतर में साहिर लुधियानवी, मजरुह सुल्तानपुरी, शकील बदायूंनी, हसरत जयपुरी, निदा फाजली, गुलजार, जावेद अख्तर आदि गीतकारों की ग़ज़लों से आज भी हिंदी फ़िल्मी गीत गुलजार हैं।

सन् 1954 में मिर्जा गालिब की जीवनी पर फ़िल्म बनी। सोहराब मोदी के निर्देशन में बनी इस फ़िल्म में सुरैया, मोहम्मद रफी और तलत ने गालिब की कई ग़ज़लें गायी थीं। इनमें 'दिल- ए-नादान तुझे हुआ क्या है', 'फिर मुझे दीदा-ए-तर', 'नुक्ता ची है गम-ए-दिल' और 'ये ना थी हमारी किस्मत' आदि ग़ज़लें थीं। इन ग़ज़लों को गुलाम मोहम्मद ने संगीतबद्ध किया था। गालिब के अलावा मीर के ग़ज़लों ने भी हिंदी फ़िल्मों में रूमानियत बिखेरी। 1982 में प्रदर्शित फ़िल्म 'बाजार' में मीर के ग़ज़ल का इस्तेमाल किया गया। 'दिखाई दिए यूं के बेखुद किया/हमें आपसे भी जुदा कर चले' लता मंगेशकर की भावपूर्ण गायकी से इस ग़ज़ल ने अपार लोकप्रियता हासिल की। हिंदी फ़िल्मों में दिग्गज शायरों की रचनाओं को गीतों के रूप में शामिल किया गया। 1999 में प्रसारित फ़िल्म 'सरफरोश' में निदा फाजली के मशहूर ग़ज़ल 'होश वालों को खबर क्या बेखुदी क्या चीज है/ इश्क कीजे फिर समझिए जिंदगी क्या चीज है' को दर्शकों का बहुत प्यार मिला। 'ग़ज़लों के सम्राट' नाम से प्रसिद्ध जगजीत सिंह की मधुर आवाज ने इस ग़ज़ल को लोगों के दिल में ऐसा बसाया कि आज भी लोग इसे सुनते हैं। कालांतर में उन्होंने ग़ज़ल गायन में अन्य पश्चिमी वाद्य यंत्रों गिटार, पियानो को भी शामिल किया। जगजीत सिंह ने बॉलीवुड को कई अमर ग़ज़ल दिए। 'चिट्ठी न कोई संदेश', 'तुम इतना जो मुस्कुरा रहे हो', 'होठों से छू लो तुम', 'वो कागज की कश्ती' आदि उनके लोकप्रिय ग़ज़लें हैं।

हिंदी फ़िल्मों को ग़ज़लों ने बेहतरीन मुकाम दिया। ग़ज़लों में पिरोए शब्दों के गहरे अर्थों ने दर्शकों के मन पर दूर तक असर किया और उनके जज्बातों को सधे हुए अंदाज में व्यक्त करने का काम किया। इक्कीसवीं सदी में फ़िल्मों में ग़ज़ल का उपयोग कम हो गया है। कुछ ही फ़िल्मों में ग़ज़ल की मौजूदगी देखने को मिलती है। जब वी मेट (2007) में 'आओगे जब तुम साजना', 'लाइफ इन मैट्रो' फ़िल्म (2007) में 'इन दिनों दिल मेरा कुछ कह रहा है' और 'बाजीराव मस्तानी' (2015) में 'दिवानी मस्तानी' में ग़ज़ल का प्रभाव देखा जा सकता है। 'मसान' (2015) फ़िल्म में दुष्यंत कुमार के ग़ज़ल 'तू किसी रेल सी गुजरती है/ मैं किसी पुल आ थरथराता हूँ' की लोकप्रियता ने यह साबित किया कि आज भी ग़ज़लों को पसंद किया जा रहा है।

हिंदी सिनेमा में शुरुआत से ठुमरी का इस्तेमाल होता रहा है। माना जाता है कि ठुमरी की शुरुआत लखनऊ से हुई। हिंदी सिनेमा में ठुमरी की मधुरता लाने वाले शास्त्रीय गायक थे। इससे पहले ठुमरी एक वर्ग के श्रोताओं तक ही सीमित थी। सिनेमा के शुरुआती समय में जो गायक थे वे शास्त्रीय संगीत में दीक्षित होते थे। इसीलिए हिंदी सिनेमा में शास्त्रीय गायन के अलग-अलग शैली का इस्तेमाल मिलता है। ठुमरी के माध्यम से फ़िल्मों में सामयिक व सांस्कृतिक प्रसंगों, दरबार, महफिल आदि माहौल का चित्रण किया गया है। प्रेम, विरह और भक्ति को दर्शाते ठुमरी भी कई फ़िल्मों का हिस्सा बनी। पंकज मलिक ने सन् 1933 में फ़िल्म 'यहूदी की लड़की' में 'लग गई चोट करेजवा में हे राम' गाया था। सन् 1938 में पहली बार फ़िल्म 'आशा' में कमला झरिया की आवाज में ठुमरी रिकॉर्ड की गई थी। 1935 में के एल. सहगल ने फ़िल्म देवदास में एक लोकप्रिय ठुमरी 'पिया बीना ना आना' गाया था। सन् 1938 में प्रदर्शित फ़िल्म 'स्ट्रीट सिंगर' में सहगल की 'बाबुल मोरा नैहर' बेहद लोकप्रिय हुआ था। ग़ज़ल और भजन की तरह फ़िल्मों में ठुमरी का इस्तेमाल हास्य के एक अंतराल के रूप में भी किया जाता रहा है। फ़िल्म 'पड़ोसन' (1968) का शास्त्रीय गीत 'एक चतुर नार' में शेख राहत अली की बंदिशों के संग्रह में मौजूद एक प्रसिद्ध बंदिश ठुमरी की बंदिश है। इस गीत में 'निकस जात' को बदलकर 'घुसत जात' कर दिया गया है।

ठुमरी गायकों में बेगम अख़्तर को आज भी सुना जाता है। बेगम अख़्तर के जिक्र के बिना ठुमरी की बात अधूरी है। बेगम अख़्तर को मल्लिका-ए-ग़ज़ल कहा जाता है। उनके ठुमरी में ग़ज़ल गायिकी का प्रभाव दिखता है। उन्होंने ठुमरी-दादर में ग़ज़ल के शेर एवं रूबाइयों का प्रयोग किया। 'ओ री कोयल बावरी, तू क्यों मल्हार गायी है/छा रही काली घटा, जिया मोरा लहराए है', 'हमरी अटरिया', 'मोरे बालम परदेशिया', 'ननदिया काहे मारे बोल' आदि बेगम अख़्तर की गायिकी के सुंदर उदाहरण हैं। हिंदी फ़िल्मों में ठुमरी की अन्य उप-शैलियों का उदाहरण भी मिलता है। जैसे 'नवरंग' फ़िल्म (1959) में

'होरी' का गीत 'अरे जा रे हट नटखट', सन् 1963 में 'बंदिनी' फ़िल्म में 'कजरी-बिदेशिया' गीत 'अबके बरस भैया को भेजो बाबुल' और सन् 2007 में 'लागा चुनरी में दाग' में 'चौती' गीत 'ऐ ही थैयां मोतियाँ हिराए गयी रे'आदि। अब ठुमरी का प्रयोग हिंदी फ़िल्मों में कम हो गया है। सन् 2014 में आयी फ़िल्म 'डेढ़ इश्किया' में गायी गयी ठुमरी 'हमरी अटरिया पे आजा रे सांवरिया/ देखा देखी बलम होई जाए' और इसके अगले ही साल 'बाजीराव मस्तानी' (2015) फ़िल्म का गीत 'मोहे रंग दो लाल' ने फ़िल्मों में ठुमरी के राग-रंग को बरकरार रखते हुए उसे आज के दर्शकों के लिए आकर्षक बनाया गया है। आज फ़िल्मों में पारंपरिक ठुमरी को आधुनिक रूप में पेश करने का चलन भी शुरू हो गया है। उदाहरणस्वरूप 'सलाम-ए-इश्क़' फ़िल्म का 'ना रे सईयां को छोड़ के ना जा'और 'जुग जुग जियो' फ़िल्म का 'रंग सारी गुलाबी चुनरिया रे' गीत को देखा जा सकता है।

हमारे समाज में चाहे किसी भी धर्म के लोग हों, विपत्ति के समय ईश्वर को जरूर याद करते हैं। सिनेमा भी समाज का दर्पण है। सिनेमा में समय-समय पर गीतों के जरिए ईश्वर की आराधना की जाती रही है। इस प्रकार के गीत को 'भजन' कहा जाता है। पहली बोलती फ़िल्म 'आलमआरा' से ही ऐसे गीत हिंदी सिनेमा का हिस्सा बनने लगे थे। इस फ़िल्म का गीत 'दे दे खुदा के नाम पर प्यारे' जो पूर्ण रूप से भजन नहीं कहा जा सकता लेकिन इसमें ईश्वर को याद किया गया है। शुरुआती गीतों के लिहाज से यह गीत महत्वपूर्ण है। हिंदी सिनेमा के शुरुआती दौर से अब तक की फ़िल्मों में भजन का इस्तेमाल होता रहा है। इनमें कई ऐसे गीत हैं जिनकी लोकप्रियता आज भी बरकरार है। सन् 1940 में प्रसारित फ़िल्म का भजन 'वैष्णव जन तो तेने कहिये जे/ पीर परायी जाणे रे' महात्मा गाँधी जी का मनपसंद भजन था। विजय रंचन अपनी पुस्तक में इसका जिक्र करते हुए लिखते हैं, ''महात्मा गांधी का प्रिय भजन, नरसी मेहता का रचित 'वैष्णव जन तो तेने कहिए रे', जिसे 1940 की फ़िल्म 'नरसी भगत' में अमीरबाई कर्नाटकी ने गाया था, हमेशा एक शाश्वत क्लासिक के रूप में याद किया जाएगा।''[2]

यह भजन 15वीं सदी के गुजराती कवि और संत नरसी मेहता की रचना है जो वैष्णव भक्ति परंपरा को दर्शाती है। गांधीजी इस भजन से इतने प्रभावित थे कि इसे उनके आश्रमों में नियमित रूप से गाया जाता था। हिंदी फ़िल्मों में भजन एक महत्वपूर्ण और लोकप्रिय हिस्सा रहे हैं जो भारतीय संस्कृति, भक्ति भाव और आध्यात्मिकता को दर्शाते हैं। सन् 1952 में रिलीज हुई फ़िल्म 'बैजू बावरा' का कृष्ण के प्रति भक्ति भाव को व्यक्त करता भजन 'मन तड़पत हरि दर्शन को' राग मालकौंस पर आधारित था। यथा प्रसंग सन् 1965 में प्रसारित फ़िल्म 'खानदान' का गीत,

''बड़ी देर भई नंदलाल,
तेरी राह तके ब्रजबाला।
बड़ी देर भई नंदलाल,
तेरी राह तके ब्रजबाला।
संकट में है आज वो धरती,
जिस पर तूने जनम लिया ।
जिस पर तूने जनम लिया...''[3]

इस भजन को राजेंद्र कृष्ण ने लिखा और मोहम्मद रफ़ी ने गाया है। यह भजन आज भी जन्माष्टमी के अवसर पर लोगों के घरों में सुना और गाया जाता है। सन् 1979 में शशि कपूर और अमिताभ बच्चन अभिनीत फ़िल्म 'सुहाग' रिलीज हुई। इस फ़िल्म के गीतों में माँ दुर्गा पर लिखित एक भजन था। 'हे नाम रे, सबसे बड़ा तेरा नाम, ओ शेरोंवाली, ऊँचे डेरोवाली/ बिगड़े बना दे मेरे काम, नाम रे...' आशा भोंसले और मोहम्मद रफ़ी ने इस भजन को गाया और लक्ष्मीकांत प्यारेलाल ने इसमें संगीत दिया। यह भजन आज भी नवरात्र के दिनों में बजता सुनने को मिल जाता है। इस भजन की लोकप्रियता समय की सीमाओं को पार कर आज भी जीवित है। ऐसे भजन न केवल मनोरंजन करते हैं बल्कि आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों को भी बढ़ावा देते हैं। हिंदी फ़िल्मों में बीसवीं सदी में गाये गए कई भजन ऐसे हैं जिनकी लोकप्रियता आज भी बनी हुई है। मसलन 'रामचंद्र कह गए सिया से ऐसा कलयुग आएगा' (गोपी, 1970), 'इतनी शक्ति हमें देना दाता, मन का विश्वास कमजोर हो ना' (अंकुश, 1986), 'राम जी की निकली सवारी, राम जी की लीला है न्यारी सी' (सरगम, 1979) आदि। भजन 21वीं सदी में भी फ़िल्मों का हिस्सा हुए हैं। सन् 2011 में फ़िल्म 'रॉकस्टार' का गीत 'कुन फायाकुन कुन/फायाकुन फायाकुन/फायाकुन फायाकुन फायाकुन/जब कहीं पे कुछ नहीं, भी नहीं था/वही था, वही था/वही था, वही था' में सूफी भक्ति और आध्यात्मिकता का मिश्रण है। इस गीत का मुखड़ा 'कुरान शरीफ' से लिया गया है और अंतरा ऋग्वेद से। 'कुन फायाकुन कुन/फायाकुन फायाकुन' जब हम गुनगुनाते हैं तो

मन को सुकून मिलता है। इसका अर्थ है जब सृष्टि नहीं थी तब भी कुछ था और वह परमात्मा थे। सन् 2015 में 'बजरंगी भाईजान' फ़िल्म में 'भर दो झोली मेरी या मुहम्मद, लौटकर मैं ना जाऊंगा खाली' गीत कौसर मुनीर ने लिखा है। यह गीत अभिनेता सलमान खान पर फ़िल्माया गया है जिन्होंने फ़िल्म में हिन्दू का किरदार निभाया है। पर बेजुबां बच्ची मुन्नी जो कि मुस्लिम है और पाकिस्तान से है। वह सही सलामत अपने घर पहुँच जाए यह दुआ करने मस्जिद जाता है। यही हमारे हिंदुस्तान की खूबसूरती रही है जिसे भावपूर्ण बोल में पिरोकर सुंदर फ़िल्मांकन किया गया है।

कव्वाली हिंदी फ़िल्मी गीतों का एक अनूठा और लोकप्रिय प्रकार है, जो सूफी संगीत की परंपरा से प्रेरित है। ''फ़िल्मों में कव्वाली की शुरुआत 'जीनत' (1945) फ़िल्म से हुई। कव्वाली थी-आहें ना भरी शिकवा ना किए...।''[14] इस कव्वाली के बोल नौशाद द्वारा लिखित है और संगीत मीर साहब द्वारा रचा गया था। इसे नूरजहाँ, जोहरा बाई और कल्याणी के साथ पहली पूर्ण महिला कव्वाली होने का गौरव प्राप्त है। ''हिंदी फ़िल्मों में 40 के दशक से ही कव्वाली का जो रूप दिखाई देता है, वह आज भी मुख्यधारा की कव्वाली में सामान्यत: देखने को नहीं मिलता।''[15] 1940 और 1950 के दशक की फ़िल्मों में 'बरसात की रात' (1960) में 'नौनिहालों के लिए' कव्वाली महिलाओं की सक्रिय भागीदारी को दर्शाती है।

इसके अलावा जहरा (1944) और मिर्जा गालिब (1954) में कव्वाली के दृश्यों में महिलाओं की भागीदारी देखी जा सकती है। उस समय कव्वाली खानकाहों या दरगाहों में पुरुष कव्वालों द्वारा प्रस्तुत की जाती थी लेकिन हिंदी फ़िल्मों ने महिला गायिकाओं को कव्वाली प्रस्तुत करने का अवसर दिया। उस दौर में आमतौर पर हिंदी फ़िल्मी कव्वालियाँ दो समूहों के बीच मुकाबले के रूप में प्रस्तुत की जाती थीं।

हिंदी फ़िल्मों में कव्वाली की यात्रा में दूसरी कव्वाली 'आजाद' फ़िल्म में प्रस्तुत हुई। इसे रामचंद्र ने लिखा था, 'मरना भी मुहब्बत में कुछ काम न आया'। सबसे लोकप्रिय कव्वाली फ़िल्म 'बरसात की रात' में फ़िल्मांकित हुई, जिसका मुखड़ा है, 'न तो कारवां की तलाश है, न तो हमसफर की'। इसके बाद हिंदी फ़िल्मों में जो कव्वालियों का सिलसिला चला वह अब तक जारी है। सन् 1956 में पर्दे पर आयी फ़िल्म 'शिरीन फरहाद' में कव्वाली 'आंखों में तुम्हारे जलवे हैं' दरगाह के बाहर फ़िल्माया गया था। सन् 1958 में 'साधना' फ़िल्म में 'आज हमसे क्यों परदा है' वैजयंतीमाला पर फ़िल्माया गया है। इस कव्वाली में मुजरा का पुट है। वैजयंतीमाला की तारीफ में फ़िल्मायी गयी कव्वाली में संगीत के साथ जो तालियों की गड़गड़ाहट का तालमेल बैठाया गया है अद्‌भुत है। 1960 में 'बरसात की रात', 'मुगल-ए-आजम', 'बसंत', 'चौदहवीं का चांद' फ़िल्म में 'ना तो कारवां की तलाश है', 'तेरी महफिल में किस्मत आजमाकर', 'अपनी उल्फत को खुशियों की कहानी', 'शर्मा के क्यों सब परदानशीं' कव्वाली के कारण फ़िल्मों ने अपार सफलता हासिल की। फ़िल्मों में लोकप्रिय कव्वाली का जिक्र 'कव्वाली की रात' के बिना अधूरा है। इस फ़िल्म में बेहतरीन कव्वालियाँ थीं। इसमें फ़िल्म के शीर्षक गीत के अलावा 'हुस्न वाले हुस्न का अंजाम देख', 'कहने वाले तू भी कह ले जो दिल की बात है', 'ऐ जान-ए-नजर चिलमन से अगर हल्का सा इशारा हो जाए', 'तू है क्या सिर्फ नजर का है धोखा' आदि।

इक्कीसवीं सदी में देखें तो कव्वाली के संगीत की शैली का आधुनिक रूप में प्रयोग दिखता है। जिसे 'टेक्नो कव्वाली' भी कहा जाता है। सन् 1965 में प्रसारित फ़िल्म 'वक्त' की कव्वाली 'ओ मेरी जोहरा जबीं' को 2006 में प्रसारित फ़िल्म 'फिर हेरा फेरी' में आधुनिक संगीत और गायन शैली के साथ मजाकिया और मनोरंजक अंदाज में फ़िल्माया गया, जिसे संगीतकार हिमेश रेशमिया ने संगीतबद्ध किया और स्वयं गाया है। गीतकार समीर ने इसके बोल लिखे। इसके अलावा 'तुमसे मिल कर दिल का है जो हाल क्या करें' (मैं हूँ ना) 'कजरा रे' (बंटी और बबली), 'अल्लाह ही रहमान' (माई नेम इज खान', 'आया तेरे दर पर दीवाना' (वीर जारा), 'जिया धड़क धड़क जावे' आदि कव्वाली की शैली में रचित गीत हैं। इक्कीसवीं सदी के हिंदी फ़िल्मी गीतों में कव्वाली के बेहतरीन उदाहरण को देखें तो 'कुन फाया कुन' (रॉकस्टार) और 'भर दो झोली मेरी' (बजरंगी भाईजान) आदि हैं।

हिंदी फ़िल्मी गीतों में आइटम सॉन्ग एक विशेष प्रकार का गीत है जो मुख्य रूप से अपनी ग्लैमरस प्रस्तुति, नृत्य और आकर्षक धुनों के लिए जाना जाता है। आईटम सॉन्ग का फ़िल्म की पटकथा से सीधा जुड़ाव नहीं होता, ये दर्शकों को आकर्षित करने और मनोरंजन करने के लिए शामिल किये जाते हैं। ''फ़िल्म में आइटम गीत वह गीत होता है जो कहानी का अंग नहीं होता। यह अपने आप में एक स्वतंत्र प्रस्तुति होती है, जो न तो स्थान और परिवेश का रंग दिखाती है, न

अभिनेता की भावना या फ़िल्म की घटनाओं का विवरण देती है, और न ही सूत्रधार या कोरस की भूमिका निभाती है। आइटम गीत प्राय: नृत्य-प्रधान होते हैं, जिनमें अश्लील और कामुक होती है, और इन्हें आम तौर पर किसी ऐसे पात्र पर फ़िल्माया जाता है जिसका फ़िल्म की मुख्य कथा से कोई सीधा संबंध नहीं होता।''[6] आइटम सॉन्ग मुख्य रूप से अभिनेत्री या डांसर पर फ़िल्माया जाता है। उन्हें 'आइटम गर्ल' भी कहा जाता है। हिंदी सिनेमा की पहली आइटम गर्ल कुक्कू मोरे कही जा सकती हैं। वह पश्चिमी गानों पर पश्चिमी परिधानों में नाचती थी। उन्होंने 1946 में नानू भाई वकील निर्देशित 'अरब का सितारा' फ़िल्म से अपने फ़िल्मी सफर की शुरुआत की जिसमें उन्होंने नृत्य किया था। इस फ़िल्म में बेहतरीन प्रदर्शन के कारण कुक्कू बहुत चर्चित रही और उनको बड़े-बड़े फ़िल्मों में नृत्य करने का मौका मिला। 'आवारा' (1951) फ़िल्म में कुक्कू ने 'एक दो तीन आजा मौसम है रंगीन/रात को छुप-छुप कर मिलना दुनिया समझे पाप रे/ एक दो तीन आजा मौसम है रंगीन' पर नृत्य किया था। इसके अलावा 'बरसात', 'चलती का नाम गाड़ी', 'अनोखी अदा', 'आन', 'अंदाज', 'आरजू' आदि फ़िल्मों में कुक्कू ने काम किया। कुक्कू के बाद हेलन को बेहतरीन नृत्यांगना के रूप में याद किया जाता है। शुरुआती आइटम गर्ल्स एंग्लो-इंडियन समुदाय से थीं, हेलेन एक बर्मी ईसाई थीं। उस समय फ़िल्म की नायिका का पश्चिमी परिधान पहनना अनुचित माना जाता था। फ़िल्म की नायिका भारतीय परिधान में मर्यादा में रहने वाली, पति को पूजने वाली गृहस्थिन हुआ करती थी। सुधीश पचौरी के शब्दों में, ''ध्यान से देखें तो 50-60 के दशक में पश्चिमीकृत स्त्री की छवि एक खलनायिका की छवि मानी जाती थी। उसे हम सिनेमा में देख सकते हैं। जिसमें बार में कैबरे करने वाली हेलन, 'वैंप' ही होती थी।''[7] इस दौर में आइटम गीत और नृत्य किसी गैर-भारतीय द्वारा प्रस्तुत किया जाता था तो इसे अनुचित नहीं माना जाता था। पश्चिमी परिधान में नाचती-गाती स्त्री को हीरोइन के रूप में नहीं लिया जाता था बल्कि खलनायिका के रूप में प्रस्तुत किया जाता था। ऐसे गीतों का फ़िल्मांकन कोठा, बार, डिस्को या किसी महफिल में किया जाता था। पश्चिमी पॉप नृत्य के लिए जानी जाने वाली हेलेन ने भी 1961 में फ़िल्म 'गंगा जमुना' में 'तोरा मन बड़ा पापी' जैसे कई कोठा गीत गाए हैं।

व्यावसायीकरण और ग्लोबलाइजेशन का प्रभाव के कारण बीसवीं सदी के अंतिम दशक में हिंदी सिनेमा में कई बदलाव देखने को मिले। इनमें से एक प्रमुख बदलाव था फ़िल्मों में नायिका या अन्य महिला पात्रों द्वारा किये जाने वाले विशेष नृत्य प्रदर्शन। जिन्हें बाद में 'आइटम सश्वन्ग' या 'आइटम नंबर' के रूप में जाना गया। सन् 1994 में प्रसारित फ़िल्म 'खुद्दार' में 'सेक्सी सेक्सी मुझे लोग बोलें' फ़िल्म की हीरोइन करिश्मा कपूर पर फ़िल्माया गया था जो नायिका की पारंपरिक छवि से इतर एक कामुक छवि पेश करता है। सेंसर बोर्ड के आग्रह पर इस गाने के बोल बदलकर 'बेबी बेबी मुझे लोग बोलें' कर दिया गया था। इस दौर ऐसे कई गीत फ़िल्मों के फ़िल्माए गए। मसलन 'छम्मा छम्मा', 'एक दो तीन', 'आई हूँ यूपी बिहार लूटने', 'चोली के पीछे क्या है'आदि। आज 'आईटम सांग' फ़िल्म का अनिवार्य हिस्सा माने जाते हैं। फ़िल्मों में मार्केटिंग टूल के रूप में इसका इस्तेमाल किया जाने लगा है। इस तरह के गीतों के तत्वों पर बात करते हुए विजय रंचन लिखते हैं, ''आइटम गीत के तत्व इस प्रकार हैं-

(क) चुहलभरे और संकेतपूर्ण शब्द

(ख) छोटे और तेज बीट

(ग) कूल्हों और श्रोणि की संकेतपूर्ण हरकतें

(घ) आइटम गीत प्रस्तुत करने वाली कलाकार के चारों ओर एक बड़ी, शोरगुल भरी भीड़ इसके विपरीत कोठे के गीत में कुछ गिने-चुने, सुसंस्कृत दिखने वाले लोगों की उपस्थिति होती'' आईटम सॉन्ग अक्सर तेज संगीत, आकर्षक नृत्य और कामुक प्रस्तुति के लिए जाने जाते हैं। ऐसे गीतों में स्त्री को अक्सर शारीरिक सौंदर्य और कामुकता के प्रतीक के रूप में दिखाया जाता है। मसलन 'देखता है तू क्या', 'फेविकोल से', 'चिकनी चमेली', 'जलेबी बाई', 'बेबी डोल'आदि गीत पारंपरिक लैंगिक भूमिकाओं को मजबूत करते हैं और स्त्री को मनोरंजन के साधन के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इससे समाज में यह धारणा बनती है कि स्त्री की कीमत उसकी शारीरिक बनावट और कामुकता में है, न कि उसके बौद्धिकता और प्रतिभा से। यहाँ स्त्री का ओब्जेक्टिफिकेशन किया गया है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि हिंदी फ़िल्मी गीतों की वैविध्यपूर्ण परम्परा हिंदी सिनेमा के सांस्कृतिक, सामाजिक और तकनीकी बदलावों और विकास का एक जीवंत दस्तावेज है। गीतों ने सामाजिक मुद्दों, प्रेम, देशभक्ति और आध्यात्मिकता जैसे विषयों को व्यक्त करके समाज की नब्ज को थामा, न केवल मनोरंजन प्रदान किया बल्कि समाज की भावनाओं,

मूल्यों और आकांक्षाओं को भी प्रतिबिंबित किया है। गीत विभिन्न संगीतमय शैलियों, तकनीकी नवाचारों और सांस्कृतिक मिश्रण के साथ विकसित हुए हैं जो भारतीय समाज की विविधता और गतिशीलता को दर्शाते हैं। इस विकास ने हिंदी सिनेमा को एक अनूठी संगीतमय पहचान दी जो विश्व स्तर पर लोकप्रिय है। साथ ही हिंदी फ़िल्मी गीतों ने लोकगीत, कव्वाली, ग़ज़ल, ठुमरी और आधुनिक शैलियों जैसे आइटम सॉन्ग और पॉप तक की विविधता को समेटा है। यह विविधता भारतीय समाज की बहुआयामी संस्कृति और गतिशीलता को दर्शाती है। साथ ही तकनीकी प्रगति और वैश्वीकरण ने इन गीतों को विश्व स्तर पर लोकप्रिय बनाया, जिससे हिंदी सिनेमा को एक अनूठी संगीतमय पहचान मिली। इस प्रकार कहा जा सकता है कि हिंदी फ़िल्मी गीतों की यह यात्रा न केवल संगीतमय और तकनीकी विकास की कहानी है बल्कि भारतीय समाज की बदलती सोच, चुनौतियों और आकांक्षाओं की मौलिक अभिव्यक्ति है।

शोधार्थी
हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. 1932 made by Madan Theatre and based on the play by Sayed Aga Hasan Amanat had between 69 to 72 songs. In addition to 15 songs, it had 31 Ghazals, nine Thumris, four Horis, two Chaubasas, five Chhands & all with a specific style of singing (genre)
   रंचन, विजय, स्टोरी ऑफ बॉलीवुड सोंग्स, अभिनव पब्लिकेशन, न्यू दिल्ली, फर्स्ट पब्लिकेशन-2013, पृ. 37
2. Mahatama Gandhi's favourite Bhajan of Narsi Mehta 'Vaishnav jan to tene kahiye re' sung by Amirbai Karnataki in Narsi Bhagat (1940) would always remain a classic.
   रंचन, विजय, स्टोरी ऑफ बॉलीवुड सोंग्स, अभिनव पब्लिकेशन, न्यू दिल्ली, फर्स्ट पब्लिकेशन-2013, पृ. 108
3. https://youtu-be/dheA6Pqjtm4\ si¾p_H_cvp6UnD4oLl9
4. दिलचस्प. हिंदी फ़िल्मों का संक्षिप्त इतिहास, भारतीय पुस्तक परिषद, नई दिल्ली, संस्करण-2003, पृ.70-72
5. Qawwalis in Hindi films right from the 40s, a feature that is not yet seen commonly even in mainstream Qawwali.
   https://share-google/jYtei99sdLX64Hp4w
6. The Item Song in a film is a song that is not a part of the narrative. The song stands alone, does not describe the local T colour, emotion of the actor, happenings in the film and does not perform the function of a Sutradhar or chorus. Item songs are usually dance numbers with a saucy raunchiness and performed by an outside character that is not even accidental to the narrative.
   रंचन, विजय, स्टोरी ऑफ बॉलीवुड सोंग्स, अभिनव पब्लिकेशन, न्यू दिल्ली, फर्स्ट पब्लिकेशन-2013, पृ. 112
7. पचौरी, सुधीश. उत्तर आधुनिक मीडिया विमर्श, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2006, पृष्ठ-295
8. The elements of item songs are (a) raunchy suggestive words (b) short beat (c) suggestive movements of hip and pelvis (d) item song performer surrounded by a large, raucous crowd as against a few sophisticated looking persons patronizing a kotha song.
   रंचन, विजय, स्टोरी ऑफ बॉलीवुड सोंग्स, अभिनव पब्लिकेशन, न्यू दिल्ली, फर्स्ट पब्लिकेशन-2013, पृ. 114

डॉ. सुनीता दुरंगल

'जमीन पक रही है' (केदारनाथ सिंह) और अनुभूतियों का विस्तार

अपने समय को शब्दों में गढ़ते केदारनाथ सिंह आधुनिक हिंदी कविता में अपनी एक अलग ही भूमिका निभाते नजर आते हैं, जहाँ उन्हें हर छोटे से छोटे पल ने अपनी ओर खींच लिया है वे रच देते हैं कुछेक ऐसे बिंब, प्रतीक, मिथक जिन्हें कई नये रूप दिये उन्होंने। साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित केदारनाथ सिंह, की 'जमीन पक रही है' कविता संग्रह 1980 में प्रकाशित हुआ जो एक अलग सा अपनापन लिए हुए है। जिसकी भाव-भूमि में सिमेटे हैं न जानें कितनी दिशाएँ और दिशाओं का पता पूछते वे खुद। जीवन के विलक्षण अनुभवों को केदार जी ने 'जमीन पक रही है' कविता संग्रह में संजोया है।

आलोच्य कविता संग्रह में नजर आती है अजीब सी घूप, पक्षियों के झुण्ड, चमकता हुआ पानी, कोरे कागज, पेड़ों की चुप्पियाँ, तो तेज होती बौछारें बहती जमीन की महक, पकते हुए दाने, आटे की गंध, चलती हुई चक्की, चुपचाप बहती गाँव की नदी, कीचड़, सिवार, जलकुम्भियाँ, नदी में नहाने जाती भैंसे मछलियाँ, प्रतीक्षा प्रेमिका और अखबार की, सूर्योदय, चिड़िया शहर की इमारतें, साबुन के डिब्बे, तौलिए, धीमी गनगुनाहरें, खनिज गंध, घूमती हुई पृथ्वी, टमाटर बेचने वाली बुढ़िया, बहुत सी नदियाँ, अजीब सी अफवाहें, बतखों के डैनो की छप्-छप्, हल्की सी धूप, साखू के पेड़, आग की गंध, गोल गोल सुर्ख और पकी रोटी, गिलहरी, बाघिन के बच्चे, सादा पन्ना, ठण्डी खुशबू, तम्बाकू के खेत, अनजाने द्वीप, आंगन में बिखरे परिजात के फूल, पंछियों के झुंड, चरागाहे भूसे की गंध। 'जमीन पक रही है' कविता संग्रह में हाकर, 'सूर्य', 'जमीन', 'आवाज', 'बिना नाम की नदी', रोटी, 'जब वर्षा शुरू होती है', 'बहस', 'दो लोग', 'बाजार से लौटकर', 'बैल', 'दिशा', 'बढ़ई और चड़िया', 'लड़के', 'फर्क नहीं पड़ता', 'दोपहर', 'आधी रात', 'ढाल से उतरते हुए', 'जाड़ों के शुरू में आलू', 'सूर्यास्त', 'मुक्ति', 'वस्तुएँ', 'बारिश', 'जाना', 'गरमी में सूखते हुए कपड़े', 'धूप में घोड़े पर बहस', 'माँझी का पुल', 'सादा पन्ना' इत्यादि कविताएं अपने अलग ही अंदाज में केदार जी ने गढ़ी है।

जिंदगी के हर एहसास को वे अपनी कविताओं में रच रहे थे चाहे सुबह सवेरे उठकर दरवाजा खोलना हो या अखबार का इंतजार, वे करते हैं और महसूसते हैं कि प्रतीक्षा चाहे अखबार की हो या प्रेमिका की शायद दोनों में कोई फर्क नहीं है। प्रतीक्षा के विरुद्ध वे प्रतीक्षा शब्द को ही गलत और बेमानी मान लेते हैं क्योंकि आज महसूसने की तथाकथित परंपरागत सोच व प्रणालियों में तब्दीलियाँ आ गई हैं और तो और चिड़ियों ने अपने घोसलें तक बदल डाले है 'प्रतीक्षा के विरुद्ध कुछ पंक्तियां' कविता में कुछ ऐसे ही अंदाज में वे रचते हैं-

''जैसे चिड़ियाँ
तुम्हारे कोट की जेबों से नहीं
बल्कि चिड़ियाँ निकलती है
शहर की सबसे मनहूस इमारतों से।'' पृ.-19

इतना ही नहीं परिवर्तित होने के क्रम में बहुत कुछ बदल गया है मंजन का स्वाद, बधु, बृहस्पति साबुन का डिब्बा, तोलिये। कहीं बेनाम नदी को वे नाम दे देना चाहते हैं तो कहीं सूरज निकलने के बाद उस नदी में नहाने आती है भैंसे। वे

बाध्य करते हैं नदी को नाम कौन देता है यह विचारणीय हो- वे कहते हैं 'वह इसी तरह बह रही है पिछले कई सौ सालों से/ एक नाम की तलाश में/ मेरे गाँव की नदी' (पृ.-15)

यह वह नदी है जो हरेक की कहानी जानती है कई सौ बरसों से। वे सीधे खेतों की ओर चल देना चाहते हैं जहाँ शब्द पक रहे हैं जिन्हें वे दोनों के भीतर होने की संभावना से बांध देते हैं वे घुस जाना चाहते हैं दाने के भीतर, पिसने से पहले आटे के शुरू में और फिर आती है चक्की के साथ दानों के पिसने और गाने की आवाज- जो है माँ की आवाज वो माँ जो चक्की के अंदर थी वे सुनते हैं 'पत्थरों' की रगड़ और आटे की गंध से/ धीरे-धीरे छन रही थी/ माँ की आवाज.../सिर्फ चक्की चलती रही। और माँ की आवाज आती रही रात-भर (पृ.-14 'आवाज')

सुबह का पतझर जहाँ झर-झर-झर के स्वर करती झरती है पत्तियाँ, जो बिखरी हैं आंगन में, देहरी पर और फिर नजर आती है उनकी, बारिश की ओर-और तेज होती जा रही बौछारों की ओर, और फिर जूते बारिश में भीग कर/ एक अजब ढंग से खूबसूरत लग रहे थे। जिंदगी की बेनकाब सच्चाईयाँ अपनी पूरी ईमानदारी के साथ बयाँ करते हैं केदार जी 'जमीन पक रही है' कविता संग्रह में - 'जूते जैसी रोजमर्रा की जिंदगी में इस्तेमाल होने वाली वस्तु भी बरबस ध्यान अपनी ओर खींच लेती है।

कहीं वे जाते हैं आमंत्रित करते हुए उस आग तक उस चूल्हे तक- जहाँ पक रही है ताप और गरिमा के साथ दुनिया की सबसे आश्चर्यजनक चीज 'रोटी' और वे कहते हैं—

'मैंने जब भी उसे तोड़ा है
मुझे हर बार वह पहले से ज्यादा स्वादिष्ट लगी है
पहले से ज्यादा गोल और खूबसूरत
पहले से ज्यादा सुर्ख और पकी हुई।' (पृ.-25)

रोटी का सौन्दर्य उसी गोलाई या पकने से भी ज्यादा अनुभव के सुखद पलों और स्वाद को परिभाषित कर रहा है। यहाँ आलूओं को चीरती स्त्री को देख कविता और ज्यादा ठोस हो जाती है कहीं, जो अब तक कविता का केन्द्र थी वहीं कविता के बाहर खड़ी नजर आती है और कविता को ध्वस्त कर रही है। 'हिमालय किस दिशा में है' इसका अंदाज वे पतंग उड़ाते बच्चों के जवाब में कुछ इस तरह गढ़ते हैं-

हिमालय किधर है
मैंने उस बच्चे से पूछा जो स्कूल के बाहर
पतंग उड़ा रहा था...
उधर-उधर-उसने कहा-जिधर उनकी पतंग
भागी जा रही थी...(पृ.-42)

रचने का अलग ही अंदाज केदार जी के इस कविता संग्रह में नजर आता है। इतना ही नहीं जमीन का पकना उन्हें रूप, रस, गंध, स्पर्श हरेक बिंब से जोड़ देता है जब वे कहते हैं-

जमीन अपने कपड़े उतार रही थी
हवा में एक अजीब सी ठंड थी
जिसमें जमीन का कत्थईपन मिला हुआ था
जमीन पक रही है-उसने कहा (पृ.-10)

'टमाटर बेचने वाली बुढ़िया' कविता में न सिर्फ टमाटर महत्त्व के है अपितु वह टमाटर बेचने वाली बुढ़िया उन्हें गोर्की के 'माँ' उपन्यास के नजदीक ले जाती है वह बुढ़िया जिन टमाटरों को बेच रही है। उनमें बहुत सी नदियाँ हैं और हैं अनेक शहर। जिनके विषय में और कोई नहीं जानता पर वो बुढ़िया जानती है। विलुप्त होती नदियों-शहरों की कहानी रचते टमाटरों और बुढ़िया के जरिए केदार जी भविष्य की चिंता से अगाहा करवाना चाहते हैं। बाजारवादी संस्कृति के दंश झेलते आलूओं की वास्तविकता को भी वे रचते हैं उतनी ही सच्चाई के साथ, जो आज के उत्तर आधुनिकता वादी दौर की बेबाक सच्चाईयाँ है 'जाड़ों के शुरू से आलू' कविता में वे कहते हैं-

'वह जमीन से निकलता है और सीधे
बाजार में चला जाता है...
वह बाजार में ले जाता है आग
और बाजार जब सुलगने लगता है
वह बोरों के अंदर उछलना शुरू करता है।' (पृ.-40)

सूर्य का सौन्दर्य वे कुछ इस रूप में बयां करते हैं जिसे देखने की फुर्सत आज की भागम-भाग की जिंदगी में नहीं है। वह कोई मामूली सूरज नहीं है, वह रोटी सा हो जाता है 'सुर्ख लाल, पका हुआ'-

डूबते हुए सूरज की तंदूरी रोटी सा बेखबर
सिर्फ हवा की नमी और घास का गट्ठर... (पृ.-39)

आलू, रोटी, आटा, टमाटर, जूते, पतंग, साबुन, मंजन, अखबार, बाजार, चाकू, बोरे, पके भुट्टे, कटती सब्जी की गंध, बालू के कण, क्या नहीं है केदार जी के 'जमीन पक रही है' कविता संग्रह में। इन सभी से एक नाता ताउम्र रहा केदार जी

का और वे 'नहीं भूले-घाघरा नदी पर बने पुराने 'माँझी के पुल' को वे सब वे कैद कर लेते हैं कविता में- उनके विलक्षण सौन्दर्य के साथ और साँझा करते हैं-

'सारसों के झुण्ड की तरह डैने पसार हुए
धीरे-धीरे उड़ता है माँझी का पुल
वह कब बना था
कोई नहीं जानता
किसने बनाया था माँझी का पुल
यह सवाल मेरी बरती के लोगों को
अब भी परेशान करता है' (पृ.-94)

सिर्फ इतना ही नहीं जमीन पक रही है, कविता संग्रह में न जाने कितने ही बिंब अपने होने के एहसास को नये बिंदुओं से जोड़ रहे हैं रूप, रस, गंध, स्पर्श, स्वाद सभी किसी न किसी रूप में यहाँ नजर आते हैं। जहाँ यदि हवा में एक अजब सी गंध जो सुबह सवेरे-सवेरे खिल कर झरते परिजात के फूलों से बिखर रही है वही सुर्ख नारंगी और सफेद रंग के फूलों में जिस सौन्दर्य को केदार जी रचते हैं वह न सिर्फ गंध के आवरण में बिखर रहा है अपितु बरबस अपने संपूर्ण, सौन्दर्य के साथ गढ़े गए।

बिंब को गहरी अनुभूतियों में बाँध रहा है। परिजात के फूलों के रूप-गंध रस अचानक उन्हें बटोर लेने के लिए निमंत्रण सा देते महसूस होते हैं ठीक ऐसा ही चूल्हे पर पकती रोटियों की गंध अनायास रोक लेती है। यहाँ परिजात के फूलों का सौन्दर्य हो या रोटियों की गंध बिंबों के हर पक्ष को केदार जी का कवि महसूसता ही नहीं अपितु महसूस भी करवाता है और तो और यदि रोटियों के स्वाद की बात की जाए तो वह जब-जब तोड़ी गई है पहले से ज्यादा स्वादिष्ट लगने लगती है। यहाँ स्वाद तक ही कवि नहीं सिमटा बल्कि रोटी अपनी गोलाई और खूबसूरती में भी गजब सा ढहा रही है पहले से ज्यादा सुर्ख और पकी हुई। जिससे स्वाद खुद-बा-खुद बढ़ रहा है।

जिस ओर रोजमर्रा की जिंदगी में ध्यान नहीं जाता है उसकी सारी की सारी मौजूदगी केदार जी कविता में दर्ज कर रहे हैं। फिर चाहे वो रूप से जुड़ा कोई बिंब हो या स्पर्श से जुड़ा। केदार जी का कवि बाँध ही लेता है जमीन की महक को, आटे की गंध को, रोटियों के सुर्ख रंग को, पकते हुए दानों को और जमीन की महक को भी 'जमीन पक रही है' कविता संग्रह में ध्वनियों ने भी अपनी एक अलग पहचान बनाई है चाहे चहकती चिड़ियाँ हों, बतखों के डैनों से आती छप्-छप् की आवाजें हो, रात भर बरसती बारिश की बूंदों का शोर हो किसी की धीमी गुनगुनाहट हो, बीज कुदरती नन्हीं गिलहरी की कुतरन हो वे रच रहे हैं ध्वनियों का नया संसार इतना ही नहीं, वे सुन लेते हैं पेड़ों को, चिड़ियों को, चिड़ियाँ की चहचहाटों को अपनेपन से वो कैद कर लेते हैं। वे महसूस लेते हैं, पेड़ों में छिपी गिलहरी की नन्हीं-नन्ही हरकतों को, दूर बजते ढोल उन्हें कुछ कहते हैं, ताजा और ठंडा दिन उन्हें स्पर्श कर गुजर जाता है। और उसमें बिल्कुल नया-सा एहसास बुन देते हैं।

सिर्फ इतना ही नहीं बिंबों के संसार में कुछेक ऐसे प्रतीक भी गढ़ रहे हैं जो जमी से जुड़े हुए से है। सूरज उन्हें तंदूरी रोटी सा लगने लगता है वह सूर्य जो अब तक तपन, ऊर्जा का प्रतीक रहा वही अब तंदूरी रोटी सा हो गया। वही आग जो गरमाहटों भरी है अब पकती हुई सी वे महसूसते हैं। आग का पकना एक नये प्रतीक को रच रहा है। जो सेंकती है, पकती हैं, तपन देती है अब खुदबाखुद पकने लगी है। नमक और पानी भी कुछ इसी तरह के प्रतीक हैं जो जीवन का अनिवार्य हिस्सा है। अब 'प्यार' का प्रतीक बन गए हैं इसी तरह की है 'सड़क' भी जो 'प्यार' को परिभाषित कर रही है। रोजमर्रा की जिंदगी में इस्तेमाल होने वाली कई चीजें केदार जी के 'जमीन पक रही है' कविता संग्रह में नजर आती है और आ जुड़ती हैं नये बिंबों- नये प्रतीकों के साथ- जहाँ माचिस की डिबिया, तौलिए, साबुन का डिब्बा, चाक, जूते, मोजें, गिलास, पेन पेंसिल, चम्मच, चूल्हा, सूई, घड़ी, कागज, मेज, कुर्सियाँ, दरवाजे, बाल्टी, खिड़कियाँ, पंखे, गमले, दीवारें, माचिस की तीलियाँ, धागा, पर्दे, चादर, बोतलें, शीशा और भी न जाने कितना कुछ 'जमीन पक रही है' - में हर बारीकी के साथ सिमटा हुआ नजर आता है। केदार जी का कवि जैसा महसूस कर रहा है वही रच भी रहा है अनुभूति की सत्यता और भोगे हुए यथार्थ में बंधा-

जमीन सिर्फ जमीन की तरह लग रही थी
सिर्फ जमीन थी
और जमीन का पकना था जैसे
बस्ती में गोश्त पक रहा हो (पृष्ठ 12)

कहीं कोई बनावटीपन नहीं नजर आता यहाँ, जो गढ़ा जा रहा है वही महसूस भी किया गया है। चाहे वह रोटी में प्रवेश करता नमक की तरह सूर्य हो या घने कोहरे में चाय के लिए

दूध खरीदने नुक्कड़ की दुकान तक जाना हो केदार जी बेहद खूबसूरती से रच देते हैं अनुभवों को उनकी सच्चाईयों के साथ।

जिस ओर हम देखने से बचना भी चाहते हैं उसी ओर केदार जी का कवि खींच ले जाता है, वह अनुभव एक अलग सा एहसास भर देते हैं मन में। पतीली में गरम होता दूध, रात की रोटी जो बची रह गई है, कोरे कागज पर जो कुछ भी लिखा जा रहा है वह 'कुछ' आग की महक, जिसमें रोटियाँ पक रही हैं, अखबार जिसका सुबह सवेरे इंतजार रहता है, साबुन का डिब्बा जो अपने अजब से से जादू से खींच रहा है, धूप में खड़ी साइकिल, माचिक को तीली-गूंथा जाने वाला आटा सभी व्याख्या पा रहे हैं- 'जमीन पक रही है' कविता संग्रह में।

केदार जी ने 'जमीन पक रही है' कविता संग्रह में प्रकृति प्रेम, सौन्दर्य को ही न जाने कितने बिंब प्रतीक शब्दों को उकेरा है अपितु वे उन्हें रोजमर्रा के जीवन की बेनकाब सच्चाईयों से भी जोड़ रहे हैं, यहाँ यदि हर क्षण, महत्व का है, वहीं हरेक वस्तु व हरेक एहसास भी गहराईयों से बंधे नजर आते हैं।

एसोसिएट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
दौलत राम कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. 'जमीन पक रही है', केदारनाथ सिंह, प्रकाशन संस्थान, प्रथम संस्करण - 2012
2. 'अकाल में सारस', केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, दूसरा संस्करण - 1990
3. यहाँ से देखो, केदारनाथ सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1999
4. 'अभी बिल्कुल अभी', केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, 1960
5. 'उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ', केदारनाथ सिंह, दूसरा संस्करण- 1999
6. 'आँसू का वजन', केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन
7. ताल्सताप और सायकिल श्केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, 2005
8. 'मेरे साक्षात्कार', केदारनाथ सिंह, किताब घर प्रकाशन, संस्करण - 2004
9. मेरे समय के शब्द, केदारनाथ सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2004
10. 'कवि ने कहा', केदारनाथ सिंह, किताब घर प्रकाशन, 2014
11. आधुनिक कविता में बिंब - विधान, केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, 1980
12. 'कविता के नए प्रतिमान'- नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, संस्करण - 1990

'दिव्या' में सामाजिक व राजनीतिक संघर्ष

डॉ. कुसुम नेहरा

प्रस्तावना

दिव्या यशपाल कृत एक बौद्ध कालीन उपन्यास है। जिसमें सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष की छवि हमें दिखलाई पड़ती है। दिव्या एक नर्तकी है और वह राजनर्तकी बनने की इच्छा रखती है। परंतु ब्राह्मण कन्या होने के कारण उसको राजनर्तकी बनने का अधिकार प्राप्त नहीं है। उस समय भी जाति प्रथा का प्रभाव था। कोई छोटी जाति वाला मनुष्य राजा नहीं बन सकता था। उस समय बौद्ध धर्म का बोलबाला था। परंतु ब्राह्मण धर्म के समर्थक ब्राह्मण धर्म के खिलाफ ही लड़ रहे थे। पृथु सेन एक दासी पुत्र था। परंतु उसको राजा के रूप में ब्राह्मण वर्ग स्वीकार नहीं करना चाहता था।

साहित्य अवलोकन

साहित्य की दृष्टि से देखा जाए तो यह उपन्यास एक ऊंच-नीच की दीवार को तोड़कर आगे बढ़ने वाला उपन्यास है। दिव्या एक ब्राह्मण कन्या थी। उसे अपनी मर्जी से अपना व्यवसाय चुनने की आजादी नहीं थी। इसलिए उसे राजनर्तकी के पद से वंचित रखा गया। उस समय भी महिलाओं को घर की चारदीवारी में रखना उचित समझा जाता था। कहा जाता है कि साहित्य समाज का दर्पण है। इसलिए उस समय की सभी गतिविधियों को ध्यान में रखकर इस उपन्यास की रचना की गई। यशपाल एक उच्च श्रेणी के उपन्यासकार हैं।

उद्देश्य

कोई भी साहित्यिक रचना बिना उद्देश्य के लिखना असंभव माना जाता है। इसलिए जब रचनाकार अपनी रचना का निर्माण करता है तो वह उसके उद्देश्य पर भी अपनी दृष्टि रखता है। इस रचना का उद्देश्य है कि नारी को स्वतंत्रता मिलनी चाहिए और जाति पाति का भेदभाव नहीं होना चाहिए। मनुष्य कर्म से छोटा और बड़ा होता है ना की जाति से। बौद्ध कालीन धर्म हो या कोई दूसरा धर्म हो नारी की स्वतंत्रता पर हमेशा ही सवाल खड़े किए जाते रहे हैं और रहेंगे भी। हमारा देश तो पहले से ही पुरुष प्रधान देश है। परंतु यह भी कहा जाता है कि जहां नारी का सम्मान होता है वहां देवता निवास करते हैं।

परिकल्पना

यशपाल एक सफल उपन्यासकार हैं। किसी भी उपन्यास लिखने से पहले वह अपनी प्रखर बुद्धि से सोच लेता है कि इसके परिणाम क्या होंगे और समाज पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा। समाज में जाति पाति और ऊंच-नीच के भेदभाव को मिटाने के लिए उन्होंने जो कदम उठाए हैं क्या वे सही हैं। समाज को संदेश देने के लिए क्या उसके विचार सही हैं। स्त्री पुरुष के भेदभाव को मिटाने का यशपाल जी ने प्रयास किया है। उनका यह प्रयास इस उपन्यास पर ही आधारित है।

विषयवस्तु

इस उपन्यास की विषयवस्तु मगध प्रांत से ली गई है। उस समय वहां पर बौद्ध धर्म का प्रचार और प्रसार प्रचुर मात्रा में था। राजा एक-दूसरे के राज्य पर हमला कर रहे थे। पहले समझा जाता था कि जितना बड़ा राज्य होगा उतना बड़ा ही राजा प्रतापी माना जाएगा। पहले तो राजा जिस राज्य को जीतते थे वहां की स्त्रियों को भी अपनी रानी बना कर रखते थे। हमेशा

ही समाज में संघर्ष चलता रहता था। राजा और सेनापति मिलकर अपनी रणनीति के बल पर दूसरे राज्य को जीतकर अपना झंडा लहराया करते थे। उस समय समाज में दास प्रथा का बोलबाला था। एक दासी पुत्र राजा भी बना। परंतु फिर भी वह राज्य में दासप्रथा बनाए रखना चाहता था। यहीं से समाज का पतन होना शुरू हो जाता है और रूद्र धीर जो एक उच्च कुल का पुरुष था। इसी का लाभ उठाकर वह सत्ता परिवर्तन करना चाहता है। यदि राज्य की नीतियों में कमी होगी तो दूसरे लोग उसका फायदा उठा कर सत्ता परिवर्तन कर सकते हैं। दिव्या इस उपन्यास की नायिका है। उच्च कुल की होने के कारण उसको राजनर्तकी का पद नहीं दिया जाता। क्या एक नारी को इतना भी अधिकार नहीं कि वह अपनी मर्जी से अपना व्यवसाय चुन सके। इस प्रकार इस उपन्यास में सामाजिक राजनीतिक संघर्ष बराबर चलते रहते हैं।

यशपाल स्वाधीनता संग्राम में क्रांतिकारी की भूमिका निभाने वाले अग्रणी योद्धा थे। यह एक ऐसा राजनीतिक संग्राम था, जो अंग्रेज सरकार को हराकर भारत को एक स्वतंत्र राष्ट्र का दर्जा दिलवाना चाहता था। परंतु यशपाल जी इससे भी आगे बढ़कर मेहनतकशों की राज्य सत्ता और उसके माध्यम से एक नए समाज की रचना करने में संलग्न थे। 1938 में वे जब जेल से रिहा हुए तो उनके सामने बहुत सारे समस्याएं आकर खड़ी हो गईं। उनके क्रांतिकारी संगठन भी बिछुड़ चुके थे। अंग्रेजों के साथ उनका किशोर मन किस प्रकार से बगावत कर सकता था, उसका बड़ा ही रुचिकर वर्णन इस प्रकार से कर सकते हैं केवल अंग्रेजों के विरुद्ध बातें करते रहने के कारण आंख मूंदकर कल्पना में देखा करता था कि इंग्लैंड में कुछ-कुछ गुरुकुल के वातावरण जैसा ही दिखाई देता था। कल्पना में देखता था कि अंग्रेजों को धोती कुर्ता पहनना पड़ रहा है। वे सामाजिक समानता और मानव मूल्यों के लिए संघर्ष का इतिहास देखना चाहते थे कि यह भारत में कैसा था। इसके बाद उनका ध्यान बौद्ध कालीन भारतीय समाज पर गया। क्योंकि महात्मा बुद्ध ने भी उस समय ऐसा ही संघर्ष किया था। इसी संघर्ष का परिणाम 'दिव्या' उपन्यास था।

दिव्या को यशपाल ने बौद्ध कालीन उपन्यास कहा है। दिव्या भारतीय इतिहास के इस दौर को ध्यान में रखकर की गई है, जब मौर्य साम्राज्य का अंतिम राजा बृहद्रथ गद्दी पर बैठा था और उनका सेनापति पुष्यमित्र था। दिव्या की कथा के अनुसार महापंडित की तीन पत्नियों से तीन पुत्रों की प्राप्ति हुई। उनमें से दो ही जीवित रहे। इनमें एक पुत्र का नाम धर्मस्थ था। जिसके चार पुत्र प्राप्त हुए। बड़े पुत्र से प्राप्त ज्येष्ठ पौत्र की पत्नी ने एक प्रपौत्री को जन्म दिया। इसी कन्या का नाम दिव्या रखा गया। चंद्र की कलाओं की भांति दिनों दिन बढ़ती गई, और अंत में उसके माता और पिता व पितामह तीनों स्वर्गवासी हो गए। धर्मस्थ के पुत्र दिव्या के महापितृव्य पंडित विष्णु शर्मा और पितृत्व प्रबुद्ध शर्मा दिव्या के बारे में बातें कर रहे हैं।

विष्णु शर्मा दिव्या से कहते हैं कि ''दास सारथी पुत्र का तुमने अर्ध्य से सत्कार किया, तुम अपने पितृत्व प्रबुद्ध शर्मा की भांति समदर्शी तथागत की शिक्षा होने योग्य हो।''[1]

इस प्रकार इस उपन्यास में प्राचीन भारत में महात्मा बुद्ध और बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के बाद समाज में नए किस्म का राजनीतिक संघर्ष आरंभ हो गया था। दिव्या की कथा एक तो इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन समय में राज सत्ता हमेशा पंडितों के ही हाथों में नहीं रहती थी। सच बात तो यह है कि मौर्य वंश के संस्थापक चंद्रगुप्त मौर्य जैन हो गए थे। सम्राट अशोक तो बौद्ध धर्म का पालन कर रहे थे। परंतु उन्होंने बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार भी किया जिसके कारण वैदिक धर्म, वैदिक कर्मकांड और ब्राह्मण धर्म का प्रभाव कम हो रहा था। ब्राह्मण धर्म के समर्थक बौद्ध सत्ता के खिलाफ लड़ रहे थे। अंतिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ वर्णाश्रम का समर्थक नहीं था। बल्कि इसका विरोध करता था। वह जैन धर्म को स्वीकार करता था। मौर्य सत्ता कमजोर पड़ने पर मित्र ने बृहद्रथ की हत्या कर दी थी।

पुष्यमित्र एक ऐतिहासिक चरित्र है, और राजनीतिक संघर्षों को बढ़ावा देने वाला भी। इसलिए उसकी इस विजय का प्रभाव दूसरे देशों को भी प्रभावित करता है। पुष्यमित्र के अलावा दिव्या में एक और राजनीतिक चरित्र सामने आता है जिसका नाम है मिलिंद। दिव्या में मिलिंद को मद्र सामराज्य का प्रतापी यवन राज की श्रेणी में रखा गया है। मद्र साम्राज्य की राजधानी सांकल में थी। इस उपन्यास में उसे सागल कहा गया है। जिसका नाम सियालकोट है जो पाकिस्तान में स्थित है।

मिलिंद के बौद्ध बन जाने के कारण भी बौद्ध धर्म मद्र देश की सत्ता का केंद्र बन गया था मगध वर्णाश्रम वादियों का सत्ता केंद्र था। बौद्धों का भी मद्र पर अधिक भरोसा था। मद्र देश में बौद्धों का बोलबाला था। परंतु ब्राह्मणों को उनके गुण के

अनुसार ही पद दिया जाता था। यदि कोई नियमों का उल्लंघन करता था तो उसको दंड भी दिया जाता था। इस राज्य में कौमुदी महोत्सव में दासी पुत्र हुसैन को ब्राह्मण रूद्र धीर ने दिव्या की पालकी को कंधा देते समय अपमानित किया था। इसलिए उसे दो अपराधों का दंड दिया गया था। एक अपराध था पृथुसेन को अपमानित करना और दूसरा धर्म स्थान के अनुशासन की तामील न करने पर तलवार निकाल लेना। तलवार निकाल लेना व इन दोनों अपराधों के लिए रूद्रधीर को 2000 दिनों का मद्र देश से निष्कासन दिया गया था। दासी पुत्र को सर्वश्रेष्ठ खड़क धारी का सम्मान मिलता है और रूद्रधीर को दंड। जब रूद्रधीर दंड के बाद लौटता है तो सत्ता पलटने की चाल चलने लगता है।

मद्र प्रदेश में केंद्रस के हमले से यह स्थिति उत्पन्न हुई। दासी पुत्र प्रथुसेन को सेनापति नियुक्त किया गया था। पृथुसेन जैसे वीर और खड़क धारी के सेनापति बनने से जनता में सक्रियता बढ़ जाती है। परंतु ऐसा नहीं था कि सभी कुछ ठीक चल रहा हो। एक जगह यह प्रसंग भी आता है कि ''कुछ सैनिक शराब पीकर मूल्य नहीं देना चाहते। वृद्धा ऊंचे खिन्न स्वर में चिल्ला रही थी कि नहीं नहीं मूल्य पाए बिना मैं तुम्हें पण्य से नहीं जाने दूंगी। तुम सैनिक बन गए हो तो इससे मुझे क्या। कल तुम दारव चले जाओगे तो मैं मूल्य किससे पाऊंगी। क्या मद्य बिना मूल्य के मिलता है। वाह जी तुम बड़े छलिया हो। मूल्य साथ लिए बिना मद्य पीने के लिए आते हो। सैनिक बनकर तुम युद्ध में जा रहे हो तो मुझे क्या। तुम जिस सामंत के सैनिक बने हो, जिसकी रक्षा करोगे उसी से मद्य पी लो। मुझ दीन बुढ़िया को क्यों छलते हो।''[2]

यह कथन और इससे उत्पन्न स्थिति सामाजिक अंतर्विरोध ा की अभिव्यक्ति है। जिसका संबंध राजनीति और उसके संघर्ष के साथ है। केंद्रस के हमले से छिड़े युद्ध के दरमियान यशपाल ने मद्र सत्ता और जनता के अंतर्विरोध को तथा जनता और सामंतों के अंतर्विरोध को भी चित्रित किया है। युद्ध से जनता की स्थिति भयानक हो गई है। राज पुरुषों ने जनता से युद्ध कोष के लिए स्वर्ण मुद्राओं की वसूली आरंभ कर दी है। इस कोष में भी भ्रष्टाचार होगा और होता आ रहा है। इसके बाद लोकनायक मारिस विचारक की स्थिति का वर्णन करता है। परंतु यह राजनीतिक संघर्ष हो ही नहीं सकता। इन सबका विकल्प जनता से संबोधन करना है। ''तुम अपने लिए लड़ो। सामंत और आचार्य अपने लिए लड़ते हैं व तुम भी अपने लिए लड़ो। मरना है तो अपनी मनुष्यता और अधिकार के लिए लड़ मरो।''[3]

इस प्रसंग में प्रथुसेन विजयी होता है और विजित राज्य से दास दासियों को भी लेकर आता है व स्वयं दासी पुत्र होने के बाद भी वे दास प्रथा बनाए रखना चाहता है। इस प्रकार इस की सत्ता भी शोषण से रहित नहीं है। इसी का लाभ उठाकर रूद्रधीर सत्ता परिवर्तन चाहता है। उसने राजनर्तकी को तैयार किया और शरद पूर्णिमा की रात शरदोत्सव के अवसर पर प्रथुसेन को ऐसा चकमा दिया कि वह जान बचाकर भागने के लिए मजबूर हो गया, और रुद्रधीर राजा बन बैठा। इसके बाद राजा की आज्ञा की घोषणा की गई। संपूर्ण दिवज कुल, यवन, शूद्र और दास दिवज धर्म में स्थित होकर राजा की आज्ञा का पालन करें।

जब मद्र देश पर युद्ध के बादल छाए हुए थे, तो उस समय महा सेनापति मिथोदरस ने युद्ध के संक्रमण काल के लिए शासन के सभी अधिकार अपने हाथ में ले लिए थे। किसी को भी सैनिक बल के साथ नहीं बुलाया गया था, बल्कि जो स्वेच्छा से कार्य करने के लिए तैयार थे। उन्हीं को सेना में भर्ती किया गया। कुछ राज्य विरोधी लोग मंत्रणा कर रहे थे। सामाजिक अंतर्विरोध की अभिव्यक्ति राजनीतिक द्वन्द के साथ हो रही था मद्र देश से विदा लेने से पहले रूद्र धीर का एक मित्र इंदरजीत कहता है कि ''शूद्र के आदर के लिए ब्राह्मण को निर्वासन का यह दंड ही मद्र की मुक्ति का सूत्र होगा।''[4]

यहां पर वर्ण व्यवस्था पर सवाल उठाए गए हैं कि क्या कोई दासी का पुत्र राजा नहीं बन सकता। करण भी तो एक दासी पुत्र था। जिसे दुर्योधन ने स्वीकार किया था। पुराने जमाने में भी वर्ण व्यवस्था मनुष्य की शत्रु थी। इस वर्ग के लोग मद्र से कितनी नफरत करते हैं। यह भी इंद्रदीप का ही एक कथन है ''जिस दिन तुम स्वयं संपूर्ण मलेच्छ मर्दिनी मगध ा वाहिनी वर्णाश्रम की ध्वजा धारण कर लौटेंगे। उस दिन मगध ा के संपूर्ण मलेच्छ और अहंकारी शूद्र यज्ञ बलि पथ पर अपने अपराध का मार्जन करेंगे।''[5] यह संघर्ष प्रथुसेन और रूद्रधीर के बीच है, जो संघर्ष मिथोदरस और वर्णाश्रम वादियों के बीच है। वह कोई किसी धर्म के लिए लड़ाई नहीं है। यह केवल राजनीतिक वर्चस्व की लड़ाई है। यहां पर ब्राह्मण समाज भी लड़ रहा है और यज्ञ को बचाने के लिए जो उनके प्रभुत्व और आय का साधन थी।

दिव्या की कथा में एक राजनीतिक बदलाव; इस प्रकार हो गया था। इस उपन्यास में राजनीतिक संघर्ष और सामाजिक संघर्ष का एक अभिन्न अंग है वह है वैचारिक संघर्ष। मद्र राज्य में वर्णाश्रम पूरी तरह लागू नहीं है। उसका प्रभुत्व तो बिल्कुल भी नहीं है। फिर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इस राज्य के खिलाफ लड़ रहे हैं उसे समाप्त कर देना चाहते हैं। इन लोगों को यह बर्दाश्त नहीं है कि शूद्र और दासों को समान अधिकार दिया जाए। वे यह समझते हैं कि इनका कर्तव्य है ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ग की सेवा करना। ऐसा न करने पर यह ये दंड के अधिकारी बने। मधु पर्व के समय में इस समूह का वर्णन करते हुए लेखक कहता है कि ''ब्राह्मण स्वर्ण के तार से कढ़े हुए लाल रेशम के उण्णीशो से सिर के केस बांधे थे। उनके कंट की मुक्त मालाओं में कृष्ण रुद्राक्ष शोभित था। क्षत्रिय स्वर्ण खटीक शुभ्र वस्त्र धारण किए हुए थे।''[6]

वर्णाश्रम वादियों की विचारधारा की रीढ़ है जन्म जन्मांतरवाद या पूर्व जन्म का सिद्धांत। सब जन्म पर ही आधारित है। उसे कोई नहीं बदल सकता। मद्र में शूद्र और दासों को भी संपत्ति अर्जित करने का अधिकार होना चाहिए। दास पुत्र होने के बावजूद पर भी प्रथुसेन ने धन का अर्जन कर लिया और से समाज में सम्मान भी मिला। विष्णु शर्मा का पुत्र प्रबुद्ध शर्मा प्रथुसेन के पक्ष में अपने विचार रखता है। इसके बाद विष्णु शर्मा कहते हैं कि ''धन संचय के सम्मान का अधिकारी। प्रबुद्ध ब्राह्मण और यवनों की संगति और व्यापारिक वेश्यावृत्ति की ओर प्रवृत्त होने से तुम्हारी ऐसी मति है। धन की महिमा तुम्हारी दृष्टि में इतनी अधिक है। धन भोग्य वस्तु है। वह मनुष्य का मूल्य निश्चित नहीं कर सकता। ब्राह्मण के सामने दास खड़ग खींचे इस प्रकार के अनाचार से मद्र कुल के शासन और वर्णाश्रम का क्या अधिकार और सम्मान रह गया।''[7] इस प्रकार दिव्या का सामाजिक वैचारिक संघर्ष बहुत ही रोचक और प्रासंगिक भी है।

एक प्रसंग में अपने धर्मस्थ से पूछा कि ''मद्र राज्य के धर्म स्थान में सिंह और मृग के एक साथ जल पीने का भी सिद्धांत है। परंतु सिंह और मृग के एक साथ जल पीने का रूपक न्याय व्यवस्था के प्रति और आदर के लिए आवश्यक है। परंतु सिंह और मृग का एक साथ जल पीना दोनों की परवशता से ही संभव है।''[8] इससे यह अर्थ लगाया जा सकता है कि न्याय और स्वतंत्रता का एक साथ होना संभव नहीं या बहुत ही कठिन कार्य है।

एक अंतिम घटना दिव्या के मन को झकझोर देती है। ब्राह्मण कुल के होने के कारण वह राजनर्तकी नहीं बन पाई। इस देश में नारी को स्वतंत्रता है कहां। उस पर तो सारे रीति रिवाज थोप दिए जाते हैं। इस संदर्भ में राजेंद्र यादव का यह कथन इस प्रकार से है ''स्त्री को हजारों सालों से अबला, असहाय, अधूरी और अपने ऊपर निर्भर बना कर रखना परिवार के भीतर ही अपने निरंकुश स्वच्छंदता को बरकरार रखने की रणनीति है। उसने सारे सामाजिक कानूनों को कुछ इस तरह गढ़ा है कि पुरुष वर्चस्व को कहीं कोई चुनौती का खतरा नहीं है।''[9] इस प्रकार कभी भी नारी को बराबरी का दर्जा नहीं मिला। कृष्णा सोबती का एक कथा इस प्रकार है ''जहां तक शरीर संरचना का प्रश्न है महिला पुरुष हर हालत में भिन्न रहेंगे। किंतु योग्यताएं रचना धर्मिता के धरातल पर परखें तो मैं नहीं समझती कि वह किसी तरह पुरुषों से कम है।''[10] दिव्या में भी नारी को स्वतंत्र रहने का कोई हक नहीं है इसलिए वह अपनी मनमानी नहीं कर सकती।

इसके बाद दिव्या जब राजनर्तकी नहीं बन पाती है तो वह समारोह में भीड़ को चीरती हुई चल देती है, और एक सराय में जाकर ठहर जाती है। रूद्र धीर उसको पाने के लिए जाता है। परंतु वह उसे ठुकरा देती है। प्रथुसेन की दृष्टि भी दिव्या पर थी। वह भी उसे अपनाने का प्रयास करता है। वह कहती है कि ''भिक्षुक की दृष्टि में नारी का कोई स्थान नहीं होता। प्रथुसेन एक भिक्षुक है। इसलिए तुम जाओ और निर्वाण की प्राप्ति करो। वह कहता है कि वह देवी के नारीत्व की कामना में अपना पुरुषत्व अर्पण करता है। परंतु दिव्या टस से मस नहीं होती। अंत में वह कहती है कि ''नारी का धर्म निर्वाण नहीं शक्ति है।''[11]

दिव्या को अंत में यह एहसास हो जाता है कि जिस चीज की खोज में दर-दर की ठोकरें खाती रही है वह शक्ति है जो उसके पास आ गई है। महात्मा गौतम ने भी तो नारी को निर्माण में कोई महत्व नहीं दिया था। वह भी यशोधरा को छोड़कर निर्वाण की प्राप्ति के लिए चले गए थे।

निष्कर्ष रूप से हम कह सकते हैं कि उस समय मद्र प्रदेश में दास प्रथा का बोलबाला था। दिव्या एक ब्राह्मण कन्या थी। इसलिए उसको राजनर्तकी का पद नहीं दिया गया। कहा जाता है कि हर सफल व्यक्ति के पीछे नारी का हाथ होता है। परंतु पुरुष कभी भी नारी को आगे नहीं बढ़ने देता।

इतने संघर्षों के बाद दिव्या के पास ऐसी शक्ति आई। जिससे वे संतुष्ट हो गई और स्वच्छंद हो गई।

एसोसिएट प्रोफेसर
हिंदी विभाग
डॉ. भीम राव अम्बेडकर कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110093

सन्दर्भ सूची

1. दिव्या - यशपाल, पृष्ठ- 26
2. दिव्या - यशपाल, पृष्ठ- 35
3. दिव्या - यशपाल, पृष्ठ- 36
4. दिव्या - यशपाल, पृष्ठ- 52
5. दिव्या - यशपाल, पृष्ठ- 54
6. दिव्या - यशपाल, पृष्ठ- 56
7. दिव्या - यशपाल, पृष्ठ- 64
8. दिव्या - यशपाल, पृष्ठ- 32
9. अक्षर - अंक 27, पृष्ठ- 31
10. आदमी की निगाह में औरत, राजेंद्र यादव, पृष्ठ- 26
11. दिव्या - यशपाल, पृष्ठ 200

माधुरी साहनी

हरिशंकर परसाई के व्यंग्य में निहित सामाजिक एवं राजनीतिक यथार्थ

साहित्य की दुनिया में व्यंग्य को अपना नाम एवम् स्थान ग्रहण कराने में परसाई जी की रचनाओं का बहुत योगदान देखने को मिलता है, जो समाज के विविध समस्याओं को सहजता एवम् सरलता के साथ प्रस्तुत कर उसका समाधान निकले में निपुण रहे। इन्होंने रचना कौशल के माध्यम से सामाजिक पहलू को सटीकता से अपने व्यंग्यों में प्रस्तुत किया। परसाई जी की रचनाएँ, कहानी, निबंध संग्रह, उपन्यास आदि विधाओं में इन्होंने अपना योगदान दिया। व्यंग्यपूर्ण लेखन शैली से साहित्य रूपी वृक्ष को पोषित किया जो मानव कल्याण के लिए मूलमंत्र उपलब्ध कराता हो परसाई जी ने उन पहलुओं को उजागर किया जो आम तौर से समाज की व्यवस्था को अन्दर से खोखला करती हैं। हरिशंकर परसाई जी अपनी रचना शैली में बिल्कुल भी भ्रामक नहीं दिखाई देते अपितु अपनी कल्पनाशीलता के माध्यम से समाज के मानव पटल को मजबूत करने का मार्ग ढूंढ ही निकलते हैं तथा उसके साथ समाधान परक विचार भी मानव जाति के समक्ष परोसने का कार्य करते हैं।

हरिशंकर परसाई हिंदी साहित्य में व्यंग्य विधा को स्थापित करने के प्रमुख सूत्रधार एवं स्तंभ हैं। परसाई ने अपने लेखन का परिचय देते हुए लिखा है-''सन् 1947 में जब मैंने लिखना शुरू किया, भारत स्वाधीन हुआ ही था। चारों तरफ स्वाधीनता संग्राम में जेल गए हुए सुनामधन्य 'प्रातः स्मरणीय', 'तपोपूत' आदि बिखरे थे। हर सड़क पर किसी तपोपूत के दर्शन हो जाते थे। किसी गली में पेशाब करने बैठते डर लगता था कि कहीं कोई प्रातःस्मरणीय न निकल पड़े। यह भावुकता, श्रद्धा, पूजा का दौर था। मैं सच्चे दिल से इन पर श्रद्धा करता था। ये त्याग की राजनीति वाले लोग थे। बाद में सत्ता-राजनीति की छीन-झपट में इनकी क्या शर्मनाक गति हुई, इसका लेखा-जोखा मेरे अब तक के लेखन में है।''[1]

''व्यंग्य हास्य की तरह सिर्फ हँसी नहीं पैदा करता वह प्रहार करता है अमानवीय शोषक प्रतिष्ठान और यथास्थिति बरकरार रखने वाली शक्तियों और प्रवृत्तियों पर। प्रहार किस पर किया जाए, किस पर नहीं, किसका समर्थन किया जाए, किसका विरोध—इसका निर्णय विवेक करता है।''[2] परसाई के लेखन का अंतिम उद्देश्य विधेयात्मक है। व्यंग्यकार परसाई आदर्श भी प्रस्तुत करते हैं। उनके आदर्श प्रस्तुत करने का ढंग भी अपना है। वे कल्पना से आदर्श के रूप में कोई स्वप्न-पुरुष नहीं निर्मित करते। शायद यह वर्तमानता या आंखिन देखी का ही आग्रह है कि वे आदर्श के रूप में किसी समकालीन व्यक्तित्व को प्रस्तुत करते हैं।

परसाई ने 'वसुधा' के संपादक के रूप में संपादकीय लिखे हैं। ''वे संपादकीय समाज और साहित्य के विविध विषयों पर उनके विचार प्रकट करते हैं। संपादकीयों को पढ़कर एक बात ध्यान में आती है कि ये अधिकांशतः विषय हैं, जिन पर परसाई व्यंग्य निबंध या कहानियाँ लिखते हैं। ऐसा भी होता है कि वे एक ही विषय पर संपादकीय भी लिखते हैं और व्यंग्य-निबंध भी। यह अलग से कहने की जरूरत नहीं है कि परसाई के व्यंग्य निबंधों और कहानियों में विचार-तत्त्व

सबसे ज्यादा होता है। अनेक संपादकीय हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य से संबद्ध हैं। इनमें प्रकाशकों और लेखकों के संबंध, साहित्य की गुटबंदी आदि पर व्यंग्य किया गया है। परसाई का विचार है कि ''हिन्दी के शत्रु वे हैं, जो हिन्दी और हिन्दू को समानार्थक मानते हैं।''[3]

''व्यक्ति की चेतना उसके सामाजिक अस्तित्व से बनती है। इसका उलटा ठीक नहीं है कि व्यक्ति की कोई स्वतंत्र चेतना होती है, जो समाज को बनाती है। गांधीजी का उदाहरण लें–गांधीजी की चेतना ने भारतीय समाज की चेतना को बनाया भी और समाज को बदला भी। पर गांधीजी अकेले होते तो उनमें यह चेतना आती ही नहीं।''[4] समाज में रहकर अपने को उसका हिस्सा समझकर उन्होंने वह चेतना प्राप्त की थी। आधुनिक काल के दौर में व्यंग्यों का प्रयोग जिस रूप में किया जाता है वह न केवल समाज को अपितु उसके विविध आयामों पर भी अपना प्रभाव डालता है। आधुनिक व्यंग्य के दौर में मुख्य रूप से भारतेंदु हरिश्चंद जी का उल्लेख देखने को मिलता है, जिन्होंने उपनिवेशवाद पर अपने व्यंग्य लेखन के माध्यम से गहरा प्रहार किया। इन्होंने मुख्य रूप से देश के लिए स्वतंत्रता एवम् स्वाधीनता के लिए अंग्रेजों का विद्रोह करते रहे। व्यंग्य का सहारा न केवल पत्र पत्रिकाओं में बल्कि नाटक मंचनों पर भी बहुत ही सटीकता से दिखाया गया जिसमें समाज के हर एक वर्ग के लोगों ने अपना योगदान दिया।

साहित्य की दुनिया में व्यंग्य को अपना नाम एवम् स्थान ग्रहण कराने में परसाई जी की रचनाओं का बहुत योगदान देखने को मिलता है, जो समाज के विविध समस्याओं को सहजता एवम् सरलता के साथ प्रस्तुत कर उसका समाधान निकले में निपुण रहे। इन्होंने रचना कौशल के माध्यम से सामाजिक पहलू को सटीकता से अपने व्यंग्यों में प्रस्तुत किया। परसाई जी की रचनाएँ, कहानी, निबंध संग्रह, उपन्यास आदि विधाओं में इन्होंने अपना योगदान दिया। व्यंग्यपूर्ण लेखन शैली से साहित्य रूपी वृक्ष को पोषित किया जो मानव कल्याण के लिए मूलमंत्र उपलब्ध कराता है। परसाई जी ने उन पहलुओं को उजागर किया जो आम तौर से समाज की व्यवस्था को अन्दर से खोखला करती हैं। हरिशंकर परसाई जी अपनी रचना शैली में बिल्कुल भी भ्रामक नहीं दिखाई देते अपितु अपनी कल्पनाशीलता के माध्यम से समाज के मानव पटल को मजबूत करने का मार्ग ढूंढ ही निकलते है तथा उसके साथ समाधान परक विचार भी मानव जाति के समक्ष परोसने का कार्य करते हैं।

हरिशंकर परसाई जी की रचनाओं में ऐसे अनेकों संकलनों का उदाहरण देखने को मिलता है जिसमें सामाजिक स्थिति का वर्णन किया गया है। इनके द्वारा की गई रचना 'एक मध्यवर्गीय कुत्ता' जो विकलांग श्रद्धा का दौर, निबंध संग्रह में संग्रहित है। इसमें इन्होंने समाज में मानव के दिखावेपन को उजागर किया जो समाज में आडम्बर तथा हीनता को उजागर करती है, परसाई जी ने इस रचना के माध्यम से मध्यवर्गीय चरित्र को बहुत ही सटीकता से प्रस्तुत किया है, जो समाज के तीनों वर्गों के मध्य फंसा रहता है। इसमें मध्यवर्गीय समाज अपने सही वर्ग का पहचान ही नहीं कर पाता क्योंकि वह उन सभी संभावनाओं तथा वेदनाओं से परिपूर्ण होता है जो उच्चवर्णीय समाज कभी अनुभव ही नहीं कर पाता वही निम्नवर्गीय समाज अपनी हीनता, ओछे के स्थिति से बाहर ही नहीं निकल पाता, इस प्रकार के विचारों में मध्यवर्गीय समाज अपनी चेतना को एकाग्र कर अपने सही वर्ग का चिन्तन करता है।

परसाई जी की व्यंग्य कौशल के माध्यम से समाज के प्रति अपने सकारात्मक विचारों का प्रस्तुतीकरण किया है। जैसा कि हमने पहले ही देखा कि ''भारतेंदु–युग में हास्य, व्यंग्यात्मक कवियों की प्रचुर परिमाण में रचना हुई। जिनमें पश्चिमी सभ्यता, विदेशी शासन, सामाजिक अंधविश्वास, रूढ़ियों आदि पर व्यंग्य करने के लिए कवियों ने विषय और शैली की दृष्टि से अनेक नए प्रयोग किए। इस दिशा में भारतेंदु जी अपने नाटकों के प्रगीतों में कहीं–कहीं शिष्ट हास्य को स्थान देने के अतिरिक्त उन्होंने व्यंग्य गीतों और मुकरियों की भी रचना की है। उनकी व्यंग्य गीतों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है– पैरोडी, स्यापा और गाली 'नये जमाने की मुकरी' शीर्षक से उन्होंने समकालीन सामाजिक, राजनीति विसंगतियों की शैली को लेकर कुछ मनोहारिणी मुकरियों की भी रचना की है।'' ऐसे ही अनेक रचनाओं के माध्यम से रचनाकारों ने समस्यापूर्ति के लिए नवीन विचारों के माध्यम से सामाजिक परिवेश को विद्यमान रखने का प्रयास किया।''[5]

''व्यंग्य हलका–हलका हंसाती भी है और बेचैन भी करती

है। व्यंग्य का संबंध समाज और व्यक्ति दोनों के जीवन से हो सकता है, किन्तु मूलत: इसका संबंध सामाजिक जीवन से ही अधिक होता है। व्यंग्य का आलंबन व्यक्ति भी प्राय: सामाजिक अंतर्विरोधों का ही प्रतीक होता है। रचनाकारों के रचनाओं चोट और दर्द दोनों की सहस्तिति लक्षित होती हैं।''[6] एक तो ये सामान्य जनता को सहज ही हंसा सकने वाले विषय चुनते हैं, दूसरे उन्हें फैला कर चपटे ढंग से पेश करते हैं ताकि लोग सहज ही ग्रहण कर सके।

हरिशंकर परसाई जी से पूर्व तथा उनके समकालीन रचनाकारों की रचनाओं में हमें व्यंग्य के विविध आयामों तथा उनके रचना शैली के माध्यम से समाज के एक-एक पक्ष को उजागर करने का कार्य किया गया है। उसी प्रकार राजनीतिक विषय भी इनकी दृष्टि से कभी ओछेपन में नहीं रहा जिसके अनेकों उदाहरण देखने को मिल जाते हैं 'देशवासियों के नाम संदेश' (भूतपूर्व प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई के 1977 में भाषणों और संदेशों से प्रेरित) 'विकलांग श्रद्धा का दौर' संग्रह में परसाई जी ने राजनीतिक विषय पर बहुत ही करारा व्यंग्य किया है, ''राजनेताओं के द्वारा किए वादे जो कभी पूरे नहीं होते हैं। वर्तमान सरकार पिछली सरकार की गलतियों को ही गिनते रह जाते हैं (आप लोगों ने हम पर विश्वास करके ही सत्ता सौंपी। ऐसा आपने पहली बार नहीं किया है। पहले भी आप विश्वास करके ही सत्ता सौंपते रहे हैं। तो, जैसे पिछली सरकार ने आपके विश्वास को फलीभूत किया, वैसे ही हम भी करेंगे। हम उनसे किसी कदर नीचे नहीं पढ़ेंगे)''[7] ऐसे ही अनेक रचनाओं के माध्यम से इन्होंने तत्कालीन राजनीति को उजागर करने का प्रयास किया।

जिसमें तीसरी आजादी का जांच कमीशन-1, 2, 3 में उन्होंने तत्कालीन राजनीति की व्यवस्था बहुत ही उत्कृष्ट एवं राजनेताओं के बीच चल रहे द्वंद्व को प्रस्तुत किया है। इस रचना के माध्यम से उन्होंने जांच कमीशन को एक 'टाइम पास' कहते हैं।अपने व्यंग्य के माध्यम से उन्होंने जांच कमीशन को केवल जनता को गुमराह करने की तरकीब बताई हैं जिसमें जनता अपनी समस्याओं को कुछ समय तक भूल जाएगी इन्होंने इसे 'झुनझुना जांच' भी कहा है।

परसाई जी शासन प्रणाली को 'अनवरत योजना' से संबोधित करते हैं और कहते हैं कि यह एक बेईमानों का 'रोलिंग प्लान' है—सत्ता केवल एक हाथ से दूसरे हाथ में हस्तांतरित होती जाती है। परिवर्तन केवल वादों में रह जाता है। राजनीतिक क्रांति पर इन्होंने बहुत ही तीखा प्रहार करते हैं और कहते हैं कि 'आतिशासन से शासनहीनता के दौर में आ जाना भी क्रांति है।'

राजनीति में राजनेताओं के आपसी मतभेद ही आम जनता के हित का कार्य भी करती है और अहित का कारण भी बनती है। जिस समाज में इतने मतभेद होंगे उस समाज का सुधारक कैसे सही हो सकता है। इस लिए सबसे उचित मार्ग यह है कि सामाजिक रूप से सर्वप्रथम हमें एक होने की आवश्यकता है जिससे एक अच्छे समाज एवं अच्छे राष्ट्र का निर्माण हो सके।

राजनेताओं के प्रपंच में आम जनता ही मोहरा बनती है और आम जनता का ही विनाश होता है नए नेता, नए नियम, नए कानून इन्हीं सबमें समाज का अहित तय हो जाता है जब तक व्यवस्था उचित नही होगी तब तक यही चलता रहेगा और इसे सुलझाने के लिए जांच कमीशन जैसे कार्य किए जाते हैं जिसे परसाई जी ने टाइम पास से संबोधित किया है। इसी प्रकार आने वाली भावी पीढ़ी भी इसी प्रपंच में या राजनीति दलदल में धंसती चली जाती है।

परसाई जी के रचनाओं में व्यंग्यपूर्ण लेखन का वर्चस्व की बहुत लम्बी यात्रा देखने को मिलती है जो समाज और राजनीति पक्ष की खामियों की उपेक्षा करते हैं। भ्रष्ट राजनीतिक संस्कृति ने अपना असर सब कहीं डाला है। ''किसी का किसी पर विश्वास नहीं रह गया था- न व्यक्ति पर, न संस्था पर। कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिक का नंगापन प्रकट हो गया''[8] ऐसे अनेक प्रसंग के माध्यम से परसाई जी ने अपने विचारों को पाठक वर्ग तक आलोकित किए जिससे समाज के हर एक वर्ग के बीच समानता एवं जागरूकता का संचार हुआ। इन्होंने अपने विचारों को बहुत ही संवेदनात्मक रूप से प्रस्तुत करते हैं जो समाज सरलता से ग्रहण कर पाता है। इनके द्वारा किए गए व्यंग्य मानव जाति को यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रदान करता है।

शोधार्थी
हिंदी विभाग
श्री वेंकटेश्वर कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. त्रिपाठी विश्वनाथ – भारतीय साहित्य के निर्माता हरिशंकर परसाई : साहित्य अकादेमी, पृष्ठ संख्या–21
2. वही, पृष्ठ संख्या–32
3. वही, पृष्ठ संख्या–95
4. परसाई हरिशंकर – पूछो परसाई से, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ संख्या–449
5. डॉ. हरदयाल – डॉ. नगेंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास; मयूर बुक्स, पृष्ठ संख्या–445
6. वही, पृष्ठ संख्या–631
7. परसाई हरिशंकर – विकलांग श्रद्धा का दौर (निबंध संग्रह); पृष्ठ संख्या–13, राजकमल पेपर बैक्स 2024
8. गुप्ता, विजय – कथा शिखर : हरिशंकर परसाई, कौटिल्य बुक्स, 2021

शोध-पत्र

अधुनातन संदर्भ में लोक साहित्य की प्रासंगिकता

अखिल कुमार यादव

लेख सार

लोक साहित्य प्रत्येक काल, स्थिति में प्रासंगिक महत्त्वपूर्ण और समीचीन रहा है। वस्तुत: लोक साहित्य लोक जीवन की सहज अभिव्यक्ति करता है। वह जीवन से पृथक ना होकर घनिष्ठ रूप से संबद्ध है। अतएव मानव जीवन से पृथक ना होने के कारण लोक साहित्य में मानवोचित विशेषताएं भी दृष्टव्य होती हैं।

लोक साहित्य को आधुनिक युग में भी ग्रामीण संस्कृति ने ही संजोकर रखा है। लोक साहित्य में विभिन्न प्रकार के व्यापार हैं जो इस साहित्य की धरोहर हैं। वह चाहे लोकगीत हों,लोक कथाएं हों, लोकनाट्य अथवा लोक साहित्य का कोई भी रूप हो सभी विधाओं में लोक जीवन के विभिन्न रंग वर्णित होते हैं।

आज के आधुनिक युग में भले ही ग्रामीण परिवेश से नौटंकी आदि लोक को रंजित करने वाले साधन कम हो गए हैं। किंतु ग्रामीण समाज उसे भूला नहीं है ना ही उसका महत्त्व ही कम हुआ है। वैज्ञानिक विकास से भले ही लोक संस्कृति की और लोगों को आकृष्ट कर पाना उतना सरल नहीं है किंतु इसकी पहुंच को जन-जन तक पहुंचाना पहले से सुगम हुआ है।

लोक साहित्य को पुष्ट करने का कार्य मूलत: ग्रामीण परिवेश में होता है। अतएव ग्रामीण पृष्ठिभूमि के समावेश के कारण लोक साहित्य में सामान्यत: कलाकार एवं साहित्यकार आंचलिक होते हैं किंतु संचार माध्यमों के बढ़ने से उनकी पहुंच वैश्विक स्तर तक भी संभव हो गई है। रामलीला और नौटंकी लोकनाट्यों का आयोजन फिजी, मॉरीशस में भव्यता के साथ होना इसका प्रमाण है।अधुनातन युग में भी लोक साहित्य की प्रासंगिकता महत्त्व और आवश्यकता परस्पर बनी है।

लोक साहित्य प्रत्येक काल, स्थिति में प्रासंगिक महत्त्वपूर्ण और समीचीन रहा है। वस्तुत: लोक साहित्य लोक जीवन की सहज अभिव्यक्ति करता है। वह जीवन से पृथक ना होकर घनिष्ठ रूप से संबद्ध है। अतएव मानव जीवन से पृथक ना होने के कारण लोक साहित्य में मानवोचित विशेषताएं भी दृष्टव्य होती है।

लोक की परिभाषा देते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं ''लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है बल्कि नगरों और गांवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं हैं। यह लोग नगर में परिष्कृत जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समुचित विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो वस्तुएं आवश्यक होती हैं उनको उत्पन्न करते हैं।''[1] तो वहीं डॉ. सत्येंद्र के अनुसार, ''लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात संस्कार शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और वह जो एक परंपरा के प्रभाव में जीवित रहता है।''[2]

इस प्रकार लोक स्वयं में विस्तृत अर्थ क्षेत्र ग्राहय करता है। जो भी दृष्टिगत संसार है अथवा जो भी इंद्रियगोचर संसार है वह लोक है और उसका सम्यक साहित्य लोक साहित्य है। लोक कोई दर्शन नहीं है बल्कि अनवरत रूप से चलने वाले काल का विशिष्ट प्रवाह है। जिसमें भारतीय जनमानस बार-बार डुबकी लगाकर स्वयं को शीतल करता रहता है अर्थात् अपने

लोक साहित्य की ओर भारतीयों की दृष्टि सदैव बनी रहती है। इसी क्रम में हम पाते हैं कि अधुनातन परिप्रेक्ष्य में भी लोक साहित्य का महत्व किसी भी स्तर पर कम नहीं हुआ। अपितु उसका संरक्षण कम हो रहा है जिसके कारण तमाम लोक साहित्य एवं संस्कृतियों का क्षय देखने को मिलता है किंतु लोक साहित्य की धरोहर को बचाने का कार्य समस्त साहित्य जगत को करना पड़ेगा।

लोक साहित्य को आधुनिक युग में भी ग्रामीण संस्कृति ने ही संजोकर रखा है। लोक साहित्य में विभिन्न प्रकार के व्यापार हैं जो इस साहित्य की धरोहर हैं। वह चाहे लोकगीत हों, लोक कथाएं हों, लोकनाट्य अथवा लोक साहित्य का कोई भी रूप हो सभी विधाओं में लोक जीवन के विभिन्न रंग वर्णित होते हैं। डॉ. सत्येंद्र लोकगीत की परिभाषा देते हुए लिखते हैं कि ''वह गीत जो लोक मानस की अभिव्यक्ति हों अथवा जिसमें लोकमानसाभाष भी हो लोकगीत के अंतर्गत आएगा।''[3] साहित्य के बदलते स्वरूप के साथ हम पाते हैं कि लोक साहित्य में बहुत आमूल चूल परिवर्तन नहीं आया है बल्कि वह पहले की भांति ही प्रकृति के अपूर्व सौंदर्य का दर्शन कराता है। ध्यातव्य हो कि आमूल चूल परिवर्तन न आने का यह आशय नहीं है कि अधुनातन युग में तकनीकी विकास के बाद इसमें तकनीक का प्रयोग नहीं हुआ है। अपितु तकनीक के माध्यम से लोक साहित्य और अधिक पुष्ट हुआ है। किंतु इसने अपनी जड़ों को नहीं छोड़ा अर्थात् ग्रामीण परिवेश को स्वयं से असंपृक्त नहीं किया।

''आज के सांस्कृतिक संक्रमण काल में मानसिक कुंठाओं से ग्रस्त, बौद्धिक तनाव से आक्रांत राजनीतिक दोमुंही संस्कृति की चेतना से पीड़ित मनुष्यों के लिए आचार्य भरत मुनि की 'रस निष्पत्ति' अभिनवगुप्त का 'साधारणीकरण' अरस्तु का विरेचन' लॉन्जिनस का उदात्त भाव आडंबर रहित अनुभूत होता है तो वह केवल लोक साहित्य में देखा एवं अनुभव किया जा सकता है।''[4]

आज के आधुनिक युग में भले ही ग्रामीण परिवेश से नौटंकी, स्वांग तथा लोक को रंजित करने वाले साधन कम हो गए हैं लेकिन ग्रामीण समाज उसे भूला नहीं है ना ही उसका महत्व ही कम हुआ है। वैज्ञानिक विकास से भले ही लोक संस्कृति की ओर लोगों को आकर्षित कर पाना उतना सरल नहीं है किंतु इसकी पहुंच को जन-जन तक पहुंच पाना पहले से सुगम हो गया है। जिससे भारतीयता को और अधिक पुष्ट किया जा सके क्योंकि जीवन मूल्य तथा भारतीय मान्यताओं एवं परंपराओं से सम्पृक्त होने के कारण लोक साहित्य का मूल स्रोत भारतीयता ही है।

आज के आधुनिक युग में भले ही ग्रामीण परिवेश से नौटंकी आदि लोक को रंजित करने वाले साधन कम हो गए हैं। किंतु ग्रामीण समाज उसे भूला नहीं है ना ही उसका महत्त्व ही कम हुआ है। वैज्ञानिक विकास से भले ही लोक संस्कृति की और लोगों को आकृष्ट कर पाना उतना सरल नहीं है किंतु इसकी पहुंच को जन-जन तक पहुंचाना पहले से सुगम हुआ है।

लोक साहित्य की परंपरा अत्यंत प्राचीन है जिसके बीज ऋग्वेद से प्राप्त होते हैं। वह अधुनातन युग में भी उतनी ही प्रासंगिक है। भक्ति काल के प्रमुख कवि महाकवि तुलसीदास जी ने सोहर छंद में 'रामलला नहछू' की रचना करके लोकगीतों की वैविध्यपूर्ण परंपरा का परिचय दिया एवं उसकी महत्ता को भी भली-भांति स्पष्ट कर दिया। सोहर की यह परंपरा जो बच्चे के जन्म के समय गाई जाती है वह आज भी अवध एवं पूर्वांचल के क्षेत्रों में विद्यमान है। वह सिर्फ ग्रामीण क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं है अपितु शहरी क्षेत्र में भी इसका बोलबाला एवं प्रसिद्धि है।

सर्वविदित है कि लोक साहित्य का महत्व प्रारंभ से ही रहा है जिसकी प्रतिपुष्टि करते हुए डॉक्टर कृष्ण देव उपाध्याय अपनी पुस्तक 'लोक साहित्य की भूमिका' में लिखते हैं : ''लोक साहित्य की परंपरा कदाचित उतनी ही पुरानी है जितनी पुरानी मनुष्य जाति।''[5]

वह इसी बात को प्रमाणित करते हुए आगे लिखते हैं ''किसी देश के राष्ट्रीय जीवन में लोक साहित्य का महत्व अत्यधिक है यदि इसका सम्यक संरक्षण एवं अनुशीलन किया जाए तो हमारे साहित्य की श्रीवृद्धि होगी।''[6]

लोक साहित्य का महत्व ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक हर दृष्टिकोण से है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखें तो लोकगीतों तथा लोक कथाओं का इतिहास बेहद विस्तृत एवं समृद्ध है। भौगोलिक आर्थिक महत्व भी लोकगीतों का कम नहीं रहा है। लोकगीतों के माध्यम से वहां की भौगोलिक स्थिति को पता कर पाना एक सहज कार्य है क्योंकि समस्त लोकगीतों में प्रकृति का वर्णन सामान्यत: होता है।

डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं कि ''मानव जीवन के उषाकाल से लेकर अवसान समय तक लोकगीत उसके चारों

ओर लिप्त रहते हैं शिशु के उदर में आते ही चारों ओर लोकगीतों की बौछार प्रारंभ हो जाती है।"[7] अतएव यह बेहद स्वाभाविक है कि लोकगीतों में उसे जगह की ही ग्रामीण एवं शहरी भौगोलिक स्थिति का वर्णन हो जिससे साफ तौर पर वहां की भौगोलिक स्थिति का वर्णन किया जा सकता है। लोक साहित्य के माध्यम से संबद्ध करके वहां की आर्थिक पृष्ठभूमि का वर्णन करना चाहे तो वह भी वहां की सामाजिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक वर्णन के माध्यम से कर सकते हैं।

यह कहना पूर्ण रूपेण तथ्यात्मक है कि लोक साहित्य स्वयं में ऐतिहासिक, भौगोलिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक संदर्भ को समाहित किए रहता है। साथ ही लोग साहित्य, साहित्य का ऐसा क्षेत्र होता है जिसमें नैतिकता का भी सूत्रपात होता है।

अधुनातन परिप्रेक्ष्य में इन तमाम महत्व के अतिरिक्त भी हम अपना ध्यान आकृष्ट करें तो हम यह पाते हैं कि भाषा शास्त्र संबंधी महत्व भी लोक साहित्य का है। लोक साहित्य की आवश्यकता और भी बढ़ जाती है जब उच्च शिक्षा में हो रहे बदलावों में मातृभाषा संबंधी चीजों को महत्व दिया जा रहा हो। लोक साहित्य के अध्ययन से हिंदी साहित्य एवं साहित्य की भाषा की भी समृद्धि होगी। लोक साहित्य में सामान्यत: सबसे अधिक मुहावरे एवं लोकोक्तियां का प्रयोग होता है जो भाषा की समृद्धि में स्वाभाविक रूप से अपना योगदान देती हैं। लोक साहित्य में ऐसे अनेक शब्द हैं जिनके अर्थ खड़ी बोली में अलग रूप में ग्रहण किए जाते हैं। जबकि उसका मूल अर्थ उससे थोड़ा भिन्न होता है। उदाहरणार्थ अवधि और भोजपुरी में 'बिराना' शब्द होता है जिसका अर्थ खड़ी बोली हिंदी में 'चिढ़ाना' के रूप में लिया जाता है। किंतु उसका अर्थ चिढ़ाने से भिन्न है। वह मुख से बनने वाली एक ऐसी अवस्था का प्रतीक है जो चिढ़ाने से भिन्न है। लोक साहित्य में विशाल शब्द संपदा है वह भाषाविदों के लिए भी एक अमूल्य निधि है एवं सामासिक रूप से यह कहा जा सकता है कि अधुनातन युग में लोक साहित्य की आवश्यकता एवं महत्व अत्यधिक है। इसको और विस्तृत करने पर स्वाभाविक रूप से हिंदी साहित्य की भी श्रीवृद्धि होगी।

शोधार्थी
हिन्दी विभाग
श्री वेंकटेश्वर कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. द्विवेदी, हजारीप्रसाद : जनपद, वर्ष 1, अंक 1, पृष्ठ संख्या 65
2. डॉ. सत्येंद्र, लोक साहित्य का विज्ञान, पृष्ठ संख्या 390
3. वही , पृष्ठ संख्या ३९द्व
4. गौतम, डॉ. सुरेश : लोक साहित्य : अर्थ और व्याप्ति, संजय प्रकाशन, पृष्ठ संख्या
5. उपाध्याय, कृष्णदेव : लोक साहित्य की भूमिका, भूमिका
6. वही, पृष्ठ संख्या 259
7. शर्मा, डॉ. रामविलास : लोक साहित्य का लोकत्त्व, पृष्ठ संख्या 23

शोध-पत्र

डॉ. प्रभात शर्मा

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की इतिहास-दृष्टि : तुलनात्मक अध्ययन

हिन्दी साहित्य का इतिहास केवल कृतियों और रचनाकारों का क्रमबद्ध विवरण भर नहीं है, बल्कि वह भारतीय समाज की सांस्कृतिक स्मृति, वैचारिक संघर्ष और मानवीय चेतना का सजीव दस्तावेज है। साहित्येतिहास लेखन का सवाल इसीलिए केवल पद्धति का नहीं, बल्कि दृष्टि, मूल्य और बोध का भी प्रश्न बन जाता है। आधुनिक हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा जिन दो आधार स्तम्भों पर टिकी है, वे हैं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी। शुक्ल ने जहाँ इतिहास को वैज्ञानिक अनुशासन, सामाजिक यथार्थ और लोकजीवन से जोड़ा, वहीं द्विवेदी ने उसे सांस्कृतिक निरन्तरता, परम्परा-बोध और मानवीय करुणा के व्यापक फलक पर प्रतिष्ठित किया। दोनों की इतिहास-दृष्टियाँ अलग-अलग होते हुए भी परस्पर विरोधी नहीं हैं, अपितु वे हिन्दी साहित्य को समझने की दो अनिवार्य पूरक दिशाएँ प्रस्तुत करती हैं।

साहित्य के इतिहास लेखन का उद्देश्य सिर्फ एक भाषा और उसके इतिहास को जानना भर नहीं है। साहित्येतिहास लेखन की मूल अवधारणा यह है कि साहित्य को उसके सामाजिक, सांस्कृतिक और वैचारिक परिवेश में समझा जाए। पश्चिम में साहित्येतिहास लेखन मुख्यत: कालक्रम, विधाओं और शैलियों के घटनात्मक विकास पर केन्द्रित रहा है, जबकि भारतीय परम्परा में साहित्य को जीवन-दृष्टि और सांस्कृतिक निरन्तरता के रूप में देखा जाता है। हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक इतिहास लेखन गार्सा दा तासी (Histoire de la littérature hindouie et hindoustanie 1847) और जॉर्ज ग्रियर्सन (La Langue et la Littérature Hindoustanies 1872) जैसे विदेशी विद्वानों द्वारा हुआ था, उन्होंने पहली बार हिंदुस्तानी साहित्य को स्वतंत्र साहित्यिक परम्परा के रूप में पहचान दी, यद्यपि दोनों ही विद्वानों की दृष्टि यूरोपीय और औपनिवेशिक थी इसलिए इनके यहाँ तथ्य-संग्रह तो मिलता है, पर भारतीय समाज की आन्तरिक सांस्कृतिक संरचना का अभाव दिखाई देता है। इसी कमी को आचार्य शुक्ल ने पहचाना और पहली बार साहित्य को जनता की चित्तवृत्तियों से जोड़कर देखने की पद्धति विकसित की। ''साहित्य जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिम्ब है।''[1] शुक्ल का यह प्रसिद्ध कथन आगे चलकर हिन्दी साहित्येतिहास की आधारभूमि बनता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (1884-1941) आधुनिक हिन्दी साहित्येतिहास के पहले वैज्ञानिक इतिहासकार माने जाते हैं। उनका ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (1929) हिन्दी के इतिहास को पहली बार एक व्यवस्थित ढाँचे में प्रस्तुत करता है। शुक्ल की वैचारिक भूमि लोकजीवन, राष्ट्रीय चेतना, यथार्थवाद और नैतिक मूल्यबोध पर आधारित है। 'हिन्दी शब्दसागर' की भूमिका में वे स्पष्ट करते हैं-''जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्तियों के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।''[2] शुक्ल जी अपने इतिहास में लोकप्रवृत्ति के आधार पर हिन्दी साहित्य के युगों का निर्धारण करते हैं। वे साहित्य को सामाजिक चेतना का माध्यम मानते थे इसलिए वे 'लोकमंगल' को साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी बनाते हैं। इसलिए हिन्दी के भक्ति साहित्य को वे महत्व देते हुए उसे सामाजिक जागरण की अभिव्यक्ति मानते हैं और तुलसीदास

को लोकजीवन का सर्वोत्तम प्रतिनिधि ठहराते हैं। उनके अनुसार साहित्य केवल सौन्दर्य के उपभोग की वस्तु नहीं, बल्कि सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह है करना है। इसी कारण रीतिकाल का मूल्यांकन करते समय उनका दृष्टिकोण कठोर हो जाता है।

शुक्ल जी की इतिहास-दृष्टि जितनी सुदृढ़ आधारों पर टिकी है, उतनी ही वह आलोचना के केन्द्र में भी रही है। अपने नैतिक आग्रहों के कारण वे कई बार काव्य-सौन्दर्य की स्वायत्तता को पर्याप्त महत्त्व नहीं दे पाते। रीतिकाल को दरबारी विलासिता कहकर खारिज करना इसी का उदाहरण है। डॉ. रामविलास शर्मा शुक्ल जी की इतिहास दृष्टि के इसी पक्ष की आलोचना करते हुए इस संदर्भ में लिखते हैं-''शुक्ल की आलोचना लोकपक्षधर है, परन्तु कभी-कभी वह कलात्मक स्वायत्तता की उपेक्षा कर देती है।''[3] इसी क्रम में नामवर सिंह यह भी जोड़ते हैं कि शुक्ल की इतिहास-दृष्टि निर्णायक है, पर बहुवचनात्मक समाज की जटिलताओं को पूरी तरह समेट नहीं पाती इसलिए वह एकसूत्रीय जैसी प्रतीत होती है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी (1907-1979) हिन्दी साहित्य के इतिहास की परंपरा को नई ऊंचाई प्रदान करते हैं। वे शुक्ल जी की ऐतिहासिक परंपरा को आगे बढ़ाने वाले चिन्तक हैं। उनकी प्रमुख इतिहास संबंधी कृतियाँ 'हिन्दी साहित्य की भूमिका','कबीर','हिन्दी साहित्य का आदिकाल' और 'हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास' हैं जो उनकी इतिहास-दृष्टि को स्पष्ट करती हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी साहित्य को किसी एक युग की तात्कालिक प्रतिक्रिया नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृति की दीर्घकालीन विकासात्मक प्रक्रिया का अंग मानते हैं। अपने ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के आरम्भ में वे लिखते हैं-''कम से कम भारतवर्ष के आधे हिस्से की सहस्त्रवर्ष व्यापी आशा-आकांक्षाओं का मूर्तिमान प्रतीक यह हिन्दी साहित्य अपने आप में एक ऐसी शक्तिशाली वस्तु है कि इसकी उपेक्षा भारतीय विचारधारा को समझने में घातक सिद्ध होगी।''[4] द्विवेदी जी की इतिहास-दृष्टि परम्परा और अन्तर्विरोध की अवधारणा पर टिकी है। उनके अनुसार कोई भी प्रवृत्ति अचानक से उत्पन्न नहीं होती, वह किसी भी समाज की दीर्घ सांस्कृतिक परम्परा के भीतर से विकसित होती है। द्विवेदी जी के लिए इतिहास एक जीवंत प्रक्रिया है, जिसमें लोक और शास्त्र, भक्ति और तंत्र, विरोध और समन्वय-सभी साथ-साथ चलते हैं।

समकालीन हिन्दी समालोचना द्विवेदी जी की समन्वयवादी दृष्टि की आलोचना करता है। इस संदर्भ में यह तर्क दिया जाता है कि उनकी सांस्कृतिक सहानुभूति कभी-कभी ऐतिहासिक तथ्यात्मकता को ढक देती है और मूल्यांकन की ठोस कसौटी स्पष्ट नहीं हो पाती। प्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह का यह कथन उल्लेखनीय है-''द्विवेदी जी का इतिहास विवेक कम और संवेदना अधिक है।''[5]

हिन्दी साहित्येतिहास के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की इतिहास-दृष्टियाँ केवल दो अलग-अलग जीवन पद्धतियाँ नहीं हैं, बल्कि साहित्य को देखने की दो भिन्न-भिन्न बौद्धिक संवेदनाएँ हैं। इन दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दी साहित्य का इतिहास न तो केवल सामाजिक यथार्थ का दर्पण है और न ही सिर्फ सांस्कृतिक स्मृति का संग्रह भर है। वह इन दोनों के बीच सतत संवाद की प्रक्रिया है।

आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि मूलतः युग-सापेक्षता, लोककेंद्रित और मूल्य पर आधारित है। वे साहित्य को जनता की चित्तवृत्तियों का प्रतिबिम्ब मानते थे और इसी आधार पर साहित्यिक प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करते हैं। उनके लिए इतिहास का केन्द्रीय प्रश्न यह है कि किसी विशेष काल में जनता किस मानसिक अवस्था से गुजर रही थी और साहित्य ने उस अवस्था को किस रूप में अभिव्यक्त किया है। इस दृष्टि में साहित्य सामाजिक चेतना का प्रत्यक्ष और जीवंत परिणाम बन जाता है। इसके विपरीत, आचार्य द्विवेदी साहित्य को केवल तात्कालिक सामाजिक प्रतिक्रिया के प्रतिफलाँ के रूप में मानने से इंकार करते हैं। उनकी इतिहास-दृष्टि परम्परा-सापेक्ष, सांस्कृतिक मूल्यों पर आधारित और दीर्घकालिक है। वे मानते हैं कि कोई भी साहित्यिक प्रवृत्ति अचानक जन्म नहीं लेती, बल्कि वह सदियों की सांस्कृतिक स्मृति, बौद्धिक संचयता और आध्यात्मिक अन्वेषण का परिणाम होती है। इस प्रकार जहाँ शुक्ल जी इतिहास को वर्तमान की रोशनी में अतीत को समझने का साधन बनाते हैं, वहीं द्विवेदी जी अतीत की निरन्तरता में वर्तमान को पहचानते हैं।

दोनों आचार्यों के बीच सबसे महत्त्वपूर्ण अंतर इतिहास के कारक को लेकर है। शुक्ल जी साहित्यिक परिवर्तन के मूल में सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों को देखते हैं। उनके अनुसार सत्ता परिवर्तन, राजनीतिक अस्थिरता या राष्ट्रीय पराजय जनता की चित्तवृत्ति को प्रभावित करती है और वही प्रभाव साहित्य में रूपान्तरित हो जाता है। इसी कारण वे भक्ति आन्दोलन

को मध्यकालीन राजनीतिक हताशा की प्रतिक्रिया के रूप में लेते हैं। इसके विपरीत, द्विवेदी जी इस 'हताशा सिद्धान्त' को अपर्याप्त मानते हैं। वे भक्ति को भारतीय चिन्तन-परम्परा का स्वाभाविक विकास मानते हैं, जो वैदिक, बौद्ध, उपनिषद और लोकधाराओं से निरन्तर संवाद करती हुई आगे बढ़ी है। उनके लिए इतिहास बाहरी आघातों से अधिक आन्तरिक सांस्कृतिक गति का परिणाम है। इस बिन्दु पर द्विवेदी की दृष्टि अधिक उदार और समन्वयवादी दिखलाई देती है।

लोक की अवधारणा दोनों के यहाँ है, पर उसका अर्थ दोनों के यहाँ भिन्न है। शुक्ल के यहाँ लोक अपेक्षाकृत एकीकृत और सामान्यीकृत इकाई है- एक ऐसी सामूहिक चेतना, जिसकी प्रमुख प्रवृत्ति किसी युग को परिभाषित करती है। इसके विपरीत, द्विवेदी लोक को बहुवचनात्मक मानते हैं। उनके अनुसार किसी भी युग में अनेक समुदाय, परम्पराएँ और वैचारिक धाराएँ सक्रिय रहती हैं, जो परस्पर सहयोगी भी हो सकती हैं और विरोधी भी। इसीलिए द्विवेदी जी इतिहास को अन्तर्विरोधों की प्रक्रिया मानते हैं, जबकि शुक्ल जी उसे उस युग की प्रमुख प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति के रूप में देखते हैं। भक्ति साहित्य के मूल्यांकन में यह अंतर और अधिक स्पष्ट हो जाता है। शुक्ल जी तुलसीदास को केन्द्र में रखते हैं और भक्ति को सामाजिक नैतिकता का साधन मानते हैं। उनके लिए भक्ति लोकमंगल की स्थापना का माध्यम है। इसके विपरीत, द्विवेदी जी कबीर जैसे संतों, नाथों और सिद्धों की परम्परा को भी समान महत्त्व देते हैं और भक्ति को मानवीय चेतना की गहन अभिव्यक्ति के रूप में देखते हैं। जहाँ शुक्ल जी भक्ति को सामाजिक अनुशासन से जोड़ते हैं, वहीं द्विवेदी उसे मानवीय मुक्ति और आत्मान्वेषण की प्रक्रिया मानते हैं।

इतिहास-लेखन की शैली में भी दोनों आचार्यों का अंतर दृष्टिगोचर होता है। शुक्ल जी की भाषा विश्लेषणात्मक, तर्कप्रधान और निर्णायक है। वे स्पष्ट निष्कर्ष देते हैं और मूल्य-निर्धारण में संकोच नहीं करते। इसके विपरीत, द्विवेदी जी की भाषा कथात्मक, व्याख्यात्मक और संवेदनशील है। वे निष्कर्ष से अधिक प्रक्रिया पर बल देते हैं और पाठक को विचार के खुले मैदान में आमंत्रित करते हैं। फिर भी यह कहना गलत होगा कि इन दोनों की दृष्टियाँ परस्पर विरोधी हैं। वस्तुत: वे एक-दूसरे की पूरक हैं। शुक्ल जी की इतिहास दृष्टि के बिना साहित्येतिहास सामाजिक अनुशासन और यथार्थबोध खो सकता है, जबकि द्विवेदी जी की इतिहास दृष्टि के बिना वह सांस्कृतिक गहराई और मानवीय संवेदना के विस्तार से वंचित रह जाएगा। कहा जा सकता है कि जहां शुक्ल जी इतिहास को एक मजबूत ढाँचा देते हैं और द्विवेदी उस ढाँचे में जीवन, स्मृति और परम्परा का विस्तार भरते हैं।

समकालीन दृष्टि से देखें तो हिन्दी साहित्य का संतुलित इतिहास वही होगा जो शुक्ल जी की युग-सापेक्षता और द्विवेदी की परम्परा-दृष्टि दोनों को साथ लेकर चले। आज के बहुवचनात्मक, संश्लिष्ट और विमर्शप्रधान समाज में इन दोनों की संयुक्त विरासत ही साहित्येतिहास को अधिक प्रासंगिक और जीवंत बनाए रख सकती है। आलोचक मैनेजर पाण्डेय दोनों आचार्यों की इतिहास दृष्टि के इस अंतर को रेखांकित करते हुए लिखते हैं-''शुक्ल इतिहास को अनुशासन देते हैं और द्विवेदी उसे विस्तार; दोनों के बिना साहित्येतिहास या तो समाजविहीन हो जाएगा या संस्कृति-विहीन।''[6] यही कारण है कि समकालीन आलोचना इन दोनों को विरोधी नहीं, बल्कि एक दूसरे का पूरक मानती है। और मानती है कि हिन्दी साहित्येतिहास का समग्र अध्ययन शुक्ल जी और द्विवेदी जी दोनों के बिना सम्भव नहीं है। नामवर सिंह, रामविलास शर्मा और मैनेजर पाण्डेय जैसे आलोचक इन्हीं दोनों परम्पराओं के संवाद से आगे बढ़ते हैं। नामवर सिंह लिखते हैं-''शुक्ल और द्विवेदी का संवाद आज भी जारी है-एक ओर यथार्थ की कसौटी है, दूसरी ओर संस्कृति की स्मृति।''[7]

निष्कर्ष

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की इतिहास-दृष्टियाँ विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हैं। शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्येतिहास को वैज्ञानिक अनुशासन, सामाजिक आधार और लोकदृष्टि प्रदान की, जबकि द्विवेदी जी ने उसे सांस्कृतिक गहराई, मानवीय संवेदना और परम्परा-बोध से समृद्ध किया। आज हिन्दी साहित्य का कोई भी समकालीन इतिहास इन दोनों दृष्टियों के समन्वय के बिना न तो पूर्ण हो सकता है और न ही प्रासंगिक। हिन्दी साहित्य के इतिहास की कोई भी सर्वांगीण समझ इन दोनों आचार्यों के समन्वित दृष्टिकोणों के अभाव में अधूरा रहेगा।

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
श्यामलाल कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : psharma@shyamlal.du.ac.in

सन्दर्भ सूची

1. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 1929, पृ. 1.
2. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी शब्दसागर की भूमिका, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ. 12.
3. रामविलास शर्मा, परम्परा का मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1979, पृ. 56.
4. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1960, पृ. 7.
5. नामवर सिंह, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1980, पृ. 91.
6. मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और इतिहास दृष्टि, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995, पृ. 112.
7. नामवर सिंह, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1980, पृ. 92

कमलेश

दलित आत्मकथा और स्त्री संघर्ष
(दोहरा अभिशाप के संदर्भ में)

समाज की आधी आबादी कही जाने वाली स्त्री को एक लम्बे समय से अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है। सैद्धांतिक स्तर पर तो उसे पुरुषों के समान माना जाता है लेकिन जब बात व्यवहारिक स्तर पर आती है तो स्त्री हमेशा ही दोयम दर्जे पर ही स्थान पाती दिखाई देती है। संविधान में स्त्रियों को पुरुषों सामान ही अधिकार दिए गए हैं। स्त्री की स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए विभिन्न कानून बनाए गए हैं परन्तु फिर भी उनकी स्थिति और दशा आज भी चिंतनीय ही है। स्त्री की चिंतनीय दशा को सुधराने के लिए स्वयं स्त्रियों को ही संघर्ष करना होगा तभी वह इस पितृसत्तात्मक समाज ने अपना स्थान बनाने में सफल होंगी। जहाँ इस समाज में स्त्रियों को तो संघर्ष करना ही पड़ता है वहीं दलित स्त्री होना और भी बड़ा पाप माना जाता है, ऐसे में उसे अधिक संघर्ष करना पड़ता है। अत: दलित समाज से आने वाली लेखिकाओं ने अपनी आत्मकथा के माध्यम से स्वानुभूति को समाज के समक्ष प्रस्तुत कर अपने संघर्षों से परिचित कर उसे जागृत किया और अपने अधिकारों की माँग की। प्रस्तुत शोध कार्य के द्वारा यह समझने का प्रयास किया जाएगा कि समाज में स्त्रियों की दशा और दिशा कैसी है? साथ ही दलित स्त्री की दशा और दिशा कैसी है?

एक सभ्य समाज की पहचान उस समाज की स्त्रियों की स्थिति को देखकर की जा सकती है। चूँकि जिस समाज में स्त्रियों की स्थिति अच्छी एवं सुदृढ़ होगी निश्चय ही वह समाज उच्च कोटि का होगा। भारतीय समाज एक लंबे समय से विभिन्न परिवर्तनों से गुजरा है। इस परिवर्तन में स्त्री की दशा में सबसे अधिक परिवर्तन हुआ है। स्त्रियों की स्थिति में लगतार गिरावट आती रही है। स्त्रियों को घर की चारदीवारी में ही कैद रखने की लगातार कोशिश ने उससे उसके अधिकारों एवं सम्मान को छीन लिया। वह मात्र पुरुषों के हाथों की कठपुतली बनकर ही रह गई। स्त्रियों की इस बदतर स्थिति का एक बड़ा कारण है पितृसत्तात्मक सोच। स्त्रियों की स्थिति में यदि बदलाव लाना है तो सबसे पहले उसे शिक्षित होने के लिए प्रेरित करना होगा। 'शिक्षित स्त्री के बिना शिक्षित पुरुष हो ही नहीं सकता। यदि पुरुषों और स्त्रियों में से केवल किसी एक के लिए सामान्य शिक्षा का प्रावधान करना हो तो यह अवसर स्त्रियों को दिया जाना चाहिए क्योंकि यह शिक्षा स्वयं अगली पीढ़ी को प्राप्त हो जाएगी।' स्त्री की दशा एवं दिशा में सुधार करने के लिए उसका शिक्षित होना अत्यंत आवश्यक है। ऐसा माना भी जाता है कि एक स्त्री शिक्षित होगी तो वह अपने आने वाली सात पीढ़ियों को शिक्षित कर उनकी स्थिति में सुधार कर सकती है। इस प्रकार वह अपना सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक किसी भी स्तर पर विकास करने में सफल भी होगी।

हिंदी साहित्य में स्त्री लेखिकाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। स्त्री लेखिकाओं ने स्त्री से संबंधित विभिन्न पक्षों को समाज के सामने लाने का प्रयास किया है। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों को दोयम दर्जे पर रखा जाता रहा है। इस मानसिकता का विरोध स्त्रियों ने अपने लेखन के द्वारा किया है, हालांकि पुरुष लेखकों ने भी स्त्रियों की पीड़ा को समझते हुए साहित्य में लेखन किया है लेकिन स्त्री लेखिकाओं द्वारा किया गया लेखन अधिक सार्थक प्रतीत होता है। चूँकि स्त्रियों ने इस पीड़ा को स्वयं झेला है, इसी कारण इस पीड़ा, त्रासदी

एवं संत्रास को सशक्त रूप में स्त्रियों ने ही अभिव्यक्त किया है।

हिंदी साहित्य में विभिन्न विधाओं में लेखन एक लंबे समय से चला आ रहा है। इस लेखन में स्त्री और पुरुषों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। परन्तु आत्मकथा लेखन के संदर्भ में स्त्रियों ने कभी बाद में अपने कदम इस विधा में जमाए। आत्मकथाओं में स्त्री लेखिकाओं का नाम बहुत बाद में जुड़ना शुरू हुआ, उसमें भी दलित स्त्री लेखिकाओं ने बहुत बाद में आत्मकथा लेखन शुरू किया। आत्मकथा के माध्यम से लेखक अपने जीवन और समाज के यथार्थ को हू-ब-हू प्रस्तुत करता है। इसके अंदर कल्पना की कोई गुंजाइश नहीं होती और यही इसकी मुख्य विशेषता है। *''आत्मन : विषये कथ्यते यस्मां सा आत्मकथा''*[1] अर्थात् लेखक अपने जीवन का चरित्र चित्रण स्वयं करता है। आत्मकथा एक ऐसा दस्तावेज है, जो लेखक के अनुभवों को प्रमाणिकता के साथ प्रस्तुत करता है, आत्मकथा लिखना एक जोखिम भरा कार्य है। दलित समाज के लेखकों ने अपने जीवनानुभवों को आत्मकथा के माध्यम से बिना किसी लाग-लपेट के प्रस्तुत किया है। आत्मकथा के महत्त्व को बताते हुए डॉ. जय प्रकाश कर्दम लिखते हैं कि, ''आत्मकथा लिखना नि:संदेह एक हिम्मत और जोखिम का काम है, बल्कि यूँ कहिए की तलवार की धार पर नंगे पैर चलना है। यदि लेखक सच्चाई पर टिका रहेगा तो उसका लहुलुहान होना निश्चित है, क्योंकि आत्मकथा नंगी सच्चाई की माँग करती है और इतना साहस बहुत कम लोगों में होता है, जो सामाजिक यथार्थ के साथ-साथ अपने जीवन के नंगे यथार्थ का सार्वजनिक प्रदर्शन कर सके।''[2] दलित लेखकों की स्वानुभूति ही उनकी आत्मकथा में चित्रित होती है।

हिंदी साहित्य में दलित आत्मकथाओं का लेखन सन् नब्बे के बाद से प्रारंभ हुआ। हिंदी की दलित स्त्री लेखिकाओं की आत्मकथाओं में जातिवादी, असामनता, सामाजिक एवं धार्मिक विषमता, अपमान, शोषण की पीड़ा नजर आती है। यह आत्मकथाएँ मात्र दलित जीवन के तथ्यों-सत्यों की घटनाओं को ही उजागर नहीं करती बल्कि हिंदू समाज की उस कट्टरवादी सोच को भी उजागर करती है जिसमें ऊँच-नीच, जातिगत पूर्वाग्रह, घृणा, हिंसा आदि को बड़े कैनवास पर उतारती हैं। दलित समाज से आने वाली स्त्री लेखिकाओं ने अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से पितृसत्ता के खिलाफ निडर होकर अपनी बात समाज के सामने रखने का भरसक प्रयास किया है। इस संदर्भ में विमल थोरात लिखती हैं कि, ''दलित स्त्री अब दलित वर्ग के भीतर की पितृसत्ता के खिलाफ भी गोलबंद हो रही है। उसकी अस्मिता का संघर्ष दोहरा, तिहरा है और मुक्ति की तलाश अधिक जटिल है। डॉ. अंबेडकर की वैचारिक को केंद्र में रखकर उसकी रचनात्मक पहल से निर्मित सोच ऐसे दिगंत की चाहना रखती है, जो असीम और पूरी तरह से खुला हो। गौतम बुद्ध, ज्योतिबा फुले, सावित्री बाई फुले और डॉ. अंबेडकर की वैचारिकी से प्रेरित दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर समतामूलक समाज रचना के लिए प्रतिबद्ध है।''[3] दलित लेखिकाओं ने स्त्री होने के कारण खास कर दलित स्त्री होने के कारण समाज के अत्याचारों को झेला और उस अत्याचार को उसने समाज के सामने प्रस्तुत करने और अपने जीवन की अभिव्यक्ति के लिए आत्मकथाओं को माध्यम बनाया है।

हिंदी साहित्य में स्त्री लेखिका द्वारा लिखी गई प्रथम दलित आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' है। यह आत्मकथा कौसल्या बैसंत्री द्वारा सन 1999 में लिखी गई। 'दोहरा अभिशाप' आत्मकथा में वर्णित सामाजिक, संस्कृति और दलित चेतना संबंधी राजनीतिक परिवेश ने उसे प्रामाणिक बनाने में सहायता की। 'दोहरा अभिशाप' आत्मकथा दलित स्त्री जीवन की संघर्ष गाथा है। यह आत्मकथा एक तरफ स्त्री होने का तो दूसरी ओर दलित होने के अभिशाप को भोगती स्त्री की व्यथा कथा को उजागर करती है। लेखिका अपनी आत्मकथा में इन दोनों ही अभिशाप को झेलती है इसीलिए उन्होंने अपनी आत्मकथा का नाम 'दोहरा अभिशाप' रखा। कट्टरपंथी समाज ने स्त्रियों पर आदर्श के नाम पर, जाति के नाम पर अपना शिकंजा कस रखा है, यह शिकंजा पितृसत्तात्मक समाज का है जिसने अपनी जकड़ में स्त्री को बुरी तरह कैद कर रखा है। उसकी इसी कैद के कारण स्त्री अपना किसी भी तरह का विकास करने में असमर्थ दिखाई देती है। यदि इस असमर्थता को दूर करना है, तो स्त्रियों को जागृत होना ही पड़ेगा। इसके लिए स्त्रियों को शिक्षा का हाथ थामना अत्यंत आवश्यक है। चूँकि हमारे समाज में कट्टरवादी सोच रखने वाले ब्राह्मणों का दबदबा तत्कालीन समय से चला आ रहा है। इसी सोच के प्रति जागृत होना जरूरी है तभी दलितों का विकास संभव है। स्त्री शिक्षा एवं उसके विकास के प्रति चिंता व्यक्त करते हुए कौसल्या जी अपनी आत्मकथा में लिखती हैं कि, ''जब तक दलितों में जागृति नहीं आती, शिक्षा नहीं बढ़ती तब तक दलितों

का शोषण जारी रहेगा। ब्राह्मण से टक्कर लेने के लिए पढ़ाई-लिखाई होना चाहिए, ज्ञान प्राप्त करना चाहिए जैसे डॉ. अंबेडकर जी ने हासिल किया। तभी वह उनसे टक्कर लेते रहे।''[4] शिक्षा के अभाव में हमें अपने अधिकारों की समझ नहीं होती, जिसकी वजह से दलित समाज, पिछड़ी जाति हो या फिर स्त्री इन्हें दोयम दर्जे पर ही रखा जाता है और इनका शोषण किया जाता है।

कौसल्या जी ने अपने जीवन में भोगे हुए यथार्थ को अपनी आत्मकथा में लिखा। आत्मकथा में दलित समाज के रीति-रिवाज, छुआछूत, खान-पान आदि का यथार्थवादी वर्णन किया है। लेखिका ने 'दोहरा अभिशाप' में बताया है कि कैसे उनके साथ सामाजिक स्तर पर भेदभाव होता था। उन्हीं के आस-पड़ोस के लोग उनसे घृणा करते उन्हें निम्न स्तर का मानते थे। अपने साथ हुए भेदभाव का वर्णन करते हुए लिखती हैं कि, ''मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मेरे हाथ लगाने से ऐसा क्या हो गया। जंगला का घर हमसे अच्छा नहीं था। घर में बकरियां बंधी थीं, उनके मलमूत्र से बहुत बदबू आ रही थी, फिर भी जंगला हमसे छुआ-छूत बरतती थी।''[5] यह छुआछूत आस-पड़ोस तक ही देखने को ना मिलता बल्कि विद्यालय जैसे पवित्र स्थान पर भी दलित वर्ग को संघर्ष करना पड़ता था। बचपन से ही निम्न जाति के बच्चों को समाज द्वारा यह आभास करा दिया जाता था कि वह निम्न वर्ग से आते हैं और समाज में उनका स्थान अत्यंत निम्न स्तर का है। अपने साथ हुए इस अन्याय के बारे में वह लिखती हैं कि, ''मैं अस्पृश्य हूँ, यह भावना मेरे मन से जाती ही नहीं थी। मुझे स्कूल में रखे घड़े से पानी निकालकर पीने में भी डर लगता था।''[6] बचपन से ही उन्हें जातिगत अभिशाप को भोगना पड़ा। वह इस भेदभाव से बेहद आहत हो जाती थीं।

सवर्णों द्वारा दलित समाज को पददलित किया जाता रहा है। आज भी यह स्थिति जस की तस दिखाई देती है। आधुनिकता के दौर में भी जातिवाद को लेकर कोई खास परिवर्तन दिखाई नहीं देता। आज भी यदि कोई दलित समाज से आने वाली स्त्री अपने दम पर कोई मुकाम हासिल कर भी ले तब भी उसे उसके द्वारा प्राप्त पद से नहीं पहचाना जाता बल्कि 'दलित स्त्री' विशेषण से ही पहचान दी जाती है। उसे समाज की सभी वर्जनाओं को झेलना पड़ता है। 'दोहरा अभिशाप' में लेखिका अपने साथ घटित एक घटना का वर्णन करते हुए लिखती है कि, ''ये हरिजन बाई जा रही है। दिमाग तो देखो इसका बाप तो भीख मांगता है और ये साइकिल पर जाती है।''[7] अत: सवर्णों के लड़के-लड़कियां इसी तरह के भद्दे और घृणास्पद व्यंग्य करते और उनका मजाक उड़ाते हुए हँसते थे। इस तरह से किया जा रहा अपमानजनक व्यवहार लेखिका के बाल मन को हीन भावना से ग्रस्त करता चला जा रहा था। वह स्कूल में हो रही किसी भी तरह की प्रतियोगिता में हिस्सा भी नहीं ले पाती थी। ''एक तो दलित जाति से, दूसरे गरीब, तीसरे स्त्री होने के कारण लेखिका को कई बार अपमानित और बेइज्जत होना पड़ा। स्कूल में हुए अपमान लेखिका के ऊपर पुस्तक चोरी का झूठा इलजाम तथा कक्षा की पिकनिक में लेखिका की तेल की शीशी का प्रयोग न करना लेखिका के बाल मन में बुरी तरह से हीन भावना पैदा कर गया।''[8]

दलित समाज आर्थिक संघर्ष से भी जूझता हुआ दिखाई पड़ता है। जहाँ सवर्णों द्वारा उन्हें जातिगत स्तर पर प्रताड़ित किया जाता है, वहीं आर्थिक स्तर पर भी उनका शोषण होता है। अपने जीवन को आसान बनाने के लिए स्त्रियाँ भी संघर्ष करती दिखाई देती हैं। 'दोहरा अभिशाप' में वह लिखती हैं कि, ''माँ भी चूड़ियाँ, कुंकुम, शिकाकाई वगैरह बेचने लगी। वह सिर्फ रविवार को ही गड्डी गोदाम अपनी बस्ती पास वाली पॉश कॉलोनी में यह सामान बेचने जाती थी।''[9] लेखिका अपनी माँ के संघर्ष को चित्रित करते हुए यह दिखाने का प्रयास करती है कि कैसे एक दलित समाज से आने वाली स्त्री को अपना जीवनयापन करने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। लेखिका ने जिस संघर्ष को करते अपनी माँ को देखा वह भी इतना पढ़े-लिखे होते हुए स्वयं भी झेलती है। उसके इन संघर्षों को झेलने का एक बड़ा कारण था लेखिका का अंतर्जातीय विवाह करना। हालांकि लेखिका का विवाह एक प्रेम विवाह था उनके पति सरकारी अधिकारी थे, जिन्हें ताम्रपत्र से सम्मानित किया गया था। वह अंबेडकरवादी चिन्तक भी रहे जिन्होंने 20 से भी अधिक पुस्तकों का लेखन किया। इतने पढ़े-लिखे विद्वान् से विवाह होने के पश्चात् भी लेखिका को वह सम्मान नहीं मिला जिसकी वह असल मायने में अधिकारणी थी। वह अपने पति द्वारा प्रताड़ित होती रहीं। वह अपने पति की क्रूर मानसिकता के बारे में लिखती हैं कि, ''वह अपने मुंह से स्वयं कहता था कि मैं बहुत शैतान आदमी हूँ। उसने मेरी इच्छा, भावना, खुशी की कभी कद्र नहीं की, बात-बात पर गाली, वह भी गन्दी-गन्दी और हाथ उठाना, मारना भी बहुत क्रूर तरीके से उसे आदत थी।''[10] अपने पति द्वारा वह शारीरिक

और मानसिक दोनों ही तरह की प्रताड़नाओं को झेल रही थीं। इतना ही नहीं उन्हें आर्थिक संकटों से भी गुजरना पड़ता था। वह अपनी हर छोटी-मोटी जरूरत को पूरा करने के लिए पति से ही पैसों की मांग करती थीं, जिसके बदले उन्हें सिर्फ निराशा ही हाथ लगती थी। अपनी आर्थिक स्थिति के बारे में वह बताती हैं कि, ''मेरे कपड़े, चप्पल की सिलाई के लिए पैसे लेने में बहुत पीछे पड़ना पड़ता था, तब पैसे देता था। वे भी पूरे नहीं पड़ते थे। कभी नहीं भी देता। जब अगले महीने पैसे देने की बात आती तब कुछ-न-कुछ कारण निकालकर झगड़ा करता। मारने दौड़ता, गाली देता।''[11] अत: पति द्वारा किया जा रहा यह अमानवीय व्यवहार लेखिका को अत्यंत हताश कर देता है। लेखिका का मानना है कि स्त्रियाँ आर्थिक रूप से पुरुषों पर निर्भर रहती हैं, इसी कारण उन्हें इतना अपमान सहन करना पड़ता है, यही कारण है कि उन्हें अपने पति के अधीन रहने के लिए मजबूर होना पड़ता है। सामाजिक बंदिशों के कारण लेखिका को भी अपने पति के अत्याचारों को सहन करना पड़ा। परन्तु अत्याचार का सिलसिला जब अधिक बढ़ता गया तब लेखिका ने इस सबका विरोध करना शुरू किया। कौसल्या जी एक पढ़ी-लिखी और डॉ. बाबा साहब के विचारों को मानने वाली और उनके आदर्शों पर चलने वाली स्त्री थीं। अपने साथ हो रहे इस अन्याय के खिलाफ वह पुरजोर कोशिश करती हैं। अपने पति के खिलाफ कोर्ट केस करती हैं और दस वर्षों के एक लम्बे संघर्ष के बाद कोर्ट से केस जीतकर अपने पति से तलाक लेकर स्वतंत्र जीवनयापन करती हैं।

'दोहरा अभिशाप' आत्मकथा मात्र एक स्त्री की ही कथा नहीं है, बल्कि यह तो संपूर्ण स्त्री जाति के साथ हो रहे अन्याय की कथा है। स्त्रियाँ पितृसत्तात्मक समाज की प्रताड़ना का लगातार शिकार होती चली आ रही हैं। उसमें भी दलित और आदिवासी स्त्रियों को सवर्णों द्वारा तिरस्कार एवं घृणा की दृष्टि से देखना, पुरुषों द्वारा उसको अपनी हवस का शिकार बनाना, सामाजिक स्तर पर उसे कमतर मानना आदि। यह सब के कारण स्त्रियाँ दबाब, भय एवं घुटन में जीवन जीने को मजबूर रहती हैं। ऐसी ही स्त्रियों को जागृत करने का कार्य लेखिका ने किया है। वह उन दबी-कुचली स्त्रियों को अपने अधिकार प्राप्त करने के लिए जागृत भी करती हैं। इसलिए उन्होंने 'महिला समता समाज' नामक संस्था भी बनाई। कौसल्या जी ने 'दोहरा अभिशाप' आत्मकथा में जीवन के प्रत्येक पक्ष को पूर्ण सच्चाई के साथ लिखा है। उन्होंने अपने साथ हो रहे शोषण का चित्रण ही नहीं किया बल्कि प्रत्येक स्त्री को यह शिक्षा भी दी कि यदि उनके साथ किसी भी तरह का अन्याय एवं अत्याचार हो तो उसके विरोध में आवाज उठानी बेहद जरूरी है। जब तक स्त्रियाँ स्वयं अपने अधिकारों के लिए संघर्ष नहीं करेंगी तब तक यह कट्टरपंथी समाज उन्हें समाज में सम्मान का अधिकार नहीं देगा। लेखिका जातिव्यवस्था का घोर विरोध करती है और उन सभी बन्धनों को तोड़ने का प्रयास करती है जिनके द्वारा यह समाज जहरीली मानसिकता का शिकार बन चूका है। अत: जब तक समाज से जातिव्यवस्था समाप्त नहीं होगी तब तक समतामूलक समाज की स्थापना भी नहीं होगी। अंतत: कहा जा सकता है कि 'दोहरा अभिशाप' दलित, उपेक्षित, वंचित एवं शोषित स्त्रियों को संघर्ष करने की प्रेरणा देती है।

शोधार्थी
हिंदी विभाग
जयप्रकाश विश्वविद्यालय छपरा, छपरा

सन्दर्भ सूची

1. वर्मा, सं. धीरेन्द्र, (संवत 2020) : हिंदी साहित्य कोश भाग 01, वाराणसी, ज्ञानमंडल लिमिटेड, पृ. 77
2. कर्दम, जयप्रकाश, (2003) : नया मानदंड (पत्रिका-दलित आत्मकथा अंक), वाराणासी, पृ. 15
3. थोरात, विमल, (2010) : दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, दिल्ली, अनामिका पब्लिशर्सस एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, पृ. 10
4. बैसंत्री, कौसल्या, (2012) : दोहरा अभिशाप, दिल्ली, परमेश्वरी प्रकाशन, पृ. 26
5. वही, पृ. 77
6. वही, पृ. 53
7. वही, पृ. 61
8. सं. डॉ. तेजसिंह, (2010) : अपेक्षा (पत्रिका जुलाई-दिसंबर अंक), दिल्ली, पृ. 23
9. बैसंत्री, कौसल्या, (संस्करण 2012) : दोहरा अभिशाप, दिल्ली, परमेश्वरी प्रकाशन, पृ. 63
10. वही, पृ. 104
11. वही, पृ. 105

डॉ. पूनम सिंह

कुंवर नारायण के काव्य में मानव नियति की चिन्ता

शोध सार

कुंवर नारायण हिंदी साहित्य के अप्रतिम रचनाकार हैं। इनकी विराट रचना दृष्टि उनकी कविताओं के विस्तृत कैनवास पर मानवीय जीवन नियति के अनेकविध रंग फैले हुए हैं। इतिहास, मिथक, भारतीय व पाश्चात्य दर्शन के समन्वय से निर्मित है। समकालीन सामाजिक, राजनीतिक जीवन स्थितियों, विरोधाभासों के व्यापक फलक पर आधुनिक मनुष्य की नियति की अभिव्यक्ति कुंवर नारायण की कविता के मूल में है। कुंवर नारायण के काव्य में मानवीय वेदना समग्र सृजनात्मक विकलता के साथ मौजूद है। मानवीय वेदना की सघनता समकालीन कविता में उनका तेवर उनके यहां मानव नियति की चिन्ता के रूप में अभिव्यक्ति पाती है। जो इतिहास, दर्शन और परम्परा, आधुनिकता के गहरे अंत:संघर्षों के क्रोध से उपजती है। बौद्धिकता और संवेदना दोनों धरातलों पर मानव नियति की चिंता कुंवर नारायण की कविता का उपजीव्य है और प्रेरक आवेग भी है।

पारिभाषिक बीज शब्द

मानव नियति, साम्प्रदायिकता, मिथक, वैश्वीकरण, उदारीकरण, उत्तर आधुनिकताबोध, आर्थिक साम्राज्यवाद, प्रॉक्सी वार, आत्मसजगता

प्रस्तावना

कुंवर नारायण हिंदी साहित्य के अत्यंत महत्वपूर्ण कवि हैं। हिन्दी कविता में उनकी महत्ता उनके काव्य में निहित केन्द्रीभूत मानव नियति के चिंतन में है। उनकी कविता के दो आधारभूत पार्श्व हैं : प्रथम- वैचारिक गहनता द्वितीय- सांवेदनिक तरलता। कुंवर नारायण की रचना दृष्टि बौद्धिकता से दीप्त संवेदना से निर्मित हैं। यही कारण है उनमें भावुकता के अतिरेक से ज्यादा चिंतनपरकता है। उनमें समकालीनता के दबाव के बावजूद परम्परा के प्रति गहरा राग होते हुए भी विराग है और वर्तमान के प्रति बौद्धिक आत्मसजगता भी। इस कवि का मिथकीय आख्यानों और उनसे नि:सृत दार्शनिकता से आत्मीय लगाव है। उनके लिए मिथकों में निहित चरित्र नये मानवीय अभिप्रायों की खोज है और इतिहास समय की क्रूर निशानदेही का साक्ष्य है। वे मिथक, इतिहास, दर्शन के संलयन से आधुनिक युग संवेदना को शांत व निस्पृह भाव से उकेरते हैं। कुंवर नारायण मानवीय सभ्यता के समकालीन युग प्रश्नों का उत्तर भारतीय ज्ञान परम्परा में खोजते हैं और उसके जैविक विरासत में आ रहे तब्दीलियों को उत्तरआधुनिक संदर्भों में परखते हैं। उनकी प्रमुख काव्य-कृतियों में 'चक्रव्यूह' (1956),'परिवेश : हम तुम' (1961), 'आत्मजयी' (खंडकाव्य : 1965),'अपने सामने' (1979),'कोई दूसरा नहीं' (1993), 'इन दिनों' (2002), 'वाजश्रवा के बहाने' (खंडकाव्य : 2008),'हाशिए का गवाह' (2009) तथा 'कुमार जीव' (खंडकाव्य : 2015),'सब इतना असमाप्त' (2018) हैं। जिनमें मानव नियति की चिंता गहनता के साथ उद्घाटित हैं।

कुंवर नारायण की कविताएं नियतिवादिता का अतिक्रमण करती कविताएं हैं। कुंवर नारायण के काव्य में नियति भाग्यवाद या प्रारब्ध से नहीं जुड़ा है। बल्कि इसका अर्थ वर्तमान राजनैतिक, सामाजिक विषमताओं से है। जिसके कारण मनुष्य का अस्तित्व संकटग्रस्त है। चौतरफा विवशताओं में कैद आदमी खुद ही प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से युद्धरत है। 'चक्रव्यूह',

'युद्ध' और 'अदालत', 'मुकदमा', ' कैद', 'अपराधी' या गलत समझ लेने की आशंकाओं, दुश्चिंताओं, संदेह, ऐतिहासिक इमारतों, चरित्रों के रूपक मनुष्य और उसकी नियति की अवधारणा से गहन रूप से जुड़े हैं, जिन्हें कुंवर नारायण मिथक और इतिहास के व्यापक संदर्भ में निश्चित अर्थ देते हैं। 'आकारों के आसपास' अपने कहानी संग्रह की भूमिका में कुंवर नारायण ने लिखा है-''अक्सर इन कहानियों में पात्रों और घटनाओं को केवल गवाही की तरह लाकर मनुष्य की नियति का मुकदमा पेश किया गया है।'' लगभग युद्ध की तरह ही अदालत भी कुंवर नारायण के काव्य में केन्द्रीय रूपक की तरह प्रयुक्त हुआ है। जहां सीधे-सीधे लड़ाई नहीं है, वहां भी अंतहीन अदालत हैं, कठघरे हैं, ताले और पहरे हैं, क़ैद और गश्त है, अनकिए गुनाह हैं ''कोई गश्त लगा रहा है मेरी यादों में / मैं पहरे में हूं।''[1]

युद्ध आत्मसंघर्ष भी हो सकता और जीवन संघर्ष भी और इसी तरह अदालत ख़ुद की निगाह में सही या ग़लत होने या नैतिक, अनैतिक होने का बोध भी हो सकता है-''कई बार पहले भी मुझे मुक्त किया जा चुका है/ दीवारों से, तालों से, चौकीदारों से/ लेकिन इस भय से नहीं छूट पाता कि हर समय/ और एक घर की ओर बेतहाशा भागा जा रहा हूं।''[2] युद्ध, अदालत, क़ैद, मुक़दमे ये सभी मनुष्य के अस्तित्व से जुड़े होने के नाते इनमें घिरना कहीं-न-कहीं मानव की नियति है। नियति अवस्था विशेष भी हो सकता है और स्थान और काल विशेष भी। महत्वपूर्ण यह है कि मनुष्य इनसे कैसे उबरे? कुंवर नारायण के काव्य में नियति उस टेस्टिंग टूल की तरह है- जो हर हाल में मनुष्यता में बने रहने के नैतिक साहस को परखता है और दुर्निवार परिस्थितियों में मनुष्य के अपराजित साहस और जिजीविषा को मानवीय सभ्यता के समक्ष रखता है-''ख़बर है / कि भ्रष्टाचार के विरूद्ध / बिल्कुल अकेला लड़ रहा है यह युद्ध / कुराहा गांव का ख़ब्ती सम्मेदीन''[3] जो नियति के सामने बेहाल मानवीय अस्ति को नैतिक साहस के बूते पूरे सामर्थ्य के साथ बचा लेती हैं- ''भरपूर उजाले में रहे उसकी हिम्मत / दुनिया को ख़बर रहे / कि एक नैतिक साहस का / नाम है सम्मेदीन''[4] कुंवर नारायण की कविताएं नियति के आगे घुटने टेकने के बजाय मनुष्य की अदम्य जिजीविषा को शक्ति समर्थन देती है-''जल्दी ही मारा जायेगा। / सिर्फ उसका उजाला लड़ेगा।''[5]

कुंवर नारायण पर भारतीय दर्शन (वेदांत व गीता) और पाश्चात्य साहित्यिक, सांस्कृतिक (अस्तित्ववाद व क्षणवाद) विचारधाराओं, मूल्यों का प्रभाव रहा। वैश्विक साहित्य से उनकी अनन्यता उन्हें विश्वदृष्टि प्रदान करता है। काव्य के अलावा कहानी, आलोचना, विश्व फिल्म व कला समीक्षा और अनुवाद जैसी सृजनशील विधाओं में अंतर अनुशासनिक विषयों के प्रति साहित्यिक एप्रोच उनकी चिंतनशीलता को सार्वभौमिक बनाता है। हर देशकाल में दुख, अन्याय, हिंसा मानव जीवन के शाश्वत प्रश्न रहे हैं। कुंवर नारायण वैश्विक फलक पर उन्हीं शाश्वत प्रश्नों से टकराते हुए मनुष्यता की युग संदर्भ व्याख्या अपनी कविताओं में करते हैं। मनुष्य को समग्रता में देखने की यह दृष्टि उन्हें अपने समकालीनों में निरंतर प्रासंगिक बनाता है।

विश्व महायुद्धों के विध्वंसों तथा तमाम प्राकृतिक त्रासदियों के बावजूद मानवीय सभ्यता का अस्तित्व बरक़रार है। मानवीय सरवाइवल की यहीं शक्ति कुंवर नारायण की कविता का नाभिक केन्द्र है। यही कारण है उनकी कविताएं मानवीय अस्तित्वबोध के गहरे संकट से बार-बार उबरती, पुनर्जीवित होती हैं। बकौल कुंवर नारायण ''कविता जीवन-यथार्थ को आत्मीय और भावात्मक ढंग से अनुभव करने और सोचने का एक संवेदनशील माध्यम है।''[6] इसीलिए ''सृजनरत संवेदनाओं की जिस ठोस जमीन पर वे दृढ़ता से खड़े दिखाई देते हैं; वहां समय और स्थान, जीवन और विचार, समाज और राजनीति तथा अनुभवों और जिजीविषा की पूरी आवाजाही है। एक शास्त्रीय अनुशासन में यदि कुंवर नारायण की कविताओं की आवाज का लेखा-जोखा बनाया जाए तो उसमें आज के व्यक्ति के आत्मसंघर्ष, उसके आत्मबोध और नैतिक जिम्मेदारियों के सूक्ष्म ब्यौरे मिलेंगे। उसमें मनुष्य की पीड़ा और उसके संघर्षों के साथ सहानुभूतिपूर्ण संवाद सुनाई पड़ता है।''[7] स्वाधीनोत्तर भारतीय समाज की राजनैतिक, सामाजिक परिस्थितियों में घिसटते मन की नियति को कुंवर नारायण अपने प्रथम काव्य संग्रह 'चक्रव्यूह' में अभिव्यक्त करते हैं-''कौन कब तक बन सकेगा कवच मेरा?/ युद्ध मेरा, मुझे लड़ना''[8] चक्रव्यूह में घिरना मानव नियति है तो उसको भेदना भी उसका लक्ष्य है- 'मैं नवागत वह अजित अभिमन्यु हूं/ प्रारब्ध जिसका गर्भ ही से हो चुका निश्चित, / अपरिचित जिन्दगी के व्यूह में फेंका हुआ उन्माद, / बांधी पंक्तियों को तोड़/ क्रमशः लक्ष्य तक बढ़ता हुआ जयनाद'[9]

आज हर आम, खास आदमी जिस आतंक, असुरक्षा,

अन्याय पूर्ण व्यवस्था में जीने के लिए अभिशप्त है। कुंवर नारायण की कविता जीवन की उन्हीं विडम्बनाओं, नियति, दुर्दशाओं की ओर बार-बार हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। आज हर व्यक्ति यह महसूस करता है- ''मेरे ही लिए यह व्यूह घेरा,/ मुझे हर आघात सहना, / गर्भ-निश्चित मैं नया अभिमन्यु, पैतृक युद्ध!''[10] जिसे युद्ध की प्रतिध्वनियों के बीच जगाकर लोरियां सुनाई गई हैं। जो निर्दोष होते हुए भी पैतृक युद्ध से घिरा हुआ है। कुंवर नारायण मनुष्य की उस नियति की ओर भी इशारा करते हैं-''आहूत हर युद्धाग्नि में / वह जीव हूं निष्पाप/ जिसको पूज कर मारा गया''[11] कुंवर नारायण के काव्य में नियति अनाहूत विडम्बनाओं का वह कर्मफल है। जिसे भोगने के लिए मनुष्य अभिशप्त है। आज इंसानी रिश्ते-नाते बेहद संदेहास्पद हो गए हैं। प्रेम और विश्वास जैसे मूल्य अपनी अर्थवत्ता खो चुके हैं। परिणामस्वरूप आज ''एक कांटा देह में सन्देह बन गड़ता रहा/आदमी हर दिव्यता के बाद भी सड़ता रहा''[12]

वक्त के साथ चीजें बदल जाती हैं। जो नहीं बदलता; वह है एक अभावग्रस्त इंसान की मुक्कमल तस्वीर-''घोड़ी बेच घिर्राऊ रिक्शा ले आये, / इक्का-दिन बीते अब रिक्शा-दिन आये : / एक जून दाल भात, एक जून चना, / भरते पेट घोड़ी का कि भरते पेट अपना : / जान लिये लेती है रिक्शा की खिंचाई, / बाक़ी कमर तोड़ रही महंगाई।''[13] जब घिर्राऊ के लिए आसमान छूती महंगाई के दौर में अपने परिवार और घोड़ी का पेट भर पाना मुश्किल हो गया तब मजबूरन उसे घोड़ी बेचकर रिक्शा खरीदने के लिए विवश होना पड़ा। घिर्राऊ रिक्शा को घोड़ी के विकल्प रूप में चुनता तो है लेकिन घिर्राऊ के लिए घोड़ी की तरह भूखे पेट सवारी और सामान समेत रिक्शा खींचना अत्यन्त प्राणान्तक हो गया। घोड़ी की जगह घिर्राऊ द्वारा रिक्शा घिर्राये जाने की पीड़ा जैसे उसकी नियति का हिस्सा हो।

देश में हिंसा, साम्प्रदायिकता तथा अलगाववादी साजिशें आम इंसान की हालत बद से बदतर कर रखी है। वैश्वीकरण, उदारीकरण जैसी नवीन वैश्विक व्यवस्था ने मनुष्य, मनुष्यता की अवधारणा को ही अवमूल्यित कर दिया है। बढ़ते आर्थिक साम्राज्यवाद ने महाशक्तियों के बीच सत्ता वर्चस्व कायम करने की अंधी होड़ मचा रखा है। आणविक हथियारों का संग्रहण, खरीद-फरोख्त ने 'विश्व कुटुम्बकम्' की संकल्पना को क्षत-विक्षत कर तृतीय विश्व युद्ध की संभावना को इस कदर बढ़ा दिया है कि हर आदमी आतंक, असुरक्षा के साये तले सांसें ले रहा है। 'प्रॉक्सी वार' की संभावना आणविक युद्ध के खतरे को आमंत्रित कर रही है-ऐसी स्थिति में मानव का अस्तित्व ही संकटग्रस्त हो गया है। कुंवर नारायण की कविताओं में उत्तरोत्तर आधुनिक विश्व के इन संकटों की अनुगूंजें सुनाई देती हैं। वे अपने समय की हर भयावह आहट से हमें आगाह करते हैं। 'इन दिनों' काव्य संग्रह की 'शान्ति-वार्ता' कविता बारूद के ढेर पर बैठी विश्व व्यवस्था की स्त्रातिजी और दर्द दोनों बयां करती है। कुंवर नारायण की कविताएं मानवीय संकट से लगातार मुठभेड़ करती हैं। हमारी संवेदनाओं को निरन्तर झकझोरती हैं। आदमी जिस न्याय पाने के लिए अदालत में मुकदमे लड़ता है। अन्ततः उसकी स्थिति यही रह जाती है- वह न जीतता है न हारता है, वह सिर्फ सजा पाता है - ''एक भी आदमी / साबित नहीं बचा था / दूर दूर तक / उनका चूरा ही चूरा फैला था / वे जो थक थक कर / चूर हो गये थे / फैसलों के आजीवन इन्तजार में / जिन्हें सुनायी गयी / मौत की सजा / कब के मर चुके थे / जिन्हें रिहाई दी गयी / पूरी सजा काट चुके थे''[14]

कुंवर नारायण इतिहास के काले अध्यायों को सामने रखकर शासन सत्ता को सचेत करते रहते हैं। इनके यहां इतिहास के हिंसक पक्ष के बरक्स उसके सांस्कृतिक पक्ष को ज्यादा तरजीह दी गई है। कुंवर नारायण ने अपनी इतिहास दृष्टि के बारे में कहा है कि ''उसे पढ़ते हुए जाने-अनजाने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अवधारणा पुष्ट होती है। लिखते समय मेरे मन में यह आकांक्षा रहती है कि कलाओं, साहित्यों और विचारों के ऐसे उदात्त संसार का आभास दे सकूं जो विभिन्नताओं के योग से बनता है, उनके पृथकत्व से नहीं; जो राजनीतिक और जातीय सीमाओं से ऊपर होता है। सार्वभौमिक और सार्वकालिक मानसिकता से उत्प्रेरित इतिहासबोध जो आदमी की दृष्टि को विस्तृत करे, उसे संकीर्ण नहीं। इतिहास का एक मतलब अगर याद करना और याद रखना है तो जीवन को याद करना चाहूंगा : उसकी विकराल फौजी टकराहटों में नहीं, प्यार की मधुर आत्मीय सुधियों, आहटों और फुसफुसाहटों में! इतिहास में बहुत कुछ याद करने को है, सिर्फ लड़ाइयां नहीं।''[15] कुंवर नारायण 'अपने सामने' काव्य संग्रह की कविताओं में 'लखनऊ', 'श्रावस्ती', 'रास्ते' (फतेहपुर सीकरी), 'अनात्मा देह' (फतेहपुर सीकरी), 'दिल्ली की तरफ' तथा 'इब्नेबतूता', 'कोई दूसरा नहीं' काव्य संग्रह की

'नालन्दा और बख्तियार', 'गोल कुंडा की एक शाम', 'महा भारत', 'अयोध्या, 1992' तथा ''इन दिनों'' काव्य संग्रह की 'कुतुब का परिसर' 'अमीर खुसरो' आदि कविताओं में शासन सत्ता के अमानवीय चेहरे को उजागर किया है। उन्होंने 'अभिनवगुप्त', 'चन्द्रगुप्त मौर्य', 'सरहपा', 'आजकल कबीरदास', 'खजुराहो','कोणार्क','श्रावस्ती' ,'मस्तकविहीन बुद्ध प्रतिमा' आदि कविताओं में इतिहास के सांस्कृतिक पक्षों को उद्घाटित किया है। कुंवर नारायण की कविताएं जब इतिहास से वर्तमान में ट्रांजिट करती हैं तो वे समय के घनत्व को और भी बढ़ा देती हैं। 'लूट-पाट आज भी जारी है' (हाशिए का गवाह' काव्य संग्रह, पृ. 35) कविता में भ्रष्टाचार की ऐतिहासिक परम्परा पर कटाक्ष है। महमूद भारतीय इतिहास में लुटेरे की तरह याद किया जाता रहा है। लेकिन आज भी लोकतंत्र में नेता महमूद की तरह ही जनता को लूटने में लगे हैं। जहां अनुमानत: लूट और पाट का अनुपात अरबों में होगा अगर डालरों में उसकी कीमत आंकी जाये। इसी संग्रह की कविता फारसी कवि फिरदौसी कृत 'शाहनामा' कविता है- ''बादशाह के हुक़म था / कि शाहनामा लिख, / वरना इब्ने-सिना की तरह / महमूद की गजनी में न दिख! / ख़ुशक़िस्मत था फिरदौसी / कि बादशाह को / पसंद न आया उसका 'शाहनामा' / वरना मुमकिन है क़लम कर दिए जाते / उसके साथ ताकि वह / दूसरा शाहनामा न लिख सके।''

'कुमारजीव' खंडकाव्य ग्रंथ जो चौथी शताब्दी के प्रकांड विद्वान, अनुवादक, चिंतक, भाषाविद् के जीवन चरित्र (344-413 ईस्वी) पर आधारित है। 'कुमारजीव' की जीवन-यात्रा जो कूछा, कश्मीर, काशगर, ल्यांगचओ, छांग-आन के मध्य गुजरते अनेक राजनैतिक विडम्बनाओं की साक्ष्य है। कुमारजीव ऐसे बुद्धिजीवी का प्रतीक हैं जिसका ज्ञान और विद्वता उसके लिए संकट बन जाता है। राज्य सत्ताएं जिसके ज्ञान पर बलात अधिकार करना चाहती हैं। वह साम्राज्य के लिए 'लड़ाई में जीता हुआ सबसे अनमोल रत्न है' जिसे ल्वीकुआंग अपने सम्राट को भेंट करने के लिए उसे ले जा रहा है। वह अपनी विद्वता के कारण राजनीतिक कारावास में रहने के लिए अभिशप्त है। राज-सत्ताएं हर दौर में आततायी रही हैं। जिसकी प्रतिध्वनियां तब से लेकर अब तक समकालीन राजनीति में भी गूंज रहीं हैं-''सम्राट के आतंक से घबराकर / लोगों ने धीमे बोलना सीख लिया है / कभी-कभी तो इतना धीमे बोलते हैं / मानो वह भाषा में नहीं / केवल आहों और हिचकियों में बोल रहे हों''[16]

साम्प्रदायिकता और धर्मोन्माद जब राजनीति का चोला ओढ़ती है तो उसका रूप कितना विद्रुप हो जाता है। इसका प्रमाण है ''अयोध्या, 1992'' कविता। कवि धर्म के ठेकेदारों और ईश्वर दोनों से ही कवि जबाव-तलब करता है- ''हे राम, जीवन एक कटु यथार्थ है / और तुम एक महाकाव्य ! / तुम्हारे बस की नहीं / उस अविवेक पर विजय / जिसके दस बीस नहीं / अब लाखों सिर-लाखों हाथ हैं, / और विभीषण भी अब / न जाने किसके साथ है!''[17]

कुंवर नारायण की कविताओं में निर्दोष व्यक्ति के बार-बार गलत समझे जाने, गलत लोगों के गिरफ्त में आने, सजायाफ्ता होने की यातना से ग्रस्त होने, बेवजह उत्पीड़ित किये जाने के चित्र व बिम्ब बार-बार आते हैं। जो मानव नियति को विविध रूपों में रेखांकित करता है। झूठ का साथ न देने वाले लोगों की यहीं नियति है-''उसके दोनों हाथ उसके पीछे बांध दो, / और एक बेहतरीन झूठ उसकी आंखों पर, / शायद वह कुछ नहीं कहेगा / वह यह मान लेगा कि फिलहाल / इसी में उसका भला है।''[18] मानवीय रिश्तों की स्वार्थपरता आज अपने जिस चरम पर है। उसी का परिणाम है ये 'किसी ने कहा-''लड़ो, / जिंदगी हक की लड़ाई है / हथियार उठाया तो देखा / मेरे खिलाफ पहला आदमी / मेरा भाई है।'[19]

मनुष्यता को बचाये रखना कुंवर नारायण की कविता का मूल मर्म है। बकौल कुंवर नारायण-पिछली सदी में हम देख चुके हैं कि फौजी और तानाशाही व्यवस्थाओं में भी साहित्य ने किस तरह बुनियादी मानव मूल्यों को हमारी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया। महायुद्धों और यातना शिविरों के बावजूद कविता में जो एक शब्द बार-बार बचकर गूंजता रहा। वह है 'सरवाइवल'। जीवन का टिके रहना और उसकी अदम्य जिजीविषा। मनुष्यता को बचाये रखना कुंवर नारायण की कविता का मूल अभिप्रेत भी है।

''इन दिनों'' संग्रह की ज्यादातर कविताएं मनुष्यता, नैतिकता, मानवीय संवेदना को बचाये रखने की जद्दोजहद की कविताएं हैं। कुंवर नारायण की कविताएं भौतिक उन्नति से ज़्यादा आत्मिक उन्नति को तरजीह देती हैं। उनके यहां आत्मिक मूल्यनिष्ठता एक ऐसी आलोक गंगा है जिसमें भौतिक जगत के समानान्तर की दो दुनिया व्याप्त है 'आत्मजयी' और 'वाजश्रवा के बहाने'। 'आत्मजयी' जहां मृत्यु की ओर से जीवन को देखने की कोशिश है तो वहीं 'वाजश्रवा के बहाने'

में जीवन की ओर से मृत्यु को देखने का संकल्प है। इस खंड काव्य में विदग्ध जीवन का सायंकाल है। जो मृत्यु की निकटता के भय, अकेलेपन के दंश को बड़ी मार्मिकता से उठाता है। 'आत्मजयी' तथा 'वाजश्रवा के बहाने' में मानव नियति की चिंता आध्यात्मिक जगत से जुड़ते हुए भी भौतिक जगत से भी जुड़ी हुई है। ''एक भी पांव के बिना / बैसाखियां भी किस काम की।''[20]

कुंवर नारायण ''हाशिए का गवाह'' काव्य संग्रह में भूमंडलीकरण, वैश्वीकरण, वैश्विक आतंकवाद, पर्यावरण, ग्लोबल वार्मिंग के उभरते संकट को मानवीय नियति की चिंता के साथ जोड़कर देखते हैं। उनकी कविता हमें मनुष्यता के सबसे मार्मिक अक्ष पर झकझोरती हैं। ताकि बदलाव मानसिक, आत्मिक, नैतिक हर रूप में हो। भारतीय चीनी मनीषी ''कुमार जीव'' जिनकी ज्ञान पिपासा मनुष्यता का पाठ पढ़ाने के लिए ही संघर्षरत हैं।

जीवन की अपनी जैविक और भौतिक चक्राकार गति है। जिसमें बेतहाशा भागते समय में ठहराव देता भाव मृत्यु की आशंका से भर देता है। जहां समय की फड़फड़ाहट एक चेतावनी की तरह लगता है- ''समय कम है- समय कम है-/ रोज कौन ठोंक जाता है दरवाजे पर / यह क्रूर चेतावनी?''[21] इसी तरह भाषा की चालाक चुप्पियां मानवीय अभिप्रायों को निष्प्रभ कर देती हैं- ''अर्थ से अर्थात् में बदलती जा रही हैं / शब्दों की ध्वनियां / जब कहता 'चौखट' तो लगता / खट् से कुछ बंद होने का सन्नाटा / और गहरा हो गया''[22] उत्तरआधुनिक अर्थो ं में घर और परिवार नये मानवीय समीकरण के रूप में आकार ले रहे हैं। उनकी 'कोने' कविता इसी अदृश्य का दृश्यमान है-घर बनाते ही / बन जाते हैं अपने आप / सबके अपने-अपने कोने / हर एक कोने से दिखाई देती / अगल-बगल ऊपर-नीचे / दीवारें ही दीवारें / घर को घेर लेते / दीवारें और कोने / खो जाता नैसर्गिक दिशा-बोध।''[23]

'सब इतना असमाप्त' (2018) की कविताएं चरम भौतिकवाद के पैरों तले रौंदी मानवीय सभ्यता का आख्यान है। मानव केन्द्रित विकास की नयी अवधारणा प्रकृति को देवत्व की भावभूमि से उतार कर अंतिम हद तक निचोड़ लेने पर आमादा है। प्रकृति और मनुष्य के बीच विध्वंस की इस पारिस्थितिकी ने मानवीय आचरणधर्मिता को ही नहीं; उसके जीवन मूल्य, दर्शन को भी बदल दिया है, ''मैं जरा देर से इस दुनिया में पहुंचा / तब तक पूरी दुनिया / सभ्य हो चुकी थी / सारे जंगल काटे जा चुके थे / जानवर मारे जा चुके थे / वर्षा थम चुकी थी / और तप रही थी पृथ्वी / आग के गोले की तरह / चारों तरफ लोहे और कंक्रीट के / बड़े-बड़े जंगल उग आए थे / जिनमें दिखाई दे रहे थे / आदमी का ही शिकार करते कुछ आदमी / अत्यंत विकसित तरीक़ों से...।''[24] मौजूदा समय निरन्तर क्रूर होता जा रहा है। आज हत्या, आत्महत्या, हिरासत में हत्या, फर्जी मुठभेड़, और मॉब लिंचिंग जैसी दिल दहलाने वाली ख़बरें हैरान नहीं करतीं। कवि को लगता है कि 'विचित्र समन्वय है / कि अब मुझे दु:स्वप्नों से अधिक / यह यथार्थ विचलित करता...।' यह कितना असामान्य है कि दुख अब चौंकाते नहीं-'उनसे एक रिश्ता बन गया है / जैसे जीवन और प्रकृति से।' इसी संग्रह में 'दाभोलकर, पानसरे और कलबुर्गी की हत्या के बाद' कविता भयावह राजनीतिक, सामाजिक समय के सच को रेखांकित करती है-'जितना ही ख़ुश रखना चाहता हूं / उतनी ही उदास होती जाती हैं मेरी कविताएं / विह्वल प्रार्थनाओं में बदल जाते हैं शब्द'[25]

कुंवर नारायण नैतिकता को राजनीति और समकालीन समाज में मौजूद विसंगतियों से जोड़कर देखना जरूरी समझते हैं। क्योंकि उसका संबंध केवल व्यक्ति मात्र के अस्तित्व से ही न होकर मनुष्य के समग्र सामुदायिक अस्तित्व से हैं। उनकी वैचारिकी, आलोचना कविता में उदात्त मानवीय मूल्यों को लक्षित करती हैं। उनकी कविता में विचार और अनुभूति की विकलता मनुष्य को वृहत्तर, मनुष्यत्तर होने के विश्वास से युक्त करती है। कुंवर नारायण की कविताएं अपने विविधवर्णी छवियों के कारण ही नहीं, उन छवियों में विन्यस्त विविध और प्रासंगिक जीवन अनुभवों के कारण भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

निष्कर्षत : कहे तो कुंवर नारायण की कविताएं इतिहास, दर्शन, मिथकों तथा परम्पराओं के पुनर्शोधन, अन्वेषण के कोमल तंतुओं से बुनी हैं। जिसका ताना-बाना मानव जीवन को समग्रता में समझें जाने की गुजारिश करता हैं। इनकी कविता में वैचारिक, बौद्धिक प्रतिबद्धता का आग्रह होते हुए भी वह आम आदमी के पक्ष में खड़ी होती दिखाई देती हैं। कुंवर नारायण संस्कृत साहित्य, औपनिषदिक दर्शन, बौद्ध दर्शन से जितनी गहराई से जुड़े रहें; उतनी ही वे वैश्विक साहित्य के साथ भी। कुंवर नारायण अंतरराष्ट्रीय समकालीन मानवतावादी कवियों जैसे- नाजिम हिक्मत, पाब्लो नेरुदा, क्वाफी तथा एन्टन स्वनीम्सकी से गहरे रूप से जुड़े रहे हैं। इसलिए इनकी कविता

की सामाजिकता का फलक विराट है। भारतीय और पाश्चात्य दृष्टियों का सधा संतुलन उनके साहित्य को न केवल कालजयी बनाता है। अपितु उन्हें बौद्धिक एवं क्लासिक टेम्परामेंट के कवि के रूप में भी प्रतिष्ठित करता है।

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
शम्भु दयाल पीजी कॉलेज गाजियाबाद

सन्दर्भ सूची

1. कुंवर नारायण : अपने सामने, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, पृ. 17, संस्करण : 1989
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ 16
3. कुंवर नारायण : कोई दूसरा नहीं, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, संस्करण 1996, पृष्ठ 18
4. पूर्वोक्त, पृष्ठ 18
5. पूर्वोक्त, पृष्ठ 18
6. अपूर्व नारायण, जिए हुए ज़्यादा, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 2023, पृष्ठ 17
7. कुंवर नारायण : हाशिए का गवाह, फ्लैप से उद्धृत, मेधा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009
8. कुंवर नारायण : चक्रव्यूह, राधाकृष्ण प्रकाशन संस्करण : 1995, पृष्ठ 109
9. कुंवर नारायण : चक्रव्यूह, पृष्ठ133
10. पूर्वोक्त, पृष्ठ 109
11. पूर्वोक्त, पृष्ठ 134
12. पूर्वोक्त, पृष्ठ 90
13. कुंवर नारायण : कोई दूसरा नहीं, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, संस्करण 1996, पृष्ठ 148
14. पूर्वोक्त, पृष्ठ 105
15. अपूर्व नारायण : जिये हुए ज्यादा : राजकमल प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 2023, पृष्ठ 15-16
16. कुंवर नारायण : कुमारजीव, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015, पृष्ठ 109
17. कुंवर नारायण : कोई दूसरा नहीं, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 2023, पृष्ठ 70
18. कुंवर नारायण : अपने सामने, पृष्ठ 30
19. कुंवर नारायण : कोई दूसरा नहीं, पृष्ठ 85
20. कुंवर नारायण : वाजश्रवा के बहाने, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन दिल्ली, तीसरा संस्करण 2010, पृष्ठ 84
21. कुंवर नारायण : हाशिए के गवाह, पृष्ठ 66
22. पूर्वोक्त, पृष्ठ 121
23. पूर्वोक्त, पृष्ठ 88
24. कुंवर नारायण एक संचयन : सम्पादक डॉ. छबील कुमार मेहेर, नयी किताब प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 2022, पृष्ठ 90-91
25. पूर्वोक्त

डिजिटल युग का सिनेमा : ओटीटी प्लेटफॉर्म और नई दर्शक संस्कृति

डॉ. मुनेश यादव

प्रस्तावना

21वीं सदी का संसार तकनीकी परिवर्तन और डिजिटल विकास का साक्षी है। भारतीय समाज में मनोरंजन का माध्यम, रूप, शैली और वितरण प्रक्रिया तेजी से बदल रही है। विशेषत: कोविड-19 के पश्चात जब सिनेमाघर बंद रहे, उस समय ओटीटी प्लेटफॉर्म ने दर्शकों को घर पर ही विविध प्रकार की फिल्मों और वेब सीरीज का आनंद लेने का विकल्प दिया। अब सिनेमा का अर्थ केवल बड़े पर्दे तक सीमित नहीं रहा; छोटे मोबाइल, लैपटॉप और स्मार्ट टीवी ने उसे जन-सुलभ और बहुरूपी बना दिया है। इस शोधपत्र में वर्तमान समय के सिनेमा, ओटीटी प्लेटफॉर्म और दर्शक संस्कृति के जटिल संबंधों, कार्यप्रणाली और सांस्कृतिक प्रभावों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

ओटीटी प्लेटफॉर्म : उदय और विकास

ओटीटी (ओवर द टॉप) शब्द आज सीधे-सीधे हमारी सांस्कृतिक, सामाजिक और तकनीकी दुनिया में रच-बस गया है, परंतु इसके मूल अर्थ और विकास की यात्रा को समझना अपेक्षाकृत गहरा है। ओटीटी प्लेटफॉर्म का मुख्य अभिप्राय है ऐसी डिजिटल तकनीक या सेवा, जो पारंपरिक केबल, सैटेलाइट टीवी, या सिनेमाघरों की सीमाओं से ऊपर उठकर, इंटरनेट के माध्यम से सीधे दर्शकों तक वीडियो या ऑडियो सामग्री पहुँचाती है। इसके तहत नेटफ्लिक्स, अमेजन प्राइम वीडियो, डिज्नी हॉटस्टार, जी5, सोनीलिव, JioCinema, MX Player जैसे अनेक मंच आते हैं, जहाँ दर्शक अपने पसंदीदा कार्यक्रम, फिल्में या वेब सीरीज बिना किसी समय, स्थान या चैनल की बाध्यता के कभी भी देख सकते हैं। ओटीटी की यही सबसे बड़ी ताकत है स्वायत्तता और सहजता।

पारंपरिक टीवी या सिनेमा हॉल में दर्शकों को सीमित विकल्प या समय-सारिणी के अनुसार सामग्री मिलती है, जबकि ओटीटी ने कंटेंट ऑन डिमांड की अवधारणा को मजबूती दी। इसी कारण दर्शकों की स्वतंत्रता और अनुभूति का स्तर अभूतपूर्व रूप से बढ़ा है। सेंसरशिप, विशेषकर भारत जैसे देशों में, फिल्मों और टीवी सीरीज के कंटेंट पर हमेशा प्रबल नियंत्रण रहता था, किंतु ओटीटी ने अपेक्षाकृत उदार वातावरण उपलब्ध कराया जिसमें युवा निर्देशकों, नये विषयों, बोल्ड और अभिव्यक्तिप्रिय कंटेंट को खुले मंच मिले। नतीजन अब समाज के विविध पक्षों समालोचना, स्त्री विमर्श, जाति-वर्ग, LGBTQ, मानसिक स्वास्थ्य, आदिवासी जीवन आदि को सिर उठाकर स्थान मिला है।

ओटीटी के विकास की वैश्विक यात्रा 2007-08 के बाद से तेज हुई। नेटफ्लिक्स ने जब स्ट्रीमिंग सेवा शुरू की, उसके बाद एमेजन, हुलु, डिज्नी, एप्पल टीवी ने बाजार में जबरदस्त प्रतिस्पर्धा बढ़ाई। भारत में यह बदलाव 2018 के बाद बहुत तेजी से उभरा। सामाजिक बदलाव, शहरीकरण, तेजी से बढ़ती इंटरनेट पहुँच और स्मार्टफोन का प्रसार इन सब कारणों से ओटीटी क्रांति ने भारतीय मनोरंजन संस्कृति को नया मुकाम दिया। आज भारत में 50 से अधिक बड़े ओटीटी प्लेटफार्म सक्रिय हैं, जिनमें से कई सिर्फ क्षेत्रीय भाषाओं, वर्गों और संस्कृतियों को लक्षित कर सामग्री तैयार करते हैं। नेटफ्लिक्स, अमेजन प्राइम और डिज्नी हॉटस्टार ने जहां वैश्विक कंटेंट, हॉलीवुड, यूरोपीय, एशियाई और भारतीय सिनेमा को एक साथ दर्शकों तक पहुँचाया, वहीं जी5, सोनीलिव, MX Player

जैसी भारतीय कंपनियों ने हिंदी और क्षेत्रीय सामग्री को पूरी दुनिया के सामने पेश किया। ओटीटी के संदर्भ में YouTube, Facebook Watch, और छोटे-छोटे एडुटेनमेंट प्लेटफॉर्म भी शामिल हैं, जिन पर विविध प्रकार के वीडियो, ऑडियो, शॉर्ट फिल्में, डॉक्यूमेंट्री तथा वेबसीरीज लगातार अपलोड होती हैं।

आज ओटीटी प्लेटफॉर्म केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं, बल्कि शिक्षा, ज्ञान, समाचार, लाइव स्पोर्ट्स, पॉडकास्ट, वेबिनार, इंफोटेनमेंट आदि के अद्वितीय स्रोत बन चुके हैं। इन प्लेटफार्मों का वैश्विक बाजार प्रतिवर्ष 6% से अधिक की वृद्धि दर से बढ़ रहा है, और 2029 तक इसका मूल्य 443 बिलियन डॉलर तक पहुँचने का अनुमान है।ओटीटी विकास का मूल सारांश है सुलभता, स्वतंत्रता, वैश्विकता, विविधता और तकनीकी नवाचार। इसके चलते अब न केवल महानगरों, बल्कि छोटे शहरों, कस्बों, गाँवों तक भी ऑनलाइन मनोरंजन व सूचना की पहुँच संभव हो रही है। भारत सरकार भी ओटीटी प्लेटफॉर्म्स के लिए एक्सेसिबिलिटी और कंटेंट सुरक्षा के नए दिशानिर्देश जारी कर रही है, जिससे यह क्रांति और अधिक संगठित, जन-हितैषी और समावेशी बन सके।

इस प्रकार, ओटीटी का अर्थ सिर्फ 'ऑनलाइन मनोरंजन' नहीं, बल्कि वह तकनीकी परिवर्तन और लोकतंत्रीकरण है, जिसमें हर दर्शक, रचनाकार, विचारक को समान अवसर, अभिव्यक्ति और पहचान हासिल करने का अवकाश मिला है। भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक परि श्य ने ओटीटी के कारण सार्थक, सजग और समीक्षात्मक दिशा पकड़ी है। यह यात्रा अभी जारी है और आगामी समय में डिजिटल सिनेमा एवं ओटीटी की भूमिका और भी प्रमुख होगी।

कंटेंट के विविधीकरण और स्वतंत्रता

ओटीटी (ओवर द टॉप) प्लेटफॉर्म्स ने भारतीय सिनेमा की परंपराओं को तोड़ते हुए कंटेंट के विविधीकरण और स्वंत्रता को एक नई दिशा दी है। पारंपरिक सिनेमाघरों या टीवी पर जो विषय सीमित और अनुमानित होते थे, वे अब ऑनलाइन माध्यमों पर खुले, बहुआयामी और सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता से भरपूर प्रस्तुत किए जा रहे हैं। ओटीटी ने नई कहानियाँ, प्रयोगात्मक शैली और विषयों के साथ एक नवसृजनवादी संस्कृति को जन्म दिया है। जहाँ पहले प्रेमकथा, पारिवारिक ड्रामा, एक्शन या कॉमेडी ज्यादा प्रचलित थे, वहीं अब जाति, वर्ग, स्त्री चेतना, लैंगिक समानता, मानसिक स्वास्थ्य, अपराध, राजनीति, धार्मिक कट्टरता जैसे संवेदनशील मुद्दे बिना किसी सेंसरशिप के सहजता से सामने आते हैं।

शैलीगत विविधता भी ओटीटी का विशेष गुण है। मॉक्युमेंट्री, डार्क कॉमेडी, सस्पेंस थ्रिलर, साइंस फिक्शन, हॉरर, फंतासी और रियलिस्टिक ड्रामा नई आवाजों का घर बन गए हैं। ये शैलियाँ दर्शकों को नयी कथानक शैली और नया अनुभव देती हैं जो पारंपरिक सिनेमा में सीमित थी।

भाषायी और क्षेत्रीय विविधता की दृष्टि से भी ओटीटी क्रांति अभूतपूर्व है। हिंदी के साथ तमिल, तेलुगु, मराठी, बंगाली, कन्नड़, पंजाबी, भोजपुरी, मलयालम जैसी अनेक भाषाओं में कंटेंट का निर्माण और उपभोग बढ़ा है। इससे गैर-हिंदी भाषी दर्शकों को उनकी भाषा में गुणवत्ता वाली सामग्री उपलब्ध हो रही है। स्थानीय कहानियाँ अब वैश्विक दर्शकों तक पहुँच रही हैं जिससे भारतीय समृद्ध सांस्कृतिक विरासत का संरक्षण हो रहा है।

ओटीटी ने स्वतंत्र फिल्म निर्माताओं, लेखकों और अभिनेताओं को अपनी प्रतिभा दिखाने का मंच प्रदान किया है। छोटे बजट की फिल्में, सामाजिक मुद्दों पर केंद्रित पहल, और पहचानी न गई अवधारणाएँ स्क्रीन पर आने लगी हैं। नई पीढ़ी के फिल्मकार और कलाकार अपने तरीके से सांस्कृतिक संवाद स्थापित कर रहे हैं।

इस बदलाव का सबसे बड़ा प्रभाव दर्शक संस्कृति पर पड़ा है। दर्शक अब सक्रिय समीक्षक और प्रचारक बन गए हैं। वे 'बिंज-वॉचिंग' करते हैं, सोशल मीडिया पर रिव्यू देते हैं, और कंटेंट को फैलाने में भूमिका निभाते हैं। वे लोकल, प्रामाणिक और सांस्कृतिक रूप से संबंधित कंटेंट की मांग बढ़ा रहे हैं, जिससे ओटीटी प्लेटफॉर्म्स स्थानीयता के साथ वैश्विकता को जोड़ने में समर्थ हुए हैं।

इस प्रकार, ओटीटी प्लेटफॉर्म ने सिनेमा को प्राय: एक सीमित मनोरंजन से विस्तार कर सामाजिक जागरूकता, सांस्कृतिक समावेशिता और रचनात्मक स्वतंत्रता का सशक्त माध्यम बनाया है। यह भारतीय सिनेमा के लिए एक नया युग है, जहां नयी कहानियाँ, नयी आवाजें और नयी दर्शक संस्कृति एक साथ मिलकर डिजिटल युग के सिनेमा को आकार दे रही हैं।

दर्शक पारिस्थितिकी का परिवर्तन

ओटीटी प्लेटफॉर्म के विस्तार ने दर्शकों के देखने के तरीकों, सोचने की संस्कृति और मनोरंजन की अपेक्षाओं में नये और गहरे बदलाव किए हैं। आज का दर्शक केवल

निष्क्रिय मनोरंजन प्राप्तकर्ता नहीं रहा; वह स्वयं सक्रिय रूप से कंटेंट का चयन, समीक्षा और प्रचार करता है। ओटीटी ने दर्शकों को व्यापक स्वायत्तता प्रदान की है, जिससे वे अपनी पसंद, रुचि और समयानुसार मनोरंजन का आनंद ले सकते हैं।

नई दर्शक संस्कृति

ओटीटी दर्शक सामान्य मनोरंजन से कहीं आगे बढ़कर मानवीय संवेदना, सामाजिक जागरूकता और सांस्कृतिक बहुलता की समझ विकसित कर रहे हैं। वे न केवल फिल्में और वेब सीरीज देखते हैं, बल्कि फेसबुक, इंस्टाग्राम जैसे सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म पर अपनी प्रतिक्रिया देते हैं, समीक्षा लिखते हैं और यूट्यूब पर आलोचनात्मक वीडियो बनाकर चर्चा में भाग लेते हैं। इस सक्रिय सहभागिता ने दर्शक को आधिकारिक आलोचक और प्रचारक की भूमिका भी दे दी है।

'बिंज-वॉचिंग' आज सामान्य दर्शक व्यवहार बन चुका है। एक ही दिन या सप्ताहांत में कई एपिसोड या पूरा सीजन देखना, मनोरंजन की एक नई आदत है जो ओटीटी की सहज उपलब्धता और कंटेंट की सुगमता के कारण विकसित हुई है। दर्शक अब सामग्री को अपने अनुकूल समय पर देखते हैं न कि निर्धारित टीवी शेड्यूल के अनुसार।

विविधता की माँग

पहले जहां ओटीटी कंटेंट मुख्यत: शहरी और युवा वर्ग के लिए तैयार होता था, आज यह ग्रामीण, मध्यम वर्ग, महिलाएं, बुजुर्ग और किशोरों तक फैला है। दर्शकों की बढ़ती मांग ने कंटेंट निर्माताओं को भी प्रेरित किया है कि वे सामाजिक, सांस्कृतिक और भाषायी विविधता का सम्मान करें।

सर्वेक्षण बताते हैं कि 86% प्रीमियम ओटीटी उपभोक्ता स्थानीय भाषा और संस्कृति से जुड़ी प्रामाणिक सामग्री को प्राथमिकता देते हैं। इसलिए प्लेटफॉर्म 'लोकल फॉर ग्लोबल' की नीति पर काम कर रहे हैं, जहाँ क्षेत्रीय भाषाओं जैसे भोजपुरी, मैथिली, मराठी, कन्नड़, तमिल, बंगाली की फिल्मों और वेबसीरीज को भी व्यापक दर्शक मिल रहे हैं। यह स्थानीय मनोरंजन उद्योगों को मजबूती देता है और सांस्कृतिक पहचान को जीवित रखता है।

समग्र रूप से, ओटीटी प्लेटफॉर्म ने पारंपरिक मनोरंजन की सीमाओं को तोड़ा है और दर्शकों को एक नया, संवादात्मक और बहुरूपी अनुभव प्रदान किया है। नई दर्शक संस्कृति ने कंटेंट की गुणवत्ता, विविधता, और दर्शकों के सामाजिक-सांस्कृतिक जुड़ाव को बढ़ावा दिया है, जिससे भारतीय डिजिटल मनोरंजन का भविष्य और समृद्ध हो रहा है।

ओटीटी सिनेमा के सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभाव

ओटीटी प्लेटफॉर्म्स ने भारतीय सिनेमा की संरचना और दिशा को गहराई से प्रभावित किया है। ये न केवल मनोरंजन के माध्यम में बदलाव लेकर आए हैं, बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक विमर्श को भी अधिक व्यापक और विविधतापूर्ण बनाया है। अलग-अलग वर्ग, भाषाई पृष्ठभूमि और सामाजिक मुद्दों को दर्शाने वाली सामग्री ने दर्शकों को नई दृष्टि दी है। इससे सिनेमा केवल लोकप्रिय मनोरंजन का पर्याय न रहकर सामाजिक संवेदनाओं और यथार्थ का दर्पण बन गया है।

समावेशिता और बहुसांस्कृतिकता

ओटीटी युग ने उन आवाजों को मंच प्रदान किया है जो लंबे समय तक मुख्यधारा के सिनेमा में उपेक्षित या अप्रकाशित रहीं। इसमें LGBTQIA समुदाय की कहानियाँ, आदिवासी जीवन की वास्तविकताएँ, ग्रामीण समाज के मुद्दे, महिला-केंद्रित कथानक, बुजुर्गों के प्रेम प्रसंग, और हाशिये पर रहने वाले समुदायों के अनुभव शामिल हैं। इस प्रकार की सामग्री ने दर्शकों को केवल कहानी नहीं बल्कि एक सामाजिक सन्देश प्रदान किया, जो समानता, समावेशन, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और सांस्कृतिक विविधता का सशक्त प्रतीक बन गया। ओटीटी की खुली और बिना सेंसरशिप वाली प्रकृति ने इन विषयों को वह स्थान दिया जिसकी मुख्यधारा में शायद जगह नहीं बन पाती।

संवाद की भाषा और अभिव्यक्ति

ओटीटी कंटेंट की एक महत्वपूर्ण विशेषता संवाद की अभिव्यक्ति में परिवर्तन है। पारंपरिक 'शुद्ध' हिंदी की जगह अब बोलचाल की भाषा, क्षेत्रीय भाषाओं का मेल, हिंग्लिश, स्थानीय बोलियाँ और दिल्ली-मुंबई की भाषाई विविधताओं का प्रयोग आम हो गया है। इससे दर्शकों में एक सहजता और जुड़ाव की भावना उत्पन्न होती है, क्योंकि यह उनके वास्तविक जीवन की भाषा को प्रतिबिंबित करता है। इस नई प्रवृत्ति ने पटकथा और संवाद लेखन में मौलिकता को बढ़ावा दिया है। नये लेखक और कलाकार इस माध्यम से पहचाने जाने लगे हैं, क्योंकि उन्हें प्रयोग करने और अपनी शैली विकसित करने का पूरा अवसर मिल रहा है।

राजनैतिक एवं सामाजिक विमर्श

ओटीटी प्लेटफॉर्म्स ने सिनेमा और धारावाहिकों को

मनोरंजन से आगे बढ़ाकर सामाजिक और राजनीतिक विमर्श का मंच बना दिया है। वेब सीरीज और फिल्में अब भ्रष्टाचार, न्याय प्रणाली की चुनौतियाँ, मीडिया की भूमिका, जातीय और वर्गीय असमानताएँ, तथा सामयिक राजनीतिक घटनाओं को निर्भीकता से सामने रखती हैं। दर्शक केवल कथा का उपभोग नहीं करते, बल्कि मुद्दों पर खुला संवाद करने और अपनी सोच को परखने लगते हैं। इस प्रकार, ओटीटी ने आलोचनात्मक चिंतन को बढ़ावा दिया है, जिससे समाज में विचार-विमर्श का स्तर ऊँचा हुआ है और लोग सामाजिक न्याय व पारदर्शिता जैसे मूल्यों पर पुनर्विचार करने लगे हैं।

आर्थिक और तकनीकी बदलाव

ओटीटी प्लेटफॉर्म्स ने सिनेमा उद्योग की आर्थिक और तकनीकी संरचना में गहरा परिवर्तन ला दिया है। पारंपरिक सिनेमा जो भारी निवेश, बड़े सेट और विशाल वितरण चेन पर निर्भर था, उसकी तुलना में ओटीटी माध्यम ने फिल्मनिर्माण को अधिक लचीला, किफायती और प्रयोगधर्मी बना दिया है। इससे न केवल नई प्रतिभाओं को अवसर मिला है, बल्कि छोटे स्टूडियो और स्वतंत्र निर्माताओं को भी वैश्विक दर्शक तक पहुँचने का मंच प्राप्त हुआ है। तकनीकी विकास ने इस परिवर्तन को और तेज किया है, जिससे सिनेमा का उत्पादन और प्रस्तुति दोनों अधिक आधुनिक और सुलभ हो गए हैं।

सामग्री निर्माण एवं वितरण

ओटीटी प्लेटफॉर्म्स पर सामग्री निर्माण पारंपरिक सिनेमा से पूरी तरह भिन्न है। यहाँ अपेक्षाकृत कम बजट, सीमित निर्माण दल, और विषय में नवाचार की पर्याप्त गुंजाइश होती है। छोटे निर्माताओं, स्वतंत्र निर्देशकों और नए कलाकारों के लिए यह खुला मंच साबित हुआ है, जहाँ वे बिना किसी बड़ी प्रोडक्शन हाउस की सहायता के अपने विचारों को अभिव्यक्त कर सकते हैं। तकनीकी दृष्टि से भी आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस, वर्चुअल प्रोडक्शन सेटअप, 4K कैमरों और ड्रोन तकनीक के प्रयोग ने निर्माण लागत को कम करते हुए फिल्म की गुणवत्ता को बेहद ऊँचा कर दिया है। ओटीटी ने वितरण प्रक्रिया को डिजिटल बनाकर मध्यस्थों की भूमिका घटाई, जिससे रचनाकार सीधे दर्शक तक पहुँचने लगे हैं।

मार्केटिंग और प्रचार

ओटीटी युग में फिल्मों और वेब सीरीज के प्रचार-प्रसार की रणनीतियाँ पूरी तरह बदल चुकी हैं। अब पारंपरिक पोस्टर या थिएटर विज्ञापन की जगह डिजिटल और सोशल मीडिया ने ले ली है। इंस्टाग्राम रील्स, यूट्यूब ट्रेलर्स, ट्विटर ट्रेंड्स, मीम कैंपेन और इन्फ्लुएंसर मार्केटिंग ने प्रचार का नया रूप गढ़ा है। पेड रिव्यू, बिहाइंड-द-सीन वीडियो और लाइव इंटरव्यू के माध्यम से दर्शकों तक सामग्री पहुँचती है, जिससे प्रमोशन न केवल तेज बल्कि दो-तरफा संवाद का माध्यम भी बन गया है। इस डिजिटल प्रचार तंत्र ने सिनेमा के बाजार को विस्तारित करते हुए उसे वैश्विक प्रतिस्पर्धा और नवाचार के लिए तैयार कर दिया है।

चुनौतियाँ

ओटीटी प्लेटफॉर्म्स ने मनोरंजन की दुनिया में नई संभावनाएँ खोली हैं, परंतु इनके विस्तार के साथ अनेक चुनौतियाँ भी उभरकर सामने आई हैं। सबसे प्रमुख चुनौती सेंसरशिप से जुड़ी है। यद्यपि ओटीटी माध्यम अपेक्षाकृत स्वतंत्र माना जाता है, पर कई बार कंटेंट पर अश्लीलता, अत्यधिक हिंसा या सांप्रदायिक विद्वेष फैलाने के आरोप लगे हैं। ऐसे में इस पर नियामक निगरानी और नैतिक जिम्मेदारी की माँग बढ़ी है। दूसरी बड़ी चुनौती पायरेसी और डेटा सुरक्षा की है। डिजिटल दुनिया में कॉपीराइट उल्लंघन, अवैध डाउनलोडिंग, और डेटा लीक जैसी घटनाएँ बार-बार होती हैं, जो न केवल आर्थिक नुकसान पहुँचा रही हैं बल्कि दर्शकों के विश्वास को भी प्रभावित करती हैं। इसके साथ ही डिजिटल डिवाइड यानी तकनीकी असमानता एक गंभीर सामाजिक समस्या है। ग्रामीण क्षेत्रों और आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों तक उच्च गुणवत्ता का इंटरनेट और मोबाइल पहुँचाना अभी भी चुनौतीपूर्ण है, जिससे ओटीटी संस्कृति में समान भागीदारी की संभावना सीमित रह जाती है।

सांस्कृतिक चुनौतियाँ एवं भविष्य की दिशा

सांस्कृतिक स्तर पर ओटीटी सिनेमा को स्थानीयता और वैश्विकता के बीच संतुलन बनाए रखना होगा। परंपरागत लोक-संस्कृतियों, भाषाओं और क्षेत्रीय कलाओं का संरक्षण करते हुए तकनीकी नवाचारों को अपनाना आवश्यक है। कंटेंट निर्माताओं को यह समझना होगा कि दर्शक केवल तेज-रफ्तार मनोरंजन नहीं, बल्कि गुणवत्ता और सांस्कृतिक मूल्य आधारित सामग्री की अपेक्षा भी रखते हैं। इसलिए ''फास्ट फूड कंटेंट'' की प्रवृत्ति से आगे बढ़कर विचारोत्तेजक और सामाजिक रूप से जिम्मेदार कहानियों को प्रोत्साहित करना समय की मांग है। भविष्य में यह भी विचारणीय है कि क्या ओटीटी सिनेमा सर्कुलर इकोनॉमी, ग्रीन सिनेमा प्रोडक्शन,

डिजिटल साक्षरता और भाषाई विविधता के संरक्षण में सक्रिय भूमिका निभा पाएगा। इन प्रश्नों के उत्तर ही यह तय करेंगे कि ओटीटी भारतीय सिनेमा और समाज के लिए कितना स्थायी और संवेदनशील माध्यम बनता है।

निष्कर्ष

डिजिटल युग का सिनेमा आज अभूतपूर्व परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है। पारंपरिक फिल्म उद्योग, जो कभी कुछ ही स्टूडियो, निर्देशकों और वितरकों के इर्द-गिर्द सिमटा हुआ था, अब लोकतांत्रिक मंचों पर खुल गया है, जहाँ हर व्यक्ति अपनी कहानी कह सकता है। ओटीटी प्लेटफॉर्म्स ने इस बदलाव को न केवल गति दी है, बल्कि सिनेमा के सामाजिक-सांस्कृतिक अर्थ को भी पुनर्परिभाषित किया है। अब सिनेमा किसी विशेष वर्ग या शहरी केंद्रों तक सीमित नहीं रहा; यह जनमानस, क्षेत्रीय संवेदनाओं और विविध सांस्कृतिक प्रसंगों को केंद्र में रखकर विकसित हो रहा है। ओटीटी ने दर्शकों के लिए मनोरंजन के स्वरूप को पूरी तरह बदल दिया है। अब व्यक्ति अपनी सुविधा, समय और रुचि के अनुसार विषय-वस्तु का चयन कर सकता है। यह व्यक्तिगत चयन दर्शक को अधिक स्वतंत्र और सक्रिय बनाता है। पहले जहाँ दर्शक निष्क्रिय उपभोक्ता हुआ करते थे, वहीं अब वे कंटेंट के साझेदार, समीक्षक, विचारक और सांस्कृतिक रक्षक बन चुके हैं। सोशल मीडिया पर वे समीक्षाएँ करते हैं, चर्चाएँ करते हैं, और बेहतर कंटेंट की माँग उठाते हैं—जो निर्माताओं को भी अधिक उत्तरदायी और सृजनशील बनने के लिए प्रेरित करता है।

समान रूप से, ओटीटी प्लेटफॉर्म्स ने भारतीय समाज में संवाद और विमर्श की संस्कृति को सशक्त किया है। महिला सशक्तिकरण, LGBTQIA+ अधिकार, जातीय असमानता, पर्यावरण, भ्रष्टाचार, और सामाजिक नैतिकता जैसे मुद्दों पर जो खुलापन ओटीटी सामग्री में दिखाई देता है, वह जनमानस में नई चेतना जगा रहा है। यह बदलाव केवल विषयों में ही नहीं, बल्कि उनकी प्रस्तुति में भी दिखता है। क्षेत्रीय भाषाओं, लोक उच्चारणों और यथार्थपरक संवाद शैली के प्रयोग ने सिनेमा को जनता के और करीब लाया है।

तकनीकी दृष्टि से भी यह परिवर्तन महत्वपूर्ण है। आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस, वर्चुअल शूटिंग, 4के रेजोल्यूशन, और डिजिटल पोस्ट-प्रोडक्शन ने निर्माण प्रक्रिया को तेज, सुलभ और कम खर्चीला बनाया है। आने वाले वर्षों में जैसे-जैसे डिजिटल साक्षरता बढ़ेगी और इंटरनेट की पहुँच व्यापक होगी, सिनेमा का यह लोकतांत्रिक स्वरूप और मजबूत होता जाएगा। सबसे आवश्यक यह है कि इस डिजिटल प्रवाह के बीच भारतीय सिनेमा अपनी सांस्कृतिक जड़ों, लोक परंपराओं और मानवीय संवेदनाओं को न खो दे। यदि ओटीटी प्लेटफॉर्म गुणवत्ता, विचारशीलता और सामाजिक जिम्मेदारी के साथ चलते हैं, तो वे मनोरंजन के माध्यम से शिक्षा, जागरूकता और सांस्कृतिक एकता को भी सशक्त करेंगे। इस प्रकार, ओटीटी के इस उभरते युग में हिंदी सिनेमा केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि नवप्रवर्तन, सामाजिक चिंतन और सांस्कृतिक पुनर्जागरण का मंच बन चुका है—जो आने वाले दशकों में भारतीय समाज की चेतना को नई दिशा प्रदान करेगा।

असिस्टेंट प्रोफेसर, सत्यवती कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल- munesh227@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. गोस्वामी, अशोक कुमार। भारतीय सिनेमा का सांस्कृतिक परिदृश्य. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2018
2. मिश्रा, ओम प्रकाश। हिंदी सिनेमा : समाज, संस्कृति और राजनीति. दिल्ली : ओरिएंट ब्लैकस्वान, 2017
3. गौतम, देवेश। डिजिटल मीडिया का उदय और भारतीय सिनेमा. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2021
4. जेनकिन्स, हेनरी। Convergence Culture: Where Old and New Media Collide. न्यू यॉर्क : न्यू यॉर्क यूनिवर्सिटी प्रेस, 2006
5. वर्मा, ममता। ''ओटीटी युग का सिनेमा और दर्शक चेतना।'' सिनेमा विमर्श पत्रिका, खंड 12, अंक 3, 2022, पृ. 45-58
6. शर्मा, देवेंद्र। ''डिजिटल प्लेटफॉर्म और हिंदी सिनेमा का रूपांतरण।'' मीडिया अध्ययन जर्नल, 2021, पृ. 110 125
7. भट्टाचार्य, अनन्या। ''स्ट्रीमिंग इंडिया : ओटीटी और स्क्रीन संस्कृति का लोकतंत्रीकरण।'' इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, खंड 57, अंक 10, 2022
8. FICCI–EY रिपोर्ट 2023 : Tuning into Consumer भारतीय मीडिया और मनोरंजन उद्योग रिपोर्ट. FICCI और अर्न्स्ट एंड यंग, 2023
9. ''भारत में ओटीटी का उभार।'' बीबीसी हिंदी, 2022 https://www-bbc-com/hindi
10. राजन, अपर्णा। महिला दृष्टि और ओटीटी सिनेमा. दिल्ली : हिंदी अकादमी, 2023

शोध-पत्र

लोककथाओं के माध्यम से सांस्कृतिक पर्यटन का विकास

डॉ. तनुजा

यह शोध पत्र इस विषय की व्यापक पड़ताल करता है कि भारत की लोककथाएं किस प्रकार सांस्कृतिक पर्यटन को प्रोत्साहित करने, पर्यटन स्थलों की लोकप्रियता बढ़ाने, स्थानीय समाज को सशक्त बनाने और सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण में योगदान करती हैं। इसमें भारतीय लोककथाओं की विविधता, उनके प्रभाव, चुनौतियाँ, संभावनाएँ और पर्यटन की नई दिशा पर विस्तार से चर्चा की गई है।

प्रस्तावना

भारत की सांस्कृतिक विविधता में लोककथाओं का एक महत्वपूर्ण स्थान है। ये लोककथाएं केवल साहित्यिक धरोहर के रूप में ही नहीं देखी जातीं, बल्कि ये समाज के सांस्कृतिक ताने-बाने के मूल आधार भी हैं। भारत के विभिन्न क्षेत्रों की लोककथाएं उनकी विशिष्ट सामाजिक, भौगोलिक, भाषाई और धार्मिक परिस्थितियों की पहचान कराती हैं, जो स्थानीय संस्कृति की गहनता और विविधता को दर्शाती हैं। हर क्षेत्र की लोककथाएं उस क्षेत्र के जीवन, आस्थाओं, परंपराओं और सोच को प्रतिबिंबित करती हैं, जिससे स्थानीय लोगों की सांस्कृतिक स्मृति और पहचान बनी रहती है।

लोककथाएं प्रत्येक क्षेत्र की भाषा, रीति-रिवाज, लोकनृत्य, लोकगीत और सामाजिक व्यवहार का प्रतिनिधित्व करती हैं। उदाहरण के लिए, राजस्थान की वीर गाथाएं साहस और त्याग का प्रतीक हैं, जबकि बंगाल की 'भूत-चुत' कथाएं रहस्य और लोक असाधारण घटनाओं को प्रस्तुत करती हैं। इसी प्रकार, बुंदेलखंड की भक्ति गाथाएं धार्मिक आस्था की गहराई का परिचायक हैं। इन कथाओं के माध्यम से सैलानी केवल स्थान के भौतिक रूप से परिचित नहीं होते, बल्कि वे वहां के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के गहरे अनुभव से भी रूबरू होते हैं। यह अनुभव उन्हें वस्तुनिष्ठ स्थापत्य या प्राकृतिक दृश्यों से परे, एक जीवंत संस्कृति के अंग के रूप में प्रस्तुत करता है।

सांस्कृतिक पर्यटन में लोककथाओं की भूमिका इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे पर्यटन स्थलों को एक विशेष सांस्कृतिक पहचान मिलती है। जिसके कारण पर्यटक न सिर्फ पर्यटक बनकर आते हैं, बल्कि सांस्कृतिक खोजकर्ता के रूप में भी जुड़ते हैं। लोककथाएं पर्यटन स्थल की कहानी कहती हैं जो पर्यटक के मन में जिज्ञासा और गहरा जुड़ाव उत्पन्न करती हैं। वे एक माध्यम हैं, जिसके द्वारा परंपरागत ज्ञान, स्थानीय इतिहास और सांस्कृतिक मूल्यों का संवहन होता है।

इसके अतिरिक्त, लोककथाएं स्थानीय समुदायों को सामाजिक-सांस्कृतिक समृद्धि और सांस्कृतिक संरक्षण के लिए भी प्रेरित करती हैं। जब पर्यटक इन कथाओं को सुनते या देखते हैं तो स्थानीय समुदायों को अपनी सांस्कृतिक विरासत पर गर्व होता है, जिससे वे अपनी परंपराओं की रक्षा और प्रसार में अधिक सक्रिय हो जाते हैं। इस प्रकार लोककथाएं सांस्कृतिक पर्यटन को अधिक समृद्ध, आकर्षक और प्रभावशाली बनाती हैं, जो भारत की सांस्कृतिक भूमि के सही रूप को स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित करती हैं।

लोककथा : अवधारणा और महत्व

लोककथाएं भारतीय संस्कृति की आत्मा है, जिनका उद्‌भव अत्यंत प्राचीनकाल में हुआ और जिन्होंने मौखिक परंपरा के माध्यम से समाज में निरंतरता सुनिश्चित की है। मौखिक कथा-वाचन का तात्पर्य है ऐसी कहानियां, मिथक और

किंवदंतियां, जिन्हें किसी लिखित दस्तावेज के बिना ही श्रवण-परंपरा द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक संप्रेषित किया जाता है। यह परंपरा न केवल बौद्धिक और भावनात्मक संबंध स्थापित करती है, बल्कि सामुदायिक स्मृति, सामाजिक मूल्यों और जीवन-दृष्टि की भी वाहक होती है।

भारतीय लोककथाएँ विशेष क्षेत्रीय, भाषाई और सांस्कृतिक रंग लिए होती हैं। बंगाल की 'भूत-चुत' कथाएँ स्थानीय जीवन, रहस्य और डर की भावना को व्यक्त करती हैं, तो राजस्थान की 'वीर' कथाएँ साहस, समर्पण और जातीय गौरव का चित्रण करती हैं, वहीं बुंदेलखंड की भक्ति गाथाएँ धार्मिक आस्था, प्रेम एवं श्रद्धा को प्रतिबिंबित करती हैं। ये कथाएँ सिर्फ मनोरंजन तक सीमित नहीं हैं, बल्कि समाज के नैतिक, आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक संदर्भों को प्रकट करती हैं।

इन लोककथाओं का महत्व इसलिए भी विशेष है, क्योंकि इनमें नायक की वीरता, प्रेम, दु:ख-सुख, न्याय, कर्तव्य, कर्म और धर्म जैसे सार्वभौमिक विषय सरल भाषा एवं प्रतीकों में प्रस्तुत होते हैं। मौखिक परंपरा के जरिए गांवों, कस्बों से लेकर शहरों तक की राय, आस्था और कल्पनाएँ संरक्षित रहती हैं। इससे समूचे समुदाय को आपस में जोड़ने, उनकी सांस्कृतिक अस्मिता को संजोने और भावी पीढ़ियों को सामाजिक शिक्षा देने का सशक्त माध्यम मिलता है।

लोककथाएँ न केवल सामाजिक और धार्मिक शिक्षा का स्रोत हैं, बल्कि वे पर्यटन के क्षेत्र को भी समृद्ध करती हैं। इन कथाओं के विविध रूपों से स्थानीय संस्कृति को जानने और समझने वाले सैलानियों को एक अद्वितीय अनुभव प्राप्त होता है, जिससे पर्यटन स्थलों की लोकप्रियता भी बढ़ती है। इस तरह भारतीय लोककथा परंपरा संस्कृति, इतिहास और पर्यटन तीनों को आपस में जोड़ने वाली पूल बन चुकी है।

सांस्कृतिक पर्यटन : परिभाषा और दृष्टि

सांस्कृतिक पर्यटन एक ऐसा पर्यटन है जिसमें पर्यटकों का उद्देश्य किसी स्थल की सांस्कृतिक विशेषताओं को जानना, समझना और अनुभव करना होता है। यह पर्यटन केवल प्राकृतिक सुंदरता या ऐतिहासिक स्मारकों तक सीमित नहीं होता, बल्कि इसमें स्थानीय जीवनशैली, कला, रीति-रिवाज, लोककला, लोक साहित्य, परंपराएँ, और सामाजिक संरचनाओं का गहरा अनुभव समाहित होता है। पर्यटक यहां न केवल भौतिक वस्तुओं को देखता है, बल्कि अमूर्त सांस्कृतिक तत्वों जैसे नृत्य, लोकगीत, नाटक, त्योहार, और सामाजिक आचार-विचार को भी अपने अनुभवों में शामिल करता है। सांस्कृतिक पर्यटन के माध्यम से व्यक्ति उस क्षेत्र की सांस्कृतिक धरोहर को समझता है, स्थानीय नागरिकों से संवाद करता है और उनके सांस्कृतिक जीवन में गोता लगाता है, जिससे उसकी यात्रा नस्लीय, धार्मिक या सामाजिक विविधताओं की समझ के साथ-साथ आत्मीय और बोधगम्य बन जाती है।

यह पर्यटन आधुनिक दुनिया में तेजी से बढ़ रहा क्षेत्र है, जहां पर्यटक केवल दर्शनीय स्थलों पर जाने के बजाय, स्थानीय समुदायों के रीति-रिवाजों और सांस्कृतिक परंपराओं के अंदर खुद को डुबोने की इच्छा रखते हैं। पर्यटकों को यह पता चलता है कि किसी भी स्थान की संस्कृति उसकी असली पहचान होती है, और उसने पर्यटकों को स्थानीय कला, संस्कृति और परंपरा के गहरे अनुभव का अवसर प्रदान किया है। इससे न केवल सांस्कृतिक संरक्षण को बल मिलता है, बल्कि स्थानीय समुदायों की आत्मगौरव और आर्थिक स्थिति में भी सुधार होता है। सांस्कृतिक पर्यटन स्थानीय संस्कृति को आत्मसात करते हुए सामाजिक व्यवहार, आर्थिक स्वावलंबन और सांस्कृतिक आदान-प्रदान का माध्यम बनता है।

लोककथाओं के माध्यम से सांस्कृतिक पर्यटन का संवर्धन

भारतीय पर्यटन नीति में लोककथाओं का समावेश सांस्कृतिक पर्यटन को विशेष दिशा प्रदान करता है। 'इन्क्रेडिबल इंडिया' जैसे राष्ट्रीय अभियानों तथा विभिन्न राज्य सरकारों की पहलों में लोककथाओं को पर्यटन के प्रचार का मुख्य आधार बनाया जाता है। राजस्थान के लोक-नाट्य, केरल की कठपुतली कला, मध्यप्रदेश की आदिवासी कथाएं, मेघालय के खासी समाज की लोक दंतकथाओं को पर्यटन प्रचार में प्रमुखता से शामिल किया गया है। इस तरह की गतिविधियां न केवल पुरानी लोककथाओं को जीवंत बनाती हैं, बल्कि स्थानीय समुदाय को रोजगार के अवसर उपलब्ध कराती हैं, सामाजिक सशक्तीकरण बढ़ाती हैं तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान को प्रोत्साहित करती हैं।

लोककथाएं पर्यटन स्थलों के सांस्कृतिक परिदृश्य को समृद्ध करती हैं, जिससे पर्यटक मात्र एक जगह घूमने के बजाय वहां की सामाजिक और सांस्कृतिक जीवनदृष्टि में गहरे सम्मिलित होते हैं। लोककथाओं के जरिए पर्यटन स्थलों को सजीव और संवेदनशील अनुभव के साथ प्रस्तुत किया जाता है, जो पर्यटकों में स्थलों के प्रति आकर्षण और रुचि को बढ़ाता है। इसके साथ ही, लोककथाएं स्थानीय कलाकारों

और कहानीकारों को भी मंच प्रदान करती हैं, जो अपने सांस्कृतिक ज्ञान को संरक्षित और प्रचारित करते हैं।

प्रमुख उदाहरण

मेघालय में खासी समाज की दंतकथाओं ने पर्यटन में विशिष्ट स्थान पाया है। लोकसंवाद, मिथकों और रीति-रिवाजों के माध्यम से पर्यटक वहां की सांस्कृतिक गहराई से परिचित होते हैं। इससे न केवल पर्यटकों का आकर्षण बढ़ता है, बल्कि स्थानीय लोगों में अपनी सांस्कृतिक विरासत के प्रति गर्व भी जागृत होता है।

मध्यप्रदेश में 'फोक स्टोरी टेलिंग वर्कशॉप्स' ग्रामीण युवाओं, आदिवासियों और महिलाओं को प्रशिक्षित करती हैं, जो पर्यटक संवाददाता के रूप में कार्य करते हैं। इससे पर्यटकों को अधिक प्रामाणिक, जीवंत और सांस्कृतिक दृष्टि से गहरा अनुभव प्राप्त होता है।

राजस्थान के अम्बर क्षेत्र में वीर-गाथाओं, भूत-झांकी और प्रेम-कथाओं को स्थानीय नाट्यशिल्प, कथा-वाचन, और त्योहारों में शामिल किया जाता है। ये कथाएं पर्यटकों के बीच सामाजिक एवं सांस्कृतिक जागरूकता उत्पन्न करती हैं, उनके अनुभव को समृद्ध बनाती हैं, और सांस्कृतिक जड़ों की महत्ता को पुनः स्थापित करती हैं।

सांस्कृतिक पर्यटन के इस स्वरूप में लोककथाएं केवल मनोरंजन के साधन नहीं रहतीं, बल्कि वे सामाजिक शिक्षा, सांस्कृतिक संरक्षण और आर्थिक विकास के प्रभावी उपकरण बन जाती हैं। जब पर्यटक स्थानीय कथा और संस्कृति का अनुभव करते हैं, तो वे न केवल यात्रा की स्मृतियों को समृद्ध करते हैं, बल्कि सांस्कृतिक संवाद और समझ के पुल भी बनाते हैं, जो वैश्वीकरण के दौर में सांस्कृतिक विविधता के संरक्षण के लिए अनिवार्य है। इसी प्रकार, ये पहल स्थानीय समुदायों को स्वयं की सांस्कृतिक अमूल्य धरोहर के प्रति जागरूक करती हैं, जिससे वे अपने पर्यटक संरक्षण और सांस्कृतिक संवर्धन के लिए सक्रिय रूप से योगदान देते हैं।

लोककथाओं के प्रचार-प्रसार की विधियां

लोककथाओं का प्रचार-प्रसार सांस्कृतिक पर्यटन के विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इन कथाओं को जन-जन तक पहुँचाने के लिए कई प्रभावी विधियों का प्रयोग किया जाता है, जो न केवल लोकसंस्कृति को जीवित रखती हैं बल्कि पर्यटन को भी समृद्ध बनाती हैं। सबसे पहले, मौखिक कथा-वाचन (Storytelling sessions) का आयोजन किया जाता है, जो विशेष रूप से ग्रामीण, आदिवासी और पर्यटन स्थलों पर होता है। ऐसे कार्यक्रमों में स्थानीय कहानीकार या वारिस लोककथाओं को सजीव रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिससे पर्यटक सीधे स्थानीय संस्कृति की गहराई में प्रवेश कर पाते हैं। यह विधि पारंपरिक कथाओं को मानवीय स्पर्श देती है और सांस्कृतिक संवाद को बढ़ावा देती है।

दूसरी प्रमुख विधि है स्थानीय त्योहारों, मेलों, प्रदर्शनों में लोककथाओं पर आधारित सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन। जैसे कि विभिन्न राज्यों में उत्सवों के दौरान नाटकीय मंचन, लोक नृत्य, और कथावाचन समारोह होते हैं, जहाँ लोककथाओं को रंगारंग प्रस्तुति के रूप में दर्शाया जाता है। इससे न केवल सैलानियों को सांस्कृतिक विरासत से जुड़ने के अवसर मिलते हैं, बल्कि वे स्थानीय परंपराओं को समझने और अनुभव करने में सक्षम होते हैं।

इसके अलावा, पर्यटन विभाग द्वारा स्मृति-चित्र, Souvenirs, नाट्य-पुस्तकें, और साहित्य संग्रह पर लोककथाओं की छपाई भी प्रचार का एक कारगर माध्यम है। इससे न केवल लोककथाओं का संग्रहण व संरक्षण होता है, बल्कि पर्यटन स्थलों की यादगार वस्तुएं को खरीदने का अवसर भी प्राप्त होता है, जो सांस्कृतिक सम्पदा की लोकप्रियता और आर्थिक आय दोनों बढ़ाती हैं।

डिजिटल युग में लोककथाओं का प्रचार-प्रसार और भी व्यापक और सुलभ हो गया है। डिजिटल प्लेटफार्म जैसे वेबसाइट, ऑडियो-वीडियो चैनल, सोशल मीडिया, और मोबाइल एप्लिकेशन लोककथाओं के प्रसार के लिए बेहद प्रभावी साबित हो रहे हैं। सोशल मीडिया के माध्यम से लोककथाओं को विश्वभर में फैलाया जा सकता है, जिससे युवा पीढ़ी में भी उनकी रूचि बढ़ती है। इस डिजिटल माध्यम से लोककथाओं को नए स्वरूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, जैसे एनिमेशन, पॉडकास्ट या वेब सीरीज।

अंततः, स्कूल, महाविद्यालय और विश्वविद्यालयों में लोककथा आधारित विशेष पाठ्यक्रम और भाषा-कार्यशालाएँ आयोजित करके स्थानीय युवाओं को इन कथाओं से जोड़ा जाता है। ये अकादमिक कार्यक्रम युवाओं को न केवल लोककथाओं का अध्ययन करने के लिए प्रेरित करते हैं, बल्कि उन्हें इन कथाओं के संरक्षण और प्रचार में भी शामिल करते हैं। यह शिक्षा के माध्यम से सांस्कृतिक जागरूकता फैलाने का एक महत्वपूर्ण तरीका है।

सांस्कृतिक पर्यटन में लोककथाओं की चुनौतियाँ

लोककथाओं के प्रचार-प्रसार में कुछ चुनौतियां भी हैं, जो उनके संरक्षण और सक्रिय प्रसार को बाधित करती हैं। वैश्वीकरण और उपभोक्तावाद के दबाव में लोककथाओं की मौलिकता प्रभावित हो सकती है। बाजारीकरण की प्रक्रिया में कथाएं अपने असली अर्थ से दूर होकर व्यावसायिक स्वरूप ग्रहण कर सकती हैं, जिससे उनकी सांस्कृतिक गहराई खत्म होने का खतरा रहता है। इसके कारण कथाओं की प्रामाणिकता धूमिल होती है और वे केवल आकर्षक मनोरंजन का साधन रह जाती हैं।

एक दूसरी गंभीर चुनौती मौखिक परंपरा का धीरे-धीरे समाप्त होना तथा स्थानीय भाषाओं का लुप्त होना है। मौखिक कथाएं जहां एक ओर समाज को जोड़ती हैं, वहीं उनकी कमी संस्कृति के टूटने का संकेत देती है। कई स्थानों पर ऐसी कथाओं को सुनाने वाले बुजुर्ग कथाकारों का अभाव भी देखने को मिलता है, जिसके कारण कथाओं का प्रामाणिक रूप नष्ट हो रहा है।

पर्यटन नीति में व्यावसायीकरण का दबाव भी एक बड़ी बाधा है। पर्यटन को अधिक लाभकारी बनाने के लिए कथाओं का सरलीकरण और अधूरापन आम हो रहा है, जिससे वे अपनी सांस्कृतिक गहराई खो बैठती हैं। साथ ही, कई बार स्थानीय समुदायों का सहयोग पर्याप्त रूप से नहीं मिल पाता, जो लोककथाओं के संरक्षण और प्रचार के लिए जरूरी है। समुदाय की भागीदारी के बिना कथाओं को सही रूप में बरकरार रखना कठिन हो जाता है।

समाधान और नये आयाम

इन चुनौतियों के समाधान के लिए कई नवाचारी उपाय अपनाए जा सकते हैं। शिक्षा संस्थानों में लोककथा आधारित पाठ्यक्रम का विकास एक प्रभावी माध्यम है, जिससे नई पीढ़ी कथाओं के महत्व को समझ सके और उनका संचार कर सके। इससे सांस्कृतिक संरक्षण के साथ-साथ युवाओं में लोकसंस्कृति के प्रति आकर्षण बढ़ता है।

समुदाय को कहानीकार के रूप में सशक्त बनाना और पारंपरिक सांस्कृतिक विधाओं का समुचित दस्तावेजीकरण भी आवश्यक है। इससे लोककथाओं का संरक्षण होता है और उन्हें भविष्य की पीढ़ियों तक पहुंचाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, स्थानीय भाषा, संगीत, नृत्य, चित्रकला और नटन्य कला को पर्यटन के साथ जोड़कर सांस्कृतिक अनुभव को और अधिक बहुआयामी बनाया जा सकता है।

डिजिटल आर्काइव, ऑडियो-विजुअल प्लेटफार्म, मोबाइल एप्लिकेशन और ऑनलाइन संग्रहालय लोककथाओं के संरक्षण एवं प्रचार के लिए अत्यंत उपयोगी साबित हो रहे हैं। डिजिटल माध्यम सूचनाओं को व्यापक स्तर पर साझा करने और युवाओं की भागीदारी बढ़ाने का बेहतर अवसर प्रदान करते हैं।

अंत में, पर्यटन नीति बनाने में स्थानीय समाज की व्यापक सहभागिता सुनिश्चित करना चाहिए। जब समुदाय ही अपनी कथाओं का संरक्षक और प्रवक्ता बनेगा, तभी वे अपनी सांस्कृतिक धरोहर का सशक्त संरक्षण कर पाएगा और पर्यटन को प्रामाणिकता से जोड़ सकेगा। ऐसे भागीदार समाज में पर्यटन स्थलों का अनुभव और भी समृद्ध और सतत होगा।

निष्कर्ष

लोककथाएं सांस्कृतिक पर्यटन के क्षेत्र को न सिर्फ जीवंत बनाती हैं, बल्कि इसे समृद्ध और बहुआयामी भी बनाती हैं। ये कथाएं केवल एक स्थान की सामाजिक-सांस्कृतिक स्मृति को पुनर्जीवित करने का माध्यम ही नहीं हैं, बल्कि पर्यटकों को एक गहरे, आत्मीय और समावेशी अनुभव से भी रूबरू कराती हैं। लोककथाएं उन अमूर्त सांस्कृतिक तत्वों को सशक्त बनाती हैं, जो पुस्तकीय इतिहास या भौतिक स्मारकों से परे होते हैं। इससे पर्यटन में संज्ञानात्मक और भावनात्मक दोनों स्तरों पर गहरा संबंध स्थापित होता है, जिससे पर्यटक न केवल दर्शनीय स्थल देखता है, बल्कि वहां की सांस्कृतिक आत्मा में भी डूब जाता है।

लोककथा आधारित सांस्कृतिक पर्यटन का प्रचार-प्रसार स्थानीय समाज, पर्यटन उद्योग और सांस्कृतिक विरासत—तीनों के लिए पारस्परिक लाभ सुनिश्चित करता है। लोककथाओं के माध्यम से स्थानीय भाषा, कला और सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों को प्रोत्साहित किया जाता है, जिससे सांस्कृतिक संरक्षण को बल मिलता है। साथ ही, ये कथाएं स्थानीय आर्थिक विकास में भी एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं, क्योंकि इनसे जुड़े कार्यक्रमों, प्रदर्शनियों और कथा-वाचन सत्रों के जरिए रोजगार के अवसर बढ़ते हैं। स्थानीय कलाकारों, कथाकारों, हस्तशिल्पकारों और सांस्कृतिक संस्थानों को पहचान मिलती है, जो कि सांस्कृतिक संरक्षण की दिशा में महत्वपूर्ण कदम है।

आधुनिक संचार माध्यमों जैसे सोशल मीडिया, डिजिटल

प्लेटफार्म, वेबसाइट्स, मोबाइल एप्लिकेशन एवं ऑडियो-वीडियो चैनलों ने लोककथाओं के प्रचार को और अधिक प्रभावी और व्यापक बना दिया है। इससे लोककथाएं न केवल स्थानीय या राष्ट्रीय स्तर पर, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी पहुंच रही हैं, जिससे वैश्विक दर्शक इन कथाओं के माध्यम से भारत की विविध सांस्कृतिक विरासत से परिचित हो रहे हैं। डिजिटल युग ने लोककथाओं को नया जीवन दिया है, उन्होंने युवाओं के बीच भी इन कथाओं की रुचि को पुनः जागृत किया है।

स्थानीय भागीदारी इस पूरे प्रवाह की रीढ़ होती है। जब स्थानीय समुदाय स्वयं अपनी कथाओं, परंपराओं और सांस्कृतिक धरोहर के संरक्षक और प्रवक्ता बनते हैं, तो पर्यटन भी अधिक प्रामाणिक और दीर्घकालिक बनता है। ज्ञात है कि किसी भी सांस्कृतिक पर्यटन की सफलता उसके स्थानीय आधार पर निर्भर करती है, क्योंकि स्थानीय लोग ही अपनी सांस्कृतिक पहचान को सबसे बेहतर समझते तथा उसे जीवित रखते हैं। इसीलिए विकासात्मक योजनाएं, नीतिगत निर्णय और प्रचार-प्रसार इसी लोकभागीदारी के साथ अधिक सफल होते हैं।

ज्ञान आधारित प्रभावी प्रचार नीति की आवश्यकता भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। ऐसी नीति जो लोककथाओं की प्रामाणिकता और संस्कृति की गहराई को बनाए रखे, जिससे कथाएं केवल प्रदर्शन का माध्यम न बनें, बल्कि पर्यटकों को शिक्षा, संवेदना और आदान-प्रदान का अवसर प्रदान करें। यह नीति सांस्कृतिक पर्यटन को सतत और समृद्ध बनाए रखने के लिए अनिवार्य है।

इस प्रकार, लोककथाओं के माध्यम से सांस्कृतिक पर्यटन को विकसित करना एक ऐसा प्रयास है जो न केवल सांस्कृतिक संरक्षण को मजबूत करता है, बल्कि पर्यटन उद्योग की समृद्धि और सामाजिक-आर्थिक विकास का मार्ग भी प्रशस्त करता है। भारत की सांस्कृतिक भूमि का सही स्वरूप स्थानीय, राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर स्थापित करने में लोककथाओं का योगदान अतुलनीय है। आधुनिक संचार माध्यमों, स्थानीय सहभागिता और ज्ञान आधारित नीतियों के सम्मिलन से यह महत्वपूर्ण धरोहर और भी सशक्त होगी एवं आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रेरणास्रोत बनी रहेगी।

असिस्टेंट प्रोफेसर, सत्यवती कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल- drtanuja14@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. Lyngdoh, S. "Revitalisation of Cultural Tourism Through Folk Narratives" Journal of Tourism Insights, vol. 14, No. 1, 2024.
2. Dhole, Savitri. "Role of Indian Folk Culture in Promotion of Tourism in the Country" VEETHIKA: An Interdisciplinary International Research Journal, 2015.
3. Hajra, Vandita. "Role of Indian Folk Culture in Promotion of Tourism in the Country" PARIPEX – Indian Journal of Research, 2015.
4. "Exploring the Role of Folklore in Sustaining Cultural Tourism" International Journal for Multidisciplinary Research (IJFMR), 2024.
5. ''लोककथा विकिपीडिया.'' हिन्दी विकिपीडिया, [https://hi.wikipedia.org/wiki/लोककथा, (https://hi-wikipedia-org/wiki/लोककथा). Accessed 12 Oct. 2025.
6. ''सांस्कृतिक पर्यटन : परिभाषाएँ, प्रकार, लाभ और हानियाँ'' Tourism Notes (अनुवादित), [https://tourismnotes.com, (https://tourismnotes.com). Accessed 12 Oct. 2025.
7. ''भारत में पर्यटन के सांस्कृतिक एवं धरोहर संबंधी दृष्टिकोण.'' NIOS Study Material, [https://nios-ac-in, (https://nios.ac.in). Accessed 12 Oct. 2025.

डॉ० मोहित

'बदलता हुआ देश' धर्म और राजनीति का यथार्थपरक विवेचन

'बदलता हुआ देश' कहानी संग्रह में बारह कहानियाँ किस्सागोई रूप में दी गई हैं। इन कहानियों के माध्यम से कहानीकार समाज को जाग्रत करना चाहता है। हमारे चारों ओर हो रहे क्रियाकलापों तथा देश में घटने वाली घटनाओं के प्रति जागरूक होना आवश्यक है। समाज सुधार के नाम पर सामान्य जनता के साथ हो रहे छल को लेखक ने उजागर करने का प्रयास किया है। इन कहानियों में ऐसे महत्त्वपूर्ण विषयों को उठाया गया है जो पिछले कुछ वर्षों में निरंतर चर्चा का विषय रहे हैं। लेखक ने अपनी बात किस्सागोई के माध्यम से अवश्य कही है किंतु यह सीधे तौर पर सामाजिक यथार्थ से जुड़ी हैं। कहानियों के माध्यम से समाज की आँखों पर पड़ी अंधविश्वास की पट्टी को हटाना लेखक का मुख्य उद्देश्य है। मनुष्य द्वारा जीवन के कठोर यथार्थ को समझना आवश्यक है तथा शासन तंत्र द्वारा देश में फैलाए गए उनके औजारों की पहचान हो सके। इस कहानी संग्रह में कुछ महत्त्वपूर्ण बिंदु है जो समकालीन धर्म और राजनीति में हो रही कुटिलताओं को दर्शाते हैं -

प्रगति के नाम पर पर्यावरण पर चोट

'स्वर्ण देश के बारे में एक निबन्ध' कहानी में स्वर्णदेश की कल्पना की गई है। जहाँ नदी, पर्वत, पहाड़ सभी प्राकृतिक दृश्य मौजूद हैं। इनका दोहन करके जन-जीवन को सुखमय बनाने के लिए तरह-तरह के प्रयोग किए जाते हैं। जिन नदियों का जल बिजली बनाने में प्रयोग करते हैं उन्हीं में कल-कारखानों का कूड़ा-कचरा डालकर दूषित किया जाता है। जिन धनी व्यक्तियों के घरों में उस बिजली का सबसे अधिक प्रयोग होता है वही नदियों के प्रदूषण में सबसे आगे होते हैं। नदियों का जल अत्यधिक रसायनों के मिलने से अशुद्ध तथा अनुपयोगी हो रहा है। 'स्वर्ण देश' में नदियों के अलावा जीव-जन्तुओं की सुरक्षा के नाम पर भी निरंतर छल किए गए हैं। कहानी में गायों की दुर्दशा पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है—

''कई बार भूख जोर मारती तो सड़कों पर कूड़ाघरों की तरफ निकल जाती और भक्ष्य-अभक्ष्य जो भी मिलता, उसे खाकर अपना पेट भर लेती ... कई बार उनका भोजन इतना पौष्टिक होता कि वे पगुराते-पगुराते जान भी दे देती, फिर भी नहीं पचता?''[1]

यहाँ देश में 'गाय सुरक्षा' के नाम पर होती रही राजनीति का पता चलता है। गाय की यह दशा उस देश में है जहाँ बड़े-बड़े नेता स्वयं को 'गऊ सेवक' कहकर धर्मपरायण सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। वर्तमान समाज को अंधविश्वास को छोड़ शिक्षा और संस्कृति के वास्तविक मूल्यों को जानने की आवश्यकता है।

नफरत, दहशत और हिंसा

धर्म के प्रति विश्वास समाज को नैतिक और श्रेष्ठ बनाता है, लेकिन अंधविश्वास समाज को पतन की ओर ले जाता है। राजनीति में स्वार्थपूर्ति के लिए धर्म को हथियार की भाँति इस्तेमाल किया जाता है। धर्म के ठेकेदार बने कुछ लोग समाज में अंधविश्वास को बढ़ाते हैं। ऐसे लोग धर्म की अपने अनुसार भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ बनाते हैं।

''धर्मग्रंथों और धर्माध्यक्ष में किसी भी तरह के मतभेद

की स्थिति में धर्माध्यक्ष का कथन ही प्रमाण माना जाता था।''[2]

दूसरे धर्म के लोगों के प्रति अलगाव व नफरत का जहर घोलने का काम ऐसे लोगों द्वारा ही किया जाता है। जब भी देश में कहीं कोई दंगा या फसाद होता है तो उसका जिम्मेदार दूसरे धर्म के लोगों को ठहराया जाता है। जो धर्म पर प्रश्न करता है उसकी हत्या कर दी जाती है और उस हत्या पर हत्यारे को सजा न देकर ईनाम दिया जाता है। कहानियों के माध्यम से समाज के प्रत्येक वर्ग से प्रश्न पूछा गया है। अंधे गूँगे, बहरे बनकर वे समाज को किस दिशा में लेकर जा रहे हैं।

''स्वर्णदेश में लोग राजा से उतना नहीं डरते थे जितना कि पुलिस और पुजारियों से। पुलिस किसी भी कार्य को अपराध कह सकती थी और पुजारी किसी भी कार्य को धर्म विरुद्ध।''[3]

समाज के मन-मस्तिष्क पर जब अंधविश्वास की पट्टी लगा दी जाती है तो वह उचित-अनुचित का विचार नहीं करता। भय और अपराध उसके जीवन का हिस्सा बन जाते हैं। धर्म को राजनीति का मुख्य औजार बना दिया जाता है। जीवन के अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों से ध्यान हटाकर धर्म की सुरक्षा की बात की जाती है। कहानी में 'गाय' सामान्य जनता का प्रतिनिधित्व करती है। जिसकी सुरक्षा के नाम पर ऐसे दल या गिरोह तैयार किए जाते हैं जो सुरक्षा के स्थान पर जनता को भयभीत करने का काम करते हैं। शासक वर्ग देश की जनता को भावनात्मक रुप से बंधक बनाकर रखता है। उनके मन से विद्रोह की भावना को ही नष्ट कर देता है।

दमन और तानाशाही

चुनाव के समय जनता से सैंकड़ों वायदे किए जाते हैं किंतु सत्ता मिलने पर उन वायदों को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। लोकतंत्र होते हुए भी जहाँ किसी को सवाल पूछने का भी अधिकार नहीं होता। ऐसे में तानाशाही का शासन तंत्र प्रतीत होने लगता है। शासक जो कहे वह सही और लाभकारी मानना अनिवार्य है। आँखें बंद करके उसके सभी निर्णय स्वीकार करने पड़ते हैं। कहानी 'सारे निजी काम बाएँ हाथ से करें' में डुगडुगी वालों के माध्यम से मीडिया पर व्यंग्य किया गया है। मीडिया को लोकतंत्र का चौथा स्तंभ कहा जाता है क्योंकि यह जनता के हित को ध्यान में रखकर शासन तंत्र से सवाल पूछता है, किंतु यहाँ इनका प्रारुप पूर्णत: भिन्न दिखाई देता है जो शासक की कृपा पर ही जीते हैं। वह शासक के सभी कार्यों को सही सिद्ध कर जनता के समक्ष लाते हैं।

''अगर धन्ना सेठों ने सभी डुगडुगी वालों को देश-हित में अपने पाले में न मिला लिया होता तो इतने बड़े देश की जनता तक वह आजादी का संदेश कैसे पहुँचा पाता।''[4]

कुछ व्यक्तियों को लाभ पहुँचाने हेतु सामान्य जनता के अधिकारों का हनन किया जाता है।

बेरोजगारी का स्वरूप

अत्यधिक बेरोजगारी शासन तंत्र की असफलता को दर्शाती है। जब भी रोजगार के लिए प्रश्न किया जाता है, तो युवाओं का ध्यान रोजगार से हटाकर धर्म और आतंकवाद जैसे विषयों पर लगा दिया जाता है। मीडिया भी शासन तंत्र का ही सहयोग करती है। वह सच कहने की अपेक्षा शासक की ही जय जयकार करती है। रोजगार को लेकर उनकी वैचारिकता कुछ इस प्रकार की है -

''... सरकारी नौकरियों में कुछ भी नहीं रखा। अरे, अब तो पेंशन भी नहीं मिलती। जो थोड़ी बहुत पारिवारिक सुरक्षा थी, वह भी मैं बहुत जल्दी समाप्त कर रहा हूँ।''[5]

विडंबना यह है कि समाज सत्य को देख नहीं पाता। अन्याय को देखकर अपनी आँखें बंद कर ली जाती हैं। जब राजनीति में निजी स्वार्थ प्रबल हो जाए तो वह संपूर्ण समाज के लिए घातक हो जाती है। इस कहानी संग्रह के विषय में 'संजीव कुमार' ने कहा है–

''... यहाँ किस्सागोई वाले अंदाज में एक ऐसा दिक्काल उपस्थित है जो अपनी सूरत में हमारा न होकर भी सीरत में सौ फीसद हमारा है।''[6]

इसके अलावा 'ममता कालिया' के शब्दों में–

''ये कहानियाँ अपनी सरलता में जटिल यथार्थ की दस्तावेज हैं। मनोज समय के सघन अंधेरों पर रचनाओं की रोशनी और रोशनाई डालकर बताते हैं, बचो, बचो, इस फैलते अंधकार से बचो।''[7]

सहायक प्रोफेसर (अतिथि संकाय)
हिन्दी विभाग
शहीद राजगुरु कॉलेज ऑफ
एप्लाइड साइंस फॉर विमेन
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : mohitdhawan1992@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. मनोज कुमार पांडेय, बदलता हुआ देश (कहानी संग्रह), पृ० 3
2. वही, पृ० 14
3. मनोज कुमार पांडेय, बदलता हुआ देश (कहानी संग्रह), पृ० 17
4. मनोज कुमार पांडेय, बदलता हुआ देश (कहानी संग्रह), पृ० 27
5. वही, पृ०
6. वही, कवर पेज
7. मनोज कुमार पांडेय, कवर पेज

सहायक ग्रंथ सूची

* मनोज कुमार पांडेय कहानी संग्रह, बदलता हुआ देश, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, 1-बी नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 द्वारा प्रकाशित प्रथम संस्करण 2020

शोध-पत्र

डॉ. राजकुमार राजन

छायावाद में राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना का पुनरावलोकन

राष्ट्र एक विशिष्ट भौगोलिक इकाई का वह स्वरूप होता है, जो विविधताओं के बीच सामंजस्य स्थापित करता है। भौगोलिक इकाई विभिन्न संदर्भों में एकता की प्रतिबद्धता को सुदृढ़ करती है। राष्ट्र का आधार विचारों पर आधारित होता है और इन विचारों का स्थाई भाव सामूहिक चेतना में अन्तर्निहित रहता है। यह भौगोलिक इकाई एक ऐसे भावबोध से जुड़ी रहती है, जिसका संबंध प्रत्यक्ष रूप से जनता के सामान्य व्यवहार और जीवनशैली से होता है।

जनता का जीवन व्यवहार, उसकी सोच, चिन्तन जैसा होगा, वैसा ही उस राष्ट्र की अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता भी होगी। राष्ट्र की शक्ति एवं सामर्थ्य वहाँ की जनता ही होती है। राष्ट्र से राष्ट्रीयता की भावना जगती है। राष्ट्रीयता की भावना राष्ट्र के प्रति प्रेम, अस्मिता और संस्कृति के गर्व को ऊँचा उठाती है। राष्ट्र को जोड़ने का प्राथमिक चरण उस राष्ट्र की अपनी भाषा और बोलियाँ होती हैं क्योंकि भाषा की अस्मिता उस राष्ट्र की अपनी अस्मिता होती है। भाषा सिर्फ बोलने का ही माध्यम नहीं होती है या विचारों की ही प्रस्तुति नहीं है। भाषा परम्पराओं की वाहक होती है। एक पीढ़ी के सम्पूर्ण भाव-बोध को दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाने का माध्यम भाषा से ही सम्भव हो होता है। भाषा राष्ट्र की प्रमुख इकाई है। जिसके कारण सामाजिक समूह एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं। यही कारण है कि राष्ट्र में रहने वाले लोग मनोवैज्ञानिक रूप से अपने विचारों में संगठित रहते हैं। राष्ट्रीय जनसमूह की एकता अपनी सभ्यता की परम्पराओं एवं रीति-रिवाजों के माध्यम से भी एक-दूसरे से बंधी होती है। मानवीय सभ्यताओं का विकास पारस्परिक वैचारिक संबंधों के साथ-साथ आपसी आचार-व्यवहार के समन्वय से होता है। राष्ट्र में एकता के सूत्र व्यक्तियों के संगठन से जुड़े होते हैं जबकि राष्ट्रीयता के सूत्र राष्ट्र में निवास करने वाले लोगों की भावनाओं से जुड़े होते हैं। राष्ट्र के प्रति आत्मसम्मान और राष्ट्रीय गौरव की भावनाएँ ही राष्ट्रीयता के आधार स्तंभ हैं। राष्ट्रीयता की प्रमाणिकता नागरिकता से चिन्हित होती है।

प्रत्येक राष्ट्र अपने नागरिकों के सिद्धांत एवं अन्य सुविधाएँ देने का अधिकार सुरक्षित रखता है। यह सिद्धांत राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता का आधार बिंदु है। हिन्दी साहित्य में गीतों एवं काव्यों के माध्यम से कवियों ने राष्ट्रीय अस्मिता की पहचान की है। राष्ट्रीय आवधारणा में राष्ट्र के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव राष्ट्रीय की अवधारणा की निर्मित दृष्टि है। राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना एक-दूसरे से जुड़ी हुई है। साहित्य, संस्कृति और कला किसी भी राष्ट्र के अंतश्चेतना के प्रेरणास्रोत होते हैं। आज के दौर में जहाँ बाजारवाद एवं उपभोक्तावादी संस्कृति ने साहित्य पर सबसे ज्यादा प्रश्नचिन्ह खड़े किए हैं। उपभोक्तावादी संस्कृति जहाँ एक ओर उपयोगितावादी मूल्यों को स्थापित करती है। वहीं संस्कृति की परम्परा अपसंस्कृति की ओर प्रस्थान करती है। ऐसे समय में सांस्कृतिक चेतना पर विचार करना आज के समय की आवश्यकता है। संस्कृति के स्रोत मूल्यों में कलात्मकता का विशेष महत्त्व होता है। संस्कृति एक बहुआयामी शब्दावली है। संस्कृति को एक खास परिभाषा में बाँधना संभव नहीं है। संस्कृति का आवरण जन्म से प्रारंभ होकर जीवन में व्याप्त तमाम संगतियों में अन्तर्व्याप्त होता है। जीवन के विभिन्न हिस्सों में संस्कृति का साधारणीकरण सामंजस्यपूर्ण होता है। संस्कृति और साहित्य का अन्तर्संबंध

अत्यंत गहरा है। साहित्य उन मूल्यों को स्थापित करता है, जो मूल्य संस्कृति का अभिन्न हिस्सा होता है। मनुष्य समाज में रहकर ही अपनी अस्मिताओं को परिभाषित करता है और समाज में रहकर ही मनुष्य संस्कृति से अपने संस्कार को परिमार्जित करता है। इस दृष्टिकोण से संस्कृति का महत्त्व मानवीय सभ्यता में बहुत बढ़ जाता है। सांस्कृतिक चेतना मानवीय मूल्यों और उन सभ्यताओं का संरक्षण करती है, जो मूल्य अन्यों के लिए अप्रासंगिक हो चुके होते हैं। सामाजिक मूल्यों की प्रासांगिकता संस्कृति के संरक्षण में सुरक्षित रहती है। संस्कृतिक चेतना के परिप्रेक्ष्य में साहित्य के कालखंड को समझना, उस कालखंड के इतिहास, समाज और परम्पराओं को समझना है। हिन्दी साहित्य में संस्कृति की परिचर्चाएं साहित्य की मूल संवेदना है। साहित्य समाज का वह दर्पण है, जिसे सिर्फ देश नहीं जा सकता है बल्कि उसे महसूस भी किया जा सकता है। उसकी संवेदना को संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में महसूस कर, उस समय की ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियों को संस्कृति के ही माध्यम से समझा जा सकता है।

छायावादी काव्य को स्वतंत्रता आंदोलन के संदर्भ में समझना छायावादी काव्य की पुनर्व्याख्या है। भारतीय राष्ट्रवाद की परिचर्चाओं में अक्सर यह विवाद का विषय रहा है कि राष्ट्रवाद का प्रारंभिक बिन्दु कहाँ है। विद्वानों के विभिन्न मतों में एक मत ब्रिटिशर्स के आगमन से माना जाता है। जब भारतीय पारम्परिक ज्ञान एवं ब्रिटिशर्स आधुनिक ज्ञान से टकराहट होती है तो भारतीय राष्ट्रवाद का उदय होता है। ''योरोपीय संस्कृति नयी वैज्ञानिक सभ्यता और चिंतनधारा पर आधारित थी, जब कि परंपरित भारतीय संस्कृति धर्म और अध्यात्मक प्रधान थी। इस टकराइट से विशिष्ट सांस्कृतिक ऊर्जा उत्पन्न हुई जिसे हम भारतीय पुनर्जागरण का नाम देते हैं।''[1] पुनर्जागरण में 'स्वतंत्रता की अनुगूंज' होती है। राष्ट्रवाद 'स्वतंत्रता की प्राथमिक चरण है। स्वतंत्रता का आत्मबोध का संचालन राष्ट्र की अस्मिता से जुड़ा होता है। राष्ट्र की आशाएं, आकांक्षाएं और अपेक्षाएँ सबकुछ उसकी अपनी पहचान से निर्धारित होती है। राष्ट्र का महत्त्व यह है कि राष्ट्राध्यक्ष उस राष्ट्र का हो। अपने देश का शासक ही राष्ट्र के प्रति उत्तरदायित्व होगा। बाहरी व्यक्ति तो शोषक ही हो सकता है।

भारतीय राष्ट्रवाद ''वस्तुत: भारत की राष्ट्रीय चेतना है। जो वैदिककाल से अस्तित्व में रही है। अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में धरती माता का यशोगान किया गया है। माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्या: (भूमि माता है और मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ।) विष्णुपुराण में तो राष्ट्र के प्रति का श्रद्धाभाव अपने चरमोत्कर्ष पर दिखाई देता है। इसमें भारत का यशोगान 'पृथ्वी पर स्वर्ग' के रूप में किया गया है।''[2] दरअसल भारतीय राष्ट्रवाद की जड़ें भारतीयता के अतीत में गहरी धँसी हुई हैं। यही कारण है कि छायावादी कवियों ने अतीत की उन ऐतिहासिक अंशों को याद किया है, जो वर्त्तमानकालिक समय के लिए आदर्श हो सके। छायावाद युग के कालजयी कवि जयशंकर प्रसाद ने 'चंद्रगुप्त','स्कंधगुप्त' जैसे नाटकों का सृजन किया। छायावादी युग की राष्ट्रीय चेतना सामाजिक स्वतंत्रता और राजनैतिक स्वतंत्रता पर आधारित थी। राष्ट्रीय चेतना के प्रभाव से 'स्वतंत्रता आंदोलन' एक नया रूप ले रहा था।

भारतीय संस्कृति की विरासत भारतीयता में है और मानवीय मूल्य परंपराओं एवं ऐतिहासिकता में दर्ज है। भारतीय संस्कृतियों पर अनेक आक्रमण हुए लेकिन हमारी संस्कृति की विरासत बहुत गहरी थी कि उसे कोई मिटा नहीं सका।

भूमंडलीकरण के इस दौर में परम्परागत संस्कृति का ह्रास पीड़ादायी है। यह समय संस्कृति के नये दौर का है। संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में अपसंस्कृति का दौर नुकसानदेह है। ''शराब और अफीम की लत की तरह ही उपभोक्ता मानसिकता भी आदमी को अपना गुलाम बना लेती है। प्रतिस्पर्धा पर आधारित पूँजीवादी व्यवस्था में आदमी अपनी आदत से ही नहीं पड़ोसी के बरक्स अपनी हैसियत को बनाये रखने के लिए भी उपभोग के स्तर को बढ़ाते चलने के दबाव में रहता है।''[3] लेकिन छायावादी युग के कवियों ने अपनी संवेदनाओं में भारतीय संस्कृति के उन स्वर्णिम क्षणों को याद किया है, जो छायावादी युग की जरूरत थी। सन् 1918 से 1936 ई. के बीच का समय छायावादी युग है। यह काल भारतीय संस्कृति में संघर्षों का युग था। भारत अंग्रेजों का गुलाम था। गुलामी से मुक्ति के लिए देश में गाँधी के नेतृत्व में स्वतंत्रता आंदोलन चल रहा था। भारत की जनता में पराजित होने का घनघोर निराशा थी। इसी निराशा को दूर करने के लिए साहित्य में छायावाद का अभ्युदय हुआ। भक्तिकाल में जहाँ संसार का निषेध कर ईश्वर की ओर मन को ले जाने की प्रवृत्ति होती थी, वहीं पर छायावाद युग में इस संसार को ही परमेश्वर का अंश माना गया। सांसारिक जीवन के सुख-सुविधा, जीवन की आशा को सकारात्मक रूप में लिया गया। ''निष्काम कर्म की जगह

प्रसाद की 'कामायनी' में कर्म और भोग के सामंजस्य का गुणगान हुआ है। कबीर, सूर, जायसी, तुलसी भक्तिकाल के अंतर्गत संसार का निषेध करके परम तत्त्व की ओर मन को ले जाने का उपक्रम करते हैं। छायावाद के कवि इस संसार को पूरी तरह सकार के उस परम तत्त्व से अभिन्न देखते हैं।''[4]

छायावादी युग वैचारिक रूप से उपनिषद दर्शन के करीब है। यह युग भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के संघर्ष का समय था। स्वतंत्रता आंदोलन महात्मा गाँधी के नेतृत्व में संघर्षमय था। देश की बहुसंख्यक जनता गाँधी जी के जीवन दर्शन से प्रभावित था। छायावाद युग के कवियों ने स्वतंत्रता आंदोलन में अपनी क्रांतिकारी विचारों के माध्यम से अपने भाव व्यक्त किए हैं। यह विचार आम भारतीय जनता के अंदर आशा की एक नई किरण थी। भारतीय मन जो निराशा के अंधकार में डूब चुका था। छायावादी कविता उन निराश मन में एक नई ऊर्जा का संचार किया। यह ऊर्जा का संचार 'उपनिषद दर्शन' का सार है। उपनिषद दर्शन 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ही ब्रह्मा हूँ को जीवन दर्शन का सार मानता है। यह दर्शन मानवता और मनुष्यता को सर्वोपरि मानता है। ईश्वर, परमात्मा का पर्याय है,

आत्मा प्रत्येक जीव के भीतर होती है। भारतीय मन जब तक समानता के भाव से आजादी के आंदोलन में हिस्सा नहीं लेता, तब तक आजादी प्राप्त करना संभव नहीं था। समन्वय गाँधी दर्शन का भी मूल स्वर है। समन्वय की भावना का दर्शन छायावाद युग की मूल संवेदना है।

''ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके, यह विडम्बना है जीवन की।''[5]

यह सार छायावाद की संवेदना है। आज के भौतिकतावादी युग में व्यक्ति का मन असीम को प्राप्त करना चाहता है। यह असीम जब तक ज्ञान, क्रिया और इच्छा में समन्वय नहीं होगा, तब तक प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

छायावादी युग के बड़े कवि जयशंकर प्रसाद नाटकों का भी सृजन किया है। नाटक साहित्यिक विधा में सबसे भिन्न है, भिन्नता का आधार उसके दृश्यावलोकन में है। जो पाठक पढ़ नहीं सकते, वे नाटकों को रसास्वादन अभिनय को देखकर ले सकते हैं।

''मनुष्य अपनी दुर्बलता से भली-भांति परिचित रहता है। परन्तु उसे अपने बल से भी अवगत होना चाहिए। असम्भव कहकर किसी काम को करने से पहले कर्मक्षेत्र में कांपकर लड़खड़ाओ मत, पौख!''[6]

स्वतंत्रता आंदोलन के समय भारतीय दुर्बल मन को शक्ति प्रदान करने के लिए छायावादी युग के कवियों ने अपने सृजन में 'शक्ति काव्य' को प्रमुख स्थान दिया है। मनुष्य के अंदर जब दुर्बलताएँ हावी हो जाती है, वह नैराश्य मन शक्तिविहीन हो जाता है। जब मन दुर्बल होता है, व्यक्ति असहाय हो जाता है।

ऐसे दुर्बल मन को शक्ति प्रदान करने के लिए छायावादी कवियों ने 'शक्ति की करो मौलिक कल्पना' जैसी वैचारिक कविताओं की रचना की है।

''बोले विश्वस्त कण्ठ से जाम्बवन-''रघुवर,
विचलित होने का नहीं देखता मैं कारण,
हे पुरुषसिंह, तुम भी यह शक्ति करो धारण,
आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर
तुम वरो विजय संयत प्राणों से प्राणों पर।''[7]

यह विचलन छायावाद युग में भारतीय मन का था क्योंकि शक्तिशाली अंग्रेजी साम्राज्य के सामने हमारी शक्ति कमजोर हो गई थी। 'निराला' अपनी कविताओं में वह शक्ति अर्जित करने का प्रयास करते हैं, जो भारतीय मन के भीतर कहीं दब गई थी। जयशंकर प्रसाद 'कामायनी' जैसी कविता में शक्ति को अर्जित करने की प्रेरणा देते हैं। छायावादी कवियों ने ना केवल कविताओं में बल्कि विभिन्न गीतों में भी 'शक्ति' को जगाने का उपक्रम करते हैं। गीतों की रचना 'स्वतंत्रता आंदोलन' के लिए प्राण तत्त्व है क्योंकि इन गीतों का प्रभाव अशिक्षित जनता तक पहुँचती थी। ''छायावादी काव्य में शक्ति के आह्वान का एक और रूप इस युग के जागरण गीतों में मिलता है। पुनर्जागरण चेतना की बड़ी सूक्ष्म और प्रीतिकर अभिव्यक्ति इन गीतों में हुई है।''[8] छायावादी गीतों में 'राष्ट्रीय स्वाधीनता' आन्दोलन को प्रेरित करने का संदेश होता था। चूँकि यह गीत गाया जाता था इसलिए यह लोगों के जुबान पर था। छायावादी कवियों ने 'आत्म अभिव्यक्ति' को अपना आदर्श माना है। आत्म-अभिव्यक्ति के माध्यम से व्यक्ति सबसे पहले अपने आपको बेहतर ढंग से जानने का प्रयास करता है। अपने को जानते हुए संसार को जानने का प्रयास करता है। व्यक्ति के अंदर उसका अपना स्वाभाविक विशेषताएँ, उसका आचरण, उसका अपना वैशिष्ट्य दूसरों के लिए प्रेरणादायी हो सकते हैं। यदि वह सच्चाई व ईमानदारी के साथ अपने को व्यक्त करता है। छायावादी कवियों ने 'मैं' शैली के साथ अपने को व्यक्त किया है।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने 'सरोज-स्मृति' काव्य में 'सरोज' जो उनकी स्वयं की पुत्री थी। 'सरोज' की स्मृति को काव्य में वर्णन किया है। उन्होंने अपने परिस्थितियों को राष्ट्रीय परिस्थितियों के रूप में प्रस्तुत किया है। एक गरीब पिता खुद के आर्थिक बेबसी से अपनी पुत्री की शादी अच्छे वर से नहीं कर पाता है। 'दहेज प्रथा' हमारे समाज की वह बुराई है, जो समस्याओं की जननी है।

''धन्ये, मैं पिता निरर्थक था,
कुछ भी तेरे हित न कर सका।
जाना था अथार्गमोपाय
पर रहा सदा संकुचित-काय
ल कर अनर्थ आर्थिक पथ पर
हारता रहा मैं स्वार्थ-समर।''[9]

छायावादी युग के सबसे बड़े कवि 'निराला' का यह काव्य सम्पूर्ण भारतीय समाज पर एक सांस्कृतिक प्रश्न छोड़ जाता है। 'निराला' की यह कविता 'आत्म-अभिव्यक्ति' का सशक्त उदाहरण है। उस युग के अनेक कवियों ने अपनी अभिव्यक्ति में 'आत्म' से संसार तक का सफर तय किया है। छायावादी कवि अपने निजी अनुभवों को खुलकर अभिव्यक्त किया है।

छायावादी कवियों ने अपनी कविताओं में राष्ट्रीय चुनौतियों को अपने काव्य का विषय बनाया है। 'प्रकृति' का चित्रण उस युग के कवियों के अनुभव संसार का बहुत बड़ा हिस्सा है। सुमित्रानंदन पंत प्रकृति को जीवन का अभिन्न हिस्सा मानते हुए, प्रकृति में मानवीय सरोकारों को देखते हैं। ''छायावाद के काव्य-सौंदर्य के विवेचन से स्पष्ट है कि यह सारा सौंदर्य व्यक्ति की स्वाधीनता की भावना से उत्पन्न हुआ है और वह स्वाधीनता भी व्यक्ति के माध्यम से संपूर्ण समाज की स्वाधीनता की अभिव्यक्ति है।''[10] छायावादी कवियों ने व्यक्ति स्वातंत्र्य पर विशेष बल दिया है। व्यक्ति स्वातंत्र्य क्रमशःगत राष्ट्रीय स्वाधीनता का मार्ग प्रशस्त करता है। हिंदी साहित्य में द्विवेदी युग के बाद छायावाद युग का आरंभ होता है। द्विवेदी युग अपने अनुशासन और व्याकरणिक संरचनाओं में प्रतिबद्ध है। छायावादी युग में उस अनुशासन को तोड़ एक नए रास्ते की तलाश प्रारंभ हुई, जिसमें व्यक्ति स्वतंत्रता का विशेष महत्त्व है। छायावादी युग व्यक्तिगत भावनाओं को राष्ट्रीय भावनाओं तक पहुँचाने का युग है।

आत्म-अभिव्यक्ति छायावाद युग की प्रमुख विशेषता है। छायावादी युग के कवियों ने मनुष्य के भीतर देखने, झाँकने और उसकी संवेदनाओं को प्रमुखता से उल्लेख किया है। यह युग व्यक्तिगत राग-द्वेष, प्रेम और सौहार्द राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए मार्ग प्रशस्त किया है।

छायावादी कवियों ने छंदों की मुक्ति के साथ मुक्त छंद का प्रयोग किया है। यह मुक्त छंद ना केवल साहित्य की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता है बल्कि यह जीवन के विभिन्न हिस्सों में बंधन से मुक्ति की भी आकांक्षा है। यह युग नारी चेतना का भी हैं। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक जागरण में नारी की भूमिका अग्रणीय है।

यह काल स्वच्छंदतावाद के लिए भी जाना जाता है। स्वच्छंदतावाद स्त्री-पुरुष के बीच स्वच्छंद प्रेम को स्वीकारता है। यह युग नारियों के सम्मान का भी है। समाज में स्त्रियों की जो पराधीनता सदियों से थी, उन बंधनों से मुक्ति इस युग की विशेषता बन गई। महादेवी वर्मा की यह पंक्ति ''मैं नीर भरी दुख की बदली!'' युगों से पराधीन स्त्रियों की संवेदना है। इस कविता में कवयित्री स्वयं को व्यक्त करती है। लेकिन यह आँसुओं से भरी दुखद बदली केवल महादेवी वर्मा की नहीं रह जाती बल्कि यह समस्त स्त्री-जाति के वेदना, दुःख और पीड़ा का पर्याय बन जाती है। छायावादी युग भारतीय सांस्कृतिक चेतना की उद्घोषणा राष्ट्रीय जागरण के रूपों में हुआ है। छायावादी कवि अपनी कविताओं में भारतीय परम्परा की गौरवशाली इतिहास को वर्त्तमानकालीन समस्याओं से जोड़ा है। इस युग में कवियों ने अतीत के स्वर्णयुग को वर्ण्य-विषय बनाया है। जिसमें उन्होंने ना केवल जीवन दर्शन की तलाश की है बल्कि उस दौर की प्रमु चुनौतियों के समाधान हेतु रास्ते तलाशे हैं।

''अरूण यह मधुमय देश हमारा
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा''[11]

यह पंक्तियाँ हमारे देश की संस्कृति, इतिहास और परम्परा को व्यक्त करती है। प्रसाद ने छायावाद युग में अनेक नाटक लिे, उनमें 'चंद्रगुप्त' और 'स्कंधगुप्त' भी है। 'स्कंधगुप्त' नाटक में 'स्कंधगुप्त' को नायक बनाया गया है।

राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में 'राष्ट्रीय गौरव' की उद्बोधन के लिए राष्ट्रीय-सांस्कृतिक नायक का चयन प्रसाद की कालजयी दृष्टि को प्रस्तुत करता है। 'स्कंधगुप्त' गुप्त काल का राजा था, उनके समय में सम्पूर्ण एशिया में भारतीय संस्कृति का परचम लहरा रहा था। छायावादी युग में 'स्कंधगुप्त' को

याद करना अतीत के स्वर्णिम समय को याद दिलाना मात्र नहीं है बल्कि अपनी सोई हुई ऊर्जा को जगाना भी है। '''कामायनी' की तो मूल वस्तु यही है– देव-असुर और मानव संस्कृतियों की टकराहट। ... आधुनिक युग के पुनर्जागरण में यह सांस्कृतिक संघर्ष की वस्तु अर्थ के स्तर पर और संचरणशील हो जाती है अब टकराहट भारतीय और पाश्चात्य धाराओं के बीच है।''[12]

भारतीय एवं पाश्चात्य संस्कृति के टकराहट के कारण जो एक बौद्धिक वर्ग का अभ्युदय हुआ, उसके कारण एक नई राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना पैदा हुई। छायावादी कवियों ने भारतीय संस्कृतियों के अतीत को पुनर्जीवित किया और उसके माध्यम से जनमानस को यह संदेश देने का प्रयास किया कि तुम्हारा अतीत स्वर्णमयी था। इसलिए अपने अधिकार के लिए संघर्ष करो।

छायावादी काव्य में राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना की पुनर्व्याख्या छायावाद को नई दृष्टि से समझने की मांग है। इस युग के कवियों ने आध्यात्मिकता को भी अपना वर्ण्य-विषय बनाया है। जिसमें उन्होंने जो विषय उठाए हैं, वे आज के जीवन के अर्थों की तलाश भी है और समस्या का समाधान भी। छायावादी युग के कवियों ने आत्मा, परमात्मा और मोक्ष जैसे विषयों को विषय वर्ण्य बनाया।

सुमित्रानंदन पंत छायावाद के महत्त्वपूर्ण कवि हैं। जिन्होंने अपनी कविताओं में प्रकृति के विभिन्न सौंदर्य को मानवीयता दृष्टिकोण से यथार्थ चित्रण किया है। उन्होंने प्रकृति के विभिन्न सौंदर्य को विभिन्न उपमा और उपमानों की दृष्टि से चित्रित किया है। मनुष्य और प्रकृति मानो पंत जी के यहाँ एकमेक हो गया है।

प्रकृति यहाँ एकता की प्रतिबद्धता है और आध्यात्मिकता का सौंदर्य बोध भी।

''छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?
छोड़ अभी से इस जग को।

इन पंक्तियों में सामान्य रूप से तो यह प्रतीत होता है कि कवि रमणी के सौंदर्य की अपेक्षा प्रकृति के सौंदर्य को अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है।''[13] पंत ने प्रकृति को मानव का साह्चर्य बनाया।

''छायावाद'' हिंदी साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक आंदोलन था, जिसके काव्य ने राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना के एक नए युग की शुरुआत की। छायावादी कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से जीवन के विभिन्न पहलूओं का ना केवल सजीव वर्णन किया बल्कि राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चुनौतियों के समाधान भी प्रस्तुत किए।

एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
शहीद भगत सिंह महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110017

सन्दर्भ सूची

1. रामस्वरूप चतुर्वेदी : हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ. 82
2. विकिपीडिया ऑनलाइन, भारतीय राष्ट्रवाद
3. सच्चिदानन्द सिन्हा : संस्कृति और समाजवाद, पृ. 115
4. रामस्वरूप चतुर्वेदी : हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ. 112
5. जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृ. 117
6. जयशंकर प्रसाद, चन्द्रगुप्त, पृ. 120
7. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', राम की शक्ति पूजा, पृ. 3
8. रामस्वरूप चतुर्वेदी : हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ. 113
9. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', सरोज-स्मृति, पृ. 2
10. नामवर सिंह, छायावाद, भूमिका अंश
11. जयशंकर प्रसाद, चन्द्रगुप्त, पृ. 83
12. रामस्वरूप चतुर्वेदी : हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ. 111
13. डॉ. नगेन्द्र, डॉ. हरदयाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 535

सोनम

मन्नू भंडारी के कथा साहित्य में अभिव्यक्त विविध स्वर

शोध सार

नई कहानी को समृद्ध बनाने व शिखर तक ले जाने का जिन कथाकारों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है उसमें मन्नू भंडारी का नाम उल्लेखनीय है। नारी की अस्मिता, स्वतंत्रता तथा अपनी जड़ता से लड़ने का साहस उन्होंने अपने नारी पात्र में बखूबी भरा है। मन्नू भंडारी की कहानियों को पढ़ते हुए जो विशेषताएं पाठकों के मानस पटल पर छायी रहती हैं उनमें अकेलापन, अलगाव, टूटन, संत्रास और आधुनिकताबोध जैसे भावबोध के गहरे अर्थ होते हैं। स्वभावत: इन कहानियों में उनका नारी-मन रूपायित हुआ है। पहली बार इन प्रसंगों को साहित्य में स्थान देने के साथ-साथ कथा-कृतियों में चिह्नित किया गया और इनका प्रस्तुतीकरण आधुनिक जीवन की यथार्थभूमि और आनुभूतिक सच्चाई के रूप में उभर कर आया है। कई बार उनकी कहानियों को पढ़ने से ऐसा भी लगता है कि उनका वहाँ व्यवहार मर्यादित नहीं रह सका किन्तु वह नैतिक भी नहीं था इसके बावजूद उनके वजूद को साफ इंकार भी नहीं किया जा सकता था। उनकी कहानियां पारिवारिक दाम्पत्य और जो सामाजिक संबंध हैं उससे जुड़ा हुआ है, समाज का जो यथार्थबोध है, जो पारिवारिक संरचना है और जो मानवीय संवेदना है खासतौर से स्त्री-पुरुष संबंध जैसे उनकी 'यही सच कहानी' है बहुत चर्चित कहानी है। इन कहानियों में स्त्री अस्मिता, आत्मबोध का स्वर प्रमुखता से दिखाई देता है। यहाँ तक कि स्त्री के स्वतन्त्र निर्णय लेने की क्षमता विकसित होती है। स्त्री का जो आपसी रिश्तों के प्रति जो आत्मबोध है, संबंधों की जो गहराई है कि किस प्रकार उसके भीतर निर्णय लेने कि क्षमता है यह भी देखा जा सकता है साथ ही इस पितृसत्तात्मक समाज में एक स्त्री के निर्णय लेने के पीछे कौन-कौन सी चुनौतियाँ उसके सामने आती हैं उसे भी उन्होंने अपनी कहानियों का मुख्य स्वर बनाया है। मन्नू जी ने अपने साहसिक व्यक्तित्व के चलते ही नारी के परम्परागत सुकोमल एवं अबला नारी के व्यक्तित्व से उसको बाहर निकालकर एक सशक्त नारी का चित्र खींचा और अपने कथा साहित्य का उसको विषय बनाया।

बीज शब्द

परम्परागत, नैतिकता, सामंजस्य, आधुनिकता बोध, पारिवारिक, सामाजिक।

मन्नू भंडारी ने सन् 1950 के आस-पास अपना लेखन कार्य आरंभ किया। जिस कहानी से मन्नू जी को अत्यधिक सराहना मिली और जिसने उनका ध्यान उनके लेखन के प्रति अधिक आकर्षित किया तथा जिसने उन्हें पहचान दिलाई वह कहानी थी- 'मैं हार गई', जो सन 1958 में 'कहानी' पत्रिका में प्रकाशित हुई।

''मन की आशाएं और उमंगें जैसे बढ़ती हैं, वैसे ही मेरा नेता भी बढ़ने लगा। थोड़ा बड़ा हुआ, तो गाँव के स्कूल में ही उसकी शिक्षा प्रारम्भ हुई। यद्यपि मैं इस प्रबंध से संतुष्ट नहीं थी, पर स्वयं ही मैंने ऐसी परिस्थिति बना डाली थी कि इसके सिवाय कोई चारा नहीं था।''[1]

उनके कई पात्र ऐसे हैं जो अपराधबोध से युक्त हैं और स्वयं लेखिका भी, क्योंकि उसने अपनी कहानी 'मैं हार गयी' के अपने भावी नेता को जानबूझकर गरीबी के गर्त में झोंक दिया जहाँ न चाहते हुए भी वह अपने चरित्र पात्र से न्याय नहीं कर पाती।

''तभी अचानक एक घटना घटी। उसके पिता की अचानक मृत्यु हो गयी। दवा-इलाज के लिए घर में पैसा नहीं था, सो उसके पिता ने तड़प-तड़पकर जान दे दी और वह बेचारा कुछ भी न कर सका।''[2]

मन्नू भंडारी अपनी रचनाओं में बिना किसी वैचारिक पूर्वाग्रह व लाग लपेट के व्यक्ति व समाज की खोखली परतें खोलती चलती हैं। उनका मानना था कि जिस प्रकार कीचड़ में कमल खिलता है उसी प्रकार महान लोग एक गरीब घर में ही पैदा होते हैं किन्तु गरीबी और बीमारी की मार ने उनके स्वनिर्मित और सर्वगुण सम्पन्न भावी समाज के नेता को कुचल कर रख दिया और वह कुछ नहीं कर पाई।

एक स्थान पर वे लिखती हैं कि ''यह सच है कि मैं किसी पंथ से जुड़ी थी, न तब बाद में... मेरा जुड़ाव अगर रहा है तो अपने देश में... चारों ओर फैली-बिखरी जिंदगी से जिसे मैंने नंगी आँखों से ही देखा है, बिना किसी वाद का चश्मा लगाए और मेरी रचनाएँ इस बात का प्रमाण हैं।''[3]

मन्नू जी ने जिस प्रकार का जीवन जीया और उसमें जो कुछ भी महसूस किया उसे अपनी कहानियों का विषय बनाया। उनके जीवन की जो आशा-निराशा है, उसका जो अंतत: आत्मबोध और स्त्री चेतना का जो पक्ष है वही इनकी कहानियों का केंद्रीय भाव है कि किस प्रकार सब बदल रहा है। उनके भीतर एक बेहतरीन सृजनशक्ति है जो सामाजिक जीवन में बिखरी नारी की अस्मिताओं को समेटे हुए उनके प्रति एक रचनात्मक दायित्व बोध भी बराबर बना हुआ रहता है। उन्होंने अपनी कहानी 'अकेली' के माध्यम से स्त्रियों के अकेलेपन, मानवीय संवेदना और सामाजिक अलगाव को बड़े ही मार्मिक शब्दों में व्यक्त किया है, सोमा बुआ पति के कर्कश बर्ताव के चलते वो भूल चुकी है जीवन का साज सिंगार, वो भूल चुकी है पति के दो मीठे शब्द। पहले तो बुआ जी के पति साल दो साल पर मिलने आ जाते थे किन्तु अब वो बीस साल से अकेली है उनकी खोज-खबर भी कोई लेने वाला नहीं है ''सोमा बुआ का जवान बेटा क्या जाता रहा, उनकी जवानी चली गयी। पति को पुत्र-वियोग का ऐसा सदमा लगा कि वे पत्नी, घर-बार तजकर तीरथवासी हुए।''[4]

लेखिका अपने नारी पात्रों के माध्यम से जीवन को जिस सहजता और गहराई से उसको निभाती हैं और जीवन जीती हैं, वह अपने आप में बेजोड़ है। वह नारी के विविध पक्ष को उभारते हुए भारतीय नारी की गरिमा को भरकश निभाते हुए कहीं-न-कहीं उनके स्वयं के भीतर भी अपनी संपूर्णता में समझने एवं निर्मित करने की कोशिश लगातार बनी रहती है।

युगों - पुरानी परम्परागत रुढ़ियों के मलवे के नीचे दबी पड़ी, कुचली नारी के मौलिक अस्तित्व को उसके भीतर निर्णय लेने की क्षमता को किस प्रकार विकसित करती हैं, यही बातें एक रचनाकार को मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण बनाती है। कहानी 'यही सच है' की नायिका दीपा यह नहीं समझ पाती है कि वो निशीथ को चाहती है या संजय को बल्कि वह वर्तमान परिस्थिति के वशीभूत होकर निर्णय लेती है यानि जो वर्तमान में उसके पास है वो उसे ही प्रेम समझ बैठती है।

''मैं जानती हूँ, संजय का मन निशीथ को लेकर जब-तब सशंकित हो उठता है; पर मैं उसे कैसे विश्वास दिलाऊँ कि मैं निशीथ से नफरत करती हूँ, उसकी याद-मात्र से मेरा मन घृणा से भर उठता है।''[5]

'मैं हार गई' कहानी में यहाँ मध्य वर्ग में पले-बढ़े एक सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति जो परिस्थितियों से समझौता कर भविष्य के आगे घुटने टेक देता है यह मात्र उसकी हार नहीं है बल्कि स्वयं लेखिका की भी हार है और यही कारण है कि इस बार जब वह नये नेता के भविष्य का चुनाव करती है तो इस बार किसी गरीब घर में उसे न जन्म देकर अमीर और सुसम्पन्न घर में गढ़ती है किन्तु यहाँ भी मूल्यों के ह्रास से उसे बचा नहीं पाती है इसका स्पष्ट संकेत यहाँ इन पंक्तियों में देख सकते हैं, ''मैट्रिक पास करके वह कॉलेज गया। जिस कॉलेज में एक समय में केवल राजाओं के पुत्र ही पढ़ा करते थे और आज भी जहाँ रईसी का वातावरण था, उसी कॉलेज में उसके पिता ने उसे भर्ती कराया। लेकिन मेरी सारी सावधानी के बावजूद उन रईसजादों की सोहबत अपना रंग दिखाये बिना न रही।''[6]

यहाँ लेखिका निर्धन और संपन्न दोनों वगो ं से ही अपने नायक के निर्माण में असफल रहती है किन्तु यही कारण है कि उन्हें अपने वर्ग के सुसंपन्न नायक की अपेक्षा उन्हें विपन्न और साधनहीन परिवार में जन्मे नायक में ही सभी उत्कृष्ट संभावनाएँ दिखाई देती है। लेखिका अपने ही पिता के विभाग में इसे कहीं नौकरी दिलवा देना चाहती है किन्तु वहां भी पिता जी की उदार नीति के कारण कोई जगह खाली नहीं मिलती है। यहाँ लेखिका ने देश की राजनीतिक व्यवस्था पर व्यंय किया है कि राजनीतिक दांव-पेच के कारण निम्न वर्ग के लोगों को नौकरी भी नहीं मिल पाती। यह नायक अपनी पूरी सम्पूर्णता व संभावनाओं के साथ इस कथा में भले ही उभर न सका हो

किन्तु शीर्षक 'मैं हार गयी' यहाँ कथा-लेखिका की स्वयं अपनी हार की स्वीकृति यह स्पष्ट कर देती है कि वर्तमान प्रशासनिक व्यवस्था में उनके नियामकों से किसी तरह की आशा की उम्मीद नहीं की जा सकती। अत: इसमें वर्तमान शासन के राजनीतिज्ञों पर भी कटाक्ष किया गया है।

स्पष्ट है कि नारी की चेतना, स्वतंत्रता, निर्णय लेने की अभिक्षमता, रिश्तों का विघटन और देश की राजनीतिक व्यवस्था आदि, जीवन के हर क्षेत्र पर अपनी लेखनी से सभी संबंधों को एक नया आयाम देते हुए चलती हैं 'अकेली' कहानी की सोमा बुआ जिसमें उन्होंने एक परित्यक्ता और बूढ़ी औरत के माध्यम से यह बताने की कोशिश की है कि किस प्रकार संबंधों की कीमत उसकी वर्तमान हैसियत, उसकी आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति-मनोस्थिति के आधार पर परखी जाती है। सोमा बुआ बहुत उदार हृदय की हैं वो किसी से कुछ अपेक्षा नहीं रखती बल्कि अपना सब कुछ वह दे देना चाहती हैं और चाहती हैं कि इसी सेवा के बलबूते कोई उन्हें भी अपना कह सकें और इतना ही नहीं बुआ सुबह नौ बजे ही घर का सारा काम समाप्त करके दिन भर न्यौते के आस में बैठी रहीं कि कब बुलाया आये और इन्हें जाने का अवसर मिले किन्तु रात होने पर भी जब कोई बुलावा नहीं आया तो कहती हैं, ''क्या सात बज गए? फिर जैसे अपने में ही बोलते हुए पूछा, 'पर सात कैसे बज सकते हैं, मुहूरत तो पांच बजे का था।...' और फिर बड़े ही बुझे हुए दिल से अंगीठी जलाने लगी।''[7]

यहाँ लेखिका ने वृद्ध महिलाओं के एकाकीपन को गहरी संवेदनशीलता के साथ व्यक्त किया है।

'खोटे सिक्के' कहानी मजदूरों की लाचारी और बेबसी की ओर संकेत करती है जिनके पास पेट भरने के लिए टकसाल के उच्चपदाधिकारी मालिकों के कारखानों में काम करने के सिवा और कोई दूसरा चारा नहीं है और जब वही मजदूर वहां काम करते हुए अपनी जान गवां देते हैं या अपंग हो जाते हैं तो उन्हें दूध में पड़ी मक्खी की तरह निकाल कर फेंक दिया जाता है। ''कड़ककर खन्ना साहब ने पूछा, 'कौन है तू? यहाँ कैसे चली आई?' .... दिमाग खराब हो गया है। जिसके दोनों टांगें नहीं है वह क्या खाक काम करेगा? चलो हटो यहाँ से।.... अब कहाँ जाये सरकार? बीस साल तक आप लोगों की नौकरी की, आपकी नौकरी में ही टांग गयी, अब कहाँ जाये सरकार?''[8]

आज का आधुनिक समाज उनकी दुर्दशा पर सहानुभूति के तो दो आँसू बहा सकता है परंतु स्थिति में परिवर्तन के लिए कोई आगे नहीं आता। '''खोटे सिक्के' की लक-दक फैशनेबुल किस्म की छात्राओं के लिए मजदूरों की दुर्दशा देखना महज तमाशे देखने के बराबर है। मन्नू भंडारी की इस यथार्थवादी दृष्टि को मधुरेश प्रेमचंद और यशपाल से प्राप्त रचना दृष्टि मानते हैं।''[9]

अत: कहा जा सकता है कि अन्य कथा लेखिकाओं की तुलना में इनका कथा-संसार व्यापक एवं विस्तृत है। यद्यपि इन्होंने भावकुता से परे रहकर बदले हुए जीवन-संदर्भ में चेतना के धरातल पर नारी जीवन की जटिलताओं को करीब से जाना-परखा और बहुत ही सादगी के साथ अपनी लेखनी चलाई है। 'अकेली' कहानी की सोमा बुआ अपने समाज के भीतर रहकर जीने की अकाट्य जिजीविषा को साथ लिए जी रही हैं। वह नहीं चाहती कि उनके पति उनके इस स्वतंत्रता में बाधक बने और यही कारण है कि इनकी अपने पति से अक्सर नोक-झोंक बनी रहती है, सोमा बुआ का बाल हृदय पूरे गाँव भर को ही अपना परिवार मान लेता है परंतु कोई उन्हें कोई अपना नहीं मानता। वह सभी के दु:ख-दर्द को अपना ही दु:ख-दर्द समझती है। इसके बावजूद वह अकेली हैं—

''क्योंकि पति के स्नेहहीन व्यवहार का अंकुश उनके रोजमर्रा के जीवन की अबाध गति से बहती स्वच्छंद धारा को कुंठित कर देता।''[10]

निष्कर्ष

कुल मिलाकर कह सकते हैं कि मन्नू भंडारी की कहानियां, उनकी नारी दृष्टि, नारी की चेतना, उसकी स्वतंत्रता और राजनीति, उन्होंने जीवन के हर पहलु को छुआ है और उसी आत्मबोध के साथ जिया भी है साथ ही उनकी कथा-साहित्य नारी विमर्श और जीवन के हर क्षेत्र को एक नई दिशा देने में बेजोड़ रही है। उन्होंने स्त्री को एक जागरूक, उसकी स्वतंत्र निर्णय लेने की क्षमता और उसको स्वावलम्बी व्यक्तित्व के रूप में चित्रित किया। उनकी कहानियां न केवल अपना अलग एक अस्तित्व रखती हैं, बल्कि उसके भीतर परिस्थितियों से लड़ने और उसमें बदलाव की चेतना भी विकसित करती हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि मन्नू भंडारी का रचना संसार अपने विविध रूपों व स्त्री विमर्श की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण और प्रासंगिक है।

अतिथि शिक्षक
सत्यवती कॉलेज (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. भंडारी मन्नू, मैं हार गयी (प्रतिनिधि कहानियां) राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण–1984, पृ. 43.
2. वही, पृ. 44.
3. भंडारी मन्नू, एक कहानी यह भी, राधाकृष्ण प्रकाशन, इलाहबाद, पृ. 63.
4. भंडारी मन्नू, अकेली, (प्रतिनिधि कहानियां), राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण–1984, पृ. 31.
5. भंडारी मन्नू, यही सच है, राजकमल प्रकाशन, पृ. 13.
6. भंडारी मन्नू, मैं हार गयी, (प्रतिनिधि कहानियां), राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण–1984, पृ. 46.
7. भंडारी मन्नू, अकेली, (प्रतिनिधि कहानियां), राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण, पृ. 37.
8. भंडारी मन्नू, खोटे सिक्के, (प्रतिनिधि कहानियां) राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण–1984, पृ. 41.
9. मधुरेश, कहानी का विकास, सुमति प्रकाशन, 2004, पृ. 109.
10. भंडारी मन्नू, अकेली, (प्रतिनिधि कहानियाँ), राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण–1984, पृ. 31.

वैदिककालीन कृषि उपकरण और तकनीकी

सुधांशु कुमार

प्राचीन भारतीय सभ्यता व संस्कृति का मूलस्रोत वेद है जिसमें मानव जीवन के प्रत्येक तत्त्व का अर्थ और मूल्य विद्यमान है। कृषि इस सभ्यता की आधारशिला है क्योंकि कृषि पर ही सभी प्राणियों का अस्तित्व निर्भर है।

'जन्तूनां जीवनं कृषिः।'[1]

अर्थात् कृषि भी प्राणीमात्र का जीवन है। यदि कृषि न हो तो भोजन, औषधि, वस्त्रादि मूलभूत जीवनोपयोगी वस्तुएँ प्राप्त नहीं हो सकती।

कृषि भौतिक आवश्यकताओं के साथ ही हमारी सांस्कृतिक व पारम्परिक जीवनशैली से भी गहनता से जुड़ी हुई है तथा प्रकृति के संतुलन को बनाए रखने और पर्यावरण संरक्षण में भी कृषि अत्यंत सहायक सिद्ध होती है। प्राचीन काल में कृषि मुख्यतः हाथ और पशुओं की शक्ति पर आधारित थी। मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ ज्ञान व अनुभव के आधार पर कृषि के लिए विभिन्न उपकरण विकसित किए गए। यही उपकरण कृषि को अधिक सरल व प्रभावशाली बनाते हैं। कृषि उपकरणों का उपयोग कृषि के प्रत्येक कार्य में होता है। यथा—भूमि जोतना, बीज बोना, सिंचाई करना, फसलों की कटाई आदि। कृषि उपकरण फसलों की उत्पादन बढ़ाने, समय व श्रम बचत आदि में अत्यंत ही सहायक सिद्ध होते हैं। कृषि उपकरणों का समाज व अर्थव्यवस्था पर भी व्यापक प्रभाव पड़ता है। इससे खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित होती है, रोजगार के अवसर बढ़ते हैं तथा ग्रामीण विकास को गति मिलती है।

वैदिक संहिताओं में प्रमुख कृषि उपकरण हैं- सीरा (लाङ्गलम्), युग, वाह, सृण्य, खनित्र आदि। लाङ्गल शब्द हल का वाचक है। ऋग्वेद में कहा गया है- **'युनक्त सीरा।'**[2]

अर्थात् हल जोतो। यहाँ सीरा एक कृषि उपकरण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार ऋग्वेद के अन्य मन्त्रों में भी सीरा शब्द हमें प्राप्त होता है-

'सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्।'[3]

अर्थात् खेती करने में कुशल किसान हलादि को बैलों के साथ जोड़कर खेत जोतें। यजुर्वेद में सीरा के विषय में कहा गया है-

'युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्॥'4

अर्थात् हे मनुष्यों! तुम लोग इस पृथ्वी में उपकरणों को विविध प्रकार से विस्तारयुक्त करो।

अथर्ववेद में खेती की विद्या का उपदेश करते हुए कहा गया है-

युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम्।

इस प्रकार वेदों में सीरा पद 'हल' के लिए विभिन्न स्थानों पर प्रयुक्त किया गया है।

युग - वेदों में 'युग' पद जुआ के रूप प्रयुक्त हुआ है। युग जिसे सामान्य भाषा में जुआ कहते हैं, पारम्परिक भारतीय कृषि का एक महत्त्वपूर्ण उपकरण है। इसका मुख्य कार्य हल को बैलों के साथ जोड़ना होता है, ताकि उनकी शक्ति का उचित उपयोग करके भूमि को जोता जा सके। युग सामान्यतः मजबूत लकड़ी का बना होता है और इसे इस प्रकार आकार दिया जाता है कि वह हल में लगे दोनों बैलों के कन्धों पर भार समान हो। युग का उपयोग कृषि कर्म में संतुलन और सहयोग का प्रतीक माना जाता है।

'सीरा युञ्जन्ति कवयो युग वि तन्वते पृथक्।'[5]

सृण्यः वेदों में सृणि पद का प्रयोग काटने की क्रिया के संदर्भ में हुआ है। आचार्य उव्वट ने द्वितीयान्त पद मानकर इसका अर्थ 'दात्रान्' किया है। आचार्य महीधर ने अपने भाष्य में 'सृण्य' पद को तृतीया विभक्ति के अर्थ में प्रयोग करते हुए कहा है-

सृणिशब्दोऽत्र दात्रार्थः।

सृण्या लवणसाधनेन दात्रेण लूनमिति शेषः।[6]

वैदिक साहित्य में सृण्य का प्रयोग घास, लकड़ी, पौधों या सोमलता जैसी वनस्पतियों को काटने के सन्दर्भ में प्राप्त होता है। इसकी बनावट ऐसी होती थी कि कम प्रयास में अधिक प्रभावी कटाई हो सके। सृण्य वैदिक काल के लोगों की तकनीकी समझ और उपकरणों की विविधता को दर्शाता है।

खनित्र - खनित्र एक प्राचीन कृषि उपकरण है जिसका मुख्य कार्य भूमि को खोदना और उसे खेती योग्य बनाना है। खनित्र का उपयोग विशेष रूप से गड्ढा खोदने, नालियाँ बनाने, बीज बोने या सिंचाई की तैयारी के लिए उपयोग किया जाता था। खनित्र सामान्यतः मजबूत लकड़ी का बनाया जाता था, जिसमें लोहे भी लगे होते थे और इसका आकार ऐसा होता था कि भूमि में आसानी से प्रवेश कर सके। वेदों में खनित्र के महत्त्व को को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है-

अगस्त्यः खनमानः खनित्रैः प्रजामपत्यं बलमिच्छमानः।[7]

इस प्रकार वैदिक काल में उपयोग में लाये जाने वाले कृषि उपकरण कीनाश (किसान) को भूमि की उपजाऊ शक्ति का अधिकतम उपयोग करने, फसल के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ तैयार करने और उत्पादन की स्थिरता सुनिश्चित करने में सहायक सिद्ध होते थे। कृषि उपकरणों का प्रयोग न केवल मिट्टी को तैयार करने तक ही सीमित था अपितु यह भूमि की उर्वरता और प्राकृतिक चक्र के साथ सामंजस्य स्थापित करने का माध्यम था। वैज्ञानिकता को ध्यान में ही रखकर प्रत्येक उपकरण का प्रयोग होता था जिससे कि भूमि में बीज तक पर्याप्त मात्रा में पंचतत्त्व समान रूप से पहुँच सके और फसलों के उत्पादन में वृद्धि हो सके।

वैदिक काल में कृषि उपकरणों का उपयोग मानव और पशु शक्ति के सहयोग, श्रम का सामंजस्य और तकनीकी कुशलता का प्रतीक भी था। इस प्रकार कृषि उपकरण भारतीय कृषि विरासत का अमूल्य और बहुमूल्य हिस्सा रहा है।

कृषि तकनीकी

वेदों में कृषि तकनीकी पूर्णतः वैज्ञानिक आधारित थी, जिसमें प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण, मौसमी ज्ञान और जैविक विधियों का विशेष महत्त्व था। कृषि के लिए बीजों का चयन करना अत्यंत आवश्यक होता है। बीज को मौसम, भूमि की उर्वरता और फसल की आवश्यकता के अनुसार चयन किया जाता था। भूमि की उर्वरता बनाए रखने के लिए रासायनिक उर्वरक की जगह गोबर, प्राकृतिक खाद का उपयोग किया जाता था जो कि स्वास्थ्य के अनुकूल हो।

वैदिक काल में बीज बोने की विशिष्ट कृषि तकनीकी थी, जिसके द्वारा बीज वपन का कार्य किया जाता था।

स्वर्णिम तकनीकी - स्वर्णिम तकनीकी में बीज के बोने से 1-2 दिन पूर्व स्वर्णपात्र में या किसी अन्य पात्र में बीज और जल रखकर स्वर्ण के टुकड़े/सिक्के को डाला जाता था, जल की मात्रा उतनी ही रखी जाती थी जिससे कि बीज सभी जल को धारण कर ले तत्पश्चात् बीज वपन किया जाता था। ऐसे तकनीकी का प्रयोग करने से प्राणियों के आयु व तेजादि में वृद्धि होती थी क्योंकि स्वर्ण का गुण जल द्वारा बीजों में गर्भित हो जाता था।

आयुष्यं वर्च्चस्यँ रायस्पोषमौद्भिदम्।

इदँ हिरण्यं वर्च्चस्वज्जैत्रायाविशतादु माम्॥[8]

गोमय तकनीकी - बीज वपन की द्वितीय कृषि तकनीक 'गोमय तकनीकी' थी। इसमें बीजों को प्रचुर मात्रा में गौ को खिला दिया जाता था, तत्पश्चात् गोबर से प्राप्त साबुत बीज को बोया जाता था। इस तकनीक से फसलों का उत्पादन अधिक मात्रा में होता था।

औषधि गुणयुक्त तकनीकी - बीज वपन की तृतीय मुख्य तकनीक 'औषधि गुणयुक्त अन्न उत्पादन' थी। किसी धान्य को किसी विशेष औषधि के गुणों से युक्त करना होता था, तो उस औषधि के रस से उस बीज को भावित करके बोया जाता था तथा समय-समय पर उस औषधि के रस से पौधों को सींचा भी जाता था जिससे कि औषधि का गुण अन्न में प्रवेश हो जाता था।

सं वपामि समापऽओषधीभिः समोषधयो रसेन।[9]

इस प्रकार वैदिककालीन कृषि तकनीक का प्रयोग करके बीज वपन का कार्य किया जाता था जो कि मानव के स्वास्थ्य के लिए सुखकर एवं हितकर होता था।

बीज वपन के लिए जल की आवश्यकता होती थी। कृषि के लिए वर्षा का जल सबसे उत्तम होता है परन्तु वर्षा समय पर न होने से कृषि संकट की संभावना होती थी। इसलिए कृषि

सिंचाई तकनीकी का प्रयोग कर फसलों की सिंचाई की जाती थी। इसके लिए नहर, कूप, तालाब आदि का निर्माण किया गया। वेदों में कई स्थानों पर इसका उल्लेख मिलता है।

यथा- **घृतस्य कुल्याऽउपऽऋतस्य पथ्याऽअनु।**[10]

इस मन्त्रांश द्वारा ऋषि कहते हैं- राष्ट्र में जल की नहरों का प्रसार कर सत्य मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। कृषि सिंचाई तकनीकी का प्रयोग कर तालाब का वर्णन भी वेदों में प्राप्त होता है।

यथा- **न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्ती सृजते स हि कर्ता।**[11]

इस प्रकार कृषि तकनीकी का प्रयोग कर फसलोत्पादन का कार्य किया जाता था।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वैदिककालीन कृषि उपकरण व तकनीकी वैदिक युग की तकनीकी चेतना, श्रम-संयोजन और व्यावहारिक बुद्धि के प्रतीक थे। वैदिक समाज ने कृषि को परिश्रम के साथ-साथ यांत्रिक दक्षता से सम्पन्न करने का प्रयास किया, जिससे उत्पादन क्षमता में वृद्धि हो तथा कीनाश (किसान) का श्रम संतुलित रहे। यह दृष्टिकोण कृषि यंत्रीकरण के प्रारंभिक स्वरूप को अभिव्यक्ति करता है। वेदों में उल्लिखित सीरा (लाङ्गलम्) कृषि उपकरणों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। सीरा के माध्यम से भूमि को जोतकर उसे बीज बोने योग्य बनाया जाता था। यह न केवल भूमि की ऊपरी परत को बदलने या साधन था अपितु मृदा की उर्वरता को बनाए रखने का भी प्रभावी उपकरण था। वृषभ द्वारा संचालित यंत्र मानव व पशु शक्ति के समन्वय या उत्कृष्ट उदाहरण है। कृषि उपकरणों का प्रयोग केवल जुताई तक ही सीमित नहीं था। बुवाई, निराई, कटाई तथा संग्रहण के लिए विभिन्न उपकरणों का उपयोग किया जाता था। जिससे स्पष्ट है कि वैदिक कृषि व्यवस्था चरणबद्ध और सुव्यवस्थित थी।

इन उपकरणों की निर्माण प्रक्रिया भी प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित थी। लकड़ी, पत्थर और धातुओं का सीमित एवं संतुलित उपयोग किया जाता था, जिससे पर्यावरणीय संतुलन बना रहता था। उपकरणों की सरल संरचना उन्हें टिकाऊ, उपयोगी और स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल बनाती थी। यह स्थानीय तकनीकी ज्ञान का सशक्त उदाहरण है। कृषि उपकरणों का सामाजिक व धार्मिक महत्त्व भी था। सीरा (लाङ्गलम्) चलाना एक पवित्र कर्म माना जाता था तथा भूमि जोतने से पूर्व धार्मिक अनुष्ठान किए जाते थे। इस प्रकार कृषि उपकरण केवल भौतिक साधन नहीं बल्कि सांस्कृतिक और आध्यात्मिक चेतना से भी जुड़े हुए थे।

वेदों में जीवन का मूल आधार कृषि को माना गया है जिसमें अन्न, भूमि, जल, वायु, तेज, कीनाश आदि सभी को समान रूप से सम्मान दिया गया है। वैदिक कृषि की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी जैविक प्रकृति थी। प्राकृतिक उर्वरकों और पर्यावरण अनुकूल विधियों का प्रयोग कर वायु, जल, भूमि आदि को प्रदूषण से मुक्त रखा गया जो कि सिद्ध करता है कि वैदिक कृषि प्रणाली सतत विकास का एक आदर्श स्वरूप को अभिव्यक्ति करती है।

अतः वेदों में निहित कृषि उपकरण व तकनीकी न केवल वैदिक काल की सांस्कृतिक विरासत है अपितु वर्तमान व भविष्य की टिकाऊ कृषि व्यवस्था के लिए एक मार्गदर्शन का सुदृढ़ आधार प्रदान करती है। यदि आधुनिक उपकरण एवं तकनीकी को वैदिक कृषि के साथ समन्वित किया जाए तो मानव सभ्यता एक ऐसी कृषि प्रणाली की ओर अग्रसर हो सकती है, जो उत्पादन, पर्यावरण संरक्षण एवं मानव मूल्यों के मध्य संतुलन स्थापित कर श्रेष्ठ मार्ग की ओर प्रेरित कर सकती है।

शोधार्थी, संस्कृत विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर केंद्रीय विश्वविद्यालय सागर,
मध्य प्रदेश
ईमेल - tiwary.sudhanshu94@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. सस्यवेदः - 1/5
2. ऋग्वेद- 10/101/3
3. ऋग्वेद- 10/101/4, यजुर्वेद- 12/67, अथर्ववेद- 3/17/1
4. अथर्ववेद- 3/17/2
5. अथर्ववेद- 3/17/1
6. यजुर्वेद- 12/68, महीधर भाष्य
7. ऋग्वेद- 1/179/6
8. यजुर्वेद- 34/50
9. यजुर्वेद- 1/21

10. यजुर्वेद- 6/12
11. बृहदाराण्यकोपनिषद्- 4/3/10

सन्दर्भ ग्रंथ

- ऋग्वेद का सुबोध भाष्य - पं. श्रीपाद् दामोदर सातवलेकर, प्रकाशक- स्वाध्याय मण्डल, 2011
- यजुर्वेद का सुबोध भाष्य - पं. श्रीपाद् दामोदर सातवलेकर, प्रकाशक- स्वाध्याय मण्डल, 1985
- अथर्ववेद का सुबोध भाष्य - पं. श्रीपाद् दामोदर सातवलेकर, प्रकाशक- स्वाध्याय मण्डल, 1985
- वृहदारण्यकोपनिषद् - अनुवादक- रायबहादुर बाबू जालिमसिंह, प्रकाशक- निवल किशोर प्रेस, लखनऊ, 1923
- औषधीय कृषि - विक्रम गोस्वामी, डिस्कवरी पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2011
- कृषि अभियन्त्रण के सिद्धान्त - प्रो. वीरेन्द्र सैमुएल, डॉ. वी.के. सैमुएल, दया पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, संस्करण-2011
- कृषि अभियांत्रिकी के मूल तत्त्व - डॉ. जगदीश्वर सहाय, स्टैण्डर्ड पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, पुनर्मुद्रण संस्करण-2021
- कृषि विज्ञान के मूलभूत सिद्धान्त - अरुण कात्यायन, किताब महल पब्लिशर्स, पुनमुर्द्रण-2022
- कृषि-पाराशर: - सम्पादकोऽनुवादकश्च प्रो. रामचन्द्र-पाण्डेय:, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2002
- वेद में कृषि विद्या - पं श्रीपाद दामोदर सातवलेकर प्रकाशक स्वाध्याय मण्डल, भारत मुद्रणालय चतुर्थ आवृत्ति, सन्-1997
- वैदिक कृषि विज्ञान - देवेन्द्र कुमार गुप्ता, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2012
- वैदिक शोध रत्नावली - सम्पादक- स्वामी विवेकानंद, स्वामी समर्पणान्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल प्रभात आश्रम (टीकरी), मेरठ, प्रथम आवृत्ति-1995
- वैदिककालीन प्राद्यौगिकी, सम्पादक- प्रो. ओमप्रकाश पाण्डेय, डॉ. श्यामसुन्दर निगम, नाग पब्लिशर्स, जवाहर नगर, दिल्ली, प्रथम संस्करण संवत् 2059, विक्रमाब्द सन्-2003
- संस्कृत कृषि वैज्ञानिक चिन्तन - डॉ. नीरज शर्मा, राष्ट्रीय संस्कृत साहित्य केन्द्र, जयपुर, संस्करण 2013
- सस्य विज्ञान के मूलभूत सिद्धान्त - डॉ. उदय कुमार वर्मा, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, प्रथम संस्करण 1977 : 2000
- सस्यवेद: - सम्पादक एवं अनुवादक- डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू', चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, संस्करण-प्रथम, विक्रम संवत् 2075, सन्-2018
- सिंचाई के सिद्धान्त एवं कार्य-प्रणाली - ओर्सन डब्ल्यू. इजराइलसेन और कॉन ई हैन्सेन, अनुवादक- डॉ. गोपीलाल मिश्र, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, प्रथम संस्करण-1980

ऋग्वेदप्रातिशाख्ये वर्णित ओङ्कारपटलविमर्शः

निधिः तिवारी

सकलविश्वसाहित्यस्य सर्वकल्याणकरः सांस्कृति-कन्यासस्य परिचायकः प्राचीनतमोपलब्धग्रन्थरत्नः वेद एव परिगण्यते। समग्रज्ञान-इतिहास-संस्कृति-भाषाविज्ञान-इत्येतेषामवबोधनाय वेदानामध्ययनं परमावश्यकमामान्यते। अथ च वेदानाम् अध्ययनाय सहायकस्तम्भत्वेन प्रातिशाख्यग्रन्थानां स्थानं नितान्तमहत्त्वपूर्णं वर्तते। ध्यातव्यमस्ति यत् प्रातिशाख्यग्रन्थाः वेदानां लक्षणग्रन्थत्वेन परिगणिताः। प्रातिशाख्यानां माध्यमेनैव वेदस्य बाह्यस्वरूपम् अवगन्तुं शक्यते। विचारणीयं वर्तते यत् वेदाभ्यासप्रक्रिया पञ्चरूपेषु उल्लिखिता। पञ्चरूपाणि एतानि सन्तीति-अध्ययनम् विचारः अभ्यासः जपः अध्यापनञ्च। यथोक्तम् -

वेदस्वीकरणं पूर्वं विचारोऽभ्यसनं जपः।
ततोदानञ्च शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा॥[1]

वेदशाखासम्बद्धेषु प्रातिशाख्येषु एतासां पञ्चप्रक्रियाणां सविस्तरमुल्ले अस्माभिः प्राप्यते। वैचारिकदृष्टया एषा पञ्चधा वेदाध्ययनप्रक्रिया प्रातिशाख्यानामवबोधने सिद्धकारिणी वर्तते। वेदाभ्यासानाम् एतेषां प्रकाराणां माध्यमेनैव वेदानां संरक्षणाय अस्माकं विद्वद्मनीषिभिः सुष्ठुपद्धत्या अस्य विवेचनं प्रस्तुतम्।

प्रातिशाख्यग्रन्थक्रमे ऋक्प्रातिशाख्यस्य स्थानम् अन्यतममस्तीति।

ऋग्वेदप्रातिशाख्यमुपलब्धप्रातिशाख्यानामपेक्षया अधिकं विशालं विद्यते। छन्दोबद्धविरचितस्यास्य प्रातिशाख्यस्य प्रणेत्रा शौनकाचार्येण अष्टादशपटलयुतस्य ऋग्वेदप्रातिशाख्यस्य माध्यमेन ऋग्वेदस्य एकमात्रोपलब्धायाः शाकलशाखायाः शैशिरीयोपशाखायाः साङ्गोपाङ्गं विवेचनं प्रस्तुतम्।

अवधेयास्पदं वर्तते यत् ऋग्वेदप्रातिशाख्ये वेदाध्ययनारम्भे ओङ्कारोच्चारणस्य प्रावधानं निहितमस्ति। प्रणवाक्षरस्यास्य महत्त्वपूर्णस्थानमपि तत्र परिलक्षितमस्ति। यतो हि वेदाध्ययनम् अव्यवस्थितं तथा च अनियमितरूपेण नैव कर्तुं शक्यते, वेदाध्ययनस्य स्वीयः विशिष्टः विधिः परिकल्पितो वर्तते यस्य वर्णनम् अस्य प्रातिशाख्यस्य पञ्चदशपटलाख्ये अध्याये-ओङ्कारपटलमित्यभिनामधेयकत्वेनवर्णितम्।

ओङ्कारपटलविमर्शः

पटलेऽस्मिन्ओङ्कारोच्चारणात् प्राक् केषाञ्चित् व्यावहारिक-प्रसङ्गानामपि उल्ले : दृष्टिङ्गतः। तेषां प्रसङ्गानाम् विवेचनं क्रमशः अत्रोल्लि तमस्ति -

1. **उपवेशनक्रमः** - प्रातिशाख्ये एतस्मिन् वेदाध्ययनात् प्राक् गुरुशिष्ययोः आसनाधीनस्य क्रमः कथितः यत् गुरुणा नियतेन्द्रियं भूत्वा एकस्यां निश्चितदिशि पूर्व-उत्तर-उत्तरपूर्व-दिशायाम् उपवेष्टव्यमिति। अस्यां दिशि गुरुः तावत् पर्यन्तम् अध्यापनस्य अभ्यासं कुर्यात् यावत् पर्यन्तं नियन्तेन्द्रियो भवेदिति अपि च श्रद्धायुताय शिष्याय अध्यापनं स्यादिति अर्थात् श्रद्धावन् शिष्यः एव वेदाध्ययनाय उचितपात्रत्वेन गण्यते।

यथा-

पारायणं वर्तयेद् ब्रह्मचारी गुरुः
शिष्येभ्यस्तदनुव्रतेभ्यः।
अध्यासीनो दिशमेकां प्रशस्तां
प्राचीमुदीचीमपराजितां वा॥[2]

तदनु वेदाध्ययनाय जिज्ञासुः शिष्यः गुरोः दक्षिणभागे उपविश्य अध्ययनार्थम् उपविशत्। तत्रैव यदि शिष्याणां सङ्ख्या एका उत वा द्वे परिगणितास्ति तावत् ते सर्वे गुरोः दक्षिणपक्षतः-उपविशेयुः। यथोक्तम् -

एकः श्रोता दक्षिणतो निषीदेद् द्वौ वा॥[3]

यदि शिष्याणां सङ्ख्या इतोऽपि अधिकमात्रापरास्ति तावत् ते सर्वे स्थानानुसारि आसीनाः भवेयुः -

यथा लिखितम् -

भूयांसस्तु यथावकाशम्॥4

2. गुरवे शिष्यप्रार्थना

वेदाध्ययनपिपासवः सकलाः हि शिष्याः गुरुचरणयोः नतमस्तकं भूत्वा वेदाध्ययनाय प्रवृत्ताः भवेयुः तथा च वदेयुः यत् हे भगवन्! भवान् अस्मभ्यं अप्रतिमग्रन्थरत्नस्य वेदस्य अध्ययनं कुर्यादिति।

तेऽधीहि भो३ इत्यभिचोदयन्ति[5]

3. ओङ्कारोच्चारणप्रकाराः

शिष्यसमूहैः सम्प्रार्थितस्य वेदाध्ययनस्य शुभारम्भाय प्राप्तनिवेदनं सम्प्राप्य गुरुः प्रत्युत्तरे सर्वप्रथमम् ऊँ अर्थात् अभिस्वीकृतम् 'आम्' इत्येतस्य पदस्य उच्चारणं करोतीति।

स ओ३मिति[6]

उल्लेखनीयंवर्तते यत् इदं हि ओङ्कारपदं त्रिविधा व्याख्यायितं भवतीति। पप्रथमं तु त्रिभिः मात्राभिः संवलितमिदम् अक्षरं स्वकीये स्थाने उदात्तस्वरे उच्चार्यते। द्वितीयं तु एतद्धि प्रणवाक्षरं चतुर्भिः मात्राभिः आच्छादितं भवतीति अथच अस्य प्रथमार्द्धभागः अनुदात्तो भवतीति। ततः परं तृतीयं षड्भिः मात्राभिः युक्तं भवति तदा इदं हि अक्षरम् द्युदात्तत्वेन परिगण्यते।

ओङ्कारस्य महिमा

भारतीयसनातनधर्मे सांसारिकतापैः संतप्तेभ्यः अनेके मार्गाः सन्ति उद्घाटिताः। एतेष्वेव उपायेषु ईश्वरीयोपासना अतीव महत्त्वपूर्णा वर्तते, व्याकुलिताः जनाः ईश्वरस्य शरणे यान्ति तत्र तैः उपास्यदेवः नाम्ना एव आहूयते, तन्नाम तस्य देवस्य प्रतीकः भवति अपि च तस्य नाम उच्चार्यते। तत्र सर्वादौ ओङ्कार इत्येतस्य एकाक्षरस्य उपासना विधीयते। अयं हि ओङ्कारः ब्रह्मणः चेतनायाः आत्मनः च प्रतीको विद्यते। एवञ्च ब्रह्माण्डस्य सर्वाधिकमहत्त्वपूर्णेषु प्रभाविध्वनिषु सम्मिलितो वर्तते। एवमेववेदाध्ययनस्य आरम्भे शब्दप्रधानब्रह्मयुता ओङ्कारोच्चारण-प्रक्रिया अध्ययनरतशिष्येभ्यः तथा च अध्यापनरतेभ्यः निश्चप्रचं स्वर्गे प्रवेष्टुं पवित्रद्वारमस्ति। इदं हि प्रणवाक्षरं प्रधानं श्रेष्ठं च उच्यते। सर्वादौ ब्रह्मसदृशं ओङ्कारोच्चारणं वेदाध्ययनात् पूर्वं स्मरणीयं येन हि अभीष्टज्ञानं नितान्तं कल्याणकारी भवत्विति यथा-

अध्येतुरध्यापयितुश्च नित्यं स्वर्गद्वारं ब्रह्म वरिष्ठमेतत्।
मुखं स्वाध्यायस्य भवेत्।[7]

ध्यातव्यमस्ति यत् ऋग्वेदप्रातिशाख्ये वर्णितः ओङ्कारपटलविमर्शः विस्तृतरूपेण उल्लेखनीयो विद्यते। प्रातिशाख्येऽस्मिन् ओङ्कारः ब्रह्मणः सर्वोत्तमस्वरूपे स्वीकृतः। सृष्टेः त्रिभिः प्रमुखकार्यैः उत्पत्तिपालनसंहारैः सम्बद्धः अयम् ओङ्कारविमर्शः न केवलं ब्रह्मणः गुणानां विवेचनमस्ति अपि तु निखिलविश्वस्य निर्माणं विकासं च द्योतयति।

अधोलिखिताः बिन्दवः इतोऽपि ओङ्कारस्य माहात्म्यं प्रतिपादयन्ति -

स्वाध्यायात् प्रागेव ओङ्कारोच्चारणं शिष्येषु एकाग्रतां वर्धयति अथ च निराकारस्य सत्यस्वरूपब्रह्मणः साक्षात्कारस्य माध्यमपि बोधयति तावत् एतदर्थमपि प्रातिशाख्ये स्वर्गद्वारमपि प्रोदिरितमिति। वेदाध्ययनविधिषु शिष्यः न केवलम् वेदाभ्यासं प्रति अग्रसरः भवति प्रत्युत आत्मज्ञानप्राप्तये अपि तस्य मार्गः उद्घाटितो भूत्वा ब्रह्मणा सह एकीभूय एकाकारस्य भावनां जागरयति।

वेदाध्ययनात् प्राक् उच्चारितः ओङ्कारः शिष्यैः अनुभूयमानः शिष्यस्य मानसस्थितिः शान्तिपथे नीयते। तत्रैव स्वरविज्ञान-दृष्टष्ट्यापि ओङ्कारोच्चारणेन शिष्यस्य उत वा साधकस्य मानसिक-शारीरिकस्वास्थ्ययोः आध्यात्मिकप्रभावं जनयति। येन हि ऊर्जात्मकसक्रियात्मकरूपेण शिष्यः वेदाध्ययनाय प्रवृत्तो भवतीति, अनेनैव स्वरूपेण शिष्यः सकलविश्वकल्याणहेतुः प्रयासरतः भवन् स्वस्मै एकस्याः आध्यात्मिकयात्रायाः मार्गमुद्घाटयितुं सक्षमं भवति।

विद्यार्थिभ्यः ओङ्कारस्य उच्चारणं साधना च अत्यन्तमुपयोगिनी लाभदायिनि च भवति यतोहि इदं न केवलं मनसि शान्तिं स्थापयति अपि तु एकाग्रतां स्मरणशक्तिं मानसिकसमन्वयं संवर्धयति यद्धि एकस्मै शिष्याय सफलतायाः कृते आधारभूतावासंरचना भवति।

इतोऽपि अधिकम् आध्यात्मिकपक्षे अस्य ओङ्कारोच्चारणस्य महिमा अव्याख्यायिता वर्तते। **ऊँ (ओम्)** इत्यस्य प्रणवाक्षरस्य उच्चारणं भारतीयदर्शने योगसूत्रे आध्यात्मे च अतिमहत्त्वपूर्णयुतं स्वीकृतम्। इदम् अक्षरम् उपनिषदां मन्त्राणाञ्च सारं निगदति। अस्य उच्चारणस्य शारीरिकमानसिकाध्यात्मिकस्तरेषु गभीरप्रभावं भवति। यथोक्तं -

ऊँ इति स्मरणेनैव ब्रह्मज्ञानं परावरं ।
तदेक मोक्षसिद्धि च तदेवामृतमश्नुते॥

योगसूत्रे उल्लिखितं वर्तते यत्संयमस्य अभ्यासः विभिन्नासु

चित्तवृत्तिषु क्रियते। तावत् अस्यां प्रक्रियायाम् ओङ्कारस्य निरन्तरस्य अविच्छिन्नोच्चारणस्य च तुलना तैल-घण्टयोः ध्वनिना सह अभवत्, या ध्यानस्य निरन्तरतां गहनतां च दर्शयति-

तैलधारामिवच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत्।
उपास्यं प्रणवस्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित्॥[8]

महाभारतयुद्धसमये यदा अर्जुनः भीतो जातः तदा श्रीकृष्णः अर्जुनम् उपदिशति यत् मनः सुस्थिरः करणीयःतावत् अर्जुनेन प्रोक्तं यत् -

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥[9]

तस्मिन् क्रमे साम्प्रतं मनसः सुस्थिरिकरणाय ओङ्कारः प्रकल्पितः।

ओ३म् इत्यस्य निरन्तरजपेन महान्सत्तायाः अर्थात् परमेश्वरस्य ज्ञाता मौनगत बुद्धेः दोषेण इतस्ततः भ्रमणशीले मनसि पूर्णाधिपत्यं प्राप्तुं शक्नोति।

बुद्धतत्त्वेन धीदोषशून्येनैकान्तवासिना।
दीर्घं प्रणवमुच्चार्य मनोराज्यं विजीयते॥[10]

निष्कर्ष :

एवमेव ऋग्वेदप्रातिशाख्यः ओङ्कारपटलस्यमहत्त्वं वेदानां उच्चारणशुद्धतायाः ध्वन्यात्मकसंरचनायाः साधनाविधीनां तथा च वेदानां तात्त्विकज्ञानस्य अवगमनाय संरचितः अस्ति। ओङ्कार पटलस्य माध्यमेन वेदमन्त्राणां उचितावबोधः अथ च अभ्यासः साधकस्य आध्यात्मिकोन्नत्यां सहायकाः भवन्ति। ऋग्वेदप्रातिशाख्ये ओंकारः वैदिकपरम्परायां सर्वासां ध्वनिनां मूलः यज्ञीयपवित्रतायाः प्रतीकभूतः अथ च ब्रह्मणः ध्वनिरपि अस्ति, प्रातिशाख्यस्य नियमाः यथा स्वरः सन्धिःस्वरितश्च ओङ्कारस्य शुद्धोच्चारणम् सुनिश्चियन्ते। ओंकारः यज्ञस्य पवित्रतां मन्त्रणां शक्तिं च वर्धयति यथा- ऋग्वेदस्य मन्त्रात्- अग्निमीळे पुरोहितम् (1.1.1.) इत्येतस्मात् पवित्रमन्त्रात् पूर्वं यजमानद्वारा ऊँ इत्यस्य उच्चारणं वातावरणं संनादितं करोतीति।

शोधच्छात्र
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
ईमेल - tiwari.nidhi1997@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. दक्षस्मृति-2/26-27
2. ऋक्प्रातिशाख्यम्-15.1
3. ऋक्प्रातिशाख्यम्-15.2
4. ऋक्प्रातिशाख्यम्-15.3
5. ऋक्प्रातिशाख्यम्-15.4
6. ऋक्प्रातिशाख्यम्-15.5
7. ऋक्प्रातिशाख्यम्-15.6
8. योगसूत्र-3.3
9. श्रीमद्भगवद्गीता-6.34
10. वेदान्तपञ्चदशी-4.62

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आचार्य शौनिक विरचित - ऋग्वेद- प्रातिशाख्यम्, अनुवादक- डॉ. वीरेन्द्र कुमार वर्मा, प्रकाशक- चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2022
2. प्रजापति डॉ. ईश्वरलाल, दक्ष स्मृति ग्रंथ, प्रकाशक- राही प्रकाशन, दिल्ली, 2020
3. श्रीमद्भगवद्गीता - गीताप्रेस, गोरखपुर, 2021
4. पातञ्जलयोगदर्शनम् - व्याख्याकार- श्रीवास्तव, डॉ. सुरेशचन्द्र, प्रकाशक- चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2021
5. श्रीविद्यारण्यकृत- वेदान्तपञ्दशी, व्याख्याकार- शिवानन्द सरस्वती, प्रकाशक- चौखम्बा संस्कृत भवन, 2024

स्त्री संवेदनाओं को उकेरती मोनिका मिश्रा की कहानियाँ

डॉ. प्रमिला

इक्कीसवीं सदी की राजस्थान की ख्यातनाम महिला लेखिकाओं में डॉ. मोनिका मिश्रा विशिष्ट स्थान की अधिकारी हैं। इन्होंने समाज में स्त्री-पुरुष संबंधों में आते बदलाव व टूटती मानवीय संवेदनाओं को अपनी कहानियों का उपजीव्य बनाया है। इनकी कहानियों में मुख्यत: स्त्री-स्वातन्त्र्य की सोच मुखर हुई है। इनकी कहानियाँ उन स्त्रियों की स्त्री-स्वातंत्र्य का प्रतिनिधित्व कर रही हैं जो रूढ़िवादी बंधनों व सोच से मुक्ति चाहती हैं और इस मुक्ति के लिए उसमें छटपटाहट है। वे समाज की उन दकियानूसी विचारों का पुरजोर विरोध करती हैं जो उन्हें एक खांचे में बाँध कर रखती हैं। लेखिका ने समाज के विविध सरोकारों को अपने लेखन का आधार बनाकर सशक्त अभिव्यक्ति दी है। इनका साहित्य स्त्री की उन्मुक्त उड़ान का साहित्य है जिसमें स्त्री की अस्मिता व उसके स्वतंत्रता की खोज का लेखन है जिसके माध्यम से वह सदियों की चुप्पी तोड़ रही हैं।

लेखिका का सद्य प्रकाशित कहानी संग्रह है -''समझौता''। आलोच्य कहानी संग्रह वर्ष 2007 में 'विजय पब्लिकेशन हाउस', दिल्ली से प्रकाशित है। समझौता, विपरीत परिस्थितियों में अपने कुछ सिद्धान्तों को, अधिकारों को त्यागकर किया गया आपसी निपटारा है। आलोच्य कहानी संग्रह ''समझौता'' में ग्यारह कहानियाँ हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि अधिकतर कहानियों की मुख्य पात्र नारी है, जो अपने जीवन में कहीं-न-कही, कभी-न-कभी, किसी-न-किसी रूप में समझौता करती आयी है।

नारी जो इस सृष्टि के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है, क्या वास्तव में इस समाज में परिवार में और पति के जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका प्राप्त कर सकी है? वर्तमान में लड़कियाँ जिस आत्मविश्वास के साथ उच्च शिक्षा एवं ऊँचे-ऊँचे पद प्राप्त कर रही हैं, उसे देखते हुये पुरुष समाज यह कहने को विवश हो जाता है कि असमानता कहाँ है? लेकिन नारी की स्थिति को देखने में और समझने में बहुत अंतर है। ''आज भी उसके मन की भीतरी परतों को उघाड़कर देखें तो उसमें वही पीड़ा और दर्द दिखायी देगा जो पहले की महिलाओं ने भोगा था।''[1] इस पीड़ा को विविध कोणों से स्पर्श करते हुए लेखिका आगे बढ़ी हैं और अपनी नायिकाओं की लाचारी, विवशता एवं वेदना का चित्रण करते हुये नारी को उस स्थिति में पहुँचाती हैं जहाँ वह असमानता को तो झेलती है, किन्तु अपने मन में आगे बढ़ने के विश्वास को भी पैदा करती है। वह निर्णय लेती है, अपनी इच्छा व अनिच्छा को महत्व प्रदान करनी है, वह सामाजिक नियमों के ढाँचों में ढलती हुयी भी टूटती नहीं है, बल्कि अपनी अस्मिता के प्रति सचेत भी है।

लेखिका ने अपनी कहानियों में असफल प्रेम, उससे उत्पन्न तनाव, निराशा एवं उसके उपरांत हुए मोहभंग को रेखांकित किया है। ''आलोच्य कहानी संग्रह 'समझौता' की प्रथम कहानी 'मोहभंग' है। कहानी के शीर्षक से ही ज्ञात होता है कि कहानी मोह के अतिरेक के कारण निराशा के गर्त में होती, उसकी परिणति को उजागर करती है।''[2] कहानी का नायक मुकेश अपनी प्रेमिका निशा को बेहद प्रेम करता है किन्तु प्रेम की उष्मा विवाह के बंधन तक पहुँचकर सात जन्मों का रिश्ता बनता; उससे पहले ही किन्हीं कारणों से टूट जाता है।

लेखिका ने असफल प्रेम से उत्पन्न निराशा को मुकेश के

व्यवहार में उतारा है। वह यथार्थ को जानकर भी उससे असम्पृक्त रहता है। इस कहानी में प्रेम, रिश्तों में तनाव का कारण बनता है, इससे मुकेश के जीवन से आह्लाद खत्म हो जाता है और उसकी जगह भर जाती है कसक, अंतहीन वेदना, जहाँ पर पूरा भविष्य ही दाँव पर लगा देता है मुकेश। प्रेम को पाने, भोगने तथा विवशता के दबाव में पड़े किसी एक का पीछे हट जाना, दूसरे का यादों को सीने से लगाये घूमना, तड़पना, जीने की कोशिश में तिल-तिल कर मरना और मरते हुये जीने का प्रयास और अंत में निराशा में डूब कर मोहभंग की स्थिति में पहुँचने की कहानी है। इस प्रकार लेखिका ने आलोच्य कहानी के माध्यम से प्रेम में पड़े उस युगल की वास्तविक स्थिति का अवलोकन करती हैं जहाँ प्रेम एक दूसरे के जीवन का आधार बना हुआ था परंतु हवा के एक हल्के से झोंके से उनके जीवन की डोर ही टूट गयी। लेखिका ने कहानी संग्रह के नामानुरूप ही स्त्री को अपने प्रेम को छोड़कर समझौता करना पड़ता है, स्थिति को इंगित किया है।

लेखिका कृत 'इंतजार' कहानी भी असफल प्रेम पर आधारित है। जहाँ प्रेमी-प्रेमिका दोनों प्रेम को विवाह की परिधि तक ले जाना चाहते हैं किन्तु मधुर कल्पना यथार्थ की परिस्थितियों से टकराकर चूर हो जाती है। परिणाम स्वरूप छाया व रोहित दोनों एक-दूसरे से हमेशा के लिये दूर हो जाते हैं। रोहित का विवाह अन्यत्र हो जाता है, उधर छाया के पास रोहित से जुड़ी हुयी स्मृतियाँ थीं, और उसी रूप में रखने का फैसला जैसा वो विवाह से पहले उसके साथ एक बंधनहीन बंधन में था। पूरी कहानी स्वगत शैली में चलती है। छाया अपनी पीड़ा अपनी सहेली रूचि को विचारों में कहती है। रोहित के अन्यंत्र विवाह से छाया टूटती जाती है पर वह सच्चाई किसी को कह नहीं पाती -''रूचि मैंने तुमसे कहा कि पता ही नहीं मुझे आजकल क्या हो जाता है। कहीं भी मन नहीं लगता, सब कुछ बेजान-सा व उद्देश्यहीन लगता है। मैं अपने आप से सन्तुष्ट नहीं हूँ। मुझे स्वयं को ही पता नहीं कि मैं किस चीज को पाने की कोशिश में झटपटा रही हूँ। स्वयं का परिवेश ही मुझे अनजाना सा लगता है।''[3] उसकी पीड़ा तब और अधिक बढ़ जाती है जब रोहित उसे बिना बताये ही विवाह कर लेता है। वह समझती है जैसे ''उसने मेरा विश्वास तोड़ा है, मेरा मानसिक शोषण किया है उसने। हम दोनों की शादी को लेकर मैने कभी उस पर दबाव नहीं डाला। ... फिर रोहित ने चुपचाप शादी क्यों की? ... रूचि वही अवहेलना मुझे प्रताड़ित कर रही है।''[4]

छाया के असफल प्रेम के साथ अकेली चलने के निर्णय को लेखिका ने चिंतित किया है। पर छाया के जीवन में तब हलचल शुरू हो जाती है। जब रोहित, छाया को विवाह के पश्चात् भी प्रेमिका के रूप में पाना चाहता है। इधर छाया भी अपनी तड़प, अपनी पीड़ा में रोहित का सानिध्य और ज्यादा चाहती है पर वह यह भी सोचती है कि जिस तरह का रिश्ता वह रोहित से रखना चाहती थी उसके सारे रास्ते रोहित ने पूरी तरह से बंद कर दिये थे फिर भी कही-न-कहीं अपनी इच्छा के साथ रोहित की इच्छा से मान देती वह यही सोचती है कि ''मैं अपने अतीत को दोहराना नहीं चाहती। रोहित तुम्हारे पास दोनों विकल्प हैं। ये तुम पर निर्भर करता है कि तुम कौन-से विकल्प को चुनते हो, लेकिन ये बात हमेशा याद रखना रोहित मैंने सिर्फ तुम्हें चाहा है, तुमसे ही प्यार किया है और किसी से नहीं।''[5]

'खीस' कहानी भी असफल प्रेम को अभिव्यक्त करने वाली कहानी है। यह नायिका प्रधान कहानी है जो अपने जीवन में दो पुरुषों से प्रेम करती है। पहला प्रेम तब होता है जब वह जानती ही नहीं थी कि प्यार किसे कहते हैं। अपने से दस वर्ष बड़े युवक से प्रेम करती है पर वह उस प्रेम में असफल रहती है उसे प्राप्त नहीं कर पाती, तब वह स्वयं को पूरी तरह से पढ़ाई में समर्पित कर देती है। वह एक लक्ष्य लेकर आगे बढ़ती रहती है तभी उसके जीवन में तुषार का प्रवेश होता है। धीरे-धीरे वह उससे बेपनाह प्रेम करने लगती है लेकिन एक बार वह कई महीनों बाद तुषार से मिलती है तब उसे तुषार की वास्तविकता का पता चलता है ''क्या बात है तुषार? क्या तुम्हें मेरे आने की खुशी नहीं हुई? नीरा ने कहा।

''नहीं ऐसी कोई बात नहीं है, पर तुमने मुझे बहुत गंभीरता से लिया। इसीलिये मैं जो कुछ कहना चाह रहा हूँ उसे पाने की हिम्मत में तुषार की बातों ने उसके अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगा दिया। उसे लगा राज और तुषार ने उसकी जिन्दगी से एक-एक टुकड़ा निकाल लिया और उसे टुकड़ों-टुकड़ों में बांट लिया। छोटे से क्षण में उसे लगा कि अब जी नहीं सकेगी, उसने मरने का फैसला कर लिया। सामने से आती बस को उसने अपनी मौत का साधन बना लिया। लेकिन अगले ही पल उसे अपने मम्मी-पापा व छोटे भाई-बहनों की याद आयी जिन्होंने नीरा को लेकर अनेक सपने बुन रखे थे। अगर ऐसा हुआ तो वे जीते जी मर जायेंगे। तभी उसे बिट्टू की याद आयी। उस

मासूम का चेहरा उसे जीने की नयी प्रेरणा दे गया।'' वह गरीब काम वाली की बेटी बिट्टु को गोद ले लेती है। टूटती, बिलखती है खुद हो समेटती है फिर टूटती है- रोती है, बिखरती है, पुनः स्वयं को समेटती है यही उसकी जीत है। आजीवन अविवाहित रहकर वह बिट्टू को डॉक्टर बनाती है। समाज के ताने सुनकर भी वह विचलित नहीं होती।

इस कहानी में लेखिका ने आत्मविश्वासी, भावनात्मक रूप से मजबूत स्त्री का चित्रण किया है जो प्रेम में निरन्तर असफल होकर भी प्रेम की उष्मा को अपने भीतर जीवित रखकर उत्तरोत्तर आगे बढ़ती है-''आज बिट्टू को दुल्हन के रूप में देख उसे लगा उसके जीवन कठोर तपस्या पूरी हुयी। सोचने लगी कि, स्त्री पुरुष पर एक सीमा तक ही निर्भर रह सकती है और वह भी इसलिये कि उसमें सहनशक्ति है और वो उस पुरुष को चाहती है, उसका सम्मान करती है, उसके सान्निध्य को खोना नहीं चाहती। पुरुष रिश्ता तोड़कर दूसरा बना लेता है लेकिन स्त्री उस टूटे हुये रिश्ते में भी जीवन भर बंधी रहती है। उसे ये फर्क नहीं पड़ता कि जिसको वो निभा रही है, वह मात्र एक दलदल है, लेकिन स्त्री को इसी में खुशी मिलती है।''[6]

लेखिका ने स्त्री जीवन की त्रासदी और अदम्य जिजीविषा को अपनी कहानियों का उपजीव्य बनाया है। आलोच्य संग्रह की कहानी 'विदाई' में लेखिका ने एक ऐसी स्त्री का चित्रण किया है जो अपने जीवन में अनेक बार विदाई से गुजरती है। अप्राप्य प्रेम में प्रेमी से विदाई, विवाहोपरान्त माता-पिता से विदाई, पति की असामयिक मृत्यु से पति से विदाई और नौकरी में ट्रांसफर की वजह से एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते समय विदाई। विदाई के उन पलों से गुजरते हुये वह टूटती है, बिखरती है फिर स्वयं को समेटकर भागे बढ़ने की हिम्मत व साहस भी पैदा करती है। ''कॉलेज के हॉल में पहुँचते ही विदाई समारोह को देखकर मन अशान्त व अजीब-सी उलझन में उलझ गया। सिर में भारीपन, शरीर में शिथिलता एवं बेचैनी महसूस होने लगी। मन स्वयं से ही प्रश्न पूछने लगा कि विदाई जीवन में आती क्यों है? कितनी विदाइयों से मैं गुजर चुकी हूँ और न जाने कितनी शेष हैं... ?''[7] इस प्रकार इस कहानी में मिताली के जीवन में उपस्थित त्रासदी और अदम्य व अपार जिजीविषा को हम एक साथ देख सकते हैं। मिताली के जीवन में एक समय ऐसा भी आया कि वह स्वयं को लाचार व विवश समझ रही थी लेकिन अपनी इस विवश स्थिति से निकलकर वह स्वयं को उस जगह रखती है जहाँ जिन्दगी बाँहे फैलाये उसका स्वागत करती है।

लेखिका ने आलोच्य कहानी के माध्यम से स्त्री की समझौतावादी प्रवृत्ति का भी उल्लेख किया है। किस प्रकार मिताली को अपने प्रेमी को छोड़ना पड़ता है और पुनः किसी अन्य के साथ दिल लगाना पड़ता है। लेखिका का मंतव्य है कि स्त्री को ही इतना क्यों सहना पड़ता है, उसे ही हर जगह क्यों त्याग करना पड़ता है? जितना त्याग स्त्री कर सकती है उसका एक चौथाई भी पुरुष कर पाता है? इस प्रकार मिताली के माध्यम से लेखिका ने स्त्री जीवन की त्रासदी और अदम्य जिजीविषा को एक साथ दिखाकर उसके मानसिक धरातल को प्रकट किया है।

साम्प्रदायिक सौहार्द और मानवीय प्रेम भी मोनिका मिश्रा की कहानियों में दृष्टिगत होता है। लेखिका ने भारत-पाक विभाजन से उपजी समस्याओं को रेखांकित करने क सफल प्रयास किया है। 'पीपल का पेड़' लेखिका की साम्प्रदायिक सौहार्द पर आधार कहानी है। कहानी का कथानक भारत पाक विभाजन पर आधारित है, फिर भी लेखिका ने संवेदना के धरातल पर जिस प्रकार भावों की कड़ियों को आपस में जोड़ा है, जहाँ हास्य, रोमांस, ठाठ-बाट, शान-शौकत, आपसी भाईचारा किस प्रकार राजनीति की भेट चढ़कर, इंसानियत व मानवीय मूल्यों पर हावी होकर भीतर बहते लहू को ठंडा व स्याह बनाकर शैतान व हैवानियत के कभी न बूझने वाली आग को जलाती है; का सुन्दर व भावनात्मक चित्रण किया है।[8]

स्त्री की अस्मिता की कहानियां - लेखिका ने स्त्री अस्मिता को अपनी कहानियों का उपजीव्य बनाया है। वह समाज से प्रश्न पूछती है कि क्या स्त्री की अस्मिता कोई मूल्य नहीं?, क्या स्त्री का अस्तित्व केवल देह है?, जहाँ उसकी इच्छा व अनिच्छा का कोई मोल नहीं? प्रायश्चित कहानी इन्हीं प्रसंगों पर आधारित है। आलोच्य कहानी 'प्रायश्चित' का आरम्भ होता है दरिद्र, गरीब लड़की के बाहरी व्यक्तित्व के रेखांकन से जिसे लेखिका ने बिम्बात्मक रूप में चित्रित किया है। ''फटे-पुराने कपड़ों में से झांकता यौवन, सुडौल व गठीला शरीर, जो बड़ी से बड़ी सुन्दरियों को लज्जित कर सकता है। साँवला रंग, लम्बा कद, मोटी-मोटी आँखें, बड़ी-बड़ी पलकें, सीधी-लम्बी नाक, पतले होंठ, ठुड्डी पर गोदे हुये तीन काले निशान, लम्बे घने, काले बाल जो बहुत दिनों तक न धोने के कारण रूखे व कड़वे हो गए थे; ऐसे में भी बीच में मांग निकालकर

कसके बनाया गया जूड़ा, माथे पर छोटी लाल बिन्दी ये सारी विशेषताएँ कमली को विशिष्टता प्रदान कर रही थी। किन्तु दरिद्रता, गंदगी एवं मैले कपड़ों में वह आकर्षण विहीन लग रही थी।''[9] इस प्रकार कहानी प्रारम्भ होती है -मजदूर कमली से। बहुमंजिला इमारत के निर्माण में वह अपनी माँ के साथ मजदूरी करती थी। निर्माणाधीन इमारत के मालिक का बेटा राजीव जो स्वयं एम.बी.ए. है तथा भारतीय संस्कारों का धनी है, वहाँ प्राय: आता-जाता रहता है। कमली को देखने के बाद कमली का रूप लावण्य उसे आकृष्ट करने लगता है। यही आकर्षण धीरे-धीरे कमली के समीप ले जाता है, जिसे कमली भी जानती है। यौवन की दहलीज पर कमली का मन भी चंचल हो उठता है पर साथ ही दारिद्रय के दुर्भाग्य को भी जानती थी और राजीव के व्यवहार को; जो उसे और अमीरों से अलग पहचान देता है। इन दोनों के आकर्षण के इर्द-गिर्द कहानी अपनी गति पकड़ती है। तभी एक घटना कहानी को नयी भावभूमि की ओर मोड़ देती है। अचानक से कमली ने वहाँ आना बंद कर दिया। राजीव ने कारण जानने का भरसक प्रयास किया किन्तु वह जान न सका कि कमली क्यों नहीं आ रही। इमारत बन चुकी थी, उस घटना को भी व्यतीत हुये समय हो गया कि एक दिन अचानक से राजीव को कमली की माँ दिखायी दी, वो उसका पीछा करते हुये गंदी बस्ती में स्थित उसके घर पहुँचा। राजीव कमली की गोद में बच्ची को देखकर स्वाभाविक उत्सुकतावश उसके बारे में पूछता है, किन्तु जो सच्चाई राजीव के सामने आयी वह दिल दहलाने वाली अकल्पनीय घटना थी। यह ऐसी सच्चाई थी जो समाज के दरिंदों की काली करतूतों को सामने लाती है तथा हमारे सामने ज्वलन्त मुद्दों को रखती है कि क्या गरीबी में स्त्री की अस्मिता का कोई मूल्य नहीं? क्या स्त्री का अस्तित्व केवल देह है? जहाँ उसकी इच्छा व अनिच्छा का कोई मोल नहीं? राजीव को जब पता लगता है कि कमली का बच्चा उसके पिता के घिनौने कारनामों का फल है तो एक बारगी वह टूट जाता है किन्तु दूसरे ही पल वह ऐसा निर्णय लेता है जो समाज के लिये अविश्वसनीय सा प्रतीत होता है। ''पापा गलती आपने की है, सजा भी आपको मिलेगी। आज से कमली और आपका बेटा यानी कि मेरा भाई इसी घर में रहेंगे। दुनिया कमली को मेरी पत्नी और आपके बेटे को मेरा बेटा समझेगी। आपके पापों का इससे अच्छा प्रायश्चित मेरे पास नहीं था। ये बेटा प्रतिदिन आपकी आँखों के आगे बड़ा होता हुआ आपको अप्रत्यक्ष सजा देगा।'' इस तरह का अंत देते समय लेखिका ने खतरा मोल लिया कि पाठक वर्ग इसे स्वीकार नहीं कर पायेगा, किन्तु बदलाव की दिशा में लेखिका को राजीव का वह यह कदम स्वाभाविक लगा जिसका चित्रण उन्होंने इस प्रकार किया कि वह स्वाभाविक व गाह्य हो सके। एक क्रूर यथार्थ ने उन्हें चुनौती दी जिसका सामना वे इस प्रकार करती है यही उनकी लेखनी को सबसे बड़ी उपलब्धि है।

स्त्री पुरुष के बदलते रिश्तों में भावनात्मक स्तर पर अकेली पड़ती जा रही स्त्री की मानसिक बेदना का चित्रण। लेखिका की कहानियां सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्त करती हैं। 'बदलते रिश्ते' में लेखिका ने एक शिक्षित, नौकरीपेशा युवा स्त्री की विसंगतियों, विवशताओं व मजबूरियों का चित्रण किया है जहाँ पर परिवार के साथ सामंजस्य बैठाने में अपनी पूरी शक्ति लगाती है। किन्तु परिवार के किसी भी सदस्य का उसे सहयोग नहीं मिल पाता। यहाँ तक कि पति समीर भी जानबूझकर उसकी सरे आम बेईज्जती करके अपने पुरुष होने के अहं को सन्तुष्ट करता है। नासिका जीवन में कुछ नया करना चाहती थी किन्तु अपने साथी से बढ़ती दूरियों के कारण वह भीतर ही भीतर रहती है। लेखिका ने परम्परागत व नैतिक मूल्यों की अक्षुण्णता को बनाये रखते हुये यह दिखाने का प्रयास किया कि नामिका जब तक यह सब निर्वाह कर सकती है तब तक वह समर्पण व समझौता करती है लेकिन इस समझौते की श्रृंखला में नायिका की टूटन की कड़ी से जुड़ती जाती है। वह अपनी इच्छाओं व आकांक्षाओं की आहुतियाँ देती है। इस प्रकार इस कहानी में लेखिका ने स्त्री पुरुष के बदलते रिश्तों में भावनात्मक स्तर पर अकेली पड़ती जा रही स्त्री की मानसिक बेदना का चित्रण किया गया।

लेखिका की कहानियां आज की उपभोक्तावादी संस्कृति में पनपते अर्थ का रेखांकन करती हैं। उनकी कहानी 'फैसला' आज की उपभोक्तावादी संस्कृति में पनपते अर्थ को केन्द्र में रखने की चाह को दर्शाती है। कहानी की शुरुआत शेखर द्वारा अपनी पत्नी उर्मी की मारपीट से होती है। कारण यह कि वह शेखर को मिलने वाले बड़े प्रोजेक्ट से सम्बन्धित अजय सर को देह की खुशी देने से इंकार करती है। आधुनिक युग में पुरुष की सामंती प्रवृत्ति को आधुनिकता के सांचे में ढालकर यह दिखाने का प्रयास किया कि पुरुष के लिये आज भी पत्नी केवल देह है। देह और वस्तु में वह कोई अंतर नहीं करना चाहता। स्त्री के पत्नी रूप में वह यही चाहता है कि वह पति

की हर खुशी में उसका साथ दे चाहे वह खुशी अनैतिक ही क्यों न हो। शेखर के ये शब्द-''तुम मेरी पत्नी हो तो तुम्हारा फर्ज नहीं बनता कि तुम मुझे खुश रखो।'' ''तुम्हें खुश रख सकती हूँ किसी और का ठेका मैंने नहीं ले रखा। अगर किसी ओर को खुश करना चाहते हो तो वहाँ जाओ जहाँ शरीर बिकते हैं, ये मेरा घर है कोई बाजार नहीं।''[10] शेखर को समझाना उसे और भी आक्रोश देता है-''तुम कौन-सी दुनिया में जी रही हो उर्मी ? जमाना कितना बदल गया है इसका कुछ होश है तुम्हें ? आज के जमाने मे ये सब कुछ चलता है।'' पर उर्मी इसे स्वीकार नहीं कर पाती- ''शेखर.... मैं यार्डिनिरी के नाम पर अश्लीलता बर्दाश्त नहीं कर सकती। मेरा भी आत्मसम्मान है, गरिमा है, मर्यादा है। तुम मुझे क्यूं इस गंदी दुनिया में घसीट रहे हो ?''[11] जब अत्यधिक अनैतिक दबाव उस पर पड़ता है तो उसका विद्रोही स्वर इस कहानी में सर्वत्र दिखायी देता है। वह पति का साथ चाहती है, किन्तु उसे मिलता है पति के रूप में पैसा कमाने की मशीन-''शेखर को तो मुझसे बात तक करने की फुर्सत नहीं है। जब भी मैं कहीं जाने के लिये कहती हूँ, तो वे यही कहते हैं, 'मेरे पास टाईम नहीं है। घर में कार है, पैसे हैं, तुम्हारी इच्छा हो वहीं जाओ। कौन रोक रहा है तुम्हें। लेकिन ये भूल जाओ कि मैं तुम्हारे साथ इधर-इधर घूमता फिरूँ।'' उधर पति शेखर उर्मी से इसलिये विवाह करता है कि वह बहुत खूबसूरत थी। उसकी खूबसूरती को वह एक साधन के रूप में प्रयुक्त कर शार्ट तरीके से अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति करना चाहता है। इसी इच्छा के चलते वह उर्मी को मातृत्व सुख से वंचित रखता है। उसे लगता है कि उर्मी ऐसा करती है तो उसकी सुंदरता गुम हो जायेगी। अपनी इसी पीड़ा को वह अपने मित्र नीरज से कहती है-''एक दिन मैंने शेखर से कहा कि शेखर शादी को तीन साल हो गये अब मैं बच्चा चाहती हूँ, घर का अकेलापन काटता है मुझे। तब पता है नीरज, शेखर ने क्या कहा ? उन्होंने कहा क्या बकवास कर रही हो ? बच्चे की परवरिश में, उसकी ममता में स्वयं पर ध्यान दे ही नहीं पाओगी और तुम्हारी सुंदरता धीरे-धीरे ढल जायेगी।'' यहाँ नारी का पति के प्रति प्रेम व समर्पण है साथ ही पति द्वारा स्वयं की भावनाओं की कद्र न होते देख टूटन, पीड़ा व निराशा भी है किन्तु इस दुर्दिन में वह स्वयं को, अपने व्यक्तित्व, गरिमा तथा अस्मिता को बचाने का एक ठोस कदम उठाती हुयी कठोर फैसला करती है-''शेखर में तो पैसे का पागलपन है जो उसे उचित अनुचित के बीच फर्क नहीं करने देता। ऐसे व्यक्ति के साथ अब और नहीं रहा जा सकता। नीरज, मैंने फैसला कर लिया है कि ऐसी दुनिया शेखर को मुबारक। नीरज अब मेरे फैसले को कोई बदल नहीं सकता।''

आधुनिक स्त्री के मन की पीड़ा की अभिव्यक्ति इनकी कहानियों में दृष्टिगत होती है। ''इनकी प्रतिनिधि कहानी 'समझौता' में एक ऐसी स्त्री की पीड़ा का चित्रण हुआ है जो पति की अकर्मण्यता से उत्पन्न बेरोजगारी और अभावों में जीने को विवश है, वह स्वयं संयुक्त परिवार में रहती हुई सभी के प्रति अपने कर्त्तव्य निर्वाह करने पर भी सम्मान व स्नेह को प्राप्त नहीं कर पाती।''[12] वह पति को हर पल कार्य करने के लिये प्रेरित करती रहती है किन्तु पति अनिरूद्ध अपनी कमियों व कमजोरियों को छिपाने के लिये मनीषा पर ही दोषारोपण कर उसे अपमानित करता रहता है। परिवार वाले जहाँ प्रारम्भ में मनीषा के प्रति स्नेह रखते हैं वे धीरे-धीरे उससे दूरियाँ बनाने लगे ''ससुराल में सुबह से ही मनीषा, मनीषा का नाम चारों ओर सुनायी देता। ससुर कहते, ''मनीषा बेटा मेरी फाइल कहाँ रखी है तो सास कहती मेरे लिये चाय बनाना'', पति अपने कपड़ों के लिये मनीषा को बुलाता तो भाई समान लाड़ला देवर भाभी को अपनी बातें बताने के लिये बेताब रहता। घर का प्रत्येक सदस्य यही चाहता था कि मनीषा केवल उसी के आस-पास रहे और इसी चाहत में वे आपस में ही प्यार भरी लड़ाई करने लगते।''[13] मनीषा के जीवन ऐसे पल कम ही रहे। अनिरूद्ध का आलस्य उसे तोड़ने लगा। ''बच्चे के आने से घर का खर्चा बढ़ गया। अनिरूद्ध ने विवाह के दो साल बीतने पर भी घर में पैसा देना शुरू नहीं किया। ऐसे में बढ़ते खर्चे को देख सास का व्यवहार मनीषा के प्रति बदलने लगा। जब भी मनीषा अनिरूद्ध से इस विषय पर बात करती, अनिरूद्ध उसे टाल देता। कभी-कभी आपसी साधारण बात में अनिरूद्ध जोर-जोर से बोलने लगता ऐसे में लड़ाई न हो इस डर से मनीषा खामोश हो जाती। शादी के दो वर्षों में मनीषा ने यह महसूस किया कि अनिरूद्ध कमजोर, आलसी व आराम पसंद व्यक्ति है।''

लेखिका ने इस कहानी में यह बताने का प्रयास किया कि हमारा सामाजिक व पारिवारिक ढाँचा इस तरह से तैयार किया हुआ है कि वहाँ विवाहित स्त्री को पति की नजरों से देखा जाता है। पति द्वारा प्रताड़ित स्त्री को परिवार के सभी सदस्य भी हेय मानते हुए उसे दुत्कारने का अवसर गँवाना नहीं चाहते। ''सास का व्यवहार दिन-प्रतिदिन मनीषा के प्रति कठोर होने लगा।

प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से वह मनीषा को ताने मारने लगी। वह अब उसके कामों में कोई न कोई कमी निकालती रहती। सब्जी खत्म होने पर उसका हिसाब माँगना, रोटियाँ बचने पर डाँटना, पिंटू के चक्कर में कोई गड़बड़ हो जाती तो उस पर शोर मचाना उनकी आदत बनने लगी। वह इधर-उधर के घरों की उन बहुओं की बातें मनीषा को सुनाती जहाँ उनके पति के न कमाने पर सास द्वारा दुत्कारी या ठुकराई जाती और ऐसे में जानबूझकर सास उन बहुओं की सास का पक्ष लेती हुई मनीषा से कहती कि- 'जिनके पति नहीं कमाते उनकी पत्नी की यही हालत होती है।' धीरे-धीरे मनीषा टूटने लगी, फिर भी वह सहन करने की सीमा तक जाती है-''सास के ताने, अनिरूद्ध की बेरूखी व बढ़ते काम के बोझ से मनीषा बीमार रहने लगी। अनिरूद्ध की वजह से वह अपने घर में निर्वासित जीवन बिताने पर विवश हो गई। वह घर के प्रत्येक सदस्य से पूछना चाहती थी कि 'ये रूखापन मेरे साथ क्यूँ? मेरी क्या गलती है? मैं अपने माता-पिता को छोड़कर इस घर में अपनापन स्नेह प्राप्त करने आई हूँ फिर मुझसे नाराजगी क्यों? मैं अपने कर्त्तव्य ठीक से निभा रही हूँ फिर ये अकेलापन मुझे क्यों दिया जा रहा है? लेकिन वह किसी से कुछ नहीं पूछ पाती। ऐसे अनेक अनुत्तरित प्रश्नों की भीड़ में वह खोने लगी।''[14] मनीषा के माध्यम से लेखिका ने पुरुष की सोच में पल रहे सामंतवादी दृष्टिकोण को उजागर किया है साथ ही इस दृष्टिकोण की शिकार हो रही स्त्री की पीड़ा, संत्रास, घुटन व अकेलेपन को बखूबी चित्रित किया है। ऐसे मानसिक अवसाद से ग्रसित मनीषा उस स्थिति में पहुँच जाती है जहाँ उसका बागी मन बगावत पर उतर आता है जिसकी परिणति सास के साथ बहस से शुरू होती है। वह बहस नहीं चाहती थी, पर अनायास हुई इस बहस ने उसे पूरी तरह तोड़ दिया। ''मनीषा को लगा जैसे धरती फट जाये और वह उसी में समा जाये। उसका डिप्रेशन बढ़ने लगा। आज जो आज जो कुछ भी हुआ उसे अच्छा नहीं लगा। उसका दिल बुरी तरह धड़कने लगा। वह सोचने लगी कि आखिर कब तक मैं अपने स्वाभिमान का गला घोंटकर जी सकूँगी? आज शादी को पाँच वर्ष हो गए और इस दौरान अनिरूद्ध अपनी जिम्मेदारी समझ नहीं पाया तो उसे संभालेगा कब? अंत में मनीषा को समझौता करने के सारे रास्ते बंद दिखाई देते हैं तब वह उस स्थिति से समझौता करने की कोशिश करती है जो यह सवाल पैदा करती है कि स्त्री की अपनी अस्मिता, अपनी योग्यता व क्षमता का कोई महत्त्व नहीं। वह कब तक पुरुष द्वारा अपना मूल्यांकन करवाती रहेगी? कब तक निर्दोष होते हुए भी दोषी का फंदा अपने गले में डालकर झूलती रहेगी?" समझौता करते-करते मनीषा उस स्थिति में पहुँच गयी जहाँ समझौता करने के लिये उसके सामने कोई द्वार खुला हुआ नहीं था। ऐसे में उसने मौत से समझौता करना उचित समझा। उसने पंखे पर साड़ी लटकाकर उसका फंदा लगा लिया और जैसे ही अपनी गर्दन उस फंदे में डाली तभी उसे बाहर से पिंटू की रोने की आवाज सुनायी दी, 'मम्मा मेरे पैर में लगी। मम्मा-मम्मा, माँ-माँ कहाँ हो। पिंटू के मुँह से 'माँ' शब्द सुनते ही मनीषा को होश आया कि मैं माँ भी तो हूँ, जिसका हृदय विशाल होता है जो कभी संकीर्ण नहीं हो सकती, तभी तो धरती को माँ कहा जाता है। मुझे अभी माँ के कर्त्तव्य निभाने हैं। ऐसा सोचकर उसने फंदा गले से हटाया और बाहर जाकर पिंटू को गले से लगा लिया और रोने लगी। इस प्रकार इस कहानी में लेखिका ने सम्बन्धों में टूटन, दूरियाँ और क्रमशः अकेली पड़ती स्त्री का चित्रण किया है। नायिका के अकेलेपन, उदासी, बेबसी व हार का चित्रण है; स्वयं को पराजित महसूस करती हुई वह आत्महत्या करने की स्थिति में पहुँच जाती है परन्तु अगले ही पल वह जीवन की ओर लौटती है तथा अपने अधूरेपन को पूर्ण करने का साहस स्वयं में पैदा करती है।

इस संग्रह की सभी कहानियाँ नारी को केंद्र में रखकर लिखी गयी है। विभिन्न नारी पात्रों के चरित्र-चित्रण में एक महत्वपूर्ण बात निकलकर आयी वो यह कि स्त्री टूटती है, बिखरती है लेकिन वहीं से वह अपने जीवन के पुनर्निर्माण में स्वयं को समेटती हुई आगे बढ़ने का आत्मविश्वास पैदा करती है। 'विदाई' कहानी की मिताली, 'बदलते रिश्ते' की मायिका, 'फैसला' की उर्मि, 'इन्तजार' की छाया, 'जीत' की नीरा तथा 'समझौता' की मनीषा। ये सभी नारी पात्र जीवन के किसी एक मोड़ पर टूटती हैं, आँसू बहाती हैं, फिर वहीं से स्वयं के लिये उर्वरा शक्ति संचित करती हुयी अपने अस्तित्व व अस्मिता को सिद्ध करती है।

अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि डॉ. मोनिका मिश्रा का लेखन नारी की अस्मिता व उसकी स्वतंत्रता की खोज का लेखन है, जिसके माध्यम से वह सदियों की चुप्पी तोड़ रही है। उनके लेखन में स्त्री की नयी सोच, नवीन जीवन-दृष्टि और नवीन भाषिक संरचना की पहचान हुई है। उनकी कहानियों के स्त्री पात्र आधुनिकता के इस युग में

पुरानी परंपराओं और मान्यताओं को तोड़कर अपने अनुकूल नए मापदंडों को निर्मित कर रही हैं, जहाँ स्वतंत्रता ही उनके लिए सब कुछ है।

सह आचार्य, हिंदी विभाग
लक्ष्मीबाई कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
अशोक विहार, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. राजस्थान का समकालीन कथा साहित्य, डॉ. लक्ष्मीकांत शर्मा, पृ.सं. 78
2. राजस्थान का समकालीन हिंदी महिला कहानी लेखन, डॉ. सुरेश सिंह राठौड़, पृ.सं. 109
3. इंतजार (कहानी संग्रह समझौते)- मोनिका मिश्र, पृ.सं.9
4. वही, पृ.सं. 15
5. वही, पृ.सं. 18
6. खीस (कहानी संग्रह समझौते)- मोनिका मिश्र, पृ.सं.24
7. खीस, (कहानी संग्रह समझौते)- मोनिका मिश्र, पृ.सं. 28
8. राजस्थान का समकालीन हिंदी महिला कहानी लेखन, डॉ. सुरेश सिंह राठौड़, पृ.सं. 113
9. प्रायश्चित, (कहानी संग्रह समझौते)- मोनिका मिश्र, पृ. सं.43
10. बदलते रिश्ते, (कहानी संग्रह समझौते)- मोनिका मिश्र, पृ.सं. 67
11. वही, पृ.सं. 81
12. राजस्थान का समकालीन हिंदी महिला कहानी लेखन, डॉ. सुरेश सिंह राठौड़, पृ.सं. 115
13. समझौता, (कहानी संग्रह समझौते)- मोनिका मिश्र, पृ. सं. 101
14. समझौता (कहानी संग्रह समझौते)- मोनिका मिश्र, पृ.सं. 106

बैंकों में राजभाषा कार्यान्वयन में व्यावहारिक कौशल की भूमिका

सुनील कुमार सिंह* डॉ. पूनम शर्मा**

शोध सार

भारतीय बैंकिंग क्षेत्र देश की अर्थव्यवस्था की रीढ़ होने के साथ जनसंपर्क का सबसे बड़ा माध्यम भी है। संविधान के अनुच्छेद 343 और राजभाषा अधिनियम, 1963 के प्रावधानों के अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों में हिंदी का प्रयोग बहुत आवश्यक है। यह वैधानिक बाध्यता तक सीमित नहीं है, अपितु यह ग्राहक सेवा की गुणवत्ता बढ़ाने का एक सशक्त माध्यम भी है। प्रस्तुत आलेख इस तथ्य का विश्लेषण करता है कि राजभाषा कार्यान्वयन में केवल भाषायी ज्ञान होना का होना पर्याप्त नहीं है। व्यावहारिक कौशल (Practical Skills) की भूमिका इसे प्रभावी बनाने में कितनी महत्त्वपूर्ण है। साथ ही इसे प्रभावी रूप से कैसे लागू किया जाएगा इसका भी विश्लेषण किया जाएगा।

बीज शब्द

राजभाषा, व्यावहारिक कौशल, कार्यान्वयन, प्रबंधन।

मूल आलेख

विश्व भर में भारत ऐसा एक विशाल राष्ट्र है जो बहुभाषी, बहुसांस्कृतिकवादी होने के साथ-साथ बहुजातीयवादी राष्ट्र भी है। यहाँ भाषा केवल संप्रेषण का साधन नहीं है बल्कि यह एक सामाजिक संसाधन है। जिसके कारण एक प्राणी दूसरे प्राणी तक अपने विचारों का विनियमन बहुत ही सरलता से करता है। यह केवल यहीं तक सीमित नहीं है बल्कि यह तो सामाजिक होने के साथ-साथ ही प्रशासनिक सहभागिता में भी शामिल है जो भारत के देशवासियों के भीतर लोकतांत्रिक चेतना को आधार प्रदान करने का कार्य बड़ी ही कुशलतापूर्वक से करती है। जिसका साक्ष्य भारतीय संविधान में देखा जा सकता है। संविधान के द्वारा हिंदी भाषा को मान्यता दी गयी है। अनुच्छेद 348 से 351 तक राजभाषा हिंदी से संबंधित प्रावधान स्पष्ट रूप से दर्ज किए गए हैं। इन अनुच्छेदों के भीतर हिंदी का प्रयोग केवल औपचारिक दायित्व नहीं है बल्कि शासन-प्रशासन को जनमानस के निकट लाने का भी एक सशक्त माध्यम है क्योंकि जब सरकारी नीतियाँ एवं सेवाएँ जनता की भाषा में उपलब्ध होंगी तभी उससे जुड़े हुए समाज, देश तथा राष्ट्र का लोकतंत्र और अधिक मजबूत तथा प्रभावी बनेगा। क्योंकि सदियों से भाषा के कारण ही किसी भी राष्ट्र की परिकल्पना करने का सबसे पहला तथा प्रमुख चरण शुरू होता है। इसकी परिकल्पना हमारे नेताओं ने पूर्व में ही कर ली थी - ''स्वतंत्रता आंदोलन के दिनों से भारत के राष्ट्रीय नेताओं और कर्णधारों ने यह अनुभव कर लिया था कि स्वतंत्रता प्राप्ति का तब तक कोई महत्त्व नहीं होगा जब तक देश की अपनी कोई राष्ट्रभाषा न हो। प्रश्न यह था कि इस विशाल देश में जहाँ अनेक समृद्ध और प्राचीन भाषाएँ प्रचलित हों वहाँ किस भाषा को राष्ट्रभाषा या राजभाषा का दर्जा दिया जाए।''[1] निश्चित रूप से यह कथन स्वभाषा की आवश्यकता तो दर्शाता है। चूँकि बैंक में बड़े से लेकर आम आदमी तक आते हैं ऐसे में बैंक की भाषा कौन सी हो यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

हम जानते हैं कि किसी भी राष्ट्र या देश की अर्थव्यवस्था को समझने के लिए हमें वहाँ के बैंकों को देखना पड़ता है। किसी भी देश का बैंक ही अर्थव्यवस्था का मेरुदंड होता है। हम यहाँ बैंक को मेरुदंड इसलिए कह रहे हैं क्योंकि बैंक जैसी संस्थाएँ केवल वित्तीय लेन-देन तक ही सीमित नहीं रहतीं बल्कि जनमानस की कल्याण योजनाओं को समाज में क्रियान्वयन के रूप में भी कार्य करती है।

भारतीय अर्थव्यवस्था में बैंकों का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण

है। जिसका सीधा संबंध जनसेवा से होता है विशेषकर ग्रामीण, अर्धशहरी क्षेत्रों में। ऐसे में बैंक को एक ऐसी समान भाषा की आवश्यकता होती है जो लोगों को बैंकों से प्रत्यक्ष रूप से जोड़कर उनके हित में कार्य कर सके। इसी आवश्यकता की पूर्ति हिंदी भाषा कर रही है। ऐसे में देखा जाता है कि बैंकों के भीतर राजभाषा हिंदी का प्रभाव का प्रयोग न केवल संवैधानिक दायित्व है बल्कि आम नागरिक की गुणवत्ता का भी एक उचित मानक है।

परंतु व्यावहारिक तौर पर बैंकों के भीतर राजभाषा हिंदी का प्रयोग केवल परिपत्र, आँकड़ों तथा आदेशों तक ही सीमित होकर रह गया है। हिंदी में कार्य करने के लिए नियम तो निश्चित हैं किंतु उनके प्रभावी क्रियान्वयन में अनेक प्रकार की व्यावहारिक कठिनाइयों को देखा गया है। जिसके कारण अधिकतर कर्मचारी हिंदी में कार्य करने को एक अतिरिक्त कार्य के रूप में समझते हैं या तकनीकी शब्दावली और अभिव्यक्ति को लेकर परेशानी का अनुभव करते हैं। जिसका परिणाम यह हुआ है कि राजभाषा का प्रयोग केवल औपचारिक और यांत्रिक बनकर रह गया है या हम यह कह सकते हैं कि यह एक सीमित ढाँचे में बंधकर रह गया है। इसीलिए भी व्यावहारिक कौशल की भूमिका वर्तमान समय में तथा आने वाले भविष्य में अत्यंत महत्त्वपूर्ण दिखाई पड़ती है। यहाँ पर हमारा व्यावहारिक कौशल से तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि व्यावहारिक कौशल केवल हिंदी भर का ज्ञान है यह तो बैंकिंग कार्यों में इसका सहज, सटीक और प्रभावी प्रयोग को विस्तार देने से संबंधित है। जिसमें हिंदी के साथ-साथ व्यावहारिकता को भी मान्यता दी जाती है। यहाँ व्यावहारिक कौशल के भीतर टिप्पणी लिखने की दक्षता, पत्राचार की दक्षता, ग्राहक से संवाद कौशल, अनुवाद की समझ तथा डिजिटल माध्यमों में हिंदी का प्रयोग अन्य सभी प्रकार के विभिन्न माध्यम सम्मिलित किए जाएँगे।

जब तक कर्मचारियों में यह सभी कौशल विकसित नहीं होंगें तब तक राजभाषा हिंदी की नीतियाँ अपने वास्तविक उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकेगी। हम यहाँ बेहद ही दुखद रूप से यह महसूस करते हैं कि कितना ही प्रयास करने के बावजूद व्यावहारिक कौशल केवल कागजों तक सिमट कर रह गया है। उसे जनमानस के समक्ष विस्तृत होने का सही परिवेश मिल ही नहीं पा रहा जिसके चलते आज के वर्तमान संदर्भ में भी बैंकों के भीतर व्यावहारिक कौशल जैसे विषयों पर ध्यान केंद्रित करना पड़ रहा है। बल्कि होना बिल्कुल विपरीत चाहिए था। जब भी हम बैंकों के भीतर ग्राहक से संवाद करें तो उसके भीतर स्वयं ही व्यावहारिक कौशल का गुण झलकने लगे। पर यह मात्र एक कोरी परिकल्पना ही है। व्यावहारिक कौशल का वास्तविक परीक्षण तो ग्राहक सेवा के स्तर पर ही होता है ग्राहक तभी संतुष्ट होता है जब उसे उसकी भाषा में स्पष्ट रूप से जानकारी दी जाए और भारत में अधिकतर जनमानस की भाषा हिंदी ही है। जिसे बैंकों के कर्मचारी एक बोझ के रूप में देख रहे हैं। शायद उन्हें यह ज्ञान नहीं है कि इस भाषा के प्रयोग से ही भारतीय अर्थव्यवस्था को और भी अधिक मजबूत किया जा सकता है। परन्तु ग्राहकों को जब अपनी भाषा में ही जानकारी प्राप्त न हो तो वह ऐसे बैंकों में अपना अर्थ किस प्रकार सुरक्षित रख सकेगा। इसलिए भी व्यावहारिक भाषा कौशल कि आज के समय में अत्यंत आवश्यकता है। दूसरे बहुत महत्त्वपूर्ण कौशल की बात करें तो ''टीमवर्क व्यवहार कुशल का एक और महत्त्वपूर्ण पहलू है। यह राजभाषा कार्यान्वयन की लक्ष्य प्राप्ति की दिशा में दूसरों के साथ प्रभावी ढंग से काम करने की एक विकसित क्षमता है। इसमें प्रभावी ढंग से संवाद करने की प्रतिक्रिया के लिए खुले रहने और दूसरों के साथ सहयोग करने में सक्षम होना शामिल है।''[2]

हिंदी में संवाद केवल भाषा का प्रश्न नहीं बल्कि विश्वास, पारदर्शिता और सहभागिता का भी महत्त्वपूर्ण प्रतीक है। व्यावहारिक हिंदी भाषा कौशल से युक्त कर्मचारी बैंक और ग्राहक के बीच की दूरी को कम करने का कार्य भी बड़े कुशलता से कर सकता है और संस्थान की छवि भी जनमानस के भीतर निर्मित कर सकता है।

वैश्वीकरण के दौर में बैंकिंग प्रणाली निरंतर तकनीकी रूप से विकसित हो रही है जिसको हम डिजिटल युग भी कह सकते हैं। एक समय था बैंक जब एक स्थिर जगह पर था परंतु डिजिटल दौर आने के कारण अब बैंक हर किसी के हाथों में आ गया है केवल एक क्लिक करें और अपनी समस्या का समाधान जनमानस स्वयं ही प्राप्त कर लेता है परंतु यह भी तब संभव है जब उसे डिजिटल युग में भी उसी भाषा का प्रयोग हो जिस भाषा का प्रयोग जनमानस अपने दैनिक दिनचर्या में कर रहा हो। जैसे कार्यालयों में हिंदी का प्रयोग किया जाता था वैसे ही यहाँ मोबाइल बैंकिंग, इंटरनेट बैंकिंग, ईमेल, एसएमएस ऐप और वेबसाइट जैसे माध्यमों में हिंदी का प्रयोग एक नई चुनौती के रूप में उभरकर हम सभी के समक्ष आई

है। यहाँ राजभाषा कार्यान्वयन केवल पारंपरिक कार्यालयी भाषा तक सीमित नहीं रह गया बल्कि तकनीकी भाषाई कौशल की माँग करने लगा है ऐसे में व्यावहारिक कौशल का महत्त्व और भी प्रासंगिक हो जाता है। इसलिए बैंकों में राजभाषा की सफलता केवल नियमों में या उद्देश्य तक ही नहीं अपितु कर्मचारियों में विकसित व्यावहारिक कौशल के लिए भी अतिआवश्यक है। ''समय प्रबंधन व्यवहार कुशल का एक और महत्त्वपूर्ण पहलू है। यह राजभाषा कार्यान्वयन और राजभाषा के लक्ष्यों और उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए अपने समय को प्रभावी ढंग से प्रबंधित करने की क्षमता है। इसमें प्राथमिकताएँ निर्धारित करना, आगे की योजना बनाना और समय सीमा को पूरा करने में सक्षम होना शामिल है। अच्छे समय प्रबंधन कौशल राजभाषा कार्यान्वयन की सफलता के लिए आवश्यक है।''[3]

भारत भर में बैंक राजभाषा अधिनियम 1963 तथा राजभाषा नियम 1976 के अनुसार हिंदी के प्रयोग प्रसार का दायित्व निर्धारित करती है। इसीलिए भी व्यावहारिक कौशल का होना अति आवश्यक है।

व्यावहारिक कौशल के भीतर हिंदी का सहज और सटीक प्रयोग करना होता है। प्रयोग से प्रत्यक्ष प्रभाव भी जनमानस पर पड़े। इसके प्रयोग के लिए कई प्रकार के उपकरणों का इस्तेमाल किया जा सकता है। जैसे पत्राचार, ड्राफ्टिंग, ग्राहक संवाद, रिपोर्ट लेखन, शिकायत निवारण तथा आदेश इत्यादि। इन सभी उपकरणों में यदि हिंदी का सुगम रूप से प्रयोग किया जाए तो इसका परिणाम ग्राहकों पर और भी अधिक रूप से पारदर्शिता के साथ पड़ेगा। इसलिए बैंकों के कर्मचारी के प्रत्येक व्यक्ति को व्यावहारिक कौशल का ज्ञान होना अत्यंत ही आवश्यक है यह केवल वर्तमान समय के लिए ही लाभकारी नहीं होगा अपितु आने वाले भविष्य में भी लाभकारी सिद्ध हो सकता है क्योंकि जिस भाषा का प्रयोग समाज में होगा उसे भाषा का संबंध यदि प्रशासनिक क्षेत्र से भी होगा तो उससे कार्य का लाभ कई गुना प्राप्त होगा। इससे सुगम बात और क्या ही हो सकती है जिस हिंदी भाषा का प्रयोग ग्राहक करता है उसी भाषा के प्रयोग से वह प्रशासनिक व्यवस्था में भी अपनी समस्याओं को बिना किसी हिचकिचाहट के उनके समक्ष प्रस्तुत कर सके। बैंक के कर्मचारी जितना अधिक जनसेवा की भाषा का प्रयोग करेंगे उतना ही उनके बैंक की शक्ति बढ़ती ही जाएगी। उनका व्यापार और अधिक विस्तृत रूप आएगा जिससे उसे देश की अर्थव्यवस्था भी और अधिक विस्तृत होकर विश्वपटल पर अपना परचम फैलाएगी। इसलिए बैंकों के कर्मचारियों को अपने व्यावहारिक कौशल के ज्ञान पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है क्योंकि यह केवल उनके किसी एक इकाई से जुड़ा हुआ नहीं है बल्कि इसका जुड़ाव व्यापक समष्टि से होता है। जिसका एक छोटे से छोटा व्यवहार भी उस व्यापक समष्टि को प्रभावित करेगा जिसका वह प्रयोग अपने बैंकों के ग्राहक सेवाओं के साथ ''जेम्स कैशपैनी के अनुसार प्रभावी सुनने की कला स्पष्ट संचार के लिए आवश्यक है, और प्रबंधन की सफलता के लिए स्पष्ट संचार आवश्यक है।''[4]

अत: उन्हें और भी सतर्क होकर अपने व्यावहारिक कौशल पर कार्य करने की आवश्यकता है। जिससे उसकी समाज में महत्त्वपूर्ण भूमिका हमेशा बनी रहे। समाज में व्यावहारिक कौशल की प्रमुख भूमिकाएँ कुछ इस प्रकार है –

राजभाषा लक्ष्यों की प्राप्ति

किसी भी देश या समाज के बैंकों में निर्धारित भाषा का लक्ष्य को व्यवहारिक दक्षता की निर्णायक भूमिका निभाने में सहायता प्रदान करती है। भारत के भीतर यह भाषा हिंदी राजभाषा के रूप में जानी जाती है जो पत्राचार, फॉर्म तथा रिपोर्ट के लिए प्रत्यक्ष रूप से प्रयोग भी की जाती है। बस यहाँ पर यह अधिक ध्यान देने की बात है कि बैंकों के भीतर अधिक व्यापार को बढ़ाने के लिए बैंक के प्रत्येक क्षेत्र में इस भाषा का प्रयोग करना थोड़ा और उचित हो जाता है। इससे हम राजभाषा के सभी लक्ष्यों को बिना किसी रुकावट के प्राप्त कर सकते हैं।

प्रभावी ग्राहक सेवा

बैंकों के भीतर अधिकांश लोग अपनी आमजन भाषा का प्रयोग करना ही पसंद करते हैं। जिससे वह अपनी आर्थिक समस्या को आसानी से बैंकों के कर्मचारियों को समझ सके। इसलिए भी बैंकों के कर्मचारियों को व्यावहारिक कौशल का ज्ञान होना अत्यंत ही आवश्यक है। उनकी समस्या को सरलतापूर्वक समझ सके और उसका समाधान ग्राहकों को उनकी ही भाषा में दे सके। क्योंकि भाषा एक बड़ी शक्तिशाली बाधा भी हो सकती है। यदि उस भाषा का ज्ञान बैंक के कर्मचारियों को न हो तो।

शुद्ध एवं सरल पत्राचार

इसके भीतर सरल व सटीक तथा स्वाभाविक हिंदी में पत्राचार करने से संदेश स्पष्ट और सुगम में हो जाता है। जिसमें गलतियों की संभावना न के बराबर हो जाती है। जिससे

उनका संदेश जनता तक बिना किसी रुकावट के पहुँच जाता है और उनका उद्देश्य भी पूर्ण हो जाता है।

विश्वास एवं प्रेरणा

बैंकों के भीतर जब कर्मचारी व्यावहारिक कौशल हिंदी में पूर्ण ज्ञान होगा तो उनमें किसी भी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं होगी तथा वह अपनी मर्जी से ही हिंदी का प्रयोग कर सकेंगे जिससे ग्राहक भी उन पर विश्वास कर सकेंगे।

''आज के वातावरण में, सहकर्मियों के बीच संचार, सहयोग और निर्णय लेने की प्रभावी बैठकें अनिवार्य हैं। इन बैठकों में सक्रिय श्रवण एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है, जिससे आप अपने सहकर्मियों के विचारों, दृष्टिकोणों और चिंताओं को बेहतर ढंग से समझ पाते हैं और साथ ही राजभाषा के लिए आयोजित बैठकों में सुधारात्मक उपाय किये जा सकते हैं जिससे कि राजभाषा कार्यान्वयन को लागू करने में सहायता मिल सकती है। सक्रिय रूप से सुनने और सुनने के कौशल को बेहतर बनाने के लिए विभिन्न प्रचलित प्रक्रियाओं को आत्मसात कर मूल्यवान दृष्टि प्राप्त कर सकते हैं, उचित निर्णय ले सकते हैं और उत्पादकता बढ़ा सकते हैं।''[5]

निष्कर्ष

अत: हम यह कह सकते हैं कि बैंकों में राजभाषा हिंदी का कार्य वहाँ केवल नियमों तथा संदेशों तक ही सिमटकर नहीं रह गया है बल्कि कर्मचारियों के व्यावहारिक कौशल से वह जनमानस के भीतर अपनी पहचान बनाने में भी सफल हुआ है जब हिंदी बैंकिंग कार्यों की स्वाभाविक भाषा बन जाती है तभी राजभाषा का उद्देश्य भी स्वत: पूर्ण हो जाता है इसलिए व्यावहारिक कौशल की भूमिका वर्तमान समय में महत्त्वपूर्ण है जिसका ज्ञान होना बैंकों के प्रत्येक कर्मचारी को होना चाहिए। बैंकों में राजभाषा कार्यान्वयन केवल नीतिगत निर्देशों, परिपत्रों या लक्ष्यों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह एक सतत व्यावहारिक प्रक्रिया है, जिसमें कर्मचारियों के कौशल, दृष्टिकोण और कार्यशैली की निर्णायक भूमिका होती है। व्यावहारिक कौशल – जैसे प्रभावी संप्रेषण, सकारात्मक मानसिकता, कार्यस्थल पर भाषा के प्रति सहजता, नेतृत्व क्षमता तथा परिवर्तन को अपनाने की प्रवृत्ति–राजभाषा हिंदी को व्यवहार में लाने का मजबूत आधार तैयार करते हैं। जब तक कर्मचारी हिंदी को केवल दायित्व के रूप में देखते रहेंगे, तब तक कार्यान्वयन औपचारिक बना रहेगा; किंतु जब इसे कार्य–सुविधा और ग्राहक–संतोष के माध्यम के रूप में अपनाया जाएगा, तभी इसके वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति होगी।

बैंकिंग जैसे सेवा–प्रधान क्षेत्र में ग्राहकों से संवाद की गुणवत्ता अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। व्यावहारिक कौशल से युक्त कर्मचारी हिंदी में सरल, स्पष्ट और प्रभावी संवाद स्थापित कर सकते हैं, जिससे न केवल ग्राहकों का विश्वास बढ़ता है, बल्कि बैंक की सामाजिक जिम्मेदारी भी सुदृढ़ होती है। इसके अतिरिक्त, आंतरिक पत्राचार, टिप्पण, रिपोर्टिंग और डिजिटल माध्यमों में हिंदी के प्रयोग से कार्य–प्रवाह अधिक समावेशी और पारदर्शी बनता है। राजभाषा कार्यान्वयन को सफल बनाने के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रमों में केवल भाषाई ज्ञान ही नहीं, बल्कि व्यवहार परिवर्तन पर भी बल दिया जाना चाहिए। प्रोत्साहन, नेतृत्व का उदाहरण, सकारात्मक कार्य–संस्कृति और निरंतर अभ्यास के माध्यम से व्यावहारिक कौशल विकसित किए जा सकते हैं। अधिकारी वर्ग की सक्रिय भागीदारी और प्रेरक भूमिका कर्मचारियों को हिंदी के प्रयोग के लिए उत्साहित करती है। अंतत: यह कहा जा सकता है कि बैंकों में राजभाषा कार्यान्वयन की सफलता व्यावहारिक कौशल पर निर्भर करती है। जब नीति, प्रशिक्षण और व्यवहार एक–दूसरे के पूरक बनते हैं, तब राजभाषा हिंदी केवल एक संवैधानिक दायित्व नहीं रहती, बल्कि बैंकिंग कार्य संस्कृति का स्वाभाविक और प्रभावशाली अंग बन जाती है।

***शोधार्थी**
हिंदी, आई.आई.एम.टी. विश्वविद्यालय
मेरठ, उत्तर प्रदेश
sunilkumarsingh08937@gmail.com
****शोध निर्देशिका**
आई.आई.एम.टी. विश्वविद्यालय
मेरठ, उत्तर प्रदेश
poonamsharma6049@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. राजभाषा समस्या : व्यवहारिक समाधान, कन्हैया लाल गाँधी, पृ. 97–99
2. सॉफ्टस्किल्स, प्रशांत शर्मा, बीपीबी पब्लिकेशन्स, पृ. 165
3. सॉफ्टस्किल्स, डॉ. के. एलेक्स, एस. चांद एंड कम्पनी, रामनगर, नई दिल्ली, पृ. 8
4. एक्टिवलि सनिंग टेक्नीक, निकले लियोनार्डो, एमबेसी बुक डिस्ट्रीब्यूटर्स, मुंबई, पृ. 26
5. ब्रायन ट्रेसी, बिजनेस स्ट्रेटजी, मंजुल प्रकाशन, भोपाल, पृ. 18

प्राचीन भारत में महिला शिक्षा की ऐतिहासिक विरासत

डॉ. सत्यम कुमार

सार

प्राचीन भारत में महिलाओं की शिक्षा का इतिहास एक समृद्ध विरासत को उजागर करता है जो ऐतिहासिक संदर्भों में लिंग (जेंडर) और सीखने की आधुनिक धारणाओं को चुनौती देता है। प्राचीन भारतीय समाज, विशेषकर वैदिक काल के दौरान, महिलाओं को बौद्धिक और आध्यात्मिक गतिविधियों में सक्रिय भागीदार के रूप में देखा जाता था। गार्गी और मैत्रेयी जैसी महिलाओं को वैदिक साहित्य में उन विद्वानों के रूप में पहचाना जाता है जो दार्शनिक बहस में संलग्न थीं और गद्य एवं पद्य की रचना भी करती थीं। इस दौरान महिलाओं के लिए शैक्षिक प्रथाओं की विशेषता वेदों-उपनिषदों से लेकर गणित, खगोल विज्ञान और चिकित्सा तक के विषयों में समावेशिता थी। कालांतर में कठोर सामाजिक पदानुक्रम और पितृसत्तात्मक मानदंडों की ओर बदलाव जैसे सामाजिक परिवर्तनों के कारण महिलाओं की शिक्षा तक पहुंच में थोड़ी गिरावट आई। परन्तु इन सीमाओं के बावजूद, कुछ राजवंशों और शासकों ने, विशेष रूप से दक्षिणी भारत में, महिलाओं के लिए शैक्षिक पहल का समर्थन किया। चुनौतीपूर्ण समय में महिला शिक्षा की लौ को जीवित रखने में बौद्ध संस्थानों और जैन समुदायों के योगदान ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यह लेख प्राचीन भारत में महिला शिक्षा के विकास की पड़ताल करता है, इसकी उपलब्धियों, चुनौतियों पर प्रकाश डालता है। इस ऐतिहासिक विरासत को समझने से न केवल प्राचीन भारत में महिलाओं के बौद्धिक योगदान के बारे में जानकारी मिलती है, बल्कि शिक्षा में लैंगिक समानता को पुनः प्राप्त करने और पुनर्जीवित करने के महत्व पर भी प्रकाश पड़ता है।

वाक्यांश

महिला, शिक्षा, इतिहास, विरासत, उपलब्धि।

परिचय

भारत विश्व में हड़प्पा सभ्यता और गांधार सभ्यता जैसी कई महत्वपूर्ण सभ्यताओं का केन्द्र बिन्दु रहा है। कोई भी सभ्यता बिना कला, शिल्प और विज्ञान के विकसित नहीं हो सकती और न ही महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका के बिना किसी सभ्यता के विकास की कल्पना की जा सकती है। जहाँ तक शिक्षा की बात है तो हम कह सकते हैं कि :

''नास्ति विद्या समं चक्षुर्नास्ति मातृ समोगुरूः''

संस्कृत उल्लिखित इस श्लोक के अनुसार विश्व में विद्या के समान नेत्र नहीं हो सकता एवं माता के बराबर कोई गुरू नहीं हो सकता। समाज के प्रारंभिक बाल विकास में सर्वाधिक प्रभाव माताओं का ही होता है। यह विकास पत्थर पर खींची उस लकीर की तरह होता है जो जीवन का स्थायी आधार बन जाता है। इसी संदर्भ में प्राचीन भारत में स्त्री शिक्षा की अवधारणा को देखना महत्वपूर्ण प्रतीत होता है जिसमें स्त्री और शिक्षा को आवश्यक रूप से एक दूसरे में समाहित कर देखें जाने से इसकी एक स्पष्ट तस्वीर प्रस्तुत होगी। शिक्षा में स्त्रियों को पुरुषों की भाँति ही समाहित करने में इसकी और स्पष्ट तस्वीर नजर आयेगी। स्पष्ट है कि अगर स्त्री शिक्षित होगी तो देश की संतानों का बौद्धिक विकास संभव हो पायेगा। प्राचीन भारतीय इतिहास के विभिन्न चरणों में स्त्रियों की अवस्था अद्वितीय थी। विभिन्न कालखण्डों में कई विदुषी स्त्रियों जैसे विश्ववरा, सिक्ता, धोषा, आपाला, लोपामुद्रा, उवर्शी, ऐत्रेयी, सूर्या, सर्परजनी, ममता, रोमाशा, गार्गी, अदिती, मैत्रेयी, इत्यादि नामों

की व्याख्या अतुलनीय प्रतीत होती है। स्त्री के द्वारा ही स्त्रियों में श्रेष्ठ उद्दाता और महान विचारों का प्रस्फूटन होना देखा गया।

प्राचीन हिन्दू धर्मग्रन्थ, पुरातन लेख इस अवधारणा की पुष्टि करते हैं कि प्राचीन भारतीय इतिहास में महिलायें सभी क्षेत्रों में शिक्षा प्राप्ति के साथ-साथ महत्वपूर्ण पदों पर आसीन रहते हुए समाज के एक अभिन्न अंग के रूप में प्रस्तुत होती थीं। धार्मिक विद्वान, उपदेशक, शिक्षक, चिकित्सक, दार्शनिक, कलाकार और कई महत्वपूर्ण क्षमताओं वाले पदासीन महिलाओं द्वारा समाज में सकारात्मक और उपयोगी भूमिकायें निभाई गयी।

प्राचीन भारत में महिला शिक्षा पर विमर्श हेतु तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था का ज्ञान होना भी आवश्यक प्रतीत होता है। इस संदर्भ में मुख्य स्रोतों के रूप में धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में शिक्षा व्यवस्था परिपूर्ण थी— सबसे प्राचीन धर्म ग्रंथ ऋग्वेद, जिसके चार विषय, मान्यता (Recognition), क्रिया (Action), उपासना (Worship), और ज्ञान (Knowlwdge) है जिसके अंतर्गत बिना किसी लैंगिक भेदभाव के सभी छात्र/छात्राओं के सच्चे ज्ञान से परिपूर्ण और सभी क्षेत्रों में प्रशिक्षित होने की बात कही गयी है (सरस्वती, 2022)। आयुर्वेद, चिकित्सा विज्ञान से संबंधित, धनुर्वेद, सैन्य विज्ञान से संबंधित और गन्धर्व संगीत, कला, वास्तुकला इत्यादि से संबंधित है (मजूमदार, 1977)। इसके अतिरिक्त वेदों के सहायक शास्त्र के रूप में छः वेदांगों को देखा जा सकता है :- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, छंद, निरुक्त (मजूमदार, 1977)।

विभिन्न कालखण्डों के चर्चा और विमर्श

इतिहासकारों द्वारा प्राचीन भारतीय इतिहास को विभिन्न कालखण्डों में बाँटा गया जिसमें अध्ययन के दौरान महिलाओं की स्थिति में परिवर्तन लक्षित होते रहे हैं। अधिकांशतः उन्हें सभी अधिकार प्राप्त थे परंतु कभी-कभी मूल-अधिकारों से भी वंचित होते देखा गया। इसी संदर्भ में प्राचीन भारतीय इतिहास अंतर्गत महिलाओं की स्थिति की चर्चा करते हुए उनकी शिक्षा संबंधी व्याख्याओं को प्रस्तुत कर महिला शिक्षा की ऐतिहासिक विरासत पर प्रकाश डाला गया है।

वैदिक काल में महिला शिक्षा

वैदिक काल में महिलाओं को समान दर्जे के साथ-साथ सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। अन्य अधिकारों के अतिरिक्त शैक्षिक अधिकारों की प्राप्ति भी सुगम थी। आर्थर एवलोन की पुस्तक ''महानिर्वाण तंत्रा'' में वर्णित है कि एक बालिका को भी उसके जन्म के उपरांत उचित देखभाल एवं पालन-पोषण के साथ-साथ शिक्षित किया जाना चाहिए। इस साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि पुरुषों एवं महिलाओं की शिक्षा में कोई भेदभाव नहीं था। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि भारतीय पुरातन धार्मिक ग्रंथ ऋग्वेद के कुछ हिस्सों के लेखन में कई विदुषी महिलाओं का योगदान रहा है (मजुमदार, 2016)।

विभिन्न इतिहासकारों द्वारा लगभग 20 ऐसी विदुषियों के नामों की चर्चा की गयी है जिन्होंने ऋग्वेद के सुक्तों की रचना में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। कुछ नाम इस प्रकार है- सिक्ता, घोषा, रोमासा, लोपामुद्रा, अपाला, उर्वशी, विश्ववरा (अल्टेकर, 2009)। ऋग्वेद के 10वें मण्डल में दो सुक्तों 39 एवं 40 की रचना घोषा द्वारा की गयी थी। उसी प्रकार अन्य विदुषियों द्वारा ऋग्वेद के विभिन्न मण्डलों के अंतर्गत कई सुक्तों की रचना की गयी है। ममता द्वारा 6ठें मण्डल में दो सुक्त 10-2, अपाला द्वारा 8वें मण्डल में एक सुक्त 91, सूर्या द्वारा 10वें मण्डल में एक सुक्त 85, इंद्राणी द्वारा 10वें मण्डल में एक सुक्त 86, शषी द्वारा 10वें मण्डल में एक सुक्त 24, सर्परजनी द्वारा 10वें मण्डल में एक सुक्त 88 और विश्ववरा द्वारा 5वें मण्डल में एक सुक्त 28 की रचना की गयी है। इन सभी के अतिरिक्त अन्य विदुषियों यथा अकः अरण्यनी, अत्रेयी, अपरसी, नीवावरल एवं सिक्ता द्वारा भी वेद के विभिन्न भागों के रचना में सहयोग प्रदान किया गया है (चंद्रा, 2017)।

इसके अतिरिक्त वैदिक युग में अन्य कई महिलाओं के नामों की भी चर्चा की जा सकती है जिनका उल्लेख ऋग्वेद में देखा जा सकता है। ये नाम कुछ इस प्रकार हैं - ऋषि वाक् अम्भ्रिणि, मैत्रेयी, सुलभा, गार्गी, कक्षीवती, बरवा, अदिती, दक्षायनी, प्रजापत्य, खोना, सूर्या, सात्रिवी, देवसुनी, उर्वशी, शाश्वती, अंगिरसी, श्रीलक्षा, देवजमी, रत्री भारद्वाज, वसुकरा पथनी (पी भास्करा रेड्डी)। महान गणितज्ञ लीलावती, कशाना, सरस्वती उस काल की महान विदुषी महिलायें थीं। सामवेद में भी नोडा, अकृष्टभाषा, सिकतनिवरी और गौपायन का उल्लेख मिलता है।

बाशम ने अपनी पुस्तक 'दी वंडर दैट वास इंडिया' में बताया है कि जो महिलायें अध्यापन का कार्य करती थीं उन्हें उपाध्यायनी कहा जाता था। शिक्षा ग्रहण करने वाली छात्राओं

को 'ब्रह्मवादिनी' कहा जाता था। जो छात्रायें वैवाहिक जीवन के ज्ञान हेतु शिक्षा ग्रहण करती थी उन्हें 'सद्योवधु' की संज्ञा दी गयी। सह-शिक्षा के साथ-साथ छात्राओं हेतु अलग छात्रावास की भी व्यवस्था थी। एक भिक्षुणी के रूप में कामन्दकी ने भूरिवसु और देवरात में शिक्षा प्राप्त की। सह-शिक्षा का उदाहरण इस प्रकार से देखा जा सकता है कि आत्रेयी ने अपनी शिक्षा की प्राप्ति लव और कुश के साथ की। बौद्ध धार्मिक ग्रंथों के कुछ मंत्रों का श्रेय मठावासिनी (मठ निवासित छात्रायें) को दिया जाता है। इसके अतिरिक्त संस्कृत और तमिल भाषाओं में नाटकों एवं कविताओं का लेखन कई विदुषी महिलाओं द्वारा की गयी है। साथ ही साथ उनकी बहुमुखी प्रतिभा को इस रूप में भी देखा जा सकता है कि वे संगीत और चित्रकला जैसी अन्य ललित कलाओं में भी विशेषज्ञ थी (बाशम, 2004)।

उच्च वर्ण से संबंध रखने वाली महिलायें शस्त्र प्रशिक्षण भी लिया करती थी। ऋग्वैदिक काल में महिलाऐं द्वारा सभा एवं समिति की बैठकों में भी भाग लिया जाता था। गार्गी एवं लोपामुद्रा जैसी प्रतिष्ठित महिलायें दार्शनिक वाद-विवादों में भी बढ-चढ़कर प्रतिभागिता ग्रहण करती थी।

एस. माधवानंद अपनी पुस्तक 'दि बृहदारण्यक उपनिषद' में बताते हैं कि राजा जनक के दरबार में हुए वाद-विवाद प्रतियोगिता में महान ऋषि याज्ञवलक्य के साथ गार्गी के संवाद का उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जा सकता है। यह गार्गी-याज्ञवलक्य संवाद वृहदारण्यक उपनिषद में वर्णित है (माधवानंद, 1950)।

प्राचीनकाल में इतिहास लेखन के अभाव में महिला शिक्षा संबंधी कुछ पहलू अभी भी अनछूए हैं। इन पहलूओं में एक विषय यह भी था कि क्या प्राचीनकाल में महिलाओं को चिकित्सा विज्ञान की जानकारी सुलभ थी। आधुनिक इतिहासकारों एवं शोधार्थीयों द्वारा इस विषय पर शोध जारी है। लेखों से ज्ञात है कि केवल एक महिला चिकित्सक रूसा, वैध के रूप में कार्यरत थी। इन्होंने आयुर्वेद चिकित्सा पर एक पुस्तक का लेखन भी किया था।

ऋग्वैदिक काल के दौरान अनार्य मानी जाने वाली स्त्रियाँ भी शिक्षा ग्रहण करती थीं परंतु उनकी शिक्षा वेदों से संबंधित न हो कर सांस्कृतिक और शारीरिक गतिविधियों से संबंधित थी। हालांकि यहाँ आर्य एवं अनार्य स्त्रियों की शिक्षा व्यवस्था में थोड़ी भिन्नता प्रस्तुत होती है परंतु एकरूपता में देखा जाये तो वेदों में यह वर्णित है कि नारी को भी विद्या अध्ययन करने और ब्रह्मचर्य रहने की स्वतंत्रता थी।

ऋग्वैदिक काल में पुत्र के समान पुत्रियों का भी उपनयन संस्कार किया जाता था। उन्हे पुरुषों की भाँति ही ऋषि बनने की भी स्वतंत्रता थी। वह अपने पति के सभी धार्मिक कार्यों में सहभागीनी के रूप में उपस्थित रहती थी। ऋग्वैदिक काल में स्त्री जो साध्वी होती थी उन्हे ऋषिका या ब्राहमवादिनी कहा जाता था।

उत्तरवैदिक काल में महिला शिक्षा

उत्तरवैदिक काल तक महिलाओं की स्थिति में थोड़ी अवनति देखी जा सकती है। उत्तर वैदिक काल तक लोहे की खोज ने सामाजिक परिवर्तन की रूप रेख प्रस्तुत कर दी। इस क्रांतिकारी परिवर्तन के फलस्वरूप सामाजिक स्तर पर महिलाओं की दशा में भी बदलाव दृष्टिगोचर होता है। उत्तर वैदिक-कालीन समाज अब कृषि को प्राथमिकता देने लगा था, जिसमें खेती हेतु हलवाह का कार्य पुरुषों द्वारा संभाला जाने लगा। इस प्रकार पुरुषों की कार्यात्मक गतिविधियों ने उनकी आर्थिक स्थिति को मजबूती प्रदान की । इस सामाजिक परिवर्तन से पुरुषों का महत्व बढ़ता गया एवं महिलाओं की दशा में गिरावट देखा जाने लगा (रप्सन, 1922)।

उत्तर वैदिक-कालीन समाज में महिलाओं के शिक्षा संबंधी अधिकारों में ह्रास दृष्टिगत होता है। अब महिलाओं को सभा एवं समिति में भाग लेने से प्रतिबंधित किया गया। 'मनुस्मृति' में सभी बुराईयों के कारण हेतु महिलाओं को दोषी ठहराया गया है। मनु के विचारानुसार स्त्रियों के अपने जीवन के प्रत्येक चरण में, विवाह से पूर्व पिता, विवाहोपरांत पति एवं कलांतर में पुत्र/पुत्रों के संरक्षणाधीन रहना चाहिए। मनुस्मृति के अनुसार महिलाओं को गृहकार्यों तक ही सीमित रख उन्हें शिक्षा के अधिकार से वंचित भी किया गया (त्रिपाठी,1942)।

इस प्रकार तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि मनुकाल के दौरान महिलाओं की स्थिति निर्भरता के रूप में प्रस्तुत होती है। मनुस्मृति में वर्णित है 'ए वीमेन नेवर फिट फॉर इंडिपेंडेंस'। अर्थात् महिला किसी भी उम्र में कोई भी कार्य स्वतंत्र रूप से पूर्ण नहीं कर सकती थी।

बुद्ध काल के दौरान महिला शिक्षा

बुद्धकाल में महिलाओं को शिक्षा हेतु काफी प्रोत्साहन प्राप्त हुई। संभ्रांत और संपन्न वर्ग से संबंध रखने वाली महिलाओं के मध्य में शैक्षिक और दार्शनिक गतिविधियों का प्रसार तीव्र गति से हुआ। उपाध्याय एस. अपनी पुस्तक 'थेरीगाथा : दि

फर्स्ट राइटिंग्स ऑफ आवर एन्सेस्ट्रेस्सेस' में बताते हैं कि दुनिया में महिलाओं का सर्वप्राचीन लेखन 'थेरीगाथा' कविताओं का एक संग्रहण जो कि बौद्ध भिक्षुणियों द्वारा निर्मित था। इस लेखन में वर्णित कविताओं में विभिन्न महिलाओं का जीवन चित्रित किया गया है।

अल्टेकर के अनुसार इन सभी महिलाओं में बत्तीस विवाहित एवं 18 अविवाहित महिलाओं का वर्णन है। इन अविवाहित महिलाओं में शुभा, अनुपमा और सुमेधा उच्च कुलीन वर्गीय महिलायें थीं (अल्टेकर, 2009)।

बुद्ध की मौसी प्रजापति गौतमी एवं शिष्य आनंद की अनुसंशा पर बुद्ध द्वारा महिलाओं को संघ में प्रवेश करने की अनुमति देने के पीछे एकमात्र कारण महिलाओं में शिक्षा का प्रसार करना था। शिक्षा ग्रहण हेतु भिक्षुणियों को संघ और विहारों में दो वर्षों के निवास उपरांत 'दीक्षा' प्रदान की जाती थी। ऐतिहासिक तथ्यों में ऐसा पाया गया है कि शुरूआती दौर में बौद्ध शिक्षा संघ या विहार में निवासित भिक्षुणियों या भिक्षुओं हेतु ही निर्धारित रहा था। परंतु कालांतर में बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार को ध्यान में रखते हुए बौद्ध शिक्षा का द्वार आम जनमानस हेतु भी खोला गया, ताकि बौद्ध शिक्षा सभी तक पहुंचे एवं इसका उचित सदुपयोग करते हुए इसे और प्रसारित किया जा सके। इसी संदर्भ में उल्लेखनीय रूप से 13 प्रख्यात बौद्ध भिक्षुणियों को बौद्धधर्म प्रचार हेतु विदेशों में भेजा गया। अर्थात् यह स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में भी महिलायें न सिर्फ शिक्षा ग्रहण कर अपना बौद्धिक विकास कर रही थीं अपितु अपने बौद्धिक शक्ति का प्रयोग करते हुए एक शिक्षिका के रूप में भी प्रस्तुत हो रही थीं। उदाहरण स्वरूप सम्राट अशोक की पुत्री संघमित्र को बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु श्रीलंका भेजा गया था। इसी प्रकार जैन स्रोतों के अनुसार कौसांबी की राजकुमारी जयंती ने धर्म और दर्शन के अध्ययन हेतु स्वयं को अविवाहित रखा। ललित विस्तार में वर्णित तथ्यों में इंगित होता है कि बुद्धकाल के दौरान महिलाओं को पढ़ने-लिखने एवं अन्य प्रकार के कौशल प्रदान करने की उचित व्यवस्था थी (मजुमदार, 2016)।

मौर्यकालीन महिलाओं की शिक्षा

प्राचीन भारतीय इतिहास में महिलाओं को उच्च स्थान प्राप्ति के विभिन्न साक्ष्य प्रस्तुत होते हैं। उनको संपति अधिकार प्राप्त था, एवं पैतृक संपत्ति में भी बराबर की हिस्सेदार थीं। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में महिलाओं को पिता की संपत्ति में अधिकार प्राप्ति की घोषणा थी एवं अन्य प्रकार के उपहार एवं स्त्रीधन पर भी अधिकार प्राप्त था। परंतु अधिकांशतः संपत्ति के हिस्सों पर पैतृक प्रबंधन की ही व्यवस्था परिलक्षित होती थी। मौर्यकालीन समाज में महिलाओं को विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों में सहभागिता करने का अधिकार था। ऐसे विभिन्न महिला पुजारियों का भी उल्लेख प्राप्त है जिनके द्वारा विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों एवं कर्मकाण्डों को पूर्ण किया जाता था। राजनीतिक गतिविधियों में भी महिलाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। विभिन्न महारानियाँ एवं राजकुमारियों द्वारा राजवंशों पर शासन करने के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। उदाहरण स्वरूप मगध की महारानी नंदीनी ने अपने पिता की मृत्यु के उपरांत मगध पर शासन किया था। इसके अतिरिक्त अयोध्या की राजकुमारी शांता एक महान दार्शनिक एवं विद्वान के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थीं। उपरोक्त विवरणों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय इतिहास में महिलाओं की शिक्षा एवं उनकी सामाजिक राजनीतिक स्थिति सुदृढ़ अवस्था में थी।

राजनीतिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त आर्थिक स्तर पर भी महिलायें सुदृढ़ अवस्था को प्राप्त थीं। वाणिज्य-व्यापार में भी अपनी कुशाग्र बुद्धि का प्रयोग करते हुए आर्थिक गतिविधियों का संचालन सफलतापूर्वक कर लेना एक महत्वपूर्ण पक्ष प्रस्तुत होता है। मौर्य साम्राज्य की राजधानी पाटलीपुत्र में व्यापारी समूह के अंतर्गत महिला व्यापारियों की अधिकता उनकी आर्थिक गतिविधियों में सहभागिता का स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत करता है।

मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य के रक्षकों में महिला टुकड़ियाँ भी शामिल थीं। ये महिला रक्षक वस्तुतः महल के महिला सदस्यों की सुरक्षा एवं आंतरिक सुरक्षा हेतु तैनात थीं। मौर्य शासन अंतर्गत 'विष कन्या' रूपी कई युवतियों को गुप्तचर का कार्यभार प्राप्त था। ये अपने कार्यों में कुशल थीं तथा विभिन्न षड्यंत्रों की जानकारी सुरक्षा सलाहकार तक पहुँचा कर दुश्मनों का नाश करती थीं।

गुप्तकाल में महिलाओं की शिक्षा

प्रसिद्ध दार्शनिक वात्स्यायन 'कामसूत्र' में बताते हैं कि कामशास्त्र के 64 कलाओं का ज्ञान पुरुष एवं महिलाओं दोनों को होना चाहिए। अर्थात् शिक्षा के दृष्टिकोण से महिलाओं एवं पुरुषों के बीच कोई विभेद नहीं किया गया। हालांकि गुप्त काल के दौरान सती प्रथा का पहला उदाहरण प्रस्तुत होता है, परंतु इसके अतिरिक्त यह काल महिला शिक्षा के लिए तेजस्वी काल था। इस काल में विभिन्न विश्वविद्यालयों की स्थापना

की गयी जिसमें तक्षशिला एवं नालंदा विश्वविद्यालय की ख्याति पूरे विश्व है। इससे यह तो पुष्टि होती है कि गुप्तकाल शिक्षा के विकास हेतु अग्रणी थी। परन्तु यह शोध का विषय है कि क्या इन विश्वविद्यालयों में सह-शिक्षा प्रदान कराई जाती थी? हालांकि साक्ष्यों के आधार पर ज्ञात होता है कि गुप्तकाल में महिलाओं को शिक्षा प्राप्ति के अधिकार थे।

हर्षवर्धन कालीन महिला शिक्षा

सुशिक्षित शासक हर्षवर्धन ने अपने शासनकाल के दौरान शैक्षणिक गतिविधियों के संरक्षण के अतिरिक्त तीन नाटकों (नागानंद, रत्नावली, प्रियदर्शिका) का भी लेखन पूर्ण किया। वाणभट्ट के 'हर्षचरित' में हर्षवर्धन का जीवन परिचय प्रस्तुत है जिसमें बताया गया कि नाटकों की रचना के अतिरिक्त वह शिक्षा के विकास हेतु सदैव तत्पर रहते थे। अपनी आय का एक चौथाई हिस्सा भी उनके द्वारा शिक्षा के विकास हेतु निर्धारित किया गया था (गीता, 2023)।

हर्ष के दरबार में आए चीनी यात्री व्हेनसांग द्वारा हर्षवर्धन की बहन राजश्री का उल्लेख कुशाग्र, एवं बुद्धिमान महिला के रूप में किया गया। बुद्ध धर्म के विषय में व्हेनसांग द्वारा दिये जा रहे व्याख्यान के दौरान राजकुमारी राजश्री हर्षवर्धन के पीछे बैठी थी (तुसंग, 1904)। राजश्री को बौद्ध धर्म के सम्मतीय संप्रदाय (हिनयान संप्रदाय का उपसंप्रदाय) के विषय में परिपूर्ण ज्ञान था। इस संप्रदाय ने विशेष रूप से अपभ्रंश भाषा में बौद्ध साहित्य की परंपराओं में महत्वपूर्ण योगदान दिया।अर्थात् कहा जा सकता है कि राजकुमारी अवश्य ही बुद्ध धर्म की शिक्षा-दीक्षा से जुड़ी हुई थी एवं शैक्षिक मनोवृत्ति का विकसित स्वरूप उनके अंदर विराजमान रहा होगा। उपरोक्त उदाहरण यह प्रस्तुत करता है कि हर्ष के शासन के दौरान महिलाओं के शिक्षा का स्वरूप सकारात्मक रहा था।

महाभारत एवं रामायण काल में महिला शिक्षा

प्राचीन भारत के इतिहास में रामायण एवं महाभारत जैसे महाकाव्यों के कालक्रम में अगर देखा जाये तो महिला शिक्षा के कई प्रमाण प्रस्तुत होते हैं। महाभारत काल के दौरान महिला शिक्षा पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया गया था। महाभारतकालीन महिला उत्तरा ने नृत्य की विद्या अपनी शिक्षिका बृहनला से प्राप्त की थी, अर्थात् एक महिला शिक्षा-दीक्षा का कार्य भी करती थी। किरात में द्रौपदी द्वारा अर्जुन को सहयोग स्वरूप मार्गदर्शन किया गया था। महाभारतकालीन महिलाओं का शिक्षित होना इस बात से स्पष्ट होता था कि वर चयन के समय वर की योग्यता का परीक्षण, पुरुषों के साथ वाद-संवाद करना एक मुख्य परिपाटी रही थी। यज्ञानुष्ठान, अन्य वेदाध्ययन में भी महिलायें अत्यंत परिणत थी। महाभारत में द्रौपदी एक महान महिला योद्धा के रूप में प्रस्तुत होती है। कालांतर में कौरवों द्वारा द्रौपदी के अपमान होने के परिणामस्वरूप ही इतिहास में महाभारत की युद्ध की स्थिति उत्पन्न हुई थी।

रामायण काल के दौरान महिलाओं को प्रत्यक्षत: देवी स्वरूप माना गया। रामायण में महिलाओं के महान गुणों जैसे पतिव्रता, धर्मपरायणता, राजनीतिज्ञाता, सहिष्णुता, त्याग और स्वाभिमान को भी परिलक्षित होता पाया गया है। विवाह पूर्व ही धार्मिक शिक्षा प्रदान की जाती थी। जिसके अंतर्गत वैदिक मंत्रों का उच्चारण सिखाया जाता था। महाभारत में राम के वन प्रवास के दौरान उनकी माता कौशल्या ने स्वस्तिवाचन गया था, जो वैदिक मंत्रों द्वारा प्राप्त शिक्षा का एक अमूल्य उदाहरण है। रामायण में सीता का उल्लेख महत्वपूर्ण है। राजा जनक द्वारा सीता एवं उनकी बहनों की प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था गुरू सदानंद जी द्वारा करायी गयी थी। कालांतर में ऋषि उद्दालक के पुत्र ऋषि श्वेतकेतु, जिनका उल्लेख छांदोग्य उपनिषद में मिलता है, के आश्रम में भी राजा जनक द्वारा सीता को तत्कालीन रीतियों के अनुसार अध्ययन हेतु भेजा था। सीता केवल उच्च शिक्षित महिला ही नहीं अपितु युद्ध कौशल में माहिर कुशल योद्धा भी थी। महाकाव्य काल में नारी शिक्षा की अगर बात की जाये तो देखा जा सकता है कि कुंती, गांधारी, द्रौपदी, सत्यभामा, कौशल्या, कैकयी, सीता जैसी महिलाओं ने विभिन्न कला कौशल, शिक्षा, दर्शनशास्त्र, युद्ध कला इत्यादि से स्वयं को परिपूर्ण किया जिसके परिणामस्वरूप महिला शिक्षा एवं कर्तव्यपरायणता की एक स्पष्ट झलक प्रस्तुत होती है।

महिलाओं में उपनयन संस्कार एवं ब्रह्मचर्य

प्राचीन भारतीय इतिहास में महिलाओं को अध्ययन के दौरान ब्रह्मचर्य का पालन करना होता था। गृहकार्य के अतिरिक्त अन्य कौशलों में ललित कलाओं, साहित्य, दर्शन, चित्रकला, युद्ध कौशल की शिक्षा प्राप्त करती थी। गृहसूत्रों के साक्ष्य के अनुसार महिलाओं का उपनयन संस्कार के अतिरिक्त ब्रह्मचर्य जीवन की समाप्ति के उपरांत समावर्तन संस्कार भी संपन्न कराया जाता था। अर्थात् ज्ञात होता है कि सूत्रयुग के दौरान स्त्रियों को भी पुरुषों के ही समान शिक्षा ग्रहण करने हेतु ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करना होता था।

प्राचीन भारतीय इतिहास में महिला शिक्षा संबंधित भ्रांति

भारतीय उपमहाद्वीप में व्याप्त लिंगभेद के आधार पर कई विचारकों द्वारा विचार व्यक्त किया गया कि प्राचीन भारत में महिलाओं को शिक्षा का पूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं था। उन्हें केवल बच्चे के जन्म, पालन-पोषण एवं घरेलू कार्यों तक ही रोक कर रखा जाता था। परंतु इन विचारों के खण्डन में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय इतिहास के प्राथमिक स्रोतों के अंतर्गत चारों वेदों, उपनिषद, रामायण एवं महाभारत एवं अन्य प्राचीन भारतीय ग्रंथों में वर्णित है कि प्राचीन भारतीय महिला शिक्षा के सभी स्रोतों में ज्ञान अर्जित कर पूर्ण रूपेण शिक्षित थी।

निष्कर्ष

जब इतिहासलेखन और अध्ययन का आरंभ हुआ तब सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक विषयों के अंतर्गत कई पहलूओं को इतिहासकारों एवं शोधार्थीयों द्वारा अनदेखा किया गया, जिनमें महिलायें भी शामिल थीं। पितृसत्तात्मक समाज के प्रभाव के कारण शायद ऐसा हुआ होगा। यह लेख सिर्फ महिला शिक्षा के महत्व को ही उजागर नहीं करता अपितु प्राचीन भारत में महिला शिक्षा एवं प्राचीन भारतीय महिलाओं में ओजस्विता और कर्तव्यपरायणता का समावेशन भी प्रस्तुत करता है। प्राचीन भारतीय इतिहास की सामाजिक व्यवस्था में महिलाओं को उच्च स्थान मिला हुआ था। जहाँ तक शिक्षा और सशक्तिकरण का मामला हो तब देखा जा सकता है कि महिला-पुरुष को एक समान महत्व प्रदान किया जाता था। प्राचीन भारतीय इतिहास में विभिन्न महिलाओं द्वारा राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर विभिन्न परिदृश्यों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई गयी। वह अपनी कला, साहित्य एवं रचनात्मक प्रतिभा हेतु भी पहचानी जाती थी। भारतीय इतिहास में ज्ञात तथ्यों के अनुसार ऐसा देखा गया कि जब सामाजिक प्रणाली पर आधारित जीवनचर्या आसान एवं धार्मिक गतिविधियों के अनुरूप संचालित होती थी, तब मातृसत्तात्मक व्यवस्था के अनुसार महिलाओं को धार्मिक और विभिन्न प्रकार की शिक्षा प्राप्ति का पूर्ण अधिकार था। मुख्य धारा की ज्ञान प्रणाली और राजनीतिक गतिविधियों में हिस्सेदारी के अतिरिक्त, घरेलू कार्य-प्रणालियों के साथ-साथ शिक्षण एवं अन्य कर्तव्यों को भी संपन्न करने में महिलायें अग्रणी थीं। सर्वविदित है कि भारत के सभी प्राचीन धर्मों, हिन्दू, बौद्ध और जैन में महिलाओं को विशेष महत्व एवं सम्मानपूर्वक स्थान दिया गया था। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक हिन्दू समाज में देवियों की पूजा-अर्चना होना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत करता है।

सहायक प्राध्यापक, इतिहास विभाग
पटना वीमेंस कॉलेज, पटना विश्वविद्यालय
पटना, बिहार 800001
ई मेल : spbaba51@gmail.com

सन्दर्भ सूची

- अल्टेकर, ए. एस. (2009). एजुकेशन इन एन्सिएंट इंडिया. ज्ञान पब्लिशिंग हाउस.
- बाशम, ए. एल. (2004). दि वंडर दैट वास् इंडिया : ए सर्वे ऑफ दि हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ दि इंडियन सब-कांटिनेंट बिफोर दि कमिंग ऑफ दि मुस्लिम्स. पिकाडोर.
- एवलोन, ए. (2017). महानिर्वाण तंत्रा. पिनाकल प्रेस.
- चंद्र, एम्. पी. (2017). जेंडर -रिलेटेड इश्यूज इन दि वैदिक पीरियड. बुलेटिन ऑफ दि रामकृष्ण मिशन इंस्टिट्यूट ऑफ कल्चर, मई 2017, 16.
- गीता. (2023). एम्परर हर्षा वर्धन (606-647 A.D.) इंडियन हिस्ट्री.
- मजूमदार, आर. सी. (2016). एन्सिएंट इंडिया. मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर.
- पी. भास्कर रेड्डी, एंटिक्विटी ऑफ राइटिंग इन इंडिया : एन MHRD प्रोजेक्ट अंडर इट्स नेशनल मिशन ऑन एजुकेशन F: ICT. MHRD भारत सरकार.
- रप्सन, इ. जे. (2022). एन्सिएंट इंडिया, फ्रॉम दि अरलीएस्ट टाइम्स टू दि फर्स्ट सेंचुरी, ए.डी. लेगरे स्ट्रीट प्रेस.
- एस. माधवानंद. (1950). दि बृहदारण्यक उपनिषद (3rd ed.). स्वामी योगेश्वरानंद.
- स्वामी माधवानंद, आर. सी. (Ed.). (1953). ग्रेट वीमेन ऑफ इंडिया (फर्स्ट एड.). कलकत्ता, वेस्ट बंगाल, इंडिया : अद्वैता आश्रम मायावती, अल्मोड़ा, हिमालयाज.
- त्रिपाठी, आर. एस. (1942). हिस्ट्री ऑफ एन्सिएंट इंडिया. बनारस : नन्द किशोर - ब्रो.
- तुसंग, एच. (1904). ऑन युआन च्वइग 'स ट्रेवल्स इन इंडिया (629-645). (टी. वाटर्स, ट्रांस) लंदन : रॉयल एशियाटिक सोसाइटी
- उपाध्याय, एस. (2020). थेरीगाथा : दि फर्स्ट रइटिंग ऑफ आवर एन्सेस्ट्रेस्सेस
- वात्स्यायन (n.d.). दि कामसूत्र ऑफ वात्स्यायन. बनारस : न्यू यॉर्क प्रिंटेड फॉर दि सोसाइटी ऑफ दि फ्रेंड्स ऑफ इंडिया. एच.के. सोसाइटी, ट्रांस

परवीन शाकिर की शायरी में नारी संवेदना की तलाश

डॉ. सैयद मुबीन ज़ेहरा

नारी की सोच, उसकी संवेदना और चिंतन को सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता है। विशेष रूप से वह औरत जो अपनी संवेदनाओं को दर्शाने के लिए शब्दों का सहारा लेती हो। जिस औरत को ईश्वर ने उसकी संवेदनों को जग तक पहुँचाने के लिए शब्दों का ऐसा सुन्दर ताना-बाना दिया हो जिसे शायरी कहा जाता है, उस नारी के एहसास को छू पाना हर किसी के बस की बात नहीं। यह विचार मेरे मन में तब आया जब मैं ने परवीन शाकिर की शायरी को उस नारी के एहसास के साथ समझने की कोशिश की जिस के बारे में कहा जाता है कि वह पूरे भारतीय उपमहाद्वीप की औरतों के जज़्बात और संवेदनाओं को अपनी कविताओं और ग़ज़लों के माध्यम से काग़ज़ पर उकेरती रही थी।

कैसे कह दूं कि मुझे छोड़ दिया है उसने
बात तो सच है मगर बात है रुस्वाई की

⋆ ⋆ ⋆ ⋆ ⋆ ⋆ ⋆

बस ये हुआ कि उस ने तकल्लुफ से बात की
और हम ने रोते रोते दुपट्टे भिगो लिए

⋆ ⋆ ⋆ ⋆ ⋆ ⋆ ⋆

अपनी तन्हाई मेरे नाम पे आबाद करे
कौन होगा जो मुझे उस की तरह याद करे

यह सच है कि परवीन शाकिर की शायरी नारी एहसास और संवेदनाओं को दर्शाती है लेकिन क्या यह भारत समेत दूसरे देशों को भी अपने अंदर समेटे है या फिर यह उस देश की औरतों के जज़्बात को अधिक अपने अंदर समेटे है जिस में धर्म के नाम पर तानाशाही हमेशा हावी रही है और जहाँ महिला प्रधानमंत्री बनने के बावजूद महिलाओं को उस प्रकार की स्वतंत्रता कभी नहीं मिल पाई जिसका वह अधिकार रखती हैं। वैसे तो पूरे विश्व की महिलाओं का दुख दर्द चिंता और जीवन खींचने की कशमकश एक सी ही है किन्तु जिस धरती पर नारी शिक्षा को लेकर समस्याएं हों, पर्दे या सम्मान का रोना रोकर उसे घर की चार दीवारी तक सीमित कर देने का चलन आम हो, ऐसे समाज में वहाँ की एक संवेदनशील कवयित्री के कलाम को भी हमें देखना होगा कि उसकी शायरी केवल अपने दुख दर्द और अपने आस पास की पीड़ा को दर्शा रही है या फिर दुनिया भर की औरतों के दुख को सहारा दे रही है। एक पाठक के रूप में मेरा मानना है कि शायर की शायरी में उसके अनुभव और चिंतन का बहुत योगदान होता है। बाद में उसके शेर की व्याख्या करने वाले उस में धरती और गगन एक कर दें वह अलग बात है। इस लिए परवीन शाकिर की शायरी में हमें परवीन शाकिर के आस पास का माहौल भी देखना होगा। यहाँ मैं साफ कर देना चाहती हूँ कि मैं कवि नहीं हूँ और न ही साहित्य से जुड़ी कोई आलोचक जिस का काम साहित्य की तुरपाई खोलना होता है किन्तु एक सामाजिक प्राणी, परवीन शाकिर की पाठक और महिला होने के नाते मैं परवीन शाकिर की शायरी को एक अलग दृष्टिकोण से देखने की चेष्टा अवश्य कर रही हूँ।

मैं सच कहूँगी मगर फिर भी हार जाऊँगी
वो झूट बोलेगा और लाजवाब कर देगा

यह जो सच और झूठ की जंग है क्या यह केवल मर्द और औरत के बीच का वार्तालाप है या फिर इसके परदे में हम राजनीति के मोहरों को भी देख सकते हैं जो हर बार नई मक्कारी, झूठे वादों और लंबे चोड़े सपनों की आकाश गंगा

लेकर आते हैं। एक नारी और वह भी कवयित्री केवल अपने दायरे में सिमट कर नहीं रह सकती। वह भी उस देश में जहां एक से बढ़ कर एक तानाशाह आया हो जिस ने फौजी बूटों तले जनता के सपनों को इस तरह रौंदा हो कि मांओं की गोदें सूनी हो गई हों, औरतों के सुहाग उजड़ गए हों और बहन बेटियों की इज़्ज़त और आबरू नीलाम होती रही हो। यह इस लिए कहा जा सकता है कि उसी पाकिस्तान में फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ और हबीब जालिब जैसे शायरों ने तानाशाहों के विरुद्ध ऐसी आवाज उठाई थीं कि उसकी धमक आज तक सुनाई देती है। हबीब जालिब का यह शेर तो आज तक लोगों की जबान पर है कि;

तुम से पहले वो जो इक शख़्स यहाँ तख़्त-नशीं था
उस को भी अपने ख़ुदा होने पे इतना ही यक़ीं था

इस परिदृश्य में परवीन शाकिर की शायरी को भी देखना आवश्यक है कि क्या वह नारी के अंदर की केवल उन संवेदनाओं को दर्शा रही थीं जो घरेलू दबाव और प्रेम के छिन जाने जैसे शायराना मिज़ाज को दर्शाता है या फिर इसके आगे की भी एक दुनिया है जो किसी न किसी रूप में समाज की संकीर्ण सोच का मुखौटा नोच रही है।

''रेख़ता'' की वेबसाईट पर उपलब्ध परवीन शाकिर के जीवन को देखें तो इस के अनुसार ''परवीन शाकिर 24 नवंबर 1952 को कराची में पैदा हुई। उनके पूर्वजों का संबंध बिहार के जिला दरभंगा में लहरिया सराय से था। उनके पिता शाकिर हुसैन साक़िब जो ख़ुद भी शायर थे, पाकिस्तान स्थापना के बाद कराची में आबाद हो गए थे। परवीन कम आयु से ही शायरी करने लगी थीं। 1972 में उन्होंने अंग्रेजी साहित्य में कराची यूनीवर्सिटी से एम.ए. की डिग्री ली और फिर भाषा विज्ञान में भी एम.ए. किया। 1976 में उनकी शादी मौसी के बेटे नसीर अली से हुई जो मिलिट्री में डाक्टर थे। ये शादी परवीन शाकिर की पसंद की थी किन्तु असफल रही और तलाक़ पर ख़त्म हुई। डाक्टर नसीर से उनका एक बेटा है। 9 साल कॉलेज में पढ़ाने के बाद परवीन ने पाकिस्तान सिविल सर्विस की परीक्षा पास की। उन्हें 1982 में सेकंड सेक्रेटरी सेंट्रल बोर्ड आफ रेवेन्यु नियुक्त किया गया। वह इस्लामाबाद में डिप्टी कलेक्टर भी रहीं। 25 वर्ष की आयु में उनका पहला काव्य संग्रह ''ख़ुशबू'' प्रकाशित हुआ तो साहित्यिक पटल पर धूम मच गई। बहुत ही कम आयु में 26 दिसंबर 1994 को एक कार दुर्घटना में परवीन शाकिर ने यह दुनिया छोड़ दी।

इन सब जानकारियों से ऐसा प्रतीत होता है कि परवीन शाकिर को वह एहसास की दुनिया नहीं मिल सकी जिसकी उन्होंने कामना की होगी। एक तरफ अपनी पसंद के मौसी के बेटे से विवाह के उपरांत भी उनको जब तलाक का परवाना मिला होगा तो उन पर क्या बीती होगी? यह दर्द तो एक नारी का ऐसा दुख है जिस की पीड़ा तो वह ही महसूस कर सकती है जो इस आग के दरिया से गुज़रती है।

कैसे कह दूं कि मुझे छोड़ दिया है उसने
बात तो सच है मगर बात है रुस्वाई की

अकेले पहाड़ जैसा जीवन गुजारने वाली परवीन शाकिर पाकिस्तान सरकार में एक बड़े ओहदे पर रहीं। उन्होंने पाकिस्तान में तानाशाही का जो दौर अफसरी करते हुए देखा होगा उस का असर उनकी शायरी पर न हुआ हो यह कैसे मुमकिन है। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि परवीन शाकिर के पति उस पाकिस्तानी सेना में डॉक्टर थे जिस ने लगातार वर्षों किसी न किसी रूप में वहां की सत्ता को अपने बूटों तले रोंदा है। पाकिस्तान में जिस तरह की फौजी सोच ने अधिकतर हुकूमत की है, हो सकता है उनके पति के मिज़ाज में भी वह अखड़ता आ गई हो जिस कारण उन्हें स्वतंत्र सोच रखने वाली सफल प्रशासनिक अधिकारी पत्नी का अपने जीवन में होना चुभ रहा हो। परवीन शाकिर जैसी सफल महिला से अलग होना जिस के एक बेटा भी हो क्या यह नहीं दर्शाता कि एक सफल औरत की कामयाबी मर्दों को चुभती है। इसी लिए उनकी शायरी में यह मर्द बार बार किसी न किसी रूप में निशाना बनता रहा है।

आंधी की ज़द में आए हुए फूल की तरह
मैं टुकड़े टुकड़े होके फ़िज़ा में बिखर गई

* * * * * *

अब कैसी पर्दादारी ख़बर आम हो चुकी
माँ की रिदा तो दिन हुए नीलाम हो चुकी

इस सब के बावजूद मुझे परवीन शाकिर की शायरी में जो बात अधिक तड़पाती है वह उनका एक प्रकार से हालात से समझौता है। उनका आत्मसमर्पण है। अगर देखा जाए तो वह पाकिस्तान के उस समाज का हिस्सा थीं जो हुकूमत करता है। वह प्रशासनिक सेवा में थीं लेकिन उनकी शायरी में हालात से बगावत नहीं है। उनके शब्द विरोधी तो हैं लेकिन यह दबा हुआ सा विरोध है, खुला हुआ विरोध जो आंदोलित हो ऐसा नजर नहीं आता।

कमाले ज़ब्त को ख़ुद भी तो आज़माऊंगी

मैं अपने हाथों से उसकी दुल्हन सजाऊंगी

★ ★ ★ ★ ★ ★

वह कहीं भी गया लौटा तो मेरे पास आया
बस यही बात है अच्छी मेरे हरजाई की

★ ★ ★ ★ ★ ★

भेड़िए मुझ को कहां पा सकते
वह अगर मेरी हिफ़ाज़त करता

★ ★ ★ ★ ★ ★

और कुछ पल उसका रस्ता देख लूं
आसमां पर एक तारा और है

वह कहीं कहीं हिम्मत तो करती हैं बग़ावत की लेकिन फिर एक मशरिक़ी (पूर्वी संस्कृति से जुड़ी) औरत की तरह अपने ही सितमगर को बचाने पर तुल जाती हैं।

हम ख़ुद भी जुदाई का सबब थे
उसका ही क़सूर सारा कब था

मनोविज्ञानिक भाषा में इस सोच को स्टॉकहोम सिंड्रोम कहते हैं। मुझे लगता है हमारे पूरे भारतीय उपमहाद्वीप की औरतों में इसका कुछ अंश ज़रूर दिखाई देता है। घरेलू हिंसा का शिकार अधिकतर महिलाएं इस से ग्रसित सी प्रतीत होती हैं। घर में हाथ बंटाने आने वाली अधिकतर महिलाओं से जब मैं बात करती हूं कि तुम्हारा पति दारू पी कर तुम्हें मारता पीटता है तुम्हारे पैसे भी छीन लेता है फिर भी तुम उसे छोड़ती क्यों नहीं हो और क्यों उसके लिए कमाए चली जाती हो तब उनके इसी प्रकार के उत्तर होते हैं जिस से प्रतीत होता है कि उन्होंने ज़ालिम को दिल में बसा लिया है, अपना बना लिया है।

क्या चैन मिला है सर जो उसके
शानों पे रखे सिसक रही हूं

★ ★ ★ ★ ★ ★

तू बदलता है तो बेसाख़्ता मेरी आँखें
अपने हाथों की लकीरों से उलझ जाती हैं

मैं उर्दू शायरी को उस तरह नहीं समझ पाती हूं जिस तरह उर्दू साहित्य वाले समझते होंगे लेकिन सामाजिक प्राणी होने के नाते शायरी का प्रभाव समाज पर क्या हो रहा है या समाज शायरी को किस प्रकार प्रभावित कर रहा है उसको लेकर चिंतन अवश्य करती रहती हूं। ऐसे में यह बात मुझे लगातार चौंकाती है कि जिस पाकिस्तान में शायरी में फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ''हम देखेंगे लाजिम है कि हम भी देखेंगे'' जैसे बग़ावती तेवर लेकर शेर कह रहे थे या हबीब जालिब कह रहे थे कि;

वह कह रहे हैं मुहब्बत नहीं वतन से मुझे
सिखा रहे हैं मुहब्बत मशीनगन से मुझे

उसी पाकिस्तान में परवीन शाकिर अपने दामन में कांटे समेट कर भी फूल से खुशबू का रिश्ता क्यों बना रही थीं?

वह तो खुशबू है हवाओं में बिखर जाएगा
मसला फूल का है फूल किधर जाएगा

ऐसा नहीं है कि परवीन शाकिर हालात से परेशान नहीं हैं बल्कि वह एहसास के बोझ तले दबी हुई हैं। उनकी संवेदनाएं उन्हें विचलित भी कर रही हैं लेकिन उनका लहजा उन्हें घर की चार दिवारी के अंदर की बात घर की चार दिवारी में ही रखने पर मजबूर कर रहा है। मुझ से मेरे मामा, उर्दू के बड़े साहित्यकार लेखक कवि शायर व पत्रकार स्वर्गीय पर्वाना रुदोल्वी ने एक बार शायरी पर चर्चा करते हुए कहा था कि जो शायर कर्बला को अपनी शायरी में शामिल रखता है वह अच्छा शायर होता है और उसकी शायरी में विरोधी स्वर ज़रूर होते हैं। यह अलग बात है कि यह विरोध का स्वर कम या अधिक शोर लिए होगा लेकिन विरोध ज़रूर होता है। परवीन शाकिर क्योंकि अशना अशरी शिया थीं तो ऐसा तो हो ही नहीं सकता कि उनकी शायरी में कर्बला न मिले। परवीन शाकिर ने भी अपनी शायरी में कर्बला के प्रतीकों का अद्‌भुत उपयोग किया है जो यह दर्शाता है कि उनके यहाँ भी विरोधी स्वर कम नहीं हैं।

असीरे कर्बला जब याद आएं
कहाँ लगती है फिर ज़ंजीर भारी

★ ★ ★ ★ ★ ★

पहरों की तश्नगी पे भी साबित क़दम रहूँ
दश्ते बला में रूह मुझे कर्बलाई दे

★ ★ ★ ★ ★ ★

रिदा छिनी मेरे सर से मगर मैं क्या कहती
कटा हुआ तो न था हाथ मेरे भाई का

★ ★ ★ ★ ★ ★

अब कैसी पर्दादारी ख़बर आम हो चुकी
माँ की रिदा तो दिन हुए नीलाम हो चुकी

★ ★ ★ ★ ★ ★

चलूँ मकतल से अपने शाम, लेकिन
मैं पहले अपने प्यारों को तो रो लूं

★ ★ ★ ★ ★ ★

अजनबी शहर की अव्वलीं शाम भी ढलने लगी,
पुरसा देने जो आए, गए
जलते ख़ेमों की बुझती हुई राख पर,
बाल खोले हुए, बीबियाँ रह गई

⋆ ⋆ ⋆ ⋆ ⋆ ⋆

मैं बच भी जाऊं तो तन्हाई मार डालेगी
मेरे क़बीले का हर शख्स कत्लगाह में है

⋆ ⋆ ⋆ ⋆ ⋆ ⋆

मेरी चादर तो छिनी थी शाम की तन्हाई में
बेरिदाई को मेरी फिर दे गया तशहीर कौन

⋆ ⋆ ⋆ ⋆ ⋆ ⋆

ज़िन्दगी फिर तुझे दरपेश है ज़िन्दाने दमिश्क
अश्क़िया फिर तेरे कानों से गोहर छीनते हैं

⋆ ⋆ ⋆ ⋆ ⋆ ⋆

चमकते नेज़ों पे सारे प्यारों के सर सजे हैं
कटे हुए सर
शिकस्ता ख़्वाबों से कैसा पैमान ले रहे हैं
कि खाली आंखों में रौशनी आती जा रही है
(शामे ग़रीबां)

⋆ ⋆ ⋆ ⋆ ⋆ ⋆

कूफ़ा ए इश्क़ में
मेरी बेचारगी
अपने बालों से चहरा छुपाए हुए
हाथ बांधे हुए
सर झुकाए हुए
जैरे लब एक ही इस्म पढ़ती हुई
या ग़फ़ूरुर रहीम..!
या ग़फ़ूरुर रहीम..!
(इद्रिक्नी)

कर्बला परवीन शाकिर की शायरी में कई बार आती है और उनके विरोध का स्वर बन जाती है। उनकी कई कवितायें कर्बला का दृश्य उभारती हैं। वह चाहे शामे ग़रीबां की सिसकती शाम का दृश्य हो या फिर हज़रत इमाम हुसैन के बलिदान से पहले के दृश्य और उनके अंतिम शब्द को दर्शाती कविता 'वाक्फा बिएह्दिक', कर्बला परवीन शाकिर की शायरी में प्रतीकात्मक रूप से मोजूद है।

परवीन शाकिर का लहजा कहीं कहीं बहुत कड़वा भी हुआ है लेकिन वह ऐसा भी नहीं है कि जहाँ सितमगर को उसकी ही सितमगरी के लहजे में जवाब दे रही हों। लेकिन वह जो उन पर बीत रही है उसे कहने से डरती भी नहीं हैं। उन्हें जो कहना है कहती हैं और सामने वाले का मुखौटा भी नोच लेती हैं।

फ़स्ले ख़िज़ां को फ़स्ले ख़िज़ां कहने का मतलब
गुलशन से गद्दारी नहीं है
और अगर ऐसा ठहरा तो
हाकिमे वक़्त के हरकारे
मुझ पर फ़र्दे जुर्म लगायें
खाके वतन को हुक्म बनायें
(चैलेंज)

⋆ ⋆ ⋆ ⋆ ⋆ ⋆

मैं इतने साँपों को रस्ते में देख आई हूँ
कि तेरे शहर में पहुंची तो कोई डर ही ना था

⋆ ⋆ ⋆ ⋆ ⋆ ⋆

उक़ाब को थी ग़रज़ फ़ाख़ता पकड़ने की
जो गिर गई तो फ़क़त नीम जान छोड़ गया

⋆ ⋆ ⋆ ⋆ ⋆ ⋆

मैं नहीं मगर कुछ भी
संग दिल रिवाजों के
आहनी हिसारों में
उम्र क़ैद की मुल्ज़िम
सिर्फ एक लड़की हूँ
(सिर्फ एक लड़की)

सच तो यह है कि परवीन शाकिर के अल्प आयु में निधन ने हम से एक ऐसी कवियत्री को छीन लिया जो आगे चल कर फूल और ख़ुशबु को लूटने खसोटने वालों से उलझ सकती थी। उनकी शायरी अपने दर्द से बाहर निकल कर दुनिया भर की महिलाओं की आवाज़ बन सकती थी। यूं तो परवीन शाकिर की पूरी शायरी ही नारी चेतना को समर्पित है किंतु परवीन शाकिर की यह औरत पूरी तरह से समाज के उन उसूलों को समर्पित है जहाँ न चाहे जाने का दुख भी चाहत को ही जन्म देता है। आज की नारी बेचारी नहीं है। वह अपने कंधों पर से ऐसे बोझ उतार फेंकना चाहती है जो किसी न किसी रूप में उसके लिए ज़ंजीर बन जाते हैं। परवीन शाकिर भी ज़ंजीर तोड़ना चाहती थीं। वह ज़ंजीर तोड़ भी रही थीं मगर मुहब्बतों को कलेजे से लगा कर ज़ंजीर तोड़ते हुए भी उनके हाथ ज़ख़्मी ही हो रहे थे। ऐसी प्रेम में घायल नारी हमारे समाज

को बहुत पसंद है। ऐसी घायल नारी की पीड़ा पुरुष समाज को सुकून और शक्ति देती है। उसे अपने लिए मातम करने वाली औरत पर तरस नहीं आता बल्कि उसे यह अपनी मर्दानगी की जीत नजर आती है।

परवीन शाकिर की शायरी में प्रेम विलाप अधिक है लेकिन उनका विरोध अलग प्रकार का है। वह ज़ालिम को बेनक़ाब करती हैं। परवीन शाकिर की शायरी हर प्रकार से परिपक्वता लिए है। यही कारण है कि उनकी शायरी उनके जाने के दशकों बाद भी अपनी अलग पहचान रखती है। उनकी शायरी को सिर्फ औरतें ही नहीं मर्द भी ख़ूब पढ़ते हैं। यही परवीन शाकिर की जीत है कि उनकी शायरी के माध्यम से मर्द जगत महिलाओं की संवेदनाओं को समझ पा रहा है। यह औरत और मर्द के बीच बराबरी के समाज को बनाने में विशेष योगदान कहा जा सकता है। अंत में परवीन शाकिर के कुछ प्रसिद्ध शेर पढ़िए। यह मत सोचिये यह शेर क्या कहना चाहते हैं। यह आप को नारी संवेदनाओं के कुछ न कुछ समीप तो ले जाकर अवश्य छोड़ेंगे।

हुस्न के समझने को उम्र चाहिए जानां
दो घड़ी की चाहत में लड़कियां नहीं खुलतीं

* * * * * *

जो मेरे सर से दुपट्टा ना हटने देता था
उसे भी रंज नहीं मेरी बेरिदाई का

* * * * * *

शायद उसने मुझ को तनहा देख लिया है
दुख ने मेरे घर का रस्ता देख लिया है

* * * * * *

हाथ मेरे भूल बैठे दस्तकें देने का फ़न
बंद मुझ पर जब से उस के घर का दरवाज़ा हुआ

* * * * * *

अब और जीने की सूरत नज़र नहीं आती
किसी तरफ से भी अच्छी ख़बर नहीं आती

* * * * * *

लड़कियां बैठी थीं पाँव डाल कर
रौशनी सी हो गई तालाब में

* * * * * *

उँगलियों को तराश दूं फिर भी
आदतन उसका नाम लिखेंगी

* * * * * *

दुश्मनों के साथ मेरे दोस्त भी आज़ाद हैं
देखना है खींचता है मुझ पे पहला तीर कौन

* * * * * *

अभी से मेरे रफ़ूगर के हाथ थकने लगे
अभी तो चाक मेरे ज़ख़्म के सिले भी नहीं

* * * * * *

सुबह मेरे जूड़े की हर कली सलामत थी
गूंजता था खुशबू में रात भर का सन्नाटा

* * * * * *

शाम भी हो गई धुंदला गईं आंखें भी मेरी
भूलने वाले मैं कब तक तेरा रस्ता देखूं

संदर्भ : परवीन शाकिर की कुलियात (सम्पूर्ण संग्रह) 'माहे तमाम' जिस में उनके काव्य संग्रह खुशबु, सदबर्ग, ख़ुदकलामी तथा इंकार संकलित हैं।

एसोसिएट प्रोफेसर
आत्मा राम सनातन धर्म कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय
ईमेल : drsyedmubinzehra@gmail.com

राधा : भक्ति, शक्ति और प्रेम का अद्वैत सूत्र

श्रवण कुमार ठाकुर

सारांश

भारतीय दर्शन, धर्म और साहित्य में ''राधा'' केवल एक पौराणिक पात्र नहीं, बल्कि भक्ति, शक्ति और प्रेम का अद्वैत सिद्धांत हैं। राधा वह भाव हैं जहाँ प्रेम साधना का चरम बिंदु बन जाता है और ईश्वर भक्ति के माध्यम से आत्मानुभव का विषय हो उठता है। श्रीमद्भागवत में राधा का अप्रत्यक्ष उल्लेख उनके आराधना तत्त्व के माध्यम से हुआ है, ''अनया आराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः'' (10.30.28), जबकि श्रीमद्देवीभागवत में वे पराशक्ति और आनंदमयी ब्रह्मस्वरूपा के रूप में प्रतिष्ठित हैं। यह अध्ययन राधा को उस अद्वैत सूत्र के रूप में प्रस्तुत करता है, जहाँ भक्ति का भाव, शक्ति का स्वरूप और प्रेम का दर्शन एकाकार होते हैं। वैष्णव और शाक्त, दोनों परंपराओं में राधा को परम चेतना की साक्षात् अभिव्यक्ति माना गया है, जो ईश्वर और जीव के द्वैत को समाप्त कर आत्मानुभूति के आनंद से जोड़ती हैं। आधुनिक संदर्भ में यह अध्ययन राधा को स्त्री शक्ति, करुणा और आध्यात्मिक समरसता के प्रतीक रूप में पुनःस्थापित करता है। अतः राधा का तत्व केवल धार्मिक न होकर दार्शनिक, सामाजिक और भावनात्मक चेतना का अद्वैत रूप है, जो भक्ति और शक्ति को प्रेम के माध्यम से एकाकार करता है।

कूट शब्द : राधा, भक्ति, शक्ति, अद्वैत, श्रीमद्भागवत, देवीभागवत।

1. प्रस्तावना

भारतीय धार्मिक एवं दार्शनिक परंपरा में राधा का स्थान अद्वितीय, अलौकिक और अनन्य है। वे केवल एक पौराणिक नायिका नहीं, बल्कि भारतीय आध्यात्मिक चेतना की परम अभिव्यक्ति हैं। राधा भक्ति की आत्मा हैं, शक्ति की मूर्ति हैं और प्रेम की चरम परिणति हैं। यद्यपि श्रीमद्भागवत महापुराण में उनका नाम प्रत्यक्ष रूप से उल्लिखित नहीं मिलता, तथापि उनके अस्तित्व का अनुभव समग्र दशम स्कंध में व्याप्त है। भागवत के प्रसिद्ध श्लोक

''अनया आराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः,
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहम्।'' (भागवत 10.30.28)[1] में ''आराधितो'' शब्द राधा के नाम का ही व्युत्पत्तिगत और तात्त्विक रूप है। यहाँ 'आराधना' वह क्रिया है जो भक्ति की परिणति बनकर 'राधा' के रूप में प्रकट होती है। यही वह क्षण है जब भक्ति साधना में प्रेम का संचार होता है और साधक का हृदय ईश्वरीय चेतना से अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टि से राधा केवल भक्ति का प्रतीक नहीं, बल्कि भक्ति की स्वयं मूर्तिमान चेतना हैं।

दूसरी ओर, श्रीमद्देवीभागवत महापुराण में राधा का स्वरूप प्रत्यक्ष और व्यापक रूप में वर्णित है। वहाँ उन्हें 'परमा शक्ति', 'आनन्दमयी ब्रह्मस्वरूपा' तथा 'सर्वसृष्टि की मूलप्रकृति' कहा गया है—

''सा एव राधा परमा शक्तिरेव,
यस्या विभूत्या जगतं प्रतिष्ठितम्।''
(देवीभागवत 12.8.37)[2]

यह श्लोक राधा को उस परम चेतना के रूप में प्रतिष्ठित करता है जो समस्त चराचर जगत् की प्रेरक शक्ति है। यहाँ राधा का स्वरूप केवल भावात्मक नहीं, बल्कि दार्शनिक और सृष्टिगत भी है, वे न केवल प्रेम की अधिष्ठात्री हैं, बल्कि

ब्रह्म की रचनात्मक शक्ति का साक्षात् स्वरूप हैं।

श्रीमद्भागवत में राधा का तत्त्व प्रेम की चरम परिणति के रूप में प्रकट होता है, जहाँ ईश्वर स्वयं प्रेममय हो उठता है; जबकि श्रीमद्देवीभागवत में वही राधा शक्ति के परमोत्कर्ष का प्रतीक बनकर ब्रह्म की आनन्दमयी अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित होती हैं। यह द्विविध प्रस्तुति वास्तव में अद्वैत के उस महान् सत्य को उद्घाटित करती है जहाँ भक्ति और शक्ति, प्रेम और ब्रह्म, भाव और तत्त्व, सभी एक ही परम सत्य की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। राधा इस एकत्व का वह सूत्र हैं, जो समस्त भारतीय अध्यात्म परंपरा को प्रेम के माध्यम से एकाकार करता है।

2. राधा का तात्त्विक स्वरूप

राधा का स्वरूप केवल एक प्रेमिका या श्रीकृष्ण की सखी के रूप में सीमित नहीं किया जा सकता। वे उस आत्मतत्त्व की अभिव्यक्ति हैं जो स्वयं परमात्मा को गतिशील करता है, वह चेतना जो प्रेम के माध्यम से ईश्वर को सजीव अनुभूति बनाती है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में उनका यह अद्वैत स्वरूप स्पष्ट रूप से प्रतिपादित हुआ है—

''राधा कृष्णप्राणाधारा सर्वलक्षणसंयुता।
नित्यं तत्संगतं रूपं ब्रह्मरूपा सनातनी॥''[3]

यह श्लोक राधा को कृष्ण की प्राणधारा और ब्रह्मरूपा के रूप में प्रतिष्ठित करता है। अर्थात् राधा ही वह सनातन शक्ति हैं जिनसे ब्रह्म का आनन्दस्वरूप प्रकट होता है। यहाँ 'प्राणाधारा' शब्द यह संकेत करता है कि कृष्ण, जो स्वयं सच्चिदानन्द हैं, उनकी चेतना की गति राधा के बिना असंभव है।

वेदांत दृष्टि से राधा 'माया' नहीं, बल्कि 'योगमाया' हैं, वह दिव्य शक्ति जो परमात्मा और जीव के मध्य सेतु का कार्य करती है। योगमाया ईश्वर की वह आन्तरिक शक्ति है जो उन्हें सृष्टि, लीला और प्रेम के अनुभव में संलग्न करती है। श्रीमद्भागवत (10.29.12) में रासलीला का वर्णन करते हुए कहा गया है कि भगवान ने गोपियों के साथ लीला केवल आनन्द की अनुभूति के लिए नहीं, बल्कि उस 'परमानन्द' की अभिव्यक्ति के लिए की जो योगमाया, अर्थात् राधा के माध्यम से संभव हुआ।

राधा का तत्त्व भक्ति की भावमूर्ति के साथ-साथ ब्रह्म की सह शक्ति के रूप में प्रकट होता है। वे अद्वैत चेतना की वह आभा हैं जो प्रेम को ब्रह्मानुभव का साधन बनाती है। राधा में ईश्वर और जीव, प्रेम और तत्त्व, भक्ति और शक्ति सभी एक हो जाते हैं। इसीलिए कहा गया है कि राधा का अस्तित्व स्वयं ईश्वर के अनुभव का मूल कारण है; वे 'प्रेमरूप ब्रह्म' की साक्षात् मूर्त हैं, जो संसार को ईश्वर की उपस्थिति का अनुभव कराती हैं।

3. राधा और भक्ति का अद्वैत सूत्र

राधा और भक्ति, इन दोनों का स्रोत एक ही है, और वह है प्रेम का परम आध्यात्मिक उत्कर्ष। जिस क्षण भक्त और भगवान के बीच का द्वैत समाप्त होता है, वही राधा भाव की अनुभूति है। यह वह स्थिति है जहाँ भक्ति केवल उपासना नहीं रहती, बल्कि ईश्वर के साथ तादात्म्य का अनुभव बन जाती है। राधा का अस्तित्व इसी अद्वैत भाव का प्रतीक है, जहाँ 'मैं' और 'वह' का भेद मिट जाता है, और शेष रह जाता है केवल प्रेम का शुद्ध सार।

श्रीमद्भागवत महापुराण में भगवान स्वयं कहते हैं—

''मद्भक्तो यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।''

(भागवत 11.14.14)[4]

अर्थात् जहाँ मेरे भक्त मेरे नाम का कीर्तन करते हैं, वहाँ मैं स्वयं उपस्थित रहता हूँ। इस श्लोक में भक्ति को ईश्वर की उपस्थिति का साक्षात् माध्यम बताया गया है। यही भाव राधा में मूर्त रूप से विद्यमान है, वे वह चेतना हैं जिसके द्वारा ईश्वर अपने भक्त के भीतर उतर आते हैं। राधा की भक्ति केवल आराधना नहीं, बल्कि आत्म विलय की प्रक्रिया है, जहाँ प्रेम साधक और साध्य के बीच की समस्त सीमाओं को लांघ जाता है।

जैसे अद्वैत वेदान्त में जीव और ब्रह्म का भेद केवल अज्ञान का परिणाम माना गया है, वैसे ही वैष्णव भक्ति में राधा और कृष्ण का भेद केवल लीलामूलक है, अर्थात् अनुभूति की अभिव्यक्ति हेतु किया गया विभाजन। तत्त्वतः दोनों एक ही परमात्मा के द्विविध रूप हैं, भाव और भाव्य, प्रेम और प्रेमास्पद। कवि सूरदास ने इस एकत्व को इन पंक्तियों में अभिव्यक्त किया है—

''राधा कृष्ण एक आत्मा दूई देह धरी।''

(सूरसागर, पदावली)[5]

यहाँ 'एक आत्मा' का संकेत उस दिव्य अद्वैत की ओर है जहाँ राधा का प्रेम ही कृष्ण का अस्तित्व बन जाता है, और कृष्ण का सान्निध्य राधा के हृदय की धड़कन।

इस दृष्टि से राधा और भक्ति एक-दूसरे के पर्याय हैं। भक्ति का उत्कर्ष राधा-भाव में होता है और राधा का तत्व भक्ति

में ही प्रकट होता है। जब प्रेम भक्ति का रूप लेता है, तो राधा स्वयं उसमें साकार होती हैं; और जब भक्ति प्रेम में रूपांतरित होती है, तब वह राधा की दिव्यता को स्पर्श करती है। यही राधा भक्ति का अद्वैत सूत्र है, जहाँ प्रेम ही आराधना है, आराधना ही अनुभव है, और अनुभव ही परम सत्य का साक्षात्कार।

4. राधा के रूप में शक्ति : देवीभागवत का दृष्टिकोण

श्रीमद्देवीभागवत महापुराण राधा को केवल एक पौराणिक या भावनात्मक प्रतीक के रूप में नहीं, बल्कि ब्रह्म की पराशक्ति, सृष्टि की मूल चेतना और दिव्य स्त्रीत्व की सर्वोच्च अभिव्यक्ति के रूप में स्थापित करता है। यहाँ राधा को वह शक्ति माना गया है जो न केवल सृष्टि का आधार है, बल्कि स्वयं ब्रह्म का जीवंत रूप भी है। पुराण में कहा गया है—

''सा देवी राधिका नाम या शक्तिः परमा परा।
यस्या विभूतया विश्वं स्थितं चराचरं जगत्॥''

(देवीभागवत 9.45.16)[6]

इस श्लोक में राधा को 'परमा परा शक्ति', अर्थात् समस्त शक्तियों की भी परात्पर शक्ति कहा गया है, जिनकी विभूति से यह सम्पूर्ण चराचर जगत अस्तित्व में है।

यहाँ देवीभागवत का दृष्टिकोण शाक्त दर्शन की मूल धारणा पर आधारित है, जिसके अनुसार समस्त सृष्टि शक्ति के बिना असंभव है। यदि कृष्ण चेतन तत्त्व हैं, तो राधा उनकी गतिशील शक्ति हैं; यदि ब्रह्म निश्चल और निर्गुण है, तो राधा उसी ब्रह्म की सगुण और सृजनात्मक अभिव्यक्ति हैं। इस प्रकार, राधा न केवल प्रेम की अधिष्ठात्री हैं, बल्कि सृष्टि के रचनात्मक क्रम की आरंभिक प्रेरणा भी हैं।

दार्शनिक दृष्टि से यह सिद्धांत 'शक्ति शक्तिमान अद्वैत' का प्रतिपादन करता है। इस मतानुसार शक्ति और शक्तिमान (कृष्ण और राधा) में कोई वास्तविक भेद नहीं है। भेद केवल व्यवहारिक या लीलामूलक है; तात्त्विक स्तर पर दोनों अभिन्न हैं। राधा का स्वरूप इस अद्वैत के उस पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें ब्रह्म स्वयं आनंद, करुणा और प्रेम के रूप में व्यक्त होता है।

देवीभागवत का राधा तत्त्व शाक्त परंपरा को वैष्णव भाव से जोड़ता है और यह सिद्ध करता है कि प्रेम और शक्ति वास्तव में एक ही परम चेतना के दो रूप हैं एक चेतन, दूसरा सृजनात्मक। राधा इस एकत्व की सर्वोच्च प्रतिमूर्ति हैं, जिनमें ब्रह्म, भक्ति और शक्ति एक ही सूत्र में गुँथकर ब्रह्मानुभूति को साकार कर देते हैं।

5. प्रेम-तत्व की व्याख्या : श्रीमद्भागवत के आलोक में

श्रीमद्भागवत महापुराण का दशम स्कंध न केवल भक्तिकाव्य की पराकाष्ठा है, बल्कि प्रेम के अद्वैत स्वरूप का दार्शनिक प्रतिपादन भी करता है। यहाँ प्रेम कोई सांसारिक भावना नहीं, बल्कि वह आत्मिक अनुभूति है जो जीव और परमात्मा के बीच के द्वैत को मिटा देती है। रासलीला का प्रसंग इस दिव्य प्रेम का सर्वोच्च प्रतीक है, जहाँ ईश्वर स्वयं अपने भक्तों के प्रेम में लीन होकर उनके हृदय का अनुभव करता है। इस प्रेम में न अपेक्षा है, न परिणाम; यह केवल आत्म-विलय का आनंद है।

श्रीमद्भागवत में उद्धव के माध्यम से भगवान श्रीकृष्ण के इस दिव्य प्रेम का रहस्य उद्घाटित किया गया है—

''नायं श्रीयोऽङ्ग उत नाभिरसौ रसस्य
भगवतो लीलामृतस्य स्पृहयन्ति नूनम्।''

(भागवत 10.47.60)[7]

इस श्लोक में उद्धव कहते हैं कि यह प्रेमरस ऐसा अमृत है, जिसकी इच्छा स्वयं लक्ष्मीजी भी करती हैं, किंतु उन्हें वह अनुभव नहीं जो गोपियों को प्राप्त है। इसका अर्थ यह है कि राधा और गोपियों का प्रेम ईश्वर को भक्ति के माध्यम से अनुभव कराने की परम स्थिति है, जहाँ भक्त और भगवान दोनों एक-दूसरे में विलीन हो जाते हैं।

राधा इस 'लीलामृत' की केंद्रबिंदु हैं। वे वह चेतना हैं जिसके माध्यम से श्रीकृष्ण का प्रेम मानवता तक पहुँचता है। राधा का प्रेम किसी भौतिक आसक्ति पर आधारित नहीं, बल्कि वह ब्रह्मानंद का मूर्त रूप है। यही कारण है कि जब कृष्ण राधा के प्रेम का अनुभव करते हैं, तो वे स्वयं ''प्रेमातिभूत'', अर्थात् प्रेम से भी परे हो जाते हैं। राधा का यह प्रेम ईश्वर को भी मानवीय बना देता है और मानव को दैवीय अनुभव से जोड़ देता है।

दर्शन की दृष्टि से, राधा का प्रेम वही स्थान रखता है जो वेदान्त में ''अहं ब्रह्मास्मि'' का है, जहाँ ज्ञान के माध्यम से नहीं, बल्कि प्रेम के माध्यम से अद्वैत का अनुभव होता है। राधा का प्रेम उस अद्वैत का भावात्मक रूप है जहाँ प्रेमी और प्रिय, उपासक और उपास्य, जीव और ब्रह्म, सब एक हो जाते हैं। अतः श्रीमद्भागवत का प्रेम-तत्त्व यह उद्घोष करता है कि प्रेम ही परमात्मा का साक्षात् स्वरूप है और राधा उसका मूर्तिमान अनुभव।

6. वैष्णव और शाक्त समन्वय का दर्शन

भारतीय आध्यात्मिक परंपरा में राधा वह अद्वितीय तत्त्व हैं जो वैष्णव और शाक्त दोनों धाराओं के मध्य सेतु का कार्य

करती हैं। वे न केवल भक्तिरस की पराकाष्ठा हैं, बल्कि पराशक्ति की परम अभिव्यक्ति भी हैं। वैष्णव दर्शन में राधा वह दिव्य चेतना हैं जो भक्ति को अपने चरम रूप प्रेम में परिणत करती हैं, जबकि शाक्त परंपरा में वही राधा ब्रह्म की गतिशील ऊर्जा के रूप में सृष्टि की प्रेरक शक्ति बन जाती हैं। इस प्रकार, राधा उस एकत्व का प्रतीक हैं जहाँ प्रेम और शक्ति, भक्ति और सृष्टि, भाव और तत्त्व, सभी एक ही ब्रह्मस्वरूप में लीन हो जाते हैं।

राधा तत्त्व प्रदीपिका में कहा गया है—

''न राधा बिना कृष्णो न कृष्णो बिना राधिका।''[8]

यह श्लोक स्पष्ट करता है कि कृष्ण और राधा एक-दूसरे के बिना अस्तित्वहीन हैं। कृष्ण चेतना हैं, तो राधा आनंद; कृष्ण ब्रह्म हैं, तो राधा उसकी शक्ति। दोनों का यह युग्म ब्रह्म के द्वैतात्मक प्रतीक नहीं, बल्कि अद्वैत स्वरूप की द्विविध अभिव्यक्ति हैं, जैसे अग्नि और उसकी ऊष्मा, सूर्य और उसका प्रकाश।

दार्शनिक दृष्टि से यह सिद्धांत शक्ति शक्तिमान अद्वैतवाद का प्रतिपादन करता है, जिसमें शक्ति (राधा) और शक्तिमान (कृष्ण) को एक ही तत्त्व के दो परस्पर पूरक पक्ष माना गया है। राधा कृष्ण का यह युगल ब्रह्म के दो आयामों, चेतन और आनन्द, का प्रतिनिधित्व करता है। चेतना के बिना आनन्द अपूर्ण है, और आनन्द के बिना चेतना निस्तेज। इसीलिए जब राधा और कृष्ण एक साथ आते हैं, तब ही पूर्ण ब्रह्म की अनुभूति होती है।

यह समन्वय भारतीय दर्शन की अद्वैत भावना का भावात्मक विस्तार है। जहाँ वेदान्त में ''सच्चिदानन्द ब्रह्म'' की त्रिविध अवधारणा है, वहीं राधा कृष्ण उस सच्चिदानन्द का जीवंत रूप हैं, कृष्ण ''चित्'' और ''सत्'' का प्रतिनिधित्व करते हैं, तो राधा ''आनन्द'' का। अत: वैष्णव और शाक्त परंपराओं का यह मिलन राधा के माध्यम से साकार होता है, जहाँ भक्ति की गहराई शक्ति के तेज में और शक्ति की ऊर्जा भक्ति के भाव में विलीन होकर परम अद्वैत का उद्घाटन करती है।

7. निष्कर्ष

राधा का स्वरूप भारतीय दर्शन में उस अद्वितीय स्थान पर प्रतिष्ठित है, जहाँ भक्ति, शक्ति और प्रेम तीनों एक ही तत्त्व में लीन हो जाते हैं। वे न तो केवल एक पौराणिक या ऐतिहासिक पात्र हैं, और न ही मात्र एक प्रतीकात्मक अवधारणाय राधा वह आध्यात्मिक शक्ति हैं जो भक्ति को ईश्वर से जोड़ती है और प्रेम को परम सत्य का अनुभव बना देती है। उनका अस्तित्व यह सिद्ध करता है कि प्रेम ही सृष्टि की मूल प्रेरणा है और भक्ति उसी प्रेम का आध्यात्मिक रूपांतरण।

श्रीमद्भागवत में जहाँ राधा अप्रत्यक्ष रूप में उपस्थित हैं, ''अनया आराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वर:'' (10.30.28), वहीं श्रीमद्देवीभागवत में वे प्रत्यक्ष रूप से ''परमा परा शक्ति'' के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इन दोनों ग्रंथों के राधा-तत्त्व को एक साथ रखने पर यह स्पष्ट होता है कि राधा भक्ति की आत्मा, शक्ति की चेतना और प्रेम की पराकाष्ठा हैं। वास्तव में यह त्रिक एकता, भक्ति = शक्ति = प्रेम, भारतीय दर्शन के उस उच्चतम स्तर का प्रतिनिधित्व करती है जहाँ ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान एक ही तत्त्व में अभिन्न हो जाते हैं।

दार्शनिक दृष्टि से राधा का तत्त्व ''अद्वैत का भावनात्मक आयाम'' है। यदि वेदान्त ''अहं ब्रह्मास्मि'' के माध्यम से ब्रह्म के साथ ज्ञानात्मक एकता की बात करता है, तो राधा-तत्त्व उस ब्रह्म के साथ प्रेमात्मक एकता का अनुभव कराता है। राधा में भक्ति ब्रह्म का रूप लेती है और ब्रह्म प्रेम का, यही वह अवस्था है जहाँ परमात्मा स्वयं प्रेम बन जाता है, और प्रेम स्वयं ईश्वर का स्वरूप धारण कर लेता है। इसीलिए राधा भारतीय अध्यात्म की परम परिणति हैं, जहाँ प्रेम ही मोक्ष है, और भक्ति उसी प्रेम की निर्वाण अवस्था।

स्नातकोत्तर, संस्कृत विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
दरभंगा

सन्दर्भ सूची

1. श्रीमद्भागवत महापुराण, स्कंध 10, अध्याय 30, श्लोक 28। गीता प्रेस, गोरखपुर, 2019।
2. श्रीमद्देवीभागवत महापुराण, स्कंध 12, अध्याय 8, श्लोक 37। चौखम्बा संस्कृत शृंखला, वाराणसी, 2018।
3. ब्रह्मवैवर्त पुराण, भाग 4, अध्याय 26, श्लोक 12। वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई, 2016।
4. श्रीमद्भागवत महापुराण, स्कंध 11, अध्याय 14, श्लोक 14। गीता प्रेस, गोरखपुर, 2019।
5. सूरदास। सूरसागर (पदावली), पद 223। हिन्दुस्तान बुक डिपो, दिल्ली, 2005।
6. श्रीमद्देवीभागवत महापुराण, स्कंध 9, अध्याय 45, श्लोक 16। चौखम्बा संस्कृत शृंखला, वाराणसी, 2018।
7. श्रीमद्भागवत महापुराण, स्कंध 10, अध्याय 47, श्लोक 60। गीता प्रेस, गोरखपुर, 2019।
8. हरिदास दास (सम्पादक)। राधा तत्त्व प्रदीपिका। वृन्दावन शोध संस्थान, वृन्दावन, 2007।

उपासना

डॉ॰ सच्चिदानन्द सिन्हा का प्रारम्भिक जीवन और तत्कालीन बिहार की राजनैतिक, सामाजिक-आर्थिक स्थिति का सर्वेक्षण

आधुनिक भारत के इतिहास में सच्चिदानन्द सिन्हा का स्थान अप्रतिम है। उन्होंने अपनी विलक्षण कार्यक्षमता, प्रतिभा सम्पन्न, तीक्ष्ण दृष्टि शक्ति, असाधारण विद्वता, कुशल कार्यशैली, ओजस्वी वाक्शक्ति, प्रभावशाली तर्क-प्रवीणता, गंभीर चिंतन, ओजस्वी वाणी और विवेक से तत्कालीन महान हस्तियों को तथा तत्कालीन भारतीय राजनीति और समाज को काफी हद तक प्रभावित किया। दरअसल, इतिहास उनका ही होता है जो इतिहास के सहारे चलते हैं। जमीन उसकी कद्र करती है जो जमीन की मर्यादा की रक्षा करता है। देश को करोड़ों जनता में कुछ ही ऐसे पैदा होते हैं जिनका मूल्यांकन इतिहासकार गहराई आंखों से करता है। डॉ॰ सच्चिदानन्द सिन्हा ऐसे ही अनमोल रत्नों में थे।[1] जिनके व्यक्तित्व की गरिमा, विचारों और भावों की प्रगाढ़ता, पत्रकार के रूप में तीक्ष्ण बुद्धि, एक बड़े बैरिस्टर के रूप में ख्याति आम लोगों को सहसा ही अपनी ओर खींच लेती था।

सच्चिदानन्द सिन्हा का जन्म 10 नवम्बर 1871 ई॰ को आरा में हुआ था। उनके पूर्वज शायद लखनऊ से आकर बक्सर के नजदीक मुरार गांव में बस गये थे।[2] 'सच्चिदानन्द' नाम के अर्थ को परिभाषित करते हुए महात्मा गाँधी ने कहा है - सत्य के साथ ज्ञान, शुद्ध ज्ञान अवश्यम्भावी है। जहाँ सत्य नहीं है, वहाँ शुद्ध ज्ञान की संभावना नहीं है। इसी से ईश्वर के नाम के साथ चित् अर्थात् ज्ञान शब्द की योजना हुई है और जहाँ सत्य ज्ञान है - वहाँ आनन्द ही होगा, शोक होगा ही नहीं। सत्य के शाश्वत होने के कारण आनन्द भी शाश्वत होता है। इसी कारण ईश्वर को हम सच्चिदानन्द नाम से भी जानते हैं।[3] दरअसल, बाद में चलकर सच्चिदानन्द सिन्हा भी नये प्रान्त के रूप में बिहार के सृजन में योगदान देकर बिहारियों के मानस पटल पर ईश्वर से कम नहीं समझे गये।

सच्चिदानन्द सिन्हा की विद्यारंभ संस्कार पांच वर्ष की अवस्था में वसन्त पंचमी को हुआ। जीवन के प्रारम्भ से ही इनकी शिक्षा दीक्षा पर उनके अभिभावकों ने पर्याप्त ध्यान दिया। फलत: बाल्यावस्था में ही पंडित से संस्कृत की शिक्षा, मौलवी से उर्दू और फारसी की शिक्षा तथा मास्टर से अंग्रेजी की शिक्षा विधिवत घर पर ही दी गई।[4] 1877 ई॰ में स्कूली शिक्षा हेतु उनका दाखिला आरा जिला स्कूल में कराया गया। सच्चिदानन्द सिन्हा का दाखिला आई.ए. (तत्कालीन एफ.ए.) कक्षा में पटना कॉलेज में जुलाई 1888 में कराया गया। गर्मी की छुट्टी के बाद जुलाई 1889 में जब कॉलेज खुला तो उन्हें आई.ए. के द्वितीय वर्ष में प्रमोशन मिला। इसके तीन माह बाद ही कलकत्ता के सिटी कॉलेज में नामांकन करा दिया गया। उस समय सिटी कॉलेज, कलकत्ता में वे अकेला बिहारी छात्र थे जबकि उसी समय पटना कॉलेज में 130 छात्रों में से 30 बंगाली थे।[5] यहाँ उनका मन पढ़ाई में लगा नहीं।

सच्चिदानन्द सिन्हा जब आरा जिला स्कूल में थे उसी समय उनकी दोस्ती अली इमाम एवं हसन इमाम के साथ हुई जो जीवनपर्यन्त बनी रही। जब 1887 में अली इमाम बैरिस्टरी की पढ़ाई करने इंग्लैंड जा रहे थे उसी समय सच्चिदानन्द सिन्हा के मन में भी इंग्लैण्ड जाने का विचार पैदा हुआ था लेकिन रास्ते में बहुत सारी कठिनाइयां थीं। उन दिनों किसी भी हिन्दू के लिए समुद्र पारकर विलायत जाना अपनी जाति से बहिष्कृत होना था। इसके अतिरिक्त वे माँ-बाप के अकेले पुत्र थे। अत: इंग्लैण्ड जाने के विषय में इजाजत मिलना

कठिन था।[6] आरा में मदनमोहन मालवीय का जब आगमन हुआ तो उनको भी सच्चिदानन्द सिन्हा ने अपने पक्ष में किया ताकि वे उनके माता-पिता को राजी कर सकें। उस समय तक मदनमोहन मालवीय के नाम की ख्याति एक ओजस्वी वक्ता के रूप में पूरे प्रदेश में फैल चुकी थी।

यद्यपि सच्चिदानन्द सिन्हा के मार्ग में इंग्लैण्ड जाने से संबंधित कई कठिनाइयां मौजूद थीं, फिर भी उनका संकल्प इतना पक्का था कि अन्ततः उन्होंने कलकत्ता के सिटी कॉलेज में पढ़ने के दौरान ही इंग्लैण्ड जाने का निश्चय कर लिया। 26 दिसम्बर 1889 ई॰ को सुबह कलकत्ता से जहाज लन्दन के लिए प्रस्थान किया तो जहाज की इस यात्रा के दौरान मेरे मन मस्तिष्क में विचित्र सा द्वंद्व घूमने लगा। एक तरफ लगा रहा था कि मैं अपने मिशन में कामयाब होने जा रहा हूँ, तो दूसरी तरफ इस बात से मैं आशंकित था कि कहीं मेरे लंदन यात्रा पर निकल जाने की सूचना अगर पिताजी को मिल गई तो फिर मेरा क्या होगा? खैर! मैं अपने माँ-बाप का अकेला बेटा हूँ, तो पिताजी मुझे भूखा नहीं रहने देंगे और इस यात्रा अवधि में रुपये जरूर भेजेंगे।[5] फरवरी 1890 ई॰ को वे अपने गंतव्य स्थान लंदन पहुँचे।

अप्रैल 1890 ई॰ को इनका नामांकन मिडिल टेम्पल लन्दन में हुआ। वहाँ उन्होंने पूरे मनायोग पूर्वक बैरिस्टरी की पढ़ाई की। वहाँ उन्होंने पत्रकारिता में भी दिलचस्पी का प्रदर्शन किया। शीघ्र ही वे ब्रिटिश कमिटी ऑफ द इंडियन नेशनल कान्फ्रेंस कांग्रेस के सक्रिय सदस्य बन गये। वे इस दौरान विलियम डिग्वी, चार्ल्स ब्रेडला, जार्ज यूल, डब्ल्यू. सी. बनर्जी, आर.एन. माधोलकर एवं सुरेन्द्र नाथ बनर्जी जैसे नेताओं के सम्पर्क में आये। राजनीति के प्रति उनकी दिलचस्पी बढ़ने लगी। 1892 ई॰ में दादा भाई नौरोजी ने जब इंग्लैण्ड के हाऊस ऑफ कॉमन्स के लिए चुनाव लड़ा तो इस चुनाव में उन्होंने नौराजी के पक्ष में जमकर प्रचार किया।[7]

सच्चिदानन्द सिन्हा अपने लन्दन प्रवास के दौरान समय का पूर्ण सदुपयोग किया। अध्ययन, मनन और चिन्तन के साथ-साथ उन्होंने अपनी ऊर्जा, ज्ञान और विवेक का पूरा इस्तेमाल किया। फलतः वे अपनी बैरिस्टरी की डिग्री लेने में सफल हुए।[8] सच्चिदानन्द सिन्हा 1893 ई॰ में स्वदेश आ गये।

उस समय कलकत्ता प्रदेश की और साथ हीं देश की भी राजधानी थी। बंगालियों को इसका ज्यादा फायदा मिला। शिक्षा और रोजगार के प्रायः सारे अवसर उन्होंने हड़प लिए। बंगाल का नवजागरण बिहारियों को छू भी नहीं सका, बावजूद इसके कि बिहार सूबे बंगाल का महत्त्वपूर्ण हिस्सा था। उपजाऊ जमीन और आर्थिक विकास की तमाम संभावनाओं के बावजूद बिहार गरीबों में डूबा रहा। अशिक्षा, निरक्षरता और सामाजिक-सांस्कृतिक पिछड़ापन अपनी पूरी ऊँचाई पर था। जाति प्रथा यहाँ की सबसे बड़ी विशेषता थी और किसी अन्य संचेतना की तुलना में जातीय संचेतना यहाँ की सबसे बड़ी वास्तविकता थी। सामन्तवादी ताकतें अभी भी मजबूती से जड़ जमाये हुए थीं। इसके चलते बिहारियों की अपनी कोई विशिष्ट पहचान नहीं बन पायी। सभी क्षेत्र के लोगों को जोड़ने के लिए कोई सामान्य भाषा नहीं पनपी और न कोई सामान्य संस्कृति पैदा हुई, जिसके चलते बिहार के लोगों में भावात्मक अनुराग पैदा नहीं हुआ और बिहारीपन को ठोस आधार प्राप्त नहीं हुआ।[9] इस तरह बिहारी समाज का प्रायः हर हिस्सा स्वतंत्र बिहारी पहचान के खो जाने का नतीजा भुगत रहा था।

बिहार के जिलों से बड़ी संख्या में मजदूर स्थायी रूप से या मौसमी तौर पर बंगाल और असम जाते थे। बंगाली जमींदार और फैक्ट्री मालिक या बागान मालिक उनके साथ दुर्व्यवहार करते थे। उनके निचले अधिकारी जिनके मातहत बिहारी मजदूर काम करते थे, अधिकांशतः बंगाली होते थे। खुद बिहार में भी अधिकांश निलहा कोठियों में किरानी और कनीय अफसर बंगाली होते थे। यही बात उन जमीन्दारियों में होती थी, जो अदालती देखरेख में होती थीं। सरकारी दफ्तरों में भी भारतीय कनीय अधिकारी अफसर और अन्य कर्मी बंगाली होते थे। बंगाली दलालों ने तो उनके जीवन को और भी आफत में डाल दिया था।[10] वे हमेशा अपने मालिक के लिए बड़े उत्साह और वफादारी से काम करते थे, इसलिए किसानों और खेत मजदूरों से उनका टकराव होता था। किसान और खेत मजदूर उन्हें अपना शोषक और दुश्मन मानते थे।

बिहार में नील की खेती ब्रिटिश बागान मालिकों के द्वारा जोर-जबर्दस्ती से करायी जाती थी। नील के कारखानों में बंगाली किरानी बंगाली थे। मैनेजर भी वही थे। अपने मालिकों को खुश करने के लिए वे किसानों और खेतिहर मजदूरों का भरपूर शोषण करते थे।[11] बहुतायत में उपजाऊ जमीन, उपयुक्त जलवायु और पर्याप्त वर्षा के बावजूद बिहार में खेतिहर आबादी की दशा हमेशा दयनीय रही। इस प्रान्त में बार-बार अकाल पड़े और हर बार बहुत से लोग अकाल के शिकार हुए। हर अकाल के बाद कठिनाइयों का एक नया दौर शुरू हुआ।

बिहारी किसानों की तुलना में बंगाल के किसानों की हालत काफी बेहतर थी।[12]

बंगाली गणमान्य लोगों का समूह बंगाल और खासकर कलकत्ता के जीवन पर हावी था। उनके लिए तमाम दृष्टियों से बंगाल प्रदेश में बिहार था ही नहीं। यही वजह है कि ब्रिटिश शासक हलकों में उनका जो भारी प्रभाव था और पहुँच थी, उनका इस्तेमाल उन्होंने कम भाग्यशाली बिहार के लोगों की बदहाली दूर करने के लिए नहीं किया। 1860 के नील आयोग का गठन एक मिसाल है। बंगाल में किसी ने भी आयोग के कार्यक्षेत्र में विस्तार करके बिहार में नील की खेती को इसमें शामिल करने की मांग नहीं की ताकि बिहारी किसानों की परेशानियों को दूर करने के लिए कुछ किया जाता। नतीजा यह हुआ कि अब अंग्रेज निलहे बंगाल छोड़कर बिहार में अपना कारोबार बढ़ाने लगे और बिहार के किसानों को उनका शिकार होना पड़ा।[13] स्वभावत: इसकी वजह से बिहार में नाराजगी और असंतोष पैदा हुआ।[14]

भागलपुर का तसर सिल्क दूर-दराज के क्षेत्रों तक हमेशा ही एक आकर्षक माल रहा है। 1810 में ही बुकानन हैमिल्टन ने लिखा था कि इस समय भागलपुर जिला में 3275 करघे हैं। 1877 तक इसकी संख्या बहुत घट गयी, हालांकि सिल्क उद्योग जिन्दा था और उसकी टेक्नोलॉजी में कोई बदलाव नहीं आया था। तसर सिल्क उद्योग गिरावट की वजह से रंगाई के काम में लगे लोगों की संख्या घटकर मात्र 13 रह गयी थी।[15]

अमिय कुमार बागची ने उत्तर और दक्षिण बिहार के विउद्योगीकरण का विस्तृत सर्वेक्षण किया है। उन्होंने इस तथ्य को रेखांकित किया है कि हस्तकरघा उद्योग, कागज उद्योग, चीनी उद्योग, टेन्ट बनाने का कारोबार, लाह से लहठी बनाने का धंधा, बर्त्तन उद्योग, शीशा उद्योग, टूथ पाउडर बनाना, सिन्दूर बनाना, कालीन उद्योग आदि चौपट हो गये, पर इसके विस्थापित मजदूरों को जीविका के लिए खेती में जाने से रोकने के लिए कुछ भी नहीं किया गया। दूसरे शब्दों में, कलकत्ता के आसपास तो आधुनिक उद्योग खड़े हो गये पर बिहार में जमालपुर (मुंगेर) में सिर्फ एक रेलवे कारखाना आया। लेकिन इस कारखाने में जितना रोजगार पैदा हुआ वह मुंगेर जिले में स्थानीय उद्योगों में रोजगार में हुए ह्रास के कहीं आसपास नहीं था। इस प्रकार विउद्योगीकरण की प्रक्रिया दसियों लाख लोगों के विशुद्ध दरिद्रीकरण की प्रक्रिया साबित हुई...।[16]

आपदा प्रबन्धन से भी रेलवे लाइन का विस्तार लाभदायक हो सकता था लेकिन इस क्षेत्र में भी बंगाल की तुलना में बिहार पर कम ध्यान दिया गया। कई वर्षों बाद उत्तर बिहार में रेलवे के विस्तार के लिए 5 योजनाएं बनायी गयी। 1887-88 में सरकार के द्वारा बिहार के मजदूरों की मजदूरी अत्यन्त कम थी और इससे उनका तथा उनके परिवार का खाना-पीना भी मुश्किल था। बिहार में बड़े पैमाने पर मजदूरों के पलायन के लिए भी उनकी तत्कालीन दयनीय स्थिति जिम्मेवार थी।[17] आंतरिक औपनिवेशीकरण के कारण बिहार के आंतरिक उद्योग-धंधे नष्ट हो गये। आंतरिक उपनिवेश के क्षेत्र में मूलत: कच्चे माल और कुशल मजदूरों की आपूर्ति करने वाले केन्द्र रह गये और तुलनात्मक दृष्टि से बिहार अधिक पिछड़ता चला गया। बाद में सच्चिदानन्द सिन्हा जैसे प्रबुद्ध लोगों ने ब्रिटेन से लौटने के बाद बिहार के आंतरिक उपनिवेश बनने की बात की चर्चा की और राजनीतिक हलकों में यह सवाल बार-बार उठाया जाता रहा।

1872 के बाद लगातार जनगणना प्रतिवेदनों में बेरोजगारी के कारण बड़े पैमाने पर बिहार से बिहारवासियों का पलायन समीपवर्ती बंगाल और असम के विभिन्न भागों के अलावा भारत से बाहर भी अंग्रेजी, फ्रांसीसी और डच उपनिवेशों में हो रहा था।[18] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि एक तरफ तो इन बिहारवासियों का मजदूरों के रूप में यहाँ से पलायन हो रहा था, किन्तु दूसरी ओर बाहर कुछ आमदनी करने के बाद जब वे अपने स्वजनों के बीच बिहार के गांवों में लौटते थे तो उन्हें बिहार की तुलनात्मक दयनीय स्थिति देखकर बड़ा दु:ख होता था और वे अपने सगे-संबंधियों को अपने प्रवास से संबंधित छोटी-मोटी जानकारियां देकर अचम्भित करते थे। इन परिस्थितियों में ये बिहार प्रवासी बिहार में बदलाव के एक महत्वपूर्ण माध्यम भी बन गये थे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अंग्रेजी राजनीतिक प्रभुत्व के दौरान बिहार बड़े पैमाने पर आर्थिक शोषण का शिकार हुआ, अभिजन वर्ग के कुछ लोगों को छोड़कर आम लोगों की गरीबी निरन्तर बढ़ती गयी और इन सबके परिणामस्वरूप पूरे बिहार में व्यापक असंतोष का वातावरण निर्मित हुआ।[19]

1857-58 के बाद के दशकों में विभिन्न कारणों से सामाजिक संरचना में भी बदलाव के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। प्रारम्भ में बिहार के लोग अपनी विरासत से ज्यादा घनिष्ठता से जुड़े रहने के कारण नये विचारों, नये व्यवहारों तथा सामाजिक-धार्मिक क्षेत्र के सुधारों को आसानी से अपनाने

के लिए तैयार नहीं थे। लेकिन नवजागरण की लहर के प्रभाव को पूरी तरह रोक पाना उनके लिए संभव नहीं था। अंग्रेजी शिक्षा उनके जीवन शैली और विश्वासों के रास्ते में रूकावट पैदा करेगी। इसलिए उन्नीसवीं सदी के मध्य के दशकों में शिक्षा के क्षेत्र में राजाओं, बड़े-बड़े जमींदारों तथा दानशील धार्मिक व्यक्तियों के द्वारा जो भी उल्लेखनीय योगदान हुए वे सभी हिन्दुओं के बीच संस्कृत विद्यालयों के विकास अथवा मुसलमानों के बीच मदरसा और फारसी शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए किये गये। 1837 में एडक के प्रतिवेदन के मुताबिक उत्तर और दक्षिण बिहार में बड़ी संख्या में ऐसे संस्कृत स्कूल चल रहे थे, जबकि अंग्रेजी शिक्षा के लिए 1835 में केवल पटना और पूर्णिया में ही स्कूल खोले गये थे।[20]

1938 में बिहारशरीफ एवं 1940 में भागलपुर में ऐसे ही विद्यालयों की स्थापना की गयी। पटना, आरा एवं छपरा में जिला स्कूलों की स्थापना हुई। भागलपुर में भी जिला स्कूल खोला गया। यहां भागलपुर हिल स्कूल की भी स्थापना हुई। जिसमें सैनिकों के बच्चों को शिक्षा देने की व्यवस्था की गयी। 1842 में मुजफ्फरपुर जिला स्कूल की स्थापना हुई। 1847 में पटना में संत जोसेफ स्कूल और 1856 में संत माइकल स्कूल की स्थापना हुई। 1959 में संताल परगना में पाकुड़ उच्च विद्यालय खोला गया। 1863 में देवघर, मोतिहारी, हजारीबाग एवं चाईबासा में भी जिला स्कूल खोले गये। बिहार के लोगों ने शुरू से ही अंग्रेजी शिक्षा के प्रति किसी विशेष उत्साह का प्रदर्शन नहीं किया। उन्होंने इस शिक्षा को शक की निगाह से देखा। उन्हें लगा कि इस माध्यम से उनके धर्म पर चोट होगी। फलत: कई सरकारी एवं अर्द्धसरकारी स्कूलों को छात्रों के अभाव में बंद कर देना पड़ा। गवर्नर जनरल हार्डिंग के द्वारा घोषणा की गयी कि कम्पनी सरकार की सेवा में उन्हीं लोगों का चयन किया जायगा जिन्होंने अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा प्राप्त की होगी। इसका भी अपेक्षित प्रभाव बिहार के लोगों पर नहीं पड़ा। यहां के स्कूलों में बिहारी छात्रों की उपस्थिति नहीं के बराबर हुई। अधिकाधिक बंगाली छात्रों ने ही इसका लाभ उठाया।[21]

1844 में सरकार ने बंगाल और उड़ीसा के साथ-साथ बिहार के विभिन्न जिलों में वर्नाक्यूलर शिक्षा के लिए विद्यालयों को खोलने का निर्णय लिया जिसके परिणामस्वरूप पटना, भागलपुर और तिरहुत कमीशनरी में कई स्कूल खोलने का प्रयास किया गया जो शुरू में पूरी तरह सफल नहीं हुआ। 1860-61 तक सरकारी अनुदान की मदद से 100 से ज्यादा देशी विद्यालय वर्नाक्यूलर शिक्षा के अध्ययन केन्द्र के रूप में कार्य करने लगे थे।[22] प्रारम्भ में अंग्रेजी स्कूलों के खोलने का सरकारी प्रयास भी पूरी तरह सफल नहीं हो पाया। आमतौर पर जिला स्कूलों की स्थिति उत्साहवर्द्धक नहीं थी और बहुत कम छात्र ही उसमें नामांकित होते थे। ऐसा ही हाल सच्चिदानन्द सिन्हा का जिला स्कूल आरा में पढ़ने के समय था। बिहार में केवल भागलपुर, आरा और पटना में ही सरकारी विद्यालय ठीक ढंग से चल रहे थे।[23]

1861 में बंगाल के शिक्षा निदेशक डब्ल्यू.एस. एटकिंसन ने बिहार के शैक्षिक पिछड़ेपन की समीक्षा की और कहा कि बिहार के लोगों ने अज्ञानता एवं दकियानूसी दृष्टिकोण के कारण आधुनिक शिक्षा से अपने को दूर रखा है और सरकारी सेवाओं में भर्ती होने से वंचित रह गये हैं। उसने लिखा कि बंगाल के खास लोगों ने अंग्रेजी शिक्षा का व्यवसायिक महत्व को समझा है। अंग्रेजी भाषा का ज्ञान होने से नौकरी मिलती है। अत: उन्होंने जोख-खरोश के साथ अंग्रेजी शिक्षा को अपनाया है। इसके विपरीत बिहार के लोगों में यह चेतना अभी विकसित नहीं हुई है। जैसे ही वे इसे समझेंगे वे इसे अपनाने में देर नहीं करेंगे। एटकिंसन ने बिहारियों के लिए उच्च शिक्षा की जरूरत पर बल देते हुए लिखा कि बिहार के लोगों का उच्च शिक्षा एवं व्यवसयिक शिक्षा हासिल करने के लिए काफी दूर जाना पड़ता है। अतएव बिहार में भी कॉलेजों को स्थापित करने की आवश्यकता है।[24] उसके ही प्रयास से बिहार में उच्च शिक्षा के इतिहास में 9 जनवरी 1863 में 'पटना कॉलेज' की स्थापना इस क्षेत्र में एक ऐतिहासिक मोड़ था। एक सरकारी निर्णय के आधार पर पटना के कॉलेजिएट स्कूल को 9 जनवरी 1863 को महाविद्यालय बना दिया गया। शीघ्र ही यह कॉलेज बिहार में अंग्रेजी शिक्षा का मुख्य केंद्र बन गया। इस महाविद्यालय में 1865-66 से स्नातक की कक्षाएं शुरू हुई जिसकी परीक्षा पहली बार 1868 में हुई। यद्यपि बीसवीं सदी के प्रारंभ में इस महाविद्यालय में पढ़ने वाले छात्रों की संख्या 200 से अधिक हो गयी थी, किन्तु अभी भी कलकत्ता के प्रेसीडेंसी कॉलेज की तुलना में यह संख्या आधी ही थी।

लेकिन इस कॉलेज के खुलने से इसका लाभ बिहार के छात्राओं को नहीं मिल पाया। कॉलेज में अधिक से अधिक बंगाली छात्रों ने ही दाखिला लिया। बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर

जार्ज कैम्पबेल ने इस बात पर आपत्ति व्यक्त की। 1872 ई॰ में उसने प्रस्ताव रखा कि इस कॉलेज में स्नातक स्तर की पढ़ाई बन्द कर दी जाए। उसने कहा कि 1872 में विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में भाग लेने वाले बिहारी छात्रों में सभी के सभी बंगाली थे। इन बंगालियों में कुछ तो बिहार के वासिन्दा हो गये थे। फिर भी बिहार में कॉलेज की स्थापना बंगालियों को शिक्षित करने के लिए नहीं की गयी थी। कैम्पबेल के इस प्रस्ताव का बिहार के कुछ प्रतिष्ठित लोगों ने विरोध किया। इन लोगों में नवाब सोहेराव जंग, राय जयकिशन एवं खुदा बख्श प्रमुख थे।[25]

अपने स्मार-पत्र में इन लोगों ने कहा कि सरकार की प्रस्तावित योजना में बिहार के लोगों में अंग्रेजी शिक्षा के लिए पैदा हो रही भावना को ठेस पहुँचेगी। उसको विश्वास हो जायेगा कि उनके नसीब में सरकारी सेवा के ऊँचे पद नहीं है। निम्न पदों को हासिल करके ही उन्हें संतोष कर लेना पड़ेगा। स्मार-पत्र में सरकार के ऊपर आरोप लगाया गया कि सरकार बिहारी छात्रों को प्रोत्साहित करने में असफल रही है। कहा गया कि पटना कॉलेज से उत्तीर्ण पांच बिहारी स्नातकों में सिर्फ एक को ही कनीय शिक्षक के पद पर बहाल किया गया जबकि कलकत्ता प्रेसीडेंसी एवं कलकत्ता मदरसा से उत्तीर्ण छात्रों को डिप्टी कलेक्टर के पद पर बैठाया गया। पटना कॉलेज में स्नातक स्तर तक की पढ़ाई को जारी रखने की जोरदार वकालत करते हुए हरवंश सहाय ने कहा कि यह बिहार के लोगों के बौद्धिक, नैतिक एवं सामाजिक विकास के लिए आवश्यक है। अंततः सरकार को अपनी प्रस्तावित योजना को वापस लेना पड़ा।[26]

उच्च शिक्षा के विकास के क्षेत्र में उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक में कई अन्य महाविद्यालय खोले गये जिसमें बी. एन. कॉलेज, पटना; टी.एन.जे. कॉलेज, भागलपुर (1889), संत कोलम्बस कॉलेज, हजारीबाग, डी.जे. कॉलेज, मुंगेर (1898) तथा बी.बी. कॉलेज मुजफ्फरपुर (1898) आदि प्रमुख थे।[27]

बंगाल की तुलना में बिहार में प्राथमिक से लेकर उच्च शिक्षा तक की प्रगति संतोषजनक नहीं थी और सरकार के द्वारा अपेक्षित वित्तीय सहयोग भी बिहार को नहीं मिल रहा था। बंगाल प्रांत के 1898-99 की शिक्षा संबंधी सामान्य प्रतिवेदनों में दी गयी जानकारी से स्पष्ट होता है कि बिहार के साथ सरकार सौतेलापन का व्यवहार करती थी। जहाँ बंगाल के 49 जिलों में 39 कॉलेज कार्यरत थे वहाँ बिहार की आबादी बंगाल से ज्यादा होने के बावजूद यहाँ 10 कॉलेज भी नहीं चल रहे थे।

इस प्रकार बिहार से प्राप्त राजस्व का भी व्यय बंगाल में शिक्षा के विस्तार और महाविद्यालयों को चलाने के लिए किया जाता था। स्वाभाविक रूप से बिहार के प्रति सरकार के द्वारा ऐसा सौतेलापन पढ़े-लिखे बिहारियों के बीच बढ़ते असंतोष का कारण बना।[28]

शैक्षणिक क्षेत्र में बिहार में शिक्षा के प्रति सरकारी उदासीनता के पीछे मुख्य रूप से उसका साम्राज्यवादी दृष्टिकोण था जिसके अन्तर्गत साम्राज्यवादी हितों के अन्तर्गत ही शिक्षा का विकास और विस्तार किया जाता था। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में अंग्रेजी सरकार के खिलाफ व्याप्त असंतोष के कारण हुए विद्रोहों के परिणामस्वरूप इस दौर में सरकार ने बराबर बिहार की अपेक्षा बंगाल को ज्यादा महत्व दिया। चाहे आधुनिक विद्यालय तथा महाविद्यालय खोलने का मामला हो या देशी शिक्षा या तकनीकी शिक्षा की प्रगति का प्रश्न हो, उन सभी क्षेत्रों में बिहार बंगाल की तुलना में काफी पिछड़ गया।[29]

निःसन्देह बिहार के प्रबुद्ध मुसलमानों एवं हिन्दुओं ने धीरे-धीरे पाश्चात्य वैज्ञानिक शिक्षा को अपनाये जाने पर जोर दिया। इसके चलते सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना का जन्म हुआ और पृथक बिहार प्रान्त के निर्माण के आन्दोलन का सूत्रपात हुआ जिसकी अगुआई सच्चिदानन्द सिन्हा ने किया।

शोधार्थी, इतिहास विभाग
श्री कृष्णा विश्वविद्यालय
छतरपुर, मध्य प्रदेश

सन्दर्भ सूची

1. शंकर दयाल सिंह : आधुनिक भारत-निर्माताओं में एक : डॉ॰ सच्चिदानन्द सिन्हा, के.के. दत्त सम्पादित- डॉ॰ सच्चिदानन्द सिन्हा जन्म शताब्दी स्मारिका, श्रीमती राधिका सिन्हा इन्स्टीच्यूट एवं सच्चिदानन्द सिन्हा लाइब्रेरी, पटना, 1972, पृ॰-31
2. प्रमोदानन्द दास एवं कुमार अमरेन्द्र : बिहार : इतिहास एवं संस्कृति ल्यूसेंट पब्लिकेशन, पटना, 2008, पृ॰-279
3. रमाशंकर गुप्त (सं.); सूक्तिसागर, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1983, पृ॰-656.

4. शंकर दयाल सिंह; पूर्वोद्धृत, पृ०–31.
5. रामशोभित प्रसाद सिंह; पूर्वोद्धृत, पृ०–19
6. प्रमोदानन्द दास एवं कुमार अमरेन्द्र; पृ०–280.
7. प्रमोदानन्द दास एवं कुमार अमरेन्द्र; पूर्वोद्धृत, पृ०–280.
8. उमानाथ; मेकर ऑफ मॉडर्न बिहार : हिज एक्सेपसनल एटेन्मेंट्स, के.के. दत्त सम्पादित डॉ० सच्चिदानन्द सिन्हा जन्म शताब्दी अंक स्मारिका, पटना, 1972, पृ०–25.
9. प्रमोदानन्द दास एवं कुमार अमरेन्द्र; बिहार : इतिहास एवं संस्कृति, पटना, 2008, पृ०–207.
10. प्रमोदानन्द दास एवं कुमार अमरेन्द्र; पूर्वोद्धृत, पृ०–207.
11. वही, पृ०–207.
12. सर जॉन स्ट्रेची; इंडिया : इट्स एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड प्रोग्रेस, लन्दन, 1888, पृ०–458.
13. एल.एस.एस.ओ. मैली; सेन्सस ऑफ इंडिया, 1911, खण्ड–ट, भाग–1, कलकत्ता, 1913, पृ०–3.
14. वी.सी.पी. चौधरी; पूर्वोद्धृत, पृ०–207.
15. डब्ल्यू.डब्ल्यू. हंटर; ए स्टैटिस्टिकल एकाउन्ट ऑफ बंगाल, खण्ड–XIV, जिला भागलपुर और संताल परगना, लन्दन, 1877, पृ०–181–82.
16. अमिय कुमार बागची; डिइंस्ट्रिअलाइजेशन इन गैन्गेटिक बिहार : 1809–1901, एस्सेज इन ऑनर ऑफ एस.सी. सरकार, नयी दिल्ली, 1976, पृ०–499–522.
17. सी.ई. बकलंड, वही, पृ०–603–04.
18. वही, पृ०–1865–66.
19. पी. साहा; इमीग्रेसर ऑफ इंडियन लेबर (1834–1900), दिल्ली, 1978, पृ०–28–29.
20. नीहारनन्दन सिंह, पूर्वोद्धृत, पृ०–207.
21. आर.आर. दिवाकर; पूर्वोद्धृत, पृ०–714–15.
22. प्रमोदानन्द दास एवं कुमार अमरेन्द्र; पूर्वोद्धृत, पृ०–208.
23. जटाशंकर झा; एजुकेशन इन बिहार, के.के. दत्त सम्पादित, दि कम्प्रीहेंसिव हिस्ट्री ऑफ बिहार, वाल्यूम–2, पार्ट–2, पृ०–404.
24. वही, पृ०–404–414.
25. प्रमोदानन्द दास एवं कुमार अमरेन्द्र; पूर्वोद्धृत, पृ०–208.
26. वही, पृ०–208.
27. वही, पृ०–209.
28. जे.सी. झा; एस्पेक्ट्स ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ पटना कॉलेज, क्यूम अहमद सम्पादित, पटना थ्रू द एजेज, 1988, पटना, पृ०–96–98.
29. द बिहार टाइम्स, 9 मार्च, 1900.

शोध-पत्र

हिंदी साहित्य में व्यंग्य का बदलता स्वरूप

स्वाति चौहान

'व्यंग्य' हिंदी साहित्य के क्षेत्र में एक अद्‌भुत और उल्लेखनीय घटना है। बीसवीं शताब्दी में हिंदी साहित्य में अन्य शैलियों, जीवन दृष्टियों और विधाओं का प्रादुर्भाव और विकास हुआ, जिनमें से व्यंग्य भी एक विशेष प्रकार की शैली और विधा है। साहित्य का संबंध जहां जीवन की व्याख्या से है वहीं व्यंग्य का संबंध जीवन की आलोचना से है। डॉ. एस मंजूनाथ प्रसिद्ध व्यंग्यकार डॉ. परसाई जी के कथन का समर्थन करते हुए लिखते हैं - ''परसाई की दृष्टि में सभी विधाओं में व्यंग्य का अस्तित्व हो सकता है। व्यंग्य लिखने वाला किसी विद्या का अनुसरण नहीं करता तथा व्यंग्य अपने आप में परिपूर्ण है।''[1] आधुनिक हिंदी साहित्य में व्यंग्य अपने बदलते स्वरूप के चलते एक सशक्त विद्या के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुका है।

पूर्व व्यंग्य जहां पदयात्मक छीटों के रूप में मिलता है वहीं आज के समय में व्यंग्य के साथ-साथ गद्य की लगभग सभी विधाओं जैसे उपन्यास, कहानी, नाटक, संस्मरण आदि में प्रतिष्ठित हो चुका है। पिछले कुछ दशकों से बढ़ते संचार माध्यमों के चलते वह अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के चलते व्यंग्य के स्वरूप में भी विस्तार देखने को मिला है यानी बदलते परिवेश में व्यंग्य सोशल मीडिया में अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम बनकर उभर रहा है।

व्यंग्य शब्द की उत्पत्ति संस्कृत से मानी जाती है। 'अंजन' धातु में 'वि' उपसर्ग लगने से व्यंजन शब्द निर्मित हुआ है। पाश्चात्य साहित्य जगत में विशेष कर यूनानी साहित्य में व्यंग्य का तात्पर्य सटायर से है जिसका अर्थ है विचित्रता। सटायर शब्द का अर्थ व्यंग्य है जिसका आशय परनिंदा से लिया जाता है। वर्तमान समय में सटायर शब्द का प्रयोग समाज में छिपी विसंगतियों, विकृतियों और बुराइयों को उजागर करने के लिए किया जाता है। वैसे तो व्यंग्य शब्द का प्रयोग संस्कृत साहित्य से ही चला आ रहा है लेकिन वह प्रयोग आधुनिक व्यंग्य की तरह नहीं बल्कि भारतीय आचार्यों ने व्यंग्य को ध्वनि के अंतर्गत रखा है।

व्यंग्य हमारे जीवन को अधिक स्वस्थ, अधिक सुंदर, अधिक भव्य और अधिक उदात्त बनाने के लिए भ्रष्ट, अमानवीय, कलुषित परंपराओं, कुरीतियों और दिशाहीन धारणाओं पर प्रहार करता है। इसी कथन की पुष्टि के लिए डॉक्टर एस. मंजूनाथ हरिशंकर परसाई जी के कथन का समर्थन करते हैं परसाई जी लिखते हैं कि ''व्यंग्य जीवन से साक्षात्कार करता है। विसंगतियों, मिथ्याचारों और पाखंडों का पर्दाफाश करता है।''

व्यंग्य हास्य से भिन्न है। हास्य का अर्थ हंसी है और हास्य का स्थाई भाव हास है, जिसका उद्देश्य केवल मनोरंजन उत्पन्न करना होता है। व्यंग्य ध्वनि है, व्यंग्य ध्वनित होता है, व्यंजित होता है। जिस प्रकार प्याज की परतों को निकलते जाने पर उसकी चमक में और भी ज्यादा वृद्धि हो जाती है उसी प्रकार व्यंग्य भी जो ऊपर से दिखाई नहीं देता लेकिन उसका प्रभाव मानव हृदय में अंदर तक होता है। हास्य क्षणिक होता है जबकि व्यंग्य चिरस्थाई होता है।

डॉ. एस. मंजूनाथ व्यंग्य में हास्य की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए बर्नार्ड शा द्वारा दी गई परिभाषा का समर्थन करते हैं-''आखिर संसार का निदान उन व्यक्तियों पर आधारित है जो अनिष्ट को विनोद भाव से स्वीकार नहीं करते और

जिनका हास्य मूर्खों को प्रोत्साहित करने की अपेक्षा उन्हें नष्ट कर देगा।''

व्यंग्य के कुछ अनिवार्य तत्व होते हैं जैसे- यथार्थता, संवेदनशीलता, गंभीरता, बौद्धिकता, विकसित भाषा, संकेतिकता, तटस्थता एवं निष्पक्षता। व्यंग्य के स्वरूप में परिवर्तन को जानने के लिए हमें इसकी शुरुआत से लेकर वर्तमान समय तक हुए परिवर्तनों व उनके कारणों पर गौर करना होगा क्योंकि यह बात तो स्पष्ट है कि किसी भी विधा में परिवर्तन के कारण आवश्यक होते हैं। वे कारण राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक या कुछ अन्य भी हो सकते हैं। अत: इस लेख के माध्यम से हम व्यंग्य के पीढ़ी दर पीढ़ी बदलते स्वरूप व उसके बदलाव हेतु उत्तरदायी कारकों पर चर्चा करेंगे।

यदि हम प्रामाणिक रूप से देखें तो व्यंग्य की शुरुआत भक्तिकालीन साहित्य से देखने को मिलती है लेकिन तब वह अपने एक सीमित स्वरूप में ही था। हिंदी के संत और सिद्ध साहित्य में पंडितों, महिलाओं तथा पौराणिक धर्मावलंबियों पर किया गया असरदार व्यंग्य मिलता है। इनमें संत कबीर व्यंग्य के बादशाह कहलाते हैं। हिंदी व्यंग्य के अंतर्गत कबीर को व्यंग्य के प्रणेता के रूप में भी जाना जाता है जिन्होंने अपनी प्रखर वाणी के द्वारा आम जनता के समर्थन में पंडितों- मुल्लाओं आदि को फटकार लगाई। कबीर दास के द्वारा रचित व्यंग्य के स्वरूप की बात करें तो वह उपदेशात्मक मात्र ही था। लेकिन उन्होंने इस उपदेशात्मक व्यंग्य के द्वारा ही समाज की लगभग सभी कुरीतियों पर प्रहार किया। शरीर त्यागने की काशी रीति पर व्यंग्य करते हुए कबीर दास जी लिखते हैं कि- ''जो काशी तन तेज कबीरा, तो राम ही कहा निहोरा रे।''[2]

पन्द्रहवीं शती में भारत में इस्लाम अपना वर्चस्व स्थापित कर रहा था। हिंदू जनता अपने धर्म के बचाव में हर सम्भव उपाय के लिए तत्पर थीं। परिणाम स्वरूप धार्मिक भेदभाव जोरों से अपनी जड़ें जमा रहा था। इन परिस्थितियों के चलते कबीर ने अपने व्यंग्यात्मक उपदेशों के द्वारा लोगों को जागरुक करने का प्रयास किया। उपहास और मजाक के स्तर से व्यंग्य को उठाकर कबीर ने जहां अपने प्रहारक एवं सुधारक चरित्र को स्पष्ट किया वहीं दूसरी ओर मूर्ति पूजा, सामाजिक आडंबर, भ्रष्टाचार एवं उच्च नीच की भावनाओं पर भी प्रहार किया। उन्होंने धर्म और जाति के भेद को ना करते हुए वर्णाश्रम व्यवस्था पर आक्रमण किया है- ''जोतो बामन बामणी जाया, इन बाप तो का है न आया।''[3]

भक्ति काल में सगुण भक्ति धारा को प्रवाहित करने वाली कवियित्री मीराबाई के प्रसंग में भी सशक्त व्यंग्यात्मक युक्तियों का प्रयोग देखने को मिलता है। उनकी रचनाओं में राजसत्ता, राणा के प्रति राजश्री वैभव, रूढ़ियों-पाखंडों तथा सामाजिक आचरणों पर व्यंग्य के माध्यम से प्रहार देखने को मिलता है। कबीर दास की युक्त में व्यंग्यात्मक प्रवृत्ति कूट-कूट कर भरी थी। इसी संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कथन है कि ''यद्यपि वह पढ़े-लिखे ना थे पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी जिससे उनके मुंह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य चमत्कारपूर्ण बातें निकलती थीं। कबीर दास में व्यंग्यात्मक प्रवृत्ति कूट-कूट कर भरी थी।''[4]

सूरदास भक्ति काल की सगुण भक्ति काव्य धारा के कवि थे तथा उनकी व्यंग्यात्मक उक्तियों को तो हम सगुण भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए पाते हैं। उन्होंने निर्गुण भक्ति पर अप्रत्यक्ष व्यंग्य ही किया है। सूरदास की गोपियों ने जहां उद्धव के ज्ञान गरिमा की खिल्ली उड़ाई वहां वचन वैदग्ध आघात द्वारा व्यंग्य किया है -

''उधो ! जान्यो ज्ञान तिहारो ।
जाने कहा राजगति - लीला अंत अहीर बिचारो
हम सबैं अयानी, एक सयानी कुब्जा सों मन मान्यो।''[5]

रीतिकाल में व्यंग्य न के बराबर देखने को मिलता है क्योंकि रीतिकालीन रचनाकार भक्तिकालीन रचनाकारों की तरह स्वतंत्र नहीं थे। जहां एक ओर भक्तिकालीन रचनाकार स्वांत सुखाय के लिए रचना करते थे वहीं दूसरी ओर रीतिकालीन साहित्यकारों को अपने आश्रयदाता पर निर्भर होकर साहित्य साधना करने की अनिवार्यता थी। रीतिकालीन रचनाओं को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उनके रचनाकारों ने अपने साहित्य में समाज को अनदेखा किया है और ज्यादा से ज्यादा नारी सौंदर्य पर अपना ध्यान लगाया है। इसका कारण चाहे जो भी हो मगर एक बात सत्य है कि इस समय के साहित्य को समाज का उद्धार करने वाला साहित्य नहीं मान सकते फिर भी इस समय को व्यंग्य की दृष्टि से बिल्कुल शून्य नहीं कह सकते क्योंकि बिहारी और केशव ने अपनी रचनाओं में व्यंग्य का सहारा बहुत छोटे स्तर पर ही सही पर लिया आवश्यक है।

अब अब यदि हम आधुनिक हिंदी साहित्य में व्यंग्य के स्वरूप पर चर्चा करें तो हम देखते हैं कि आधुनिक साहित्य में

हिंदी में हास्य-व्यंग्य की अविरल धारा भारतेंदु युग से प्रवाहित मानी जाती है। भारतेंदु युग के रचनाकारों ने बदलते सामाजिक परिदृश्य के चलते अपनी रचनाओं में जागृति हेतु व्यंग्य के माध्यम से लेखनी चलाई और तब से लेकर वर्तमान समय तक हम हिंदी साहित्य में व्यंम्प की अविरल धारा को देख सकते हैं फिर चाहे वह गद्यात्मक रूप में हो या पदयात्मक।

भारतेंदु का व्यंग्य साहित्य तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों की दैनिक स्थिति तथा ब्रह्म समाज जैसे सुधारवादी आंदोलन और विदेशी शिक्षा पद्धति से संबंधित हो रहे पश्चिमी संपर्क का परिणाम था। भारतेंदु युग की व्यंग्यात्मक विशेषताओं पर जिक्र करते हुए डॉक्टर नगेंद्र ने कहा है-''भारतेंदु युग में हास्य व्यंग्य कविताओं की प्रचुर मात्रा में रचनाएं हुईं। पश्चिमी सभ्यता, विदेशी शासन, सामाजिक अंधविश्वासों-रुढ़ियों आदि पर व्यंग्य करने के लिए साहित्यकारों ने विषय और शैली की दृष्टि से अनेक नए प्रयोग किये इस दिशा में भारतेंदु हरिश्चंद्र के योगदान सर्वाधिक हैं उन्होंने अपने नाटकों के प्रयोग में कहीं-कहीं श्रेष्ठ हास्य को स्थान देने के अतिरिक्त व्यंग्य गीतों और मुकरियों की भी रचना की।''[6]

इस युग के साहित्यकारों ने गद्य और पद्य विधाओं में व्यंग्य किया लेकिन निबंध इनकी प्रिया विद्या थी। इस समय के लगभग सभी लेखकों ने निबंध के माध्यम से अपने समाज के दोशों को उजागर किया तथा सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और शैक्षिक विसंगतियों पर व्यंग्य के माध्यम से प्रहार किया। तत्कालीन परिस्थितियों में व्यंग्य साहित्य का योगदान जन सामान्य में संचेतना तथा जन जागृति के लिए आवश्यंभावी रहा। एक ओर भारतीय समाज की विसंगतियों पर प्रहार करते हुए भारतेंदु हरिश्चंद्र लिखते हैं-''छलियन के एका के आगे लाख कही एकडु नहीं लगे॥''

तो वहीं दूसरी ओर वह अंग्रेजी शासन व्यवस्था पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं-

''अंधाधुंध मच्यौ सब देसा। मानहुं राजा रहत बिदेसा॥''[7]

हिंदी साहित्य में बीसवीं सदी के आरंभिक दो दशकों के कालखंड को द्विवेदी युग के नाम से जाना जाता है वहीं व्यंग्य के इतिहास में डॉक्टर सुभाष चंदर इस युग को बेढब बनारसी युग की संज्ञा देते हैं क्योंकि बनारसी जी ने भारतेंदु युग में प्रारंभ की हुई व्यंग्य की धारा को आगे बढ़ाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

बालमुकुंद गुप्त द्विवेदी युग के प्रमुख व्यंग्यकार हैं जिन्होंने 'शिव शंभू के चिट्ठे' नामक निबंध के माध्यम से अंग्रेजी शासन पर तीक्ष्ण व्यंग्य किया है। इस युग के अन्य प्रमुख व्यंग्यकार हैं सरदार पूर्ण सिंह, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बाबू गुलाब राय आदि। स्वातंत्र्योत्तर या कहें कि साठोत्तर युग के व्यंग्य के स्वरूप में प्रमुख परिवर्तन देखने को मिलते हैं क्योंकि जहां पूर्व समय में व्यंग्य हास्य के कंधे पर रखकर चलाया जाता था वहीं अब वह एक स्वतंत्र विद्या की ओर अग्रसर होने लगा है अब उसमें पूर्व की अपेक्षा चोटिलपन अधिक आने लगा और कुछ कुछ करुणात्मक स्वर भी शामिल होने लगे। यदि इन परिवर्तनों के कारणों पर बात करें तो हम देखते हैं कि आजादी के बाद भी आम जनता की शिकायतें ज्यों की त्यों बनी रहीं। अब शोषकों का स्थान किसी और ने ले लिया परंतु शोषितों की दयनीय स्थिति वही बनी रही जो पूर्व समय में थी। आजाद भारत के बाद आम जनता की स्थिति के साथ बहुत बड़ा विश्वासघात साबित हुआ। भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता व्यंग्य को और अधिक पुष्ट और सशक्त बनाने में प्रमुख भूमिका निभाता है जो की पूर्व समय में रचनाकारों के पास नहीं था अत: यह एक अन्य प्रमुख कारण व्यंग्य को सशक्त और धार दार बनाने के लिए सामने आया।

साठोत्तर युग में व्यंग्य का स्वरूप एक स्वतंत्र विद्या के रूप में परिवर्तित होने लगा। इस काल में लेखन, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध तथा पत्रकारिता के क्षेत्र में भी व्यंग्य विद्या को प्रभावशाली मंच मिला। सुभाष चंद्र अपनी पुस्तक -हिंदी व्यंग्य का इतिहास में सन 1947-1990 के बीच समय को व्यंग्य की दृष्टि से स्वर्ण काल (परसाई युग) की संज्ञा देते हैं और लिखते हैं कि ''सच तो यह है कि स्वातंत्र्योत्तर काल व्यंग्य के लिए सर्वाधिक उपजाऊ सिद्ध हुआ। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में विसंगतियां उभरकर आईं। सजग रचनाकार को अपनी पैनी दृष्टि से इनका चुनाव करना था और अपनी भाषा और शैलीय उपकरणों की सहायता से इन पर प्रहारात्मक रुख अपनाते हुए पाठकों को परोस देना था।''[8]

हिंदी साहित्य में विशेषकर हिंदी गद्य साहित्य में सन् 1980 के दशक में व्यंग्य ने अपनी पूर्ण यौवनावस्था को प्राप्त कर लिया क्योंकि यही वह समय था जब लेखकों ने सामाजिक विसंगतियों को तेजी से पनपते महसूस किया और उन

विसंगतियां व विकृतियों को उजागर करने के लिए व्यंग्य को ही सर्वश्रेष्ठ माध्यम समझा क्योंकि किसी भी विसंगति को सीधे सपाट कहना व सुनना आसान नहीं हो सकता। इस दशक में पूर्व समय की अपेक्षा संचार माध्यमों का प्रचार व प्रसार भी प्रगति कर रहा था तथा अब तक सर्व सामान्य की पहुंच भले ही उन माध्यमों तक कम हो लेकिन एक बड़ा पाठक वर्ग इन संचार माध्यमों की ओर पूर्ण रूप से आकर्षित था। हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, रवींद्रनाथ त्यागी, सुदर्शन मजीठिया आदि प्रमुख व्यंगकारों ने अपने व्यंग्य लेखों व रचनाओं के माध्यम से जागृति का भरसक प्रयास किया। इस समय तक व्यंग्य विभिन्न विधाओं में विभाजित हो गया जैसे व्यंग्य निबंध व्यंग्य तथा व्यंग्य नाटक, व्यंग्य उपन्यास आदि। इस समय में हम पाते हैं कि व्यंग्य विधाओं का क्षेत्र तीव्रता से बढ़ रहा था उसके दो प्रमुख कारण हैं एक तो लेखकों का सामाजिक विसंगतियों की ओर पूर्व की अपेक्षा अधिक ध्यान और दूसरा प्रमुख कारण व्यंग्य विषयों की अधिकता। यह विद्या ही ऐसी है कि समकालीन विसंगतियों पर दृष्टि डालें और यह देखने को मिला भी कि 70 के बाद के दशक में ऐसी विसंगतियों की बाढ़ सी आई गई और लेखकों को भी व्यंग्य विषय आसानी से प्राप्त होते गये।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम साठोत्तर युग के व्यंग्यकारों एवं उनकी व्यंग्यात्मक रचनाओं को पीढ़ी दर पीढ़ी विभाजित करके उनकी विशेषताओं पर गौर कर सकते हैं क्योंकि अब से व्यंग्य एक विशाल सामग्री के साथ सशक्त विद्या के रूप में सामने आता है।

साठोत्तरी युग के प्रथम पीढ़ी के कुछ प्रसिद्ध व्यंग्यकारों की चर्चा यहां संक्षिप्त रूप में की जा रही है - हिंदी व्यंग्य के श्लाका पुरुष हरिशंकर परसाई की व्यंग्य रचनाओं में कल्पना, इतिहास, पुराण और आधुनिक परिवेश के साथ-साथ लोककथा रूपक का एक अद्‌भुत सामंजस्य है। उनकी एक प्रसिद्ध रचना भोलाराम का जीव भारत की प्रशासनिक व्यवस्था और गरीबी पर एक करारा व्यंग्य है जिसमें वह एक गरीब व्यक्ति के माध्यम से लिखते हैं कि ''क्या बताऊं ? गरीबों की बीमारी थी पांच साल हो गए पेंशन पर बैठे-बैठे और पेंशन अभी तक नहीं मिली हर पंद्रह दिन में एक दरख्वास्त देते थे और वहां से या तो जवाब आता ही नहीं था और आता था तो यही कि तुम्हारी पेंशन के मामले पर विचार हो रहा है।''[9]

रविंद्र नाथ त्यागी इस पीडीसी आत्म चिंतन करने वाले प्रमुख व्यंग्यकार हैं। उन्होंने अपनी रचना 'सरकारी काम न करने के फायदे' में कुछ इस प्रकार व्यंग्यात्मक टिप्पणी की है- ''काम न करने का सबसे स्थूल और स्वयंसिद्ध कायदा यह है कि फाइल देखी ही नहीं, दफ्तर जाईये, वुड हाउस पढ़ो, दोस्तों को फोन कीजिए और बाकी वक्त में सोईये।''[10]

हिंदी साहित्य में व्यंग्य का प्रभावकारी स्वरूप हमें शरद जोशी की रचनाओं में देखने को मिलता है। जोशी जी ने लेखक के जीवन की शुरुआत तो पत्रकारिता से की थी लेकिन व्यंग्य को सशक्त विद्या के रूप में प्रतिष्ठित भी किया। शरद जोशी जी के व्यंग्य का स्वरूप अधिकतर राजनीतिक ही है।

हिंदी के प्रसिद्ध व्यंग्यकार श्री लाल शुक्ल की साहित्य की यात्रा स्वर्ण ग्राम और वर्षा (1954) से शुरू हुई। स्वतंत्रता के बाद भारत के ग्रामीण जीवन की मूल्यहीनता को परत दर परत उभरने वाले श्री लाल शुक्ल हमारी सुन पड़ी संवेदनाओं को जगाने के लिए जीवन, समाज, राजनीति, अर्थनीति आदि सब में बेहिचक यहां से वहां आते जाते रहे। साठोत्तर युग की दूसरी पीढ़ी के व्यंग्यकारों में शंकर पुणतांबेकर, नरेंद्र कोहली, अशोक शुक्ल, अजातशत्रु आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। शंकर पुणतांबेकर के व्यंग्य की खास बात यह है कि वह अपने रोजमर्रा के जीवन के अनेक प्रसंगों, घटनाओं, व्यवहार को लक्ष्य करके ध्वस्तु मूल्य की रक्षा के लिए व्यंग्य करते हैं ।

तीसरी पीढ़ी के प्रमुख व्यंग्यकारों के नाम हैं-हरीश नवल, ज्ञान चतुर्वेदी, प्रेम जन्मेजा ए सुरेश कांत आदि। इन सभी ने अपनी लेखनी के माध्यम से आधुनिक भारतीय समाज की अलग-अलग विसंगतियों पर व्यंग्य किए हैं एवं इनके व्यंग्यों के माध्यम से हमें समाज की बदलती परिस्थितियों तथा विसंगतियों के बारे में पता चलता है।

चौथी पीढ़ी के उल्लेखनीय व्यंग्यकार हैं—दामोदर दत्त दीक्षित व्यास, अश्विनी कुंदवे, गिरीश पंकज एवं अन्य। अत्यधिक समय में बैंक के स्वरूप पर चर्चा करें तो हम देखते हैं कि पूर्व समय से विकसित होते-होते अब तक यह अपनी प्रौणावस्था को प्राप्त कर चुका है जिसके कई कारण हो सकते हैं तकनीकी व संचार साधनों का विस्तार इसके प्रमुख कारणों में से एक है वहीं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता इसका दूसरा प्रमुख कारण है सोशल मीडिया का तीव्र विस्तार इसका तीसरा मुख्य कारण है साथ ही अन्य भी बहुत से कारण है जो कि व्यंग्य को और अधिक सशक्त और धारदार बनाने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

जहां प्राचीन समय में व्यंग्य का स्वरूप अन्य विधाओं में समाहित था जैसे-व्यंग्यात्मक कविता, व्यंगात्मक निबंध, व्यंग्यात्मक कहानी आदि लेकिन वर्तमान समय में व्यंग्य एक स्वतंत्र रूप प्राप्त कर चुका है। आजकल समाचार पत्रों में एक कार्टून चित्र द्वारा समसामयिक प्रस्तुतियों पर जो व्यंग्य प्रस्तुत किया जाता है वह एक अलग ही स्वरूप धारण किए हैं क्योंकि हम देखते हैं कि एक छोटे से चित्र के माध्यम से एक व्यंग्यकार किस प्रकार अपनी भावना को प्रकट कर समाज को उसे विकट परिस्थिति का आईना दिखाता है वह भी मजाकिया अंदाज में, जिसकी गहराई की परिकल्पना हमें सामान्य विचारों में देखने को नहीं मिलती। साहित्य सदा ही आम लोगों का हितैषी होने का दावा करता रहा है और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यंग्य एक सशक्त माध्यम है और बदलते सामाजिक परिवेश के चलते व्यंग्य के स्वरूप में निरंतर परिवर्तन देखने को मिला है।

बदलते स्वरूप के चलते व्यंग्यकार को हमेशा कुछ चीजों का ध्यान रखना अति आवश्यक है। व्यंग्य हमेशा उद्देश्य पूर्ण होना चाहिये, उसमें सकारात्मक प्रभाव अवश्य होना चाहिए और साथ ही व्यंग्य हमेशा प्रगतिशील भी होना चाहिए। बढ़ती तकनीकी व संचार माध्यमों के चलते एक व्यंग्य में विस्तृता अवश्य आ जाए लेकिन उसके स्वरूप में कहीं भी भद्दापन ना आने पाये। यही कुछ प्रमुख बातें हमें इसके बदलते स्वरूप के साथ-साथ उसके प्रगतिशील स्वरूप को और उत्कृष्ट बनाने हेतु ध्यान रखना आवश्यक है।

शोधार्थी
हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. हिंदी साहित्य में व्यंग्य विमर्श एवं नरेंद्र कोहली, डॉक्टर एस मंजूनाथ, पृष्ठ संख्या-3
2. कबीर, संपादक हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ संख्या-97
3. कबीर ग्रंथावली, संपादक डॉ. श्याम सुंदर दास
4. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृष्ठ संख्या-81-82
5. भ्रमरगीतसार, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृष्ठ संख्या-97
6. हिंदी साहित्य का इतिहास, संपादक डॉ. नागेंद्र, पृष्ठ संख्या-445
7. अंधेर नगरी, भारतेंदु हरिश्चंद्र, पृष्ठ संख्या-61
8. हिंदी व्यंग्य का इतिहास, डॉ. सुभाष चंदर, पृष्ठ संख्या-156
9. व्यंग्य समय, हरिशंकर परसाई, पृष्ठ संख्या-43
10. व्यंग्य समय, रविंद्र नाथ त्यागी, पृष्ठ संख्या-90

रीतू

भक्ति-दर्शन में ईश्वर-अनुभूति : एक तात्त्विक अध्ययन

सारांश

भारतीय दर्शन की परंपरा में भक्ति-दर्शन एक ऐसा सुदृढ़ तात्त्विक तंत्र है, जिसमें ईश्वर को केवल बौद्धिक विवेचन का विषय न मानकर प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय स्वीकार किया गया है। प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य भक्ति-दर्शन में ईश्वर-अनुभूति की अवधारणा का गहन शास्त्रीय एवं तात्त्विक विश्लेषण करना है। उपनिषद्, भगवद्गीता, नारद-भक्ति-सूत्र, शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र तथा भक्तिकालीन संत परंपरा के आलोक में यह स्पष्ट किया गया है कि भक्ति के माध्यम से ईश्वर-अनुभूति तर्कजन्य ज्ञान से परे जाकर आत्मिक, भावात्मक तथा अनुभूतिपरक स्तर पर घटित होती है। यह अध्ययन प्रतिपादित करता है कि भक्ति-दर्शन में ईश्वर-अनुभूति न केवल मोक्ष-साधना का साधन है, बल्कि मानव जीवन के नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्थान का भी आधार है। भक्ति-दर्शन भारतीय दार्शनिक परम्परा में ईश्वर-अनुभूति को एक जीवंत, भावप्रधान एवं तात्त्विक प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत करता है। इस अध्ययन का उद्देश्य भक्ति-दर्शन में ईश्वर-अनुभूति की प्रकृति, स्वरूप एवं दार्शनिक आधार का विश्लेषण करना है। उपनिषदों में प्रतिपादित निर्गुण ब्रह्म की अवधारणा भक्ति-दर्शन में सगुण-साकार रूप में अनुभूत होकर साधक के हृदय से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करती है। भक्ति-दर्शन ईश्वर को केवल जगत् का कारण नहीं, अपितु भक्तवत्सल, करुणामय एवं सुलभ सत्ता के रूप में स्वीकार करता है। गीता एवं भागवत परम्परा के अनुसार ईश्वर-अनुभूति का साधन अनन्य भक्ति है, न कि मात्र ज्ञान या कर्म। भक्ति-दर्शन सगुण और निर्गुण के द्वैत को नकारते हुए दोनों में समन्वय स्थापित करता है। इस प्रकार भक्ति-दर्शन में ईश्वर-अनुभूति का लक्ष्य बौद्धिक ज्ञान नहीं, बल्कि प्रेमपूर्ण तादात्म्य है, जो साधक को आध्यात्मिक पूर्णता एवं आन्तरिक शान्ति की ओर ले जाता है।

कूटशब्द

भक्ति-दर्शन, ईश्वर-अनुभूति, भक्ति, भारतीय दर्शन, आध्यात्मिक चेतना।

प्रस्तावना

भारतीय दर्शन की मौलिक विशेषता यह है कि वह जीवन की आध्यात्मिक जिज्ञासाओं को केवल तात्त्विक स्तर पर नहीं, बल्कि अनुभव के स्तर पर भी समाधान प्रदान करता है। ईश्वर, आत्मा, ब्रह्म और मोक्ष जैसे तत्त्व भारतीय दार्शनिक चिन्तन के केन्द्रीय विषय रहे हैं। भक्ति-दर्शन इन विषयों को विशुद्ध तर्क या शुष्क बौद्धिकता तक सीमित न रखकर प्रेम, श्रद्धा और समर्पण के माध्यम से अनुभूति-योग्य बनाता है।

भक्ति-दर्शन में ईश्वर-अनुभूति का अभिप्राय केवल ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना नहीं है, अपितु उसे जीवन के प्रत्येक क्षण में अनुभव करना है। यह अनुभूति बौद्धिक ज्ञान से भिन्न, हृदय की आंतरिक चेतना से उद्भूत होती है। प्रस्तुत शोध-पत्र इसी ईश्वर-अनुभूति की तात्त्विक संरचना का विश्लेषण करता है। भक्ति-दर्शन में ईश्वर केवल दार्शनिक तत्त्व या निराकार सत्ता मात्र नहीं है, अपितु वह सजीव, सगुण, साकार, प्रेमशील और भक्तवत्सल सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित है। भक्ति परम्परा ईश्वर को न केवल जगत् का कारण मानती है, बल्कि उसे भक्त के साथ सम्बन्ध स्थापित करने वाला सगुण ब्रह्म स्वीकार करती है। यही कारण है कि भक्ति-दर्शन में ईश्वर का स्वरूप अनुभवप्रधान है, न कि केवल तर्कप्रधान।

उपनिषदों में ब्रह्म का वर्णन मुख्यत: निर्गुण, निराकार और अव्यक्त रूप में हुआ है

''अदृश्यमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणम्''[1]

किन्तु भक्ति-दर्शन उसी ब्रह्म को सगुण स्वरूप में स्वीकार करता है, जिससे भक्त का भावात्मक सम्बन्ध सम्भव हो सके। श्रीमद्भगवद्गीता में ईश्वर स्वयं कहते हैं—

''ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्''[2]

जो यह स्पष्ट करता है कि ईश्वर भक्त की भावना के अनुरूप अपने स्वरूप को प्रकट करता है।

भक्ति-दर्शन में ईश्वर की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है भक्तपराधीनता। श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

''अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज''[3]

जिससे यह सिद्ध होता है कि भक्ति परम्परा में ईश्वर सर्वशक्तिमान होते हुए भी प्रेम के कारण भक्त के अधीन हो जाता है। यह धारणा ज्ञानमार्ग के निरपेक्ष ब्रह्म से भिन्न है, जहाँ ब्रह्म निर्लिप्त और साक्षी रूप में स्थित रहता है।

भक्ति-दर्शन ईश्वर को करुणामय, सुलभ और सर्वग्राही मानता है। गीता में ईश्वर की सुलभता का वर्णन करते हुए कहा गया है—

''पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति''[4]

यहाँ ईश्वर कर्म, जाति या विद्वत्ता से नहीं, बल्कि भक्ति से तुष्ट होने वाला है। अत: भक्ति-दर्शन में ईश्वर सामाजिक और आध्यात्मिक दोनों स्तरों पर समावेशी बन जाता है।

साथ ही भक्ति-दर्शन सगुण और निर्गुण में विरोध नहीं मानता। तुलसीदास के शब्दों में—

''सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा।''[5]

इस प्रकार भक्ति-दर्शन ईश्वर को सगुण-निर्गुण दोनों रूपों में स्वीकार करते हुए एक समन्वयात्मक दर्शन प्रस्तुत करता है, जहाँ प्रेम के माध्यम से निर्गुण सत्य का साक्षात्कार सगुण रूप में संभव होता है।

भक्ति-दर्शन की दार्शनिक अवधारणा

भक्ति-दर्शन की दार्शनिक पृष्ठभूमि वैदिक साहित्य से प्रारम्भ होकर उपनिषदिक तथा सूत्रकालीन परंपरा में विकसित होती है। ऋग्वेद में देवताओं के प्रति श्रद्धा एवं स्तुति के माध्यम से भक्ति का प्रारम्भिक स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। उपनिषद् काल में यह भक्ति अधिक दार्शनिक स्वरूप ग्रहण करती है, जहाँ ब्रह्म और आत्मा की एकता पर बल दिया गया है।

नारद-भक्ति-सूत्र में भक्ति को परमा प्रेमरूपा कहा गया है।[6] यह प्रेम साधारण भाव नहीं, बल्कि ईश्वर-अनुभूति का दार्शनिक आधार है। भक्ति-दर्शन के अनुसार ईश्वर कोई बाह्य सत्ता नहीं, बल्कि भक्त की चेतना में प्रत्यक्ष रूप से अनुभूत होने वाला तत्त्व है।

भक्ति-दर्शन भारतीय दर्शन-परम्परा की वह विशिष्ट धारा है जिसमें ईश्वर को केवल तात्त्विक सिद्धान्त के रूप में नहीं, बल्कि प्रेम, अनुभूति और सम्बन्ध की सजीव सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। भक्ति-दर्शन का मूल आधार यह मान्यता है कि परम तत्त्व की प्राप्ति केवल बौद्धिक ज्ञान या कर्मकाण्ड से नहीं, बल्कि हृदयगत प्रेम, समर्पण और अनन्य भक्ति से सम्भव है।

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति।[7]

दार्शनिक दृष्टि से भक्ति-दर्शन ईश्वर को सगुण-साकार रूप में स्वीकार करता है, परन्तु वह उसे निर्गुण ब्रह्म से पृथक नहीं मानता। उपनिषदों में प्रतिपादित निर्गुण ब्रह्म का सगुण रूप में प्राकट्य भक्ति-दर्शन की केन्द्रीय अवधारणा है। इस प्रकार भक्ति-दर्शन द्वैत और अद्वैत के बीच सेतु का कार्य करता है।

भक्ति-दर्शन में ईश्वर की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक विशेषता है भक्तपराधीनता। श्रीमद्भागवत के अनुसार ईश्वर सर्वशक्तिमान होते हुए भी भक्त के प्रेम से बँध जाता है। यह धारणा ईश्वर को निरपेक्ष और निष्क्रिय सत्ता के स्थान पर करुणामय और सहभागी सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित करती है। गीता का वचन—''ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्''[8] ईश्वर और भक्त के पारस्परिक सम्बन्ध को दार्शनिक आधार प्रदान करता है।

भक्ति-दर्शन की एक अन्य दार्शनिक अवधारणा है अनन्य भक्ति। गीता में स्पष्ट किया गया है कि ईश्वर का तत्त्वस्वरूप केवल अनन्य भक्ति द्वारा ही जाना जा सकता है एवं कहा भी है-

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना: पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥[9]

इससे यह सिद्ध होता है कि भक्ति-दर्शन में ईश्वर-साक्षात्कार साधक की आन्तरिक शुद्धता और भावात्मक एकाग्रता पर आधारित है।

अन्तत: भक्ति-दर्शन की दार्शनिक अवधारणा यह प्रतिपादित करती है कि मोक्ष या ईश्वर-अनुभूति का लक्ष्य

केवल ज्ञान नहीं, बल्कि प्रेमपूर्ण तादात्म्य है। इस प्रकार भक्ति-दर्शन भारतीय दर्शन को मानवीय, संवेदनशील और अनुभव-प्रधान आयाम प्रदान करता है।

उपनिषद् में ईश्वर-अनुभूति

उपनिषद् भारतीय दर्शन के दार्शनिक शिखर माने जाते हैं। इनमें ईश्वर को ब्रह्म के रूप में निरूपित किया गया है, जो सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है।

''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म''[10]

उपनिषदिक ईश्वर-अनुभूति आत्मानुभूति से अविभाज्य है। ''तत्त्वमसि'' जैसे महावाक्य यह प्रतिपादित करते हैं कि आत्मा और ईश्वर में तात्त्विक अभेद है। भक्ति-दर्शन इस अभेद को केवल बौद्धिक सत्य न मानकर प्रेम और श्रद्धा के माध्यम से प्रत्यक्ष अनुभूति में रूपांतरित करता है।

उपनिषद् भारतीय दर्शन में ईश्वर-अनुभूति को तात्त्विक चिन्तन के सर्वोच्च शिखर पर प्रतिष्ठित करते हैं। यहाँ ईश्वर को किसी बाह्य सत्ता के रूप में नहीं, अपितु आत्मतत्त्व के रूप में प्रत्यक्ष अनुभूत सत्य माना गया है। उपनिषदिक दृष्टि में ईश्वर-अनुभूति का मूल आधार यह बोध है कि आत्मा और ब्रह्म एक ही तत्त्व हैं—''अहं ब्रह्मास्मि''[11] तथा ''तत्त्वमसि''[12] जैसे महावाक्य इसी अनुभूति का उद्घोष करते हैं।

उपनिषद् ईश्वर को मुख्यतः निर्गुण, निराकार, अव्यक्त और अचिन्त्य स्वरूप में निरूपित करते हैं। जिससे यह स्पष्ट होता है कि ईश्वर-अनुभूति इन्द्रियबोध या तर्क से नहीं, बल्कि आत्मसाक्षात्कार से सम्भव है। यह अनुभूति बाह्य साधनों से नहीं, बल्कि अन्तर्मुखी साधना द्वारा प्राप्त होती है।

उपनिषद् यह भी प्रतिपादित करते हैं कि ईश्वर-अनुभूति के बिना मानव जीवन अपूर्ण है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार—''तमेव विदित्वातिमृत्युमेति''[13] केवल उसी परम तत्त्व के ज्ञान से मृत्यु का अतिक्रमण सम्भव है। यहाँ ईश्वर-अनुभूति को अमृतत्व और मोक्ष का साधन माना गया है।

यद्यपि उपनिषद् ईश्वर को निर्गुण रूप में प्रस्तुत करते हैं, तथापि वे अनुभव का निषेध नहीं करते। ईश्वर-अनुभूति को वे प्रत्यक्षानुभव (अपरोक्षानुभूति) के रूप में स्वीकार करते हैं जहाँ साधक स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है। इस प्रकार उपनिषद् में ईश्वर-अनुभूति तात्त्विक ज्ञान और आध्यात्मिक अनुभूति का अभिन्न समन्वय है।

उपनिषद् में ईश्वर-अनुभूति का अर्थ ईश्वर को जानना नहीं, बल्कि ईश्वर हो जाना है। यही उपनिषदिक दर्शन की सर्वोच्च उपलब्धि है।

भगवद्गीता में ईश्वर-अनुभूति और भक्ति-योग

भगवद्गीता में भक्ति-योग को ईश्वर-अनुभूति का सर्वाधिक सुगम मार्ग माना गया है।[14] श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं कि अनन्य भक्ति के माध्यम से साधक ईश्वर को जानता ही नहीं, बल्कि उसका साक्षात्कार भी करता है।

गीता में ईश्वर का स्वरूप सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में स्वीकार किया गया है। भक्ति-योग के माध्यम से साधक सगुण ईश्वर से संबंध स्थापित करता है और क्रमशः निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति की ओर अग्रसर होता है। इस प्रकार गीता भक्ति को ईश्वर-अनुभूति का समन्वयात्मक साधन सिद्ध करती है।

भगवद्गीता भारतीय दार्शनिक परम्परा में ईश्वर-अनुभूति को भक्ति-योग के माध्यम से सुलभ, सर्वग्राही और अनुभवप्रधान बनाती है। गीता का केंद्रीय प्रतिपाद्य यह है कि ईश्वर का तत्त्वस्वरूप केवल बौद्धिक ज्ञान या कर्मकाण्ड से नहीं, बल्कि अनन्य भक्ति से प्रत्यक्ष अनुभूत होता है। इस दृष्टि से गीता उपनिषदिक निर्गुण ब्रह्म की तात्त्विक परम्परा को लोकजीवन-संगत बनाती है।

गीता में ईश्वर स्वयं को सगुण-साकार रूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

''अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥''[15]

ईश्वर-अनुभूति साधक की आन्तरिक भावना और समर्पण के अनुरूप घटित होती है। गीता के अनुसार देहधारी जीवों के लिए अव्यक्त ब्रह्म की उपासना कठिन है ''क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्''[16] अतः भक्ति-योग ईश्वर-अनुभूति का अधिक सुगम मार्ग है।

भक्ति-योग का शिखर अनन्य भक्ति में है, जहाँ साधक समस्त विकल्पों का परित्याग कर ईश्वर में एकाग्र हो जाता है। गीता में कहा गया है—''भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन''[17] जिससे यह स्पष्ट होता है कि ईश्वर का साक्षात्कार केवल भक्ति-प्रधान चेतना से ही सम्भव है। यहाँ ईश्वर-अनुभूति केवल दर्शन नहीं, बल्कि तादात्म्य का रूप ग्रहण करती है।

साथ ही, गीता ईश्वर को भक्तवत्सल और सुलभ बताती है। यह श्लोक दर्शाता है कि भक्ति-योग सामाजिक-आध्यात्मिक समानता को प्रतिष्ठित करता है और ईश्वर-अनुभूति को सर्वसाधारण के लिए उपलब्ध बनाता है।

निष्कर्षत: भगवद्गीता में ईश्वर-अनुभूति भक्ति-योग के माध्यम से ज्ञान, कर्म और प्रेम का समन्वय बन जाती है। भक्ति-योग न केवल ईश्वर-साक्षात्कार का साधन है, बल्कि साधक के सम्पूर्ण जीवन का आध्यात्मिक रूपान्तरण भी है।

भक्ति-सूत्रों में ईश्वर-अनुभूति

नारद-भक्ति-सूत्र के अनुसार ईश्वर-अनुभूति भक्ति की पराकाष्ठा है। जब भक्त का चित्त पूर्णत: ईश्वर में लीन हो जाता है, तब द्वैत का अनुभव समाप्त हो जाता है। शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र में भी भक्ति को साधन और साध्य दोनों के रूप में स्वीकार किया गया है। यहाँ ईश्वर-अनुभूति भक्ति का अंतिम फल है, परन्तु वही भक्ति की निरंतर प्रक्रिया को भी पुष्ट करती है।

भक्ति-सूत्र, विशेषत: नारद भक्ति-सूत्र, ईश्वर-अनुभूति को दार्शनिक तत्त्वज्ञान से आगे बढ़ाकर हृदयगत प्रेम की पराकाष्ठा के रूप में प्रस्तुत करते हैं। भक्ति-सूत्रों में ईश्वर कोई दूरस्थ, निरपेक्ष सत्ता नहीं, बल्कि प्रेम में प्रत्यक्ष अनुभूत होने वाला परम तत्त्व है। इस परम्परा में ईश्वर-अनुभूति का स्वरूप अनुभवात्मक (experiential) है, न कि मात्र सैद्धान्तिक।

नारद भक्ति-सूत्र के अनुसार भक्ति परमप्रेमरूपा है—

''सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा''[18]

यह परमप्रेम ही ईश्वर-अनुभूति का साधन और साध्य दोनों है। जब साधक का चित्त पूर्णत: ईश्वर में तल्लीन हो जाता है, तब ईश्वर-अनुभूति स्वत: प्रकट होती है। यहाँ अनुभूति किसी विशेष ध्यानावस्था का परिणाम नहीं, बल्कि भावात्मक तादात्म्य है।

भक्ति-सूत्रों में ईश्वर-अनुभूति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है अनन्यता। नारद कहते हैं—

''तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्''[19]

अर्थात् ईश्वर-अनुभूति में भक्त और भगवान् के बीच का भेद लुप्त हो जाता है। यह स्थिति अद्वैतात्मक होते हुए भी प्रेमप्रधान है, जहाँ साधक ब्रह्म में विलीन न होकर भगवत्-भाव में स्थित रहता है।

भक्ति-सूत्र कर्म, ज्ञान और योग को ईश्वर-अनुभूति के सहायक साधन मानते हैं-लोकवेदोक्ताचारानुष्ठानं तदनुकूलानि च।[20]

किन्तु उन्हें प्रधान नहीं ठहराते। नारद के अनुसार—ईश्वर-अनुभूति का वास्तविक मार्ग अहंकार-त्याग, वैराग्य और अनन्य प्रेम है। इसीलिए भक्ति-सूत्रों में ईश्वर-अनुभूति को सुलभ, सर्वग्राही और जीवनोपयोगी बताया गया है।

भक्ति-सूत्रों में ईश्वर-अनुभूति कोई दार्शनिक निष्कर्ष नहीं, बल्कि जीवन का रूपान्तरण करने वाला प्रेमानुभव है। यह अनुभूति साधक को आनन्द, शान्ति और आत्मिक पूर्णता की अवस्था में प्रतिष्ठित करती है।

भक्तिकालीन परंपरा में ईश्वर-अनुभूति

भक्तिकालीन संतों ने ईश्वर-अनुभूति को दार्शनिक जटिलताओं से मुक्त कर लोकभाषा और भावात्मक अभिव्यक्ति में प्रस्तुत किया। कबीर, तुलसीदास, सूरदास और मीरा के लिए ईश्वर कोई सैद्धान्तिक तत्त्व नहीं, बल्कि जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव था। इन संतों की वाणी में ईश्वर-अनुभूति भावात्मक सघनता के साथ प्रकट होती है।

भक्तिकालीन परम्परा भारतीय आध्यात्मिक इतिहास में ईश्वर-अनुभूति को शास्त्रीय सीमा से बाहर लाकर लोकजीवन के केन्द्र में प्रतिष्ठित करती है। इस काल में ईश्वर न तो केवल दार्शनिक तत्त्व रहा और न ही दूरस्थ उपास्य सत्ता, अपितु भक्त के हृदय में साक्षात् अनुभूत प्रेमस्वरूप बन गया। भक्तिकालीन संतों ने ईश्वर-अनुभूति को सामाजिक, भाषिक और भावात्मक स्तर पर सार्वभौमिक बनाया।

निर्गुण भक्ति-परम्परा में कबीर, रैदास और दादू जैसे संतों ने ईश्वर को निराकार, निर्लिप्त और सर्वव्यापक माना। उनके लिए ईश्वर-अनुभूति बाह्य कर्मकाण्ड, जाति और सम्प्रदाय से परे अन्त:करण की शुद्धता पर आधारित थी। कबीर के अनुसार ईश्वर मंदिर या मस्जिद में नहीं, बल्कि मानव-हृदय में अनुभूत होता है यह अनुभूति आत्मबोध और प्रेम से उत्पन्न होती है।

सगुण भक्ति-परम्परा में तुलसीदास, सूरदास और मीराबाई ने ईश्वर को साकार, सुलभ और भक्तवत्सल रूप में अनुभव किया। यहाँ ईश्वर-अनुभूति लीला, नाम-स्मरण और दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य भावों के माध्यम से व्यक्त होती है। सगुण-निर्गुण समन्वय का सशक्त दार्शनिक प्रतिपादन है।

भक्तिकालीन परम्परा में ईश्वर-अनुभूति की विशेषता है उसकी लोकानुभव-प्रधानता। संत कवियों ने संस्कृत के स्थान पर लोकभाषाओं का प्रयोग कर ईश्वर-अनुभूति को सामान्य जन के जीवन से जोड़ा। इस काल में ईश्वर-अनुभूति केवल मोक्ष का साधन नहीं रही, बल्कि नैतिकता, समानता और सामाजिक समरसता की प्रेरक शक्ति बनी।

भक्तिकालीन परम्परा में ईश्वर-अनुभूति एक जीवंत,

भावप्रधान और समन्वयात्मक प्रक्रिया है, जो दार्शनिक गहराई के साथ मानवीय संवेदना को भी पूर्णता प्रदान करती है।

तात्त्विक विवेचन

दार्शनिक दृष्टि से ईश्वर-अनुभूति वह अवस्था है, जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय का भेद लुप्त हो जाता है। भक्ति-दर्शन में यह अनुभूति अहंकार के क्षय और आत्मसमर्पण से प्राप्त होती है। यहाँ तर्क गौण हो जाता है और अनुभव प्रधान हो जाता है।

तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर-अनुभूति का प्रश्न केवल आस्था या भावना का विषय नहीं है, अपितु सत्ता (Ontology), ज्ञान (Epistemology) और मूल्य (Axiology) तीनों से गहराई से सम्बद्ध है। भारतीय दर्शन में ईश्वर को परम-सत्ता (परब्रह्म) के रूप में स्वीकार किया गया है, जिसकी अनुभूति साधारण इन्द्रियबोध अथवा तर्क से परे मानी गई है। अत: ईश्वर-अनुभूति को अपरोक्षानुभूति कहा गया है।

उपनिषदिक परम्परा में ईश्वर-अनुभूति का तात्त्विक आधार आत्मा ब्रह्म-अभेद है। यहाँ अनुभूति का अर्थ किसी बाह्य सत्ता का दर्शन नहीं, बल्कि अज्ञान के निवारण द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप का बोध है। इस दृष्टि से ईश्वर-अनुभूति ज्ञानात्मक (ज्ञानस्वरूप) है। किन्तु यह ज्ञान बौद्धिक नहीं, प्रत्यभिज्ञानात्मक है, जहाँ साधक यह अनुभव करता है कि वह स्वयं उसी परम तत्त्व का अंश नहीं, बल्कि वही तत्त्व है।

भक्ति-दर्शन एवं भक्तिकालीन परम्परा में यही ईश्वर-अनुभूति प्रेमात्मक और सम्बन्धात्मक रूप धारण कर लेती है। तात्त्विक रूप से यहाँ ईश्वर और जीव का भेद पूर्णत: नष्ट नहीं होता, बल्कि प्रेम के स्तर पर उसका अतिक्रमण होता है। यह स्थिति न तो शुद्ध द्वैत है और न ही शुद्ध अद्वैत, अपितु अद्वैतात्मक सम्बन्ध की अवस्था है। इसी कारण भक्ति-दर्शन में ईश्वर को सगुण-साकार मानते हुए भी उसे निर्गुण ब्रह्म से अभिन्न स्वीकार किया गया है।

तात्त्विक विवेचन की दृष्टि से भक्तपराधीन ईश्वर की संकल्पना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह धारणा ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का कारण नहीं, बल्कि यह दर्शाती है कि परम तत्त्व का सर्वोच्च गुण प्रेम है। दार्शनिक रूप से यह सत्ता की कठोर निरपेक्षता को कोमल मानवीय संवेदना से जोड़ता है।

इस प्रकार तात्त्विक स्तर पर ईश्वर-अनुभूति न तो केवल ज्ञान है, न केवल भावना, बल्कि चेतना का रूपान्तरण है। यह रूपान्तरण साधक को सीमित अहं से मुक्त कर परम सत्य में स्थित करता है। यही ईश्वर-अनुभूति का तात्त्विक सार है।

निष्कर्ष

भारतीय दार्शनिक परम्परा में ईश्वर-अनुभूति का स्वरूप बहुआयामी होते हुए भी एक तात्त्विक एकता में स्थित है। उपनिषद् ईश्वर-अनुभूति को आत्मा-ब्रह्म अभेद के रूप में निरूपित करते हैं, जहाँ अनुभूति ज्ञानात्मक और अपरोक्ष होती है। भगवद्गीता इस तत्त्व को भक्ति-योग के माध्यम से सुलभ बनाकर कर्म और ज्ञान के साथ समन्वित करती है। भक्ति-सूत्रों तथा भक्तिकालीन परम्परा में यही ईश्वर-अनुभूति प्रेम, समर्पण और भावात्मक तादात्म्य के रूप में व्यक्त होती है।

भक्ति-दर्शन में ईश्वर-अनुभूति केवल एक दार्शनिक संकल्पना नहीं, बल्कि जीवन की गहन आध्यात्मिक अवस्था है। यह अनुभूति प्रेम, श्रद्धा और समर्पण के माध्यम से प्राप्त होती है और साधक को आत्मिक पूर्णता की ओर ले जाती है। प्रस्तुत अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भक्ति-दर्शन भारतीय दर्शन को एक अनुभवप्रधान, मानवोन्मुख और जीवनोपयोगी आयाम प्रदान करता है। अत: ईश्वर-अनुभूति भक्ति-दर्शन का केन्द्रीय एवं अनिवार्य तत्त्व है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि भक्ति-दर्शन में ईश्वर तत्त्व नहीं, सम्बन्ध है।

वह ब्रह्म है, पर साथ ही प्रेम का आलम्बन भी है। यही कारण है कि भक्ति-दर्शन भारतीय दर्शन परम्परा में ईश्वर को अनुभव, प्रेम और करुणा के माध्यम से जीवित सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित करता है।

पीएच.डी. शोधच्छात्रा
संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
ई-मेल- ranikumari2426@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. मुण्डकोपनिषद् 1.1.6
2. श्रीमद्भगवद्गीता 4.11
3. श्रीमद्भागवत महापुराण 9.4.63
4. श्रीमद्भगवद्गीता 9.26
5. रामचरितमानस, बालकाण्ड
6. नारदभक्ति-सूत्र, सूत्र 2
7. नारदभक्तिसूत्र, सूत्र-3
8. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय 4, श्लोक 11
9. श्रीमद्भगवद्गीता 9.22

10. तैत्तिरीयोपनिषद् 1.1.1
11. बृहदारण्यकोपनिषद् 1.4.10
12. छान्दोग्योपनिषद् 6.8.7
13. श्वेताश्वतरोपनिषद् 6.8
14. श्रीमद्भगवद्गीता 18.55
15. श्रीमद्भगवद्गीता 4.6
16. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय 12, श्लोक 5
17. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय 11, श्लोक 54
18. नारद भक्ति-सूत्र 2
19. नारदभक्तिसूत्र, सूत्र 54
20. नारद भक्ति सूत्र 11

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ईशादि नौ उपनिषद् : आदि शंकराचार्य, शाङ्करभाष्य हिन्दी अनुवाद सहित, गीताप्रेस गोरखपुर।
2. श्रीमद्भगवद्गीता : शाङ्करभाष्य हिन्दी अनुवाद सहित, अनुवादक : हरिकृष्णदास गोयन्दका, गीताप्रेस गोरखपुर, संवत 2067।
3. श्रीवास्तव, अंशु, भागवत-पुराण में भक्ति, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, 2002।
4. उपाध्याय, डॉ. शुकरत्न, भक्ति-रस-सिद्धान्त, बी. एस. शर्मा एण्ड ब्रदर्स, आगरा।
5. उपाध्याय, बलदेव, भारतीय दर्शन, शारदा मन्दिर, वाराणसी 1991 ।
6. एस० राधाकृष्णन, भगवद्गीता, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1962 ।
7. गुप्ता, एस० एन० दास, भारतीय दर्शन का इतिहास, राजस्थान, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2011 ।
8. मिश्र, शिवकुमार, भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, 1999 ।
9. शर्मा, मुंशीराम, भक्ति का विकास, चौखम्बा वाराणसी, 1958 ।
10. उपाध्याय, आचार्य बलदेव, वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1978 ।
11. ऋषि, उमाशङ्कर शर्मा , संस्कृत साहित्य का इतिहास, चौखम्बा भारती अकादमी, वाराणसी, पूनर्मुद्रित 2008।
12. स्वामी, चिन्मयानंद, नारद भक्ति सूत्र, चिन्मय प्रकाशन, 2002

डॉ. नरेन्द्र कुमार संत

भारतीय संविधान के निर्माण में डॉ. अम्बेडकर की भूमिका

सारांश

एक ओर जहां देश भारतीय संविधान के 76वें दिवस को विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम से मना रहा है वहीं दूसरी ओर डॉ. अम्बेडकर और भारतीय संविधान को लेकर अनेक प्रकार की चर्चाएं चल रहीं हैं। कुछ लोग भारतीय संविधान पर ही नहीं, अपितु संविधान के निर्माण में डॉ. अम्बेडकर की भूमिका पर प्रश्नचिन्ह लगा रहे हैं। वे भारतीय संविधान निर्माण में डॉ. अम्बेडकर की भूमिका को सिरे से नकारते दिखाई पड़ते हैं। वहीं कुछ लोग न केवल डॉ. अम्बेडकर को भारतीय संविधान का निर्माता मानते हैं बल्कि उन्हें नए भारत का प्रवर्तक भी मानते हैं। अत: 'भारतीय संविधान के निर्माण में डॉ. अम्बेडकर की भूमिका' पर गहन चर्चा एवं अध्ययन की आवश्यकता है और यह समझने तथा समझाने की भी आवश्यकता है कि डॉ. अम्बेडकर केवल संविधान मसौदा समिति के अध्यक्ष तक सीमित नहीं थे बल्कि उन्होंने संविधान मसौदा तैयार करने से लेकर संविधान सभा की विभिन्न उप समितियों व बैठकों में महती भूमिका निभाई और देश उसके अनुरूप लिखित संविधान दिया। अत: यह कहना अतिश्यिाक्ति न होगी कि डॉ. अम्बेडकर न केवल भारतीय संविधान के शिल्पकार थे बल्कि वे भारतीय लोकतंत्र के भी जनक थे।

मुख्य शब्द

भारतीय संविधान, संविधान सभा, मूल अधिकार, डॉ. अम्बेडकर एवं सामाजिक न्याय।

1. भूमिका

भारतीय संविधान को विश्व का सबसे बड़ा एवं लिखित संविधान होने का गौरव प्राप्त है जो स्वतंत्रतोत्तर देश की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, वैधानिक व राजनैतिक ताना-बाना बुनता हुआ दिखाई पड़ता है। संविधान निर्माण के संविधान सभा के साथ साथ कुल 22 उप समितियां थीं, जिन्होंने अपने-अपने विचार संविधान सभा में रखे और उन पर चर्चा हुई। प्रारूप समिति का अध्यक्ष डॉ. अम्बेडकर को बनाया गया जिसमें कुल 7 सदस्य थे। परन्तु संविधान सभा की अंतिम बैठक में हुई चर्चा से स्पष्ट हो जाता है कि अन्य 6 सदस्यों की भूमिका नगण्य ही रही और पूरा भार डॉ. अम्बेडकर पर आ गया था जिसे उन्होंने अस्वस्थता के बावजूद बड़ी लगन एवं मेहनत से सम्पन्न किया। अत: यह कहा जा सकता है कि उन्हें भारतीय संविधान में देश के अनुरूप व सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, न्यायिक व धार्मिक समानता का भाव संजोया, वह भारतीय संविधान के उद्देशिका में पूर्ण रूप से परिलक्षित होती है।

2. शोध की आवश्यकता एवं उद्देश्य

शोध की आवश्यकता का मुख्य कारण आज भारतीय संविधान में डॉ. अम्बेडकर की भूमिका पर जो प्रश्नचिन्ह खड़े किए जा रहे हैं, उन पर समग्र विचार करना तथा संविधान सभा में डॉ. अम्बेडकर के योगदान का मूल्यांकन करना है।

3. शोध पद्धति

यह शोध पत्र विश्लेषणात्मक एवं वर्णनात्मक है। इसमें प्रस्तुत सामग्री संविधान सभा में हुई बहसों, पुस्तकों एवं समाचार पत्रों में प्रकाशित लेखों से ली गई है।

4. डॉ. भीमराव अम्बेडकर का जीवन परिचय एवं उनके प्रमुख विचार

डॉ. भीमराव अम्बेडकर का जन्म 14 अप्रैल, 1989 को

मध्य प्रदेश के महू ग्राम में हुआ। उनके पिता का नाम रामजीराव एवं माता का नाम भीमा बाई था। वे अपनी माता-पिता की 14वीं संतान थे। उनके पिता अंग्रेजी शासन में सूबेदार थे और माता गृहणी थी। उनका जन्म ऐसे समय में हुआ जब देश एक ओर तो अंग्रजों का गुलाम था तथा दूसरी ओर सामाजिक विषमता से भरा हुआ था। ऊँच-नीच एवं जातिवाद अपने चरम पर था। उनका बचपन इन्हीं विभाषीकाओं से ग्रस्त था। उन्हें पढ़ने का अधिकार नहीं था। पिता के अथक प्रयासों से उन्हें विद्यालय में प्रवेश तो मिल गया परन्तु उन्हें वहां भारी जातिवाद का दंश झेलना पड़ा। विद्यालय में उन्हें कक्षा के द्वार पर बैठना पड़ता था तथा वे वहां रखे मटके से पानी नहीं पी सकते थे। बावजूद इन सभी कठिनाईयों के उन्होंने हार नहीं मानी तथा शिक्षा के प्रति लगाव होने के कारण वे अपने समय के सबसे अधिक उपाधियों के स्वामी बने। अत: उन्हें स्वतंत्र भारत के संविधान की प्रारूप समिति का अध्यक्ष बनाकर एक महत्वपूर्ण जिम्मेदारी सौंपी गई। यह जिम्मेदारी उन्होंने अपने गिरते स्वास्थ्य को दरकिनार कर बखूबी निभाई।

5. संविधान सभा और प्रारूप समिति में डॉ. अम्बेडकर की भूमिका

डॉ. अम्बेडकर को संविधान सभा में गठित अनेक महत्वपूर्ण समितियों में से एक - 'प्रारूप समिति' का अध्यक्ष बनाया गया। समिति का कार्य संविधान सभा में निर्मित विभिन्न समिति के सुझावों के माध्यम से संविधान को अंतिम रूप देना था। साथ ही डॉ. अम्बेडकर ने विभिन्न देशों के संविधानों का न केवल गहन अपितु तुलनात्मक अध्ययन किया तथा भारत के अनुरूप एक उपयुक्त व सशक्त संविधान तैयार किया। उन्होंने संविधान सभा में उठी आलोचनाओं का तर्कसंगत व विधिक उत्तर देकर देश को एक संतुलित संविधान दिया।

डॉ. अम्बेडकर के अनुसार-''संविधान एक आधारभूत लेख्य होता है। इसी लेख्य द्वारा राज्यों के तीनों अंगों कार्यपालिका, न्यायपालिका तथा विधान मंडल की शक्तियों तथा स्थिति की परिभाषा की जाती है। इसमें नागरिक बनाम कार्यपालिका तथा विधान-मंडल की शक्तियों को भी परिभाषित किया जाता है, जैसे कि हमारे मूलाधिकारों संबंधी अध्याय में किया गया है। वास्तव में संविधान का उद्देश्य केवल राज्य के अंगों का निर्माण ही नहीं है वरन् उनके प्राधिकार को सीमित करना भी है, क्योंकि यदि उन अंगों के प्राधिकार पर कोई सीमा नहीं लगाई जाएगी तो पूर्ण अत्याचार और पूर्ण दमन हो सकेगा। विधानमंडल को कोई भी कानून बनाने की स्वतंत्रता होगी तथा उच्चतम न्यायालय को विधि का कोई भी निर्वाचन करने की स्वतंत्रता होगी।''[1]

6. लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता एवं नैतिकता

डॉ. अम्बेडकर के अनुसार-''लोकतंत्र, सरकार का रूप और शासन पद्धति है, जिसके द्वारा लोगों के आर्थिक और सामाजिक जीवन में बिना रक्तपात के क्रांतिकारी परिवर्तन किए जाते हैं।''[2] इसके साथ ही वे लोकतंत्र के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं-''आधुनिक लोकतंत्र का उद्देश्य केवल तानाशाह को नियंत्रण करना ही नहीं, अपितु लोगों का कल्याण करना है।''[3]

भारतीय संविधान में लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता एवं नैतिकता को महत्वपूर्ण अंश माना गया है।

भारतीय संविधान लोकतंत्रात्मक प्रणाली को स्वीकार करता है और डॉ. अम्बेडकर नागरिकों के मूल अधिकारों को लोकतंत्र की आत्मा मानते थे। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत भारतीय नागरिकों को न्यायालयों में अपने अधिकारों की रक्षा का अधिकार देता है। डॉ. अम्बेडकर इस अनुच्छेद को 'संविधान की आत्मा और हृदय' के रूप में व्याख्यायित करते हैं।

उन्होंने संविधान सभा के भाषण में लोकतंत्र के लिए संविधान में प्रावधानों के महत्व को दर्शाते हुए कहा-''मैंने अपने प्रारम्भिक भाषण में अपने प्रस्ताव के समर्थ में कहे अनुसार राज्य के विभिन्न अंग के कार्य को नियमित करने के उद्देश्य से केवल एक यांत्रिकीय व्यवस्था दी है। वह कोई ऐसा तंत्र नहीं है जिसके द्वारा विशिष्ट सदस्य को अधिकार संपन्न किया जाता है। राज्य की नीति क्या होनी चाहिए, सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण से समाज संगठन कैसा हो, इस विषय में समय और परिस्थिति के अनुसार लोगों के द्वारा स्वयं निर्णय लिया जाना चाहिए। इसका संविधान प्रावधान नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा करना लोकतंत्र को समाप्त करना है।''[4]

7. सामाजिक न्याय व समानता का अधिकार

भारत हजारों वर्षों से सामाजिक विषमता तो व्याप्त है जिसके कारण सामाजिक समानता नहीं है। देश चतुवर्णीय व्यवस्था के कारण जातिगत ऊँच-नीच की गहरी खाई है। जिसे डॉ. अम्बेडकर ने बिना किसी खूनी संघर्ष के अपनी कुशलता एवं शैक्षिक योग्यता के आधार पर संवैधानिक रूप में उपर्युक्त खाई को पाटा है। संविधान के ''अनुच्छेद 14-18''[5]

इसी अधिकार को सशक्त बनाते हैं और अनुच्छेद 17 अस्पृश्यता का उन्मूलन, भेदभाव का निषेध व समान अवसर की गारंटी प्रदान करता है। भारतीय संविधान में हजारों वर्षों व्याप्त सामाजिक विषमता के उन्मूलन का यह सबसे महत्वपूर्ण अंश है।

8. समान प्रतिनिधित्व की भावना

डॉ. अम्बेडकर देश में आर्थिक एवं सामाजिक रूप से पिछड़े लोगों को मुख्य धारा में लाना चाहते थे। वे चाहते थे कि सदियों से पिछड़े और हाशिए पर रह रहे लोगों को सामाजिक एवं आर्थिक समानता मिले। इसके लिए उनका मानना था कि आरक्षण के माध्यम से यह काम हो सकता है। अत: उन्होंने एक ऐसे वर्ग की संरचना की जो सदियों से अछूत, अस्पृश्य या दलित कहे जाते थे। उनके अनुसूचित जाति एवं जनजाति के रूप में संविधान में स्थान दिया और उनकी गणना के आधार पर उन्हें आरक्षण की सुविधा मुहैया कराई। संविधान के भाग 16में निहित अनुच्छेद 330 से 342 में अनुसूचित जाति, जनजाति एवं पिछड़ा वर्ग से संबंधित प्रावधान विशेष रूप से उल्लखित हैं। ये प्रावधान इन वर्गों को लोक सभा, राज्य विधान सभाओं एवं सरकारी सेवाओं में प्रतिनिधित्व एवं उन्हें मुख्य धारा में लाने का वचन देते हैं।

डॉ. अम्बेडकर ने अनुसूचित जाति एवं जनजातियों के लिए संविधान में आरक्षण के रूप में विशेष प्रावधान किया। वे आरक्षण को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं-''आरक्षण की मांग उन शासक जातियों और सम्प्रदायवादियों की ज्यादतियों से सुरक्षा की मांग है जो मेहनतकश जातियों पर हर क्षेत्र में प्रभुत्व जमाना चाहती हैं।''[6]

भारतीय संविधान के निर्माण में डॉ. अम्बेडकर की भूमिका को दर्शाते हुए संविधान सभा के सदस्य के सदस्य मा. टी.टी. कृष्णमाचारी ने कहा-''अध्यक्ष महोदय, संविधान सभा में से मैं एक हूँ जिसने डॉ. अम्बेडकर को बहुत सावधानीपूर्वक सुना है। मैं उस परिश्रम और उत्साह को जानता हूँ जिससे उन्होंने भारतीय संविधान का प्रारूप तैयार किया है। मैं यह महसूस करता हूँ कि जो ध्यान भारतीय संविधान के निर्माण में दिया जाना अनिवार्य था वह ड्राटिंग कमेटी द्वारा नहीं दिया गया। संविधान सभा शायद यह जानती है कि आपके द्वारा मनोनीत सात सदस्य थे। उनमें से एक ने संविधान सभा से त्यागपत्र दे दिया और उस रिक्त स्थान की पूर्ति कर दी गई। एक सदस्य का देहांत हो गया और उसका स्थान नहीं भरा गया। एक अमेरिका चला गया और स्थान खाली रहा। दूसरा सदस्य राजकीय कार्यों में व्यस्त रहा और उनका स्थान भी खाली रहा। एक या दो सदस्य दिल्ली से बाहर रहे और शायक स्वास्थ्य के कारण उपस्थित नहीं हो सके। हुआ यह कि संविधान बनाने का भार डॉ. अम्बेडकर के कंधों पर आ पड़ा। इसमें मुझे कोई संदेह नहीं कि जिस ढंग से उन्होंने संविधान निर्माण का कार्य किया है उसके लिए हम कृतज्ञ हैं। यह निस्संदेह प्रशंसनीय है। वास्तव में मेरा कहना है कि इस तरह के कार्य को जो ध्यान ड्राटिंग कमेटी को देना था वह नहीं दिया गया। ... मुझे विश्वास है कि यह एक अच्छा काम हुआ कि डॉ. अम्बेडकर ने कमेटी की कुछ संस्तुतियां स्वीकार कर ली हैं।''[7]

निष्कर्ष

उपरोक्त विवेचन यह प्रमाणित करता है कि भारतीय संविधान के शिल्पकार डॉ. भीमराव अम्बेडकर हैं। संविधान में सामाजिक न्याय, समानता और मानव गरिमा को आधार बनाया जाना उनकी महत्वपूर्ण देन है और संविधान निर्माण के 76 वर्ष बाद विभिन्न प्रकार से विवाद उत्पन्न करना पूर्णत: मानसिक दिवालियापन है।

महाराजा अग्रसेन कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल: narendrakumar.sant@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. यशवंत सोनटक्के, 'बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर के विचार', पृ. 214-15
2. वही, पृ. 194
3. वही, पृ. 194
4. वही, पृ. 214
5. डॉ. बी. आर. अम्बेडकर, भारत संविधान, पृ. 38
6. यशवंत सोनटक्के, 'बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर के विचार', पृ. 214-15
7. श्याम सिंह, 'संविधान सभा में डॉ. अम्बेडकर', पृ. 22-23

अपूर्ववाद

प्राञ्जल सिंह

प्रस्तावना

भारतीय दर्शन में मानव जीवन के समस्त आयामों- आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक एवं लौकिक आदि का अत्यन्त गहन विवेचन प्राप्त होता है। यहां दर्शन का अर्थ किसी विषय के तात्विक स्वरूप को जानना ही नहीं अपितु संपूर्ण मानव जीवन-पद्धति है। दर्शनशास्त्र, अन्य विद्याओं के पढ़ने से उत्पन्न भ्रमरूपी अंधकार को दूर करने के लिए दीपक के समान है, सब कर्मों के अनुष्ठान का एकमात्र साधन है तथा संपूर्ण धर्मों का आधार है।

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता॥[1]

इसी दार्शनिक परंपरा में मीमांसा दर्शन जो कर्मकांडपरक दर्शन है, उसके अंतर्गत वैदिक विधियों को समझने के लिए तार्किक आधार प्रदान किया गया है। वेद जो की अपौरुषेय एवं शाश्वत है, संपूर्ण विश्व का रहस्य है उसमें वर्णित कर्मकांड के स्वरूप, प्रयोजन और फल-प्रधान प्रक्रिया के अध्ययन के लिए मीमांसा दर्शन ने अपूर्व की संकल्पना की। अपूर्ववाद मीमांसा दर्शन में एक ऐसा सिद्धांत है जो कि कर्मव्यवस्था को संचालित करता है।

भूमिका

दर्शन परंपरा में छः आस्तिक दर्शन - सांख्य-योग-न्याय-वैशेषिक-मीमांसा-वेदांत प्रसिद्ध है, इनमें एक ही लक्ष्य (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए भिन्न-भिन्न विधियों को बताया गया है। इन दर्शनों में मीमांसा दर्शन जिसे पूर्व मीमांसा या धर्म मीमांसा भी कहा गया है, इसके प्रवर्तक महर्षि जैमिनी हैं। यह वेद विहित कर्मकांड तथा मंत्रों के विनियोगों से संबंधित विषयों को प्रामाणिक रूप में उपस्थापित करता है, जहां अन्य दर्शन प्रमाणों एवं पदार्थों की व्याख्या करते हैं वहीं मीमांसा कर्म के आधार पर धर्म की स्थापना प्रस्तुत करता है।

इस दर्शन में 16 अध्याय, 2700 सूत्र, तथा 100 से अधिक अधिकरण है, जिनमें अंत के चार अध्यायों में देवता के अधिकार का विवेचन किया गया है, अतः उसे दैवत काण्ड (संकर्षण या परिशिष्ट काण्ड) कहा जाता है। इस प्रकार मीमांसादर्शन (मीमांसासूत्र) में कुल 16 अध्याय हैं, परंतु मुख्य रूप से द्वादश अध्यायों का पठनपाठन होने से इसे द्वादशलक्षणी कहा जाता है। यज्ञों का विस्तृत विवेचन होने से इसे यज्ञविद्या एवं धर्म का विचार होने से धर्ममीमांसा भी कहा जाता है।

महर्षि जैमिनि

महर्षि जैमिनि कृष्ण द्वैपायन के शिष्य थे। जैमिनि मुनि ने महर्षि से सामवेद की शिक्षा ग्रहण की, तथा साम संबंधी जैमिनीय-संहिता-ब्राह्मण-उपनिषद-श्रौत एवं गृह्यसूत्रों का प्रवचन किया था।

⋆ **काल**- महर्षि कृष्णद्वैपायन ने वेद के शाखाओं का प्रवचन भारत युद्ध से न्यूनातिन्यून 100 वर्ष पूर्व किया था, अतः जैमिनि का काल भारत युद्ध से 150 वर्ष पूर्व से 100 वर्ष पूर्व तक निश्चित किया जाता है।

⋆ **महर्षि के मृत्यु** के विषय में पंचतंत्र मित्र संप्राप्ति (जीवानंद संस्करण) का एक श्लोक प्रचलित है

सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत्प्राणान्प्रियान्पाणिनेर्मीमांसा-कृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम्।

छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गलमज्ञाना-वृतचेतसामतिरुषां कोर्थस्तिरश्चां गुणैः॥[2]

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

इस श्लोक के अनुसार ऐसी मान्यता है कि अष्टाध्यायी के प्रवक्ता पाणिनि को सिंह ने मारा था, तथा मीमांसा के प्रवक्ता जैमिनि को हाथी ने रौंदा था। और छंद:शास्त्र के प्रवक्ता पिङ्गल को समुद्र तट पर मकर ने निगल लिया था।

अपूर्व सिद्धान्त का स्वरूप

अपूर्ववाद मीमांसा का मुख्य सिद्धान्त है, जिसका विकास लगभग तृतीय शती. ईस्वी के आसपास माना जाता है। इस सिद्धान्त की स्थापना वैदिक अनुष्ठानों की प्रामाणिकता और फल-संबन्ध को दार्शनिक आधार प्रदान करने के उद्देश्य से की गई थी। इसके अनुसार वेद-विहित कर्म और उसके फल के बीच एक अदृश्य, अलौकिक एवं सूक्ष्म शक्ति अपूर्व सेतु रूप में कार्य करती है, जो कर्मफल-सम्बन्ध की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करती है।

महर्षि जैमिनि-कृत मीमांसासूत्रों में अपूर्व की मूल अवधारणा के बीज स्वरूप उल्लेख प्राप्त होते हैं, परन्तु इस सिद्धान्त का व्यवस्थित, स्पष्ट तथा तर्कबद्ध प्रतिपादन शबरस्वामी ने अपने शाबरभाष्य में प्रस्तुत किया। इसके पश्चात् कुमारिल भट्ट, प्रभाकर, शालिकनाथ तथा मधुसूदन सरस्वती आदि आचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार इस सिद्धान्त का और अधिक परिष्कार, विस्तार एवं दार्शनिक संवर्धन किया।

सिद्धान्त के समर्थक आचार्य

अपूर्ववाद के प्रमुख समर्थकों में **कुमारिल भट्ट, प्रभाकराचार्य, शालिकनाथ** तथा **मधुसूदन सरस्वती** का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी आचार्यों ने अपूर्व को कर्मफल-सम्बन्ध का आवश्यक माध्यम मानकर उसके अस्तित्व को ढतापूर्वक स्वीकार किया।

अपूर्व

मीमांसा शास्त्र का प्रमुख विषय **''कर्म''** है। मीमांसा में कर्म का तात्पर्य वैदिक यज्ञ संबंधी कर्मकांड के अनुष्ठान से है। इसके अनुसार वेद प्रतिपाद्य कर्म तीन प्रकार के हैं—

1. काम्य कर्म।
2. निषिद्ध कर्म।
3. नित्य - नैमित्तिक कर्म।

1. काम्य कर्म - **''काम्यानि स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि।''**[3] अर्थात् जो कर्म अभिलषित सुख को देनेवाले पदार्थों के साधक हो, वे काम्य कर्म हैं। यथा—

★ **''यजेत स्वर्गकाम:।''**[4]

★ **''अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:।''**[5]

★**''उद्भिदा यजेत पशुकाम:।''**[6]

इन विधिवाक्यों का विधान किसी कामना की सिद्धि के लिए किया गया है, अत: ये काम्य कर्म हैं।

2. निषिद्ध कर्म -**''नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मणहननादीनि''**[7] - अर्थात् जिनके करने से नरकादि अनिष्ट की सिद्धि हो वो निषिद्धकर्म है।

★ **''ब्राह्मणो न हन्तव्य:।"**[8]

★ **"न कलञ्जं भक्षयेत्।"**[9]

3. नित्य कर्म - **''नित्यान्यकरणे प्रत्यवाय:।"**[10] नित्य वे कर्म हैं जिनके करने से कोई पुण्य प्राप्त नहीं होता किन्तु न करने से हानि होती है सन्ध्यावन्दन, यज्ञ आदि। **''अहरह: सन्ध्यामुपासीत।"**[11] इस विधिवाक्य के द्वारा सन्ध्योपासना का कर्तव्य के रूप में विधान है, इसके अनुष्ठान से फलविशेष की प्राप्ति नहीं होगी, परन्तु न करने से व्रात्यपतित होने का दोष लगेगा। ये उसी प्रकार है जैसे प्रतिदिन स्नान, दन्तधावन, मार्जनी आदि करने से कोई पुण्य तो नहीं होता परन्तु न करने से शरीर और घर दोनों में गंदगी एकत्रित हो जाने से स्वास्थ्य पर असर पड़ता है । इसी प्रकार जाने-अनजाने जो भी अकरणीय कार्य हो जाते हैं उनके लिए सन्ध्यावन्दनादि नित्य कर्म किये जाते हैं।

नैमित्तिक कर्म - विशेष अवसर के उपस्थित होने पर अथवा पुत्रादि के जन्म होने पर किये जाने वाले **जातेष्टि** आदि यज्ञ तथा ग्रहण, स्नान आदि नैमित्तिक कर्म हैं।

कर्म और उसके फल का अभिन्न संबंध है, व्यक्ति अच्छे बुरे जो भी कर्म करता है, उसके अनुरूप उसे सुख अथवा दु:ख की प्राप्ति अवश्य होती है। परंतु कर्म और उसके फल का अभिन्न संबंध मानने में एक कठिनाई उपस्थित होती है, वह यह है कि कर्म क्षणिक है संपन्न होते ही नष्ट हो जाता है, यथा :**''स्वर्गकामो यजेत''** आदि वाक्यों द्वारा स्वर्ग रूप फल प्राप्ति हेतु यज्ञ का अनुष्ठान विहित है, परंतु यागादि कर्म क्रियारूप होने से अनित्य क्षणध्वंसी हैं, आशुतरविनाशी हैं, वह अपनी अवधि के अनंतर समाप्त हो जाते हैं। अत: यहां संशय उत्पन्न होता है कि नष्ट हुए कर्म कालांतर में फल के साधक कैसे हो सकते हैं—**''आशुतर- विनाशिनां यागादिकर्मणां कालान्तरभावि स्वर्गादिकं प्रति कारणत्वं न संभवति इति श्रुतकणत्वनिर्वाहाय।"**[12] इस प्रकार वेदवचन निरर्थक होने लगेगा जबकि वेद तो स्वत: प्रमाण है- अत: कर्म और फलप्राप्ति के मध्य कोई स्थायी कारण होना चाहिए, इसके लिए मीमांसक

अपूर्व की कल्पना करते हैं।

परिभाषा :- अपूर्व अर्थात् अद्वितीय जो पूर्व में न हो, जैसा कोई दूसरा नहीं, जैसा पहले कभी देखा न गया हो, या फिर जो पहले अस्तित्व में न हो, अपूर्व को किसी संज्ञा या क्रिया द्वारा दर्शाया नहीं जा सकता, इसे किसी कार्य के परिणाम के रूप में समझा जाता है। मनुष्यों द्वारा किए जाने वाले यज्ञ, यागादि के परिणामस्वरूप एक अदृश्य, अलौकिक शक्ति उत्पन्न होती है जिसे अपूर्व कहा जाता है। यह कर्म और उसके फल के बीच मध्यस्थ कड़ी का काम करता है और फल मिलने के पश्चात् स्वयं नष्ट हो जाता है। यह कर्म के निष्पादन और उसके परिणाम के बीच का अदृश्य कारण है, जिसके फलस्वरूप कर्म नष्ट होने के बाद निश्चित समय आने पर उसका फल प्राप्त होता है।

⋆ **डा. राधाकृष्णन्** के मत में याज्ञिक कर्म एवं उसके फल के मध्य में अपूर्व एक पारलौकिक कड़ी है।

"Apurva is the metaphysical link between work and its result."

⋆ जैन दर्शन में कर्म और फल के संबंध की व्याख्या जीव में पुद्गल कर्मों अथवा कर्म पुद्गल के आश्रव के सिद्धांत के द्वारा की गई है।

⋆ न्यायकोशकार ने अपूर्व का लक्षण करते हुए इसे– **''यागादिजन्यः स्वर्गादिजनकः कश्चन गुणविशेषः''** कहा है। न्याय के अनुसार व्यक्ति द्वारा किए हुए कर्मों से उत्पन्न पुण्य और पाप के समूह को अदृष्ट कहते हैं। यह अदृष्ट आत्मा के साथ संयुक्त रहता है और अवसर आने पर सुख दुःखादि फलों को उत्पन्न करता है।

⋆ **बौद्ध दर्शन के अनुसार** प्राणियों के अंदर एक अत्यंत सूक्ष्म और अदृश्य शक्ति कार्य करती रहती है जिसे अविज्ञप्ति रूप कहते हैं, यहीं उनके द्वारा किए हुए शुभ कर्मों के अनुसार फल उत्पन्न करती है।

⋆ **कुमारिल के अनुसार** - अपूर्व प्रधान कर्म में अथवा कर्ता में एक योग्यता है, जो कर्म करने से पूर्व नहीं थी, कर्म के द्वारा उत्पन्न निश्चित शक्ति जो परिणाम तक पहुँचाती है अपूर्व है। कर्ता द्वारा किया गया यज्ञ कर्ता में साक्षात शक्ति उत्पन्न करता है जो उसके अन्दर विद्यमान रहता है और फल प्रदान कराता है।

''कर्मभ्यः प्रागयोग्यस्य कर्मणः पुरुषस्य वा।
योग्यता शास्त्रगम्या या सापूर्वमिष्यते॥"[15]

⋆ **मीमांसा में अपूर्व** का सिद्धांत एक मौलिक विचार है। किसी कर्म तथा कर्मफल के बीच अपूर्व एक आध्यात्मिक सेतु है। जो कर्म एवं फल के बीच संबंध स्थापित करता है, जो निश्चित समय पर फलीभूत होती है, जैमिनी के इसी शक्ति-सिद्धांत को अपूर्व की संज्ञा दी गई है।

अपूर्व के प्रकार

अपूर्व के चार प्रकार हैं-

1. परमापूर्व - परम अर्थात् फल जो साक्षात फल का जनक है फल के साथ सम्बद्ध करा दे वह परमापूर्व हैं, इसे फलापूर्व भी कहते हैं। **''येन स्वर्गादिकम् उद्भवति फलजनकत्वात् फलापूर्वम परमापूर्वम् इति उच्यते।"**[16] याग के निष्पति हो जाने पर उससे अपूर्व की उत्पत्ति होती है, (वह अपूर्व फल की प्राप्ति कराता है) और वह अर्थ स्थायी रूप से आत्मा में तब तक विद्यमान रहता है जब तक कि फल प्राप्त न हो जाए। साक्षाद् फल का जनक परमापूर्व है। इस प्रकार यागादि से अपूर्व की उत्पत्ति होती है और यागादि-जन्य-अपूर्व से फल की प्राप्ति होती है. अतः यागादि फल की प्राप्ति में साक्षाद उपकारक न होते हुए भी परम्परया उपकारक होते हैं। अन्य कोई अपूर्व साक्षाद् फल का जनक नहीं होता।

2. समुदायापूर्व - **''यत्र बहूनां यागानां समवायेन''**[17] अथवा **''भिन्न कालानां यागानां समवायेन एकं कर्म निष्पाद्यते।"**[18] जहाँ अनेक अङ्ग यागों से (प्रयाज -अनुयाज आदि) एक कर्म की निष्पत्ति होती है, वह समुदायापूर्व होता है। जैसे - दर्श एक कर्म है इसकी निष्पत्ति प्रयाज अनुयाज आदि अङ्ग यागों से होती है। एक सामुदायिक कर्म है। अतः उससे उत्पन्न होने वाला दर्शयाग समुदायापूर्व उत्पन्न करेगा और समुदायापूर्व की उत्पत्ति परमापूर्व से पहले होती है।

3. उत्पत्त्यपूर्व - अर्थात् एक समुदाय के प्रत्येक याग का अपना अपूर्व ही उत्पत्त्यपूर्व है। जैसे-दर्श याग के प्रयाज अनुयाज आदि जो अङ्ग याग हैं उनमें प्रत्येक याग के करने के पश्चात् एक एक अपूर्व उत्पन्न होता है, इन अपूर्व को ही उत्पत्त्यपूर्व कहते हैं और इनसे ही समुदायापूर्व की निष्पत्ति होती है।

4. अङ्गापूर्व - याग के अङ्गों से प्राप्त होने वाला अपूर्व अङ्गापूर्व होता है, जैसे-**''व्रीहीन् प्रोक्षति''**[19] अर्थात् व्रीहि को पानी छिड़कता है। उस छिड़काव से व्रीहि का शोधन या स्वरूप सिद्ध तो नहीं हो रहा, क्योंकि अल्प जल से शोधन असंभव है और स्वरूपसिद्धि तो प्रोक्षण के पूर्व भी हो ही रहा

है, फिर भी प्रोक्षण का विधान इसलिए किया गया है क्योंकि प्रोक्षण से अपूर्व की उत्पत्ति होती है, अत: प्रोक्षण युक्त व्रीहि याग का अंग होता है और उसे व्रीहि रूप अंग से उत्पन्न होने वाला अपूर्व अङ्गापूर्व कहा जाता है।

अङ्गापूर्व और उत्पत्यपूर्व मिलकर समुदायापूर्व की सृष्टि करते हैं और स्वयं नष्ट हो जाते हैं और समुदायापूर्व परमापूर्व की सृष्टि करता हैं और नष्ट हो जाता है। परमापूर्व यागकर्ता की आत्मा में फल प्राप्ति पर्यन्त विद्यमान रहता है, फलप्राप्ति के पश्चात नष्ट होता है। इस प्रकार अपूर्व एक आध्यात्मिक अवधारणा है जो यह दर्शाता है कि कर्मकाण्डों के विधिवत् संपादन करने से अदृश्य शक्ति उत्पन्न होती है जो उचित अवसर आने पर वांछित फल को उत्पन्न करती है।

सिद्धांत के पाश्चात्य एवं आधुनिक संदर्भ

इस सिद्धांत से संबंधित कुछ पाश्चात्य एवं आधुनिक सिद्धांत पाए जाते हैं जो निम्नलिखित हैं–

1. अरस्तू (Aristotle) – Potentiality (Dynamis) & Actuality (Energeia) Theory[20]

अरस्तू के अनुसार किसी **क्रिया (action)** से एक **अंतर्निहित सामर्थ्य (dynamis)** उत्पन्न होता है, जो आगे चलकर साकार **रूप (energeia)** में परिणत होता है। इस प्रकार अरस्तू की सिद्धांत तत्काल न होने वाले फल **(non-immediate causation)** की व्याख्या करती है।

अपूर्व	Aristotle
कर्म से उत्पन्न अदृष्ट शक्ति।	Action generates potential.
फल तुरंत प्राप्त नहीं होता।	Actualization occurs later.
अपूर्व = कारणात्मक सेतु।	Potential = causal ground.

2. इमैनुएल कांट - Moral Causality & Postulates of Reason Theory[21]

कांट का मत है कि नैतिक कर्म अनिवार्य रूप से नैतिक फल की माँग करता है, यद्यपि यह फल तत्काल दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी विलंबित फल की व्याख्या हेतु कांट ने स्वतंत्रता, अमरत्व एवं ईश्वर को प्रत्यय (postulates) के रूप में स्वीकार किया।

अपूर्व	Kant
कर्म – अपूर्व –फल	Moral act - moral causality - consequence
फल कालान्तर में	Moral outcome deferred
अदृष्ट शक्ति	Noumenal moral force

3. जॉन स्टुअर्ट मिल - Indirect Causation Theory (Cause as Condition)[22]

मिल के अनुसार, कारण केवल एक दृश्य क्रिया नहीं होता, बल्कि कारकों का समुच्चय (set of conditions) होता है। फल का प्रकट होना अनेक सहायक कारणों पर निर्भर करता है और उसमें समय-अन्तर हो सकता है।

अपूर्व	Mil
कर्म एकमात्र कारण नहीं	Act is not sole cause
अपूर्व सहायक कारण	Cause is a set of conditions
फल कालान्तर में	Effect delayed

पूर्वमीमांसा का अपूर्व-सिद्धान्त कर्म और फल के मध्य एक अदृश्य, स्थायी एवं कारणात्मक शक्ति को स्वीकार करता है, जिसकी तुलना अरस्तू के सामर्थ्य सिद्धान्त, कांट की नैतिक कारणात्मकता, मिल की अप्रत्यक्ष कारणता सिद्धान्त से वैचारिक रूप में समानता दिखती है।

निष्कर्ष

अपूर्ववाद मीमांसा दर्शन का आधार स्तंभ है, वेदविहित कर्मों का प्रामाणिक स्वरूप है। मीमांसकों ने अपूर्व सिद्धान्त के माध्यम से यह सिद्ध कर दिया है- कि कोई भी कर्म निरर्थक नहीं होता, कर्म में फल निहित है जो कर्मकर्ता को समयानुसार प्राप्त होता है। इस प्रकार अपूर्ववाद केवल मीमांसा को ही नहीं अपित संपूर्ण भारतीय दर्शन और वेद की प्रामाणिकता को सुनिश्चित करता है।

शोधच्छात्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
ईमेल : pranja34_css@jnu.ac.in

संदर्भ सूची

1. विनयाधिकारिक (1/1), कौटिल्य, आचार्य। (1977)। अर्थशास्त्र (द्वितीय संस्करण; संपादक एवं हिंदी टीका : डॉ. वाचस्पति गैरोला)। वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन।

2. पञ्चतन्त्र श्लोक ३६
3. पृष्ठ-6, सदानन्द योगीन्द्र। (1974)। वेदान्तसार: (कौमुदीय व्याख्या सहितय व्याख्याकार : डॉ. रामशंकर त्रिपाठीय संपादक/प्रकाशक : बालकृष्ण त्रिपाठी)। वाराणसी।
4. पृष्ठ-156, लौगाक्षिभास्कर। (2019)। अर्थसंग्रह (संस्कृत टीका-पं. पट्टाभिरामशास्त्री (अर्थलोक); संपादक एवं हिंदी टीका डॉ. वाचस्पति उपाध्याय)। नई दिल्ली : चौखम्भा ओरियन्टालिया।
5. पृष्ठ 358, सबरस्वामी, आचार्य। (1978)। जैमिनीय मीमांसा भाष्यम् (प्रकाशक : युधिष्ठिर मीमांसक)। बहालगढ : रामलाल कपूर ट्रस्ट। (प्रथम संस्करण)
6. पृष्ठ-165, लौगाक्षिभास्कर। (2019)। अर्थसंग्रह (संस्कृत टीका-पं. पट्टाभिरामशास्त्री (अर्थलोक); संपादक एवं हिंदी टीका डॉ. वाचस्पति उपाध्याय)। नई दिल्ली : चौखम्भा ओरियन्टालिया।
7. पृष्ठ-6, सदानन्द योगीन्द्र। (1974)। वेदान्तसार: (कौमुदीय व्याख्या सहितय व्याख्याकार : डॉ. रामशंकर त्रिपाठी; संपादक/प्रकाशक : बालकृष्ण त्रिपाठी)। वाराणसी।
8. पृष्ठ-37 शंकराचार्य। (1975)। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य (संपादक : रमाकान्त त्रिपाठी)। लखनऊ : उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान।
9. पृष्ठ-184, लौगाक्षिभास्कर। (2019)। अर्थसंग्रह (संस्कृत टीका-पं. पट्टाभिरामशास्त्री (अर्थलोक); संपादक एवं हिंदी टीका डॉ. वाचस्पति उपाध्याय)। नई दिल्ली : चौखम्भा ओरियन्टालिया।
10. पृष्ठ-6, सदानन्द योगीन्द्र। (1974)। वेदान्तसार: (कौमुदीय व्याख्या सहित; व्याख्याकार : डॉ. रामशंकर त्रिपाठी; संपादक/प्रकाशक : बालकृष्ण त्रिपाठी)। वाराणसी।
11. पृष्ठ-149, लौगाक्षिभास्कर। (2019)। अर्थसंग्रह (संस्कृत टीका-पं. पट्टाभिरामशास्त्री (अर्थलोक); संपादक एवं हिंदी टीका डॉ. वाचस्पति उपाध्याय)। नई दिल्ली : चौखम्भा ओरियन्टालिया।
12. अपूर्व का अर्थ - Prof. Om Nath Bimli, मीमांसा कक्षाएँ : भाग 3 (n.d.). YouTube वीडियो। YouTube। https://youtu.be/J1UbTCWXLOA
13. Page-421, Indian Philosophy Vo II; S. Radhakrishnan
14. भीमाचार्य झलकिकार, भा. (1978). न्यायकोश : भारतीय दर्शन के तकनीकी पदों का कोश (व.शास्त्रीअभ्यंकर, संशोधित एवं पुन: संपादित). पुणे : भाण्डारकर ओरिएण्टलरिसर्च इन्स्टिट्यूट.
15. पृष्ठ-364 कुमारिल भट्ट। (n.d.)। तंत्रवार्त्तिक। कोलकाता : एशियाटिक सोसाइटी। डिजिटाइज्ड संस्करण : https://archive.org/details/in.ernet.dli.2015.273904
16. अपूर्व का अर्थ - Prof. Om Nath Bimli, मीमांसा कक्षाएँ : भाग 3 organised by Retd. Prof. Sashi Prabha (n.d.). YouTube वीडियो - https://youtu.be/J1UbTCWXLOA
17. अपूर्व का अर्थ - Prof. Om Nath Bimli, मीमांसा कक्षाएँ : भाग 3 (n.d.). YouTube वीडियो। YouTube https://youtu.be/J1UbTCWXLOA
18. अपूर्व का अर्थ - Prof. Om Nath Bimli, मीमांसा कक्षाएँ : भाग 3 (n.d.). YouTube वीडियो। YouTube https://youtu.be/J1UbTCWXLOA
19. पृष्ठ-63, लौगाक्षिभास्कर। (2019)। अर्थसंग्रह (संस्कृत टीका-पं. पट्टाभिरामशास्त्री (अर्थलोक); संपादक एवं हिंदी टीका डॉ. वाचस्पति उपाध्याय)। नई दिल्ली : चौखम्भा ओरियन्टालिया।
20. Source : Chatgpt :- एरिस्टोटल। (2004)। मेटाफिजिक्स (अनुवाद : डब्ल्यू. डी. रॉस)। नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस। https://aristotle.kevius.com/ metaphysics/\utm_
21. Source : Chatgpt :- कांट, इमैनुएल। (n.d.)। कांट का नैतिक दर्शन (Stanford Encyclopedia of Philosophy)A https://plato.stanford.edu/entries/kant-moral/\utm_
22. Source : Chatgpt :- मिल, जॉन स्टुअर्ट। (1859)। कारणों का संयोजन । https://www.isnature.org/Files/Mill1859-Composition_of_Causes.htm\utm_

संदर्भित ग्रंथ सूची

- ★ जैमिनि: मीमांसा सूत्र, गंगानाथ झा सम्पादित संस्करण।
- ★ शबरस्वामी: शबरभाष्य, गंगानाथ झा अनूदित ।

- ★ तन्त्रवार्तिक – कुमारिल भट्ट:, चौखम्भा प्रकाशन।
- ★ न्याय कोश: – महामहोपाध्याय भीमाचार्य।
- ★ History of Dharmasastra by P.V. Kane.
  Indian philosophy by S. Radhakrishnan.
- ★ मीमांसा दर्शन – गोपीनाथ कविराज।
- ★ मीमांसान्यायप्रकाश – अपदेव।
- ★ अर्थशास्त्र – कौटिल्य ।
- ★ सदानन्द योगीन्द्र। (1974)। वेदान्तसार: (कौमुदी; व्याख्या सहित; व्याख्याकार : डॉ. रामशंकर त्रिपाठी; संपादक/प्रकाशक : बालकृष्ण त्रिपाठी)। वाराणसी।
- ★ शंकराचार्य। (1975)। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य (संपादक : रमाकान्त त्रिपाठी)। लखनऊ : उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान।
- ★ शबरस्वामी, आचार्य। (1978)। जैमिनी; मीमांसा भाष्यम् (प्रकाशक : युधिष्ठिर मीमांसक)। बहालगढ : रामलाल कपूर ट्रस्ट। (प्रथम संस्करण)
- ★ लौगाक्षिभास्कर। (2019)। अर्थसंग्रह (संस्कृत टीका–पं. पट्टाभिरामशास्त्री (अर्थलोक); संपादक एवं हिंदी टीका डॉ. वाचस्पति उपाध्याय)। नई दिल्ली : चौखम्भा ओरियन्टालिया।
- ★ Archive.org
- ★ ChatGPT

अमजद खान

भारत में राष्ट्रीयता के विकास में आर्य समाज का योगदान

शोध-सार

प्रस्तुत शोध पत्र भारत में राष्ट्रीय चेतना के उदय और विकास में आर्य समाज तथा महर्षि दयानंद सरस्वती की भूमिका का आलोचनात्मक परीक्षण करता है। सामान्यत: आर्य समाज को एक धार्मिक और सामाजिक सुधार आंदोलन के रूप में देखा जाता है, किन्तु यह अध्ययन 'सत्यार्थ प्रकाश' (विशेषकर छठे और ग्यारहवें समुल्लास) और दयानंद के चिंतन में निहित राजनीतिक और राष्ट्रवादी आयामों को रेखांकित करता है। शोध पत्र यह स्पष्ट करता है कि स्वामी दयानंद ने कांग्रेस की स्थापना और स्वदेशी आंदोलन से बहुत पूर्व ही 'स्वराज', 'स्वदेशी' और 'आत्म-गौरव' की नींव रख दी थी।

इस अध्ययन में विश्लेषण किया गया है कि कैसे महर्षि दयानंद ने औपनिवेशिक दासता के दौर में भारतीयों के मन से हीन भावना को मिटाने के लिए भारत के 'स्वर्णिम अतीत' और वैदिक गौरव का सहारा लिया। उन्होंने जातिवाद, अस्पृश्यता और मूर्तिपूजा का विरोध केवल धार्मिक आधार पर नहीं, बल्कि हिन्दू समाज को एक सूत्र में पिरोने और राष्ट्रीय शक्ति को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से किया। शोध पत्र यह भी दर्शाता है कि आर्य समाज ने ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज के पश्चिम-परस्त दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए एक ऐसी शिक्षा पद्धति (जैसे गुरुकुल कांगड़ी) और विचारधारा को जन्म दिया, जिसने क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का मार्ग प्रशस्त किया।

अंत में, यह शोध पत्र इस तथ्य का भी मूल्यांकन करता है कि आर्य समाज द्वारा प्रवर्तित राष्ट्रवाद मूलत: 'सांस्कृतिक और हिन्दू राष्ट्रवाद' था। यद्यपि इसने राजनीतिक स्वतंत्रता के संघर्ष को तीव्र किया, परन्तु इसके कारण एक विशिष्ट धार्मिक पहचान को बल मिला, जिसने कालांतर में भारत की सामासिक संस्कृति (Composite Culture) और धर्मनिरपेक्ष स्वरूप के समक्ष चुनौतियां भी प्रस्तुत कीं।

कुंजी शब्द

आर्य समाज, महर्षि दयानंद सरस्वती, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, स्वराज, स्वदेशी, सत्यार्थ प्रकाश, सामाजिक सुधार, औपनिवेशिक भारत।

I

आर्य समाज की हिन्दू धार्मिक और सामाजिक सुधार के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। परन्तु सत्यार्थ प्रकाश में महर्षि दयानंद ने जहां एक ओर धार्मिक सिद्धांतों की विवेचना की है, वहीं दूसरी ओर सत्यार्थ प्रकाश के छठे सम्मुल्लास में राष्ट्रीयता के विचारों का प्रतिपादन भी किया है। सत्यार्थ प्रकाश के अन्य समुल्लासों में भी दयानंद द्वारा राष्ट्रीयता की भावना को व्यक्त किया गया है। भारत में उनकी पहचान हिन्दू राष्ट्रीयता के अग्रदूत अग्र के रूप में की जाती है।[1] महर्षि दयानंद जातीय गौरव और राष्ट्रीय अस्मिता के प्रबल समर्थक माने जाते हैं। उनका सम्पूर्ण धार्मिक चिन्तन हिन्दू राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित था। महर्षि दयानंद हिन्दू समाज में फैली हुई कुरीतियों जैसे-जातिगत भेदभाव, अस्पृश्यता, मूर्ति पूजा, खान-पान की विषमता आदि का खण्डन इसलिए करते थे क्योंकि उनका मानना था कि ये सामाजिक कुरीतियाँ हिन्दू राष्ट्रीय एकता के लिए खतरा हैं तथा हमारे समाज को अनेक वर्गों में बाँटने का कार्य कर रही हैं। महर्षि दयानन्द ने स्वदेशी आंदोलन के प्रारंभ होने से पूर्व ही इस बात पर बल दिया था कि भारतवासियों को स्वदेशी वस्तुओं को अपनाना चाहिए।[2]

उन्होंने स्वराज्य की आवश्यकता पर जोर दिया तथा स्वराज्य की अवधारणाओं को स्पष्ट किया। स्वामी दयानंद ने उस समय स्वराज्य के अर्थ को स्पष्ट किया जब भारतीय राष्ट्रीय महासभा के नेतागण ब्रिटिश शासन को भारत के लिए वरदान समझ रहे थे।[3] महर्षि दयानंद ने मार्मिक शब्दों में ब्रिटिशों के दोषपूर्ण शासन को खुली चुनौती दी तथा पराधीनता के कष्ट को महसूस किया। उन्होंने भारतीयों के मन मस्तिष्क में उज्ज्वल अतीत, उज्ज्वल भविष्य, देश के प्रति प्रेम की भावना का संचार किया। परन्तु आर्य समाज द्वारा राष्ट्रीयता के प्रचार-प्रसार के कारण सांस्कृतिक समरूपता को बढ़ावा मिला, जिससे भारत की विविध सांस्कृतिक एवं धार्मिक प्रथाओं की अवहलेना हुई तथा राष्ट्रीयता के विचार में हिन्दू पहचान को व्यवस्थित किया गया।

महर्षि दयानंद ने जब हिन्दू समाज की सेवा की और अपने कदम आगे बढ़ाए तो उन्होंने पाया कि हिन्दुओं में राष्ट्रीय भावना का अभाव है।[4] राष्ट्रीयता की भावना भारत में एक नया विचार था जिसका अर्थ है ''एक राष्ट्र में उत्पन्न होने वाली सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और चेतना की भावना।''[5] राष्ट्रीयता की भावना के कारण ही एक राष्ट्र में व्यक्ति एकता तथा आत्मसम्मान का भाव रखते हैं। वह अपने राष्ट्र को अन्य राष्ट्रों की तुलना में सर्वश्रेष्ठ, सम्पन्न तथा पृथक मानते हैं। वह मानते हैं कि सर्वोत्तम प्रकार का राजनैतिक संगठन एक राष्ट्रीय राज्य द्वारा ही बनता है। एक महत्वपूर्ण विचारक एबेन्स्टाइन का कहना है कि ''राष्ट्रीयता एक ऐसा विश्वास है जिसके अनुसार एक व्यक्ति अपने देश को सर्वोत्तम देश और अपनी राष्ट्रीय ईकाई को सर्वोत्तम राज्य मानता है।''[6]

एबेन्स्टाइन की बातों को यदि हम समझने का प्रयत्न करें तो हम देखते हैं कि 18वीं शताब्दी में भारत में न तो राष्ट्रीय एकता ही दिखती है, और न ही यहां के व्यक्ति स्वदेश के प्रति महत्वपूर्ण भावना रखते हैं। उस समय भारत के लोगों ने स्वयं को प्रदेशों के आधार पर विभाजित कर रखा था अर्थात् पंजाब में रहने वाले स्वयं को पंजाबी, गुजरात में रहने वाले स्वयं को गुजराती, बंगाल के लोग खुद को बंगाली के रूप में पहचानते थे। उनके हृदय में 'भारतीय' जैसे शब्द के लिए कोई कल्पना ही नहीं थी।[7] हिन्दुओं ने स्वयं को कई जातियों के रूप में वर्गीकृत कर रखा था। साथ ही यह जातियाँ अलग-अलग देवी-देवताओं की उपासना भी करती थीं, और उन्हीं के आधार पर एक-दूसरे से अलग रहती थीं। धार्मिक दृष्टि से यह जिन देवताओं के आधार पर वर्गीकृत हुए थे, वह थे शैव, वैष्णव, शाक्त आदि। इन वर्गों में एकता तो दूर, बल्कि कई बार साम्प्रदायिक तनाव भी उत्पन्न हो जाते थे।[8] उस समय उनको एक सूत्र में बाँधने वाला कोई तत्व प्रतीत नहीं होता था। स्वामी दयानंद ने वेदों के आधार पर इन जातियों को संगठित करने का प्रयास किया। साथ ही उन्होंने भारतवासियों को आर्यवृत की प्राचीन तथा गौरवपूर्ण अतीत की महत्वपूर्ण उपलब्धियों को बताते हुए उनमें देशप्रेम की भावना को उत्पन्न किया साथ ही राष्ट्रीयता की भावना को जागृत करने का प्रयास किया।[9] सत्यार्थ प्रकाश के 11वें समुल्लास में स्वामी दयानंद ने कहा है कि ''यह आर्यावृत देश ऐसा है जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं है। इसलिए इस भूमि का नाम सुवर्ण भूमि है, क्योंकि यह सुवर्ण आदि रत्नों को उत्पन्न करती है, जितने भूगोल में देश हैं वे सब इसी देश की प्रशंसा करते हैं और आशा रखते हैं। पारसमणि पत्थर सुना जाता है, वह बात तो झूठी है, परन्तु आर्यावृत देश ही सच्चा पारसमणि है, जिसको लोहरूप दरिद्र विदेशी छूते के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।''[10]

महर्षि दयानंद जिस समय देश में राष्ट्रीयता की भावना को जागृत करने का प्रयास कर रहे थे उस समय भारत पराधीनता की जंजीरों में जकड़ा हुआ था तथा विदेशियों द्वारा गुलाम बनाए जाने से भारतीयों का आत्मसम्मान, आत्मगौरव सम्पूर्ण रूप से खत्म हो गया था।[11] ऐसे समय में लोगों के हृदय से पराधीनता के भय को खत्म करने तथा उनके आत्मसम्मान को वापिस लाने के लिए दयानंद ने भारतवासियों को बताया कि हम भले ही पराधीनता की जंजीरों में जकड़े हुए हों परन्तु प्राचीन काल में हमारा देश-विदेश तथा द्वीप द्वीपान्तर में शासन था, सम्पूर्ण पृथ्वी पर आर्यों का शासन और प्रभुत्व था।[12] उस समय भारत सबसे महान राज्य के रूप में विख्यात था। अलग-अलग देशों से लोग भारत में ज्ञान प्राप्त करने तथा अन्य प्रकार की कलाओं को ग्रहण करने आते थे तथा अपने नैतिक जीवन के लिए उत्तम संस्कार यहीं से ग्रहण करते थे।[13] इस विषय में महर्षि दयानंद सरस्वती लिखते हैं, ''सृष्टि से लेकर पाँच सहस्त्र वर्षों से पूर्व समय-प्रर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था। अन्य देश में माण्डलिक अर्थात् छोटे-छोटे राजा रहते थे, क्योंकि कौरव-पाण्डव-पर्यन्त यहाँ के राज्य और राजशासन में सब भूगोल के सब राजा और प्रजा चले थे, क्योंकि यह मनुस्मृति

जो सृष्टि की आदि में हुई है उसका प्रमाण है। इसी आर्यावृत देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मण अर्थात् विद्वानों से भूगोल के मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, दस्यु, म्लेच्छ आदि सब अपने-अपने योग्य विद्या, चरित्रों की शिक्षा और विद्याभ्यास करें, स्वायंभूव राजा से लेकर पाण्डवपर्यन्त आर्यों का चक्रवर्ती राज्य रहा। तत्पश्चात आपस के विरोध से लड़कर नष्ट हो गए।''[14]

भारतीयों में अपने देश के प्रति हीन भावना उत्पन्न होने का एक कारण यह भी था कि महर्षि के समय अंग्रेजी पढ़े-लिखे व्यक्ति यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान को समझने लगे थे। महर्षि ने इन लोगों की भावना को समझते हुए कहा कि भारत कमजोर नहीं है बल्कि जगत् गुरु है।[15] संसार में बहुत देशों की संस्कृति और सभ्यता भारत के कारण ही फली-फूली है। भारत में सबसे पहले अन्य प्रकार की कलाओं और विधाओं का विकास हुआ, और यहां से यह अन्य देशों में फैली।[16] इस विषय में 11वें समुल्लास में वह कहते हैं कि ''और जितनी विद्या भूगोल में फैली है, वह सब आर्यावर्त देश से मिस्र वालों, उनसे यूनानी, उनसे रोम, और उनसे यूरोप देश में, उनसे अमेरिका आदि देशों में फैली है। अब तक जितना प्रचार संस्कृत विद्या का आर्यावृत देश में हुआ उतना किसी अन्य देश में नहीं है। यह निश्चय है कि जितना विद्या और मत भूगोल में फैले हैं, वे सब आर्यावृत देश से ही प्रचलित हुए हैं। देखो की एक जकालियट साहब पेरिस अर्थात् फ्रांस देश निवासी अपनी बाइबल इन इण्डिया में लिखते हैं कि सब विद्या और भलाइयों का भण्डार आर्यावृत देश है और सब विद्या तथा मत इसी देश से फैले हैं, और परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि हे परमेश्वर जैसी उन्नति आर्यावृत देश की पूर्वकाल में थी, वैसी ही हमारे देश की कीजिए।''[17]

II

महर्षि दयानंद सरस्वती अपने समय में देश की हालत तथा पराधीनता के कारण निराश थे और इसका वह सबसे बड़ा कारण आपसी एकता का न होना मानते थे। उन्होंने लिखा है ''जब आपस में भाई बहन लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है। क्या 'तुम लोग महाभारत की बातें जो पांच सहस्त्र वर्ष के पहले हुई थीं, उनको भी भूल गए? देखो, महाभारत युद्ध में सब लोग लड़ाई में सवारियों पर खाते पीते थे। आपस की फूट से कौरव-पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया सो हो गया, पर अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा या आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुखसागर में डुबा मारेगा। उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्र-हत्यारे स्वदेश-विनाशक नीच के दुष्ट मार्ग में आर्य लोग अब तक भी चलकर दुख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे कि यह राजरोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाए।[18]

हिन्दू समाज में एकता लाने के लिए महर्षि ने राष्ट्रीयता के प्रमुख तत्व धर्म, भाषा और समान लक्ष्य की प्राप्ति पर प्रोत्साहन दिया। उनका विचार था कि उन्नति का केवल एक ही मार्ग है और वह है ''एकता की भावना का जागृत होना।''[19] यदि भारत में भाषा और धर्म एक हो जाए तो भारत का उद्धार स्वयं हो जाएगा। मोहनलाल पंडया द्वारा पूछे गए प्रश्न का उत्तर देते हुए दयानंद ने कहा था ''एक धर्म, एक भावना और एक लक्ष्य की प्राप्ति ही भारत की पूर्ण उन्नति में सहायक है।'' उन्होंने भारतीय समाज के जातिगत भेदभाव तथा छुआछूत की कड़ी निन्दा की तथा खान-पान के अलग-अलग चौकों की व्यवस्था को गलत कहा साथ ही उन्होंने लिखा कि ''इसी मूढ़ता से उन लोगों ने चौका लगाते-लगाते, विरोध करते-कराते सब स्वातन्त्रय, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगाकर हाथ-पर-हाथ धरे बैठे हैं और इच्छा करते हैं कि कुछ पदार्थ मिले तो पकाकर खावें। परन्तु वैसा न होने पर जानो सब आर्यावृत देशभर में चौका लगा के सर्वथा नष्ट कर दिया है।''[20] परन्तु आर्य समाज के द्वारा हिन्दू मूल्यों पर आधारित राष्ट्रीयता के विचार का प्रतिपादन किया गया। आर्य समाज की राष्ट्रीयता के इस स्वरूप के कारण सामाजिक एकता नष्ट हुई तथा भारतीय समाज में तनाव उत्पन्न हुआ।

महर्षि दयानन्द देशभक्ति की भावना को सर्वोपरि मानते थे, और यह इस बात से स्पष्ट है कि उन्होंने ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज की आलोचना की है और हम जानते हैं कि यह संगठन भी आर्य समाज की तरह एक सुधारक सम्प्रदाय ही थे।[21] साथ ही इनके विचार और सिद्धान्त भी आर्य समाज से मिलते थे, फिर भी स्वामी दयानंद ने इनकी आलोचना राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण से करते हुए कहा है कि ''इन लोगों की स्वदेश भक्ति न्यून है। ईसाइयों के आचरण बहुत से लिये हैं, खानपान, विवाह आदि के नियम बदल दिए हैं। अपने देश की प्रशंसा या पूर्वजों की बड़ाई करनी तो दूर रही, उसके लिए पेटभर निन्दा करते हैं। व्याख्यानों में ईसाई आदि अंग्रेजों की प्रशंसा भरपेट करते हैं। ब्रह्मादि महर्षियों का नाम भी नहीं लेते। प्रत्युत ऐसा भी कहते हैं कि बिना अंग्रेजों के सृष्टि में आज

पर्यन्त कोई भी विद्वान नहीं हुआ। आर्यावर्ती सदा से मूर्ख चले आए हैं। इनकी उन्नति कभी नहीं हुई। भला जब आर्यावृत में उत्पन्न और इसी देश का अन्न जल खाया पिया, अब भी खाते पीते हैं, अपने माता-पिता के मार्ग को छोड़कर दूसरे विदेशी मतों पर अधिक झुक जाना, ब्रह्मसमाजी और प्रार्थनासमाजियों को एतद देशस्थ संस्कृत विद्या से रहित अपने को विद्वान प्रकाशित करना, इंग्लिश भाषा पढ़कर पण्डिताभिमानी होकर भटिति एक मत चलाने में प्रवृत्त होना मनुष्यों का स्थिर और बुद्धिकारक काम क्योंकर हो सकता है?'' आर्य समाज की स्थापना द्वारा स्वामी दयानंद ने जहाँ एक ओर ब्रिटिश विरोधी विचारों का प्रचार-प्रसार किया।

निष्कर्ष

आर्य समाज एवं गुरुकुल कांगड़ी ने शिक्षा के माध्यम से राष्ट्रीय मूल्यों का प्रचार-प्रसार किया। शिक्षा को माध्यम बनाकर विदेशी शासन की आलोचना तथा स्वदेशी शासन के गुणों की वकालत की। आर्य समाज एवं गुरुकुल कांगड़ी बहु राष्ट्रीयता में विश्वास नहीं करते थे, इस कारण इन्होंने कुछ समुदायों को अपने राष्ट्र की परिकल्पना में स्थान नहीं दिया। आर्य समाज एवं गुरुकुल कांगड़ी द्वारा राष्ट्रीयता की भावना का विकास केवल उत्तरी भारत तक ही सीमित रहा। आर्य समाज एवं गुरुकुल कांगड़ी के द्वारा स्थापित 'गुरुकुल' नामक शिक्षण संस्थाओं से उभरने वाला सांस्कृतिक राष्ट्रवाद भारत में राजनीतिक राष्ट्रवाद की जननी बन गया। हालांकि यहां प्रदान की जाने वाली 'राष्ट्रीय' शिक्षा के हिंदू पूर्वाग्रह ने भारतीय राष्ट्रवाद के दुर्भाग्यपूर्ण हिंदू स्वरूप को और बढ़ा दिया, लेकिन इन संस्थाओं की उपस्थिति ने कांग्रेस आंदोलन को मजबूत किया। आर्य समाज एवं गुरुकुल कांगड़ी ने बहुल राष्ट्रीयता के विचार का समर्थन नहीं किया तथा भारतीय राष्ट्रीयता के निर्माण में हिन्दू पहचान को व्यवस्थित करने का प्रयास किया।

महर्षि दयानंद ने मूर्ति पूजा का विरोध भी हिन्दू राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर किया है। स्वामी दयानंद ने हिन्दू धर्म के 16 बड़े दोषों में से एक बड़ा दोष मूर्ति पूजा को माना है। महर्षि के अनुसार मूर्ति पूजा राष्ट्र को भद्दा और कमजोर बना देती है। मनुष्य एक प्रतिमा में विश्वास करके उस पर अपनी रक्षा का भार डालकर स्वयं कमजोर बन जाता है। यहां तक की मानव मूर्ति पूजा से मानसिक रूप से इतना कायर बन जाता है कि समझने लगता है कि यदि कोई बाहरी आक्रमण हुआ तो भगवान इतने शक्तिशाली हैं कि वह स्वयं ही शत्रु का विनाश कर देंगे। अतः उन्हें देश की रक्षा के लिए किसी प्रकार का प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है। इसी अन्धविश्वास के कारण सोमनाथ मन्दिर पर महमूद गजनवी के हमले का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा, ''हाय क्यों पत्थर की पूजा कर सत्यानाश को प्राप्त हुए। देखो जितनी मूर्तियाँ हैं उसके स्थान पर शूरवीरों की पूजा करते तो देश की रक्षा होती।'' वह भारत की पराधीनता का सबसे बड़ा कारण मूर्तिपूजा को मानते थे। परन्तु मूर्ति पूजा प्राचीनकाल से ही हिन्दू धर्म का अभिन्न अंग रही है। आर्य समाज के द्वारा मूर्ति पूजा का विरोध करने के कारण हिन्दू धर्म को मानने वालों के भीतर विपरीत प्रतिक्रियाएँ हुईं तथा मूर्तिपूजा को हिन्दू धर्म का अभिन्न अंग मानने वाले वर्ग ने आर्य समाज की आलोचना की।

असिस्टेंट प्रोफेसर (गेस्ट)
डॉ. बी.आर. अम्बेडकर यूनिवर्सिटी दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. सत्यकेतु विद्यालंकार, आर्य समाज का इतिहास, भाग-3. आर्य स्वाध्याय केन्द्र, नई दिल्ली, 1985, पृ. 70.
2. निरूपण विद्यालंकार, देश की एकता और अखण्डता के लिए आर्य समाज शंखनाद, आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश, 1990, पृ. 42.
3. वही, पृ. 42.
4. महर्षि दयानंद सरस्वती, सत्यार्थ प्रकाश, स्टार प्रेस पब्लिकेशन, बनारस, 1875, पृ. 151.
5. वही, पृ. 151.
6. Kenneth W. Jones, Socio-Religious Reform Movements in British India, Vol.-III, Combridge University Press, Cambridge, 1989, p. 94.
7. Ibid., pp. 94-95.
8. विजेन्द्र पाल सिंह, भारतीय राष्ट्रीयवाद एवं आर्य समाज आंदोलन, विभूति प्रकाशन, दिल्ली, 1984, पृ. 119.
9. वही, पृ. 119.
10. सत्यार्थ प्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास से.
11. निरूपण विद्यालंकार, देश की एकता और अखण्डता के लिए आर्य समाज शंखनाद, आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश, 1990, पृ. 46.
12. वही, पृ. 46.

13. वही, पृ. 47.
14. "The Arya Patrika, Lahore" (An English Weekly Organ of the Arya Samaj', March] 1886.
15. G.P. Upadhayay, The Origin, Scope and Mission of the Arya Samaj, Arya Samaj, Allahabad, 1954, p. 102.
16. Ibid., p. 103.
17. महर्षि दयानंद सरस्वती, सत्यार्थ प्रकाश, स्टार प्रेस पब्लिकेशन, बनारस, 1875, पृ. 176.
18. 'आर्यवृत' (मध्य भारतीय आर्य प्रतिनिधि सभा का मुखपत्र), नवम्बर, 1883.
19. 'आर्यभानु' (आर्य प्रतिनिधि सभा हैदराबाद स्टेट का सचित्र साप्ताहिक मुख पत्र), जनवरी, 1949.
20. M.A. Chamupati, Principles of Arya Samaj, Arya Pratinidhi Sabha, Jallandhar, 1964, p. 122.
21. इन्द्र विद्यावाचस्पति, आर्य समाज का इतिहास, भाग-2, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली, 1957, पृ. 200.

DELMUL/2016/69323

VAAKSUDHA PUBLICATION

We're Committed to the Publication of High-quality Books, original works and manuscripts in multilingual & multiple formats.

Vaaksudha Publication (वाक्सुधा प्रकाशन) is a National Publication group founded by Dr. Rupesh Kumar Chauhan and run by a well educated & qualified scholarly group, committed to the publication of high-quality books, original works and manuscripts in Hindi, English, Sanskrit & Modern Indian Languages in the print as well as in the electronic format. The main objective of Vaaksudha Publication is to increase the creativity & writing skills of teachers, writers and scholars and present solutions to the problems of students. We believe that knowledge is the light that leads a human to his real duty, that is why the "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः - There is no salvation without knowledge" this aupanishadik quote has been made a moto.

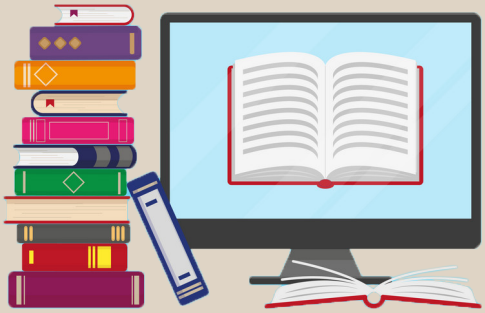

About Us

Arts & Commerce
Indology & Manuscripts
Law & Constitutions Medical
& Engineering Philosophy &
Spirituality Science & Social Sciences
Vaak SudhaIRJ Global Thought IRJ Yugantar
Today (Online) Yugantar Today (Print) Awards
Distribution Social Contribution
Typing Support Designing
Support Technical
Support Head
Office (Delhi)

युगान्तर टुडे
SINCE : 2014 एक नज़र, सब पर

Branches

We recently
started our publication
branches
in five major cities of different
states of India i.e. Nazafgarh (Delhi),
Hathras (UP), Sasaram (Bihar), Satna (MP) &
Udham Singh Nagar (Uttarakhand),
however, Head office
is situated
at Delhi.

Vaaksudha Publication

Head office : House No.-47, Block-A 3, Street No.-5, Near Sankat Mochan Mandir, Dharam Pura Extension, Nazafgarh, South West Delhi-110 043, Mobile No.: +91 9555222747, +91 9267944100,
Email : vaaksudhapublication@gmail.com, website : info@vaaksudhapublication.in